

॥ श्रीः ॥

ॐ हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला ॐ

१०५

ॐ श्री विनयक

महाकवि श्रीभारविप्रणीत

रितार्जुनीयम्

महामहोपाध्यायकोलाचलभङ्गिनाथसूरिकृतया

‘रिपथ’ व्याख्यया समुल्लसितम् ।

तस्य

साहित्यशास्त्रि श्री आदित्यनारायण पारुडेय विरचितया

‘प्रकाश’ नामक हिन्दी व्याख्यया विभूषितम् ।

न्याय-व्याकरणाचार्येण श्री पं० शोभितमिश्रेण सम्पादितम्



चौ म्बा-संस्कृत-पुस्तकालय, बनारस-१

वि० सं० २००९]

मूल्य ५)

[ई० सं० १९५२

प्रकाशकः—

जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,
चीखम्बा-संस्कृत-सीरिज ऑफिस,
पो० बाक्स नं० ८ बनारस

पुनर्मुद्रणादिका सर्वेऽधिकृत्य प्रकाशकाधीना

JAYA KRISHNA DAS HARI DAS GUPTA

The Chowkhamba Sanskrit Series Office

P O Box 8 Banaras

1952

मुद्रकः—
विद्याविज्ञान प्रेस,
बनारस

उपोद्धातः

अथि साहित्यरसास्वादनपरायणा सहृदया विद्वांसः ।

विदितमेवास्ति श्रीमता तत्र भवता यदिह समेऽपि शरीरिण सतत सुखमेव समीहमाना दरीद्वरन्ते । परमिह कमप्यनिर्वचनीय निरतिशयानन्दरूप काव्यादि परिशीलनान्म्य ब्रह्मानन्दसहोदर जीवनोद्देश्यभूत सुखविशेष सविशेषमनुभवितुं केषुचन पिरला एव साहित्यरसिका परममागधेया पारयन्ति ।

तास्माद्यनतयैव भवता पुर प्रस्तुयते किरातार्जुनीय नाम महाकाव्यम् । यद्धि "भारवेर्यगौरव"मिति लोकोक्तिं कृतार्थयत्, स्थले स्थले गुणगणगरिमाऽतिशालिन गदाशय प्रकाश्य परभरमणीयचमत्कारशालि चार्थगौरव समुद्रास्य समेपामपि विदुषां चेतश्चमत्करोति ।

ग्रन्थोऽयं किरातवेपथ्वारिशिवमर्जुनब्राधिकृत्य कृतो भारविणेति समूलकमन्वर्थं नाम पुण्यसतीव शब्दादिसौष्ठवगुम्फनद्वारा काव्यजगति विदग्धचेतसा परमा दरास्पदमापत् ।

अर्जुनोहि ती समाराध्य शिवमदुत्तुपत् । सतुष्टाद्य भगवत शिष्यात् प्रसादरूपेण पाशुपतास्त्र प्रापदित्यत्र प्रधानविषयो विदेलिमो विदुषा ।

अस्मिन् महामहोपाध्याय-कोलाचल-महिनाथकृति-कृता घण्टापथाख्या न्याख्या परमप्राचीना सर्वाङ्गीणा च सयोजिता नितरा चकास्ति । परमधत्वे सुकुमारमतीना वृत्तानां तावतापि सर्वथाऽभ्ययनादौ पूर्णसौविध्यं न भवति स्मेति निभास्य प० श्री आदित्यनारायणपाण्डेयेन विरचिता "प्रकाश" नाम्नी परमोपकारिणी हिन्दी भाषामयी टीकाऽपि प्रतरा समुज्ज्वलते ।

ग्रन्थस्यास्य निर्माता विद्मद्भुरीणस्य दण्डिन पितामह श्रीनारायणस्वामिन स्वनुजो दामोदरापरनामा सुगृहीतनामधेयस्तत्रभवान् महाकवि श्रीभारविमहोदय पञ्चशतकान्ते सप्तमशतकादौ च इलातलमिदं समवीभसत् ।

स्वजन्मना च कतम देश ज्यवृत्तुपदिति विशेषप्रमाणानुपलब्धे र्वक्तु न पार्यते । केषुचन चैन दाक्षिणात्य मन्वते पर तत्रापि प्रयत्नप्रमाणविरहात् नो विश्वास ।

न्याख्याविधातु कवेर्महिनाथस्य स्थितिकालस्तु चतुर्दश ख्रिस्ताब्दीय शतक मासीदिति न केपामपि विदुषां तत्र विधाद ।

सर्वथा लाभलोभं विधूय सस्कृतच्छात्रहितैपिमि श्रीजयकृष्णदासहरिदासगुप्त-महोदयै परमोपकारिणीभिरुक्तसस्कृतहिन्दीटीकाहयीभि समलकृत्य विद्वत्प्रकाण्डै-सप्तोभ्य च ग्रन्थोऽयं प्रकाशता नीत इति श्रीशकाद्यक्षरसयोजकरदिदोषेण संशोधकरदिदोषेण च जायमानश्रुतिं गुणैकपाहिणो मनीषिण शस्यन्ते इति नूनमहमाशासे ।

विदुषामनुचर —

सम्पादकः

प्रस्तावना

महाकवि भारवि—

विद्वत् शिरोमणि भारवि सस्कृत साहित्य के एक प्रसिद्ध महाकवि हैं। कवियों की गणना में इनका प्रमुख स्थान है। इनकी रचनाशैली अत्यन्त मनोहर और अर्थगौरव से पूर्ण है। जो आज भी 'भारवेरर्षयगौरवम्' इन लोकोक्ति को चर्चित करती है महाकवि भारवि याचना-शाय भी अत्यन्त धृष्टि से देखते थे। इस विषय में महाकवि ने लिखा है—
विशदिविचित्रपुत्रसेतुमर्षिताम् । महाकवि के प्राकृतिक वर्णन अतीव चमत्कारजनक हैं। आपने प्रत्येक प्राकृतिक वर्णन की पूरी नैसर्गिकता का प्रदर्शन करने के लिये प्राकृतिक वस्तुओं का सुन्दर चित्रण किया है। आपके सर्वतोमूर्त भादि चित्र-काम्य और दृष्टेयात्मक प्लासट शब्द भावि "लोक लीन सुन्दर है। जिन्हें केवल सच्चिदानन्द ने कहा भी है—

भारिकेच्छच्छसविभ यषो भारवे सपदि यद्विभस्यते ।

स्वाद्यन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

आपकी राजनीति का भी अधिक अनुभव था। आपकी कथास्वरूपिकी कवि श्रेमेर ने नेवीय बताया है।

समय-निर्णय

कवि महाकवि भारवि का समय निर्णय करना कठिन है तथापि प्राक्केयों के आधार पर कुछ लिखने का प्रयत्न किया जा रहा है—

द्विषेना ओरिएण्टल सीसाइटी जनरल के चौथे भाग के पृष्ठ (१५४) में हरमैन लेकवेरी ग्रहोप्य ने यह शताब्दीका पूर्व भाग भारवि का समय किया है। सप्तम शताब्दी के बाणभद्र से अपने हर्षवर्धन नामक ग्रन्थ में अपने से पूर्व काल के प्रायः सप्त सप्त कवियों का नामोक्तेय किया है किन्तु भारवि का नहीं विशेष नहीं किया। नत बाणभद्र के मत से सप्तम शताब्दी में भी बाण के भारवि नही जासकते हैं। दुर्दिनीति से अपने किदायल्लुनीय की व्याख्या के परिचय में भारवि का समय (५५ -६६ ई) कहा है। प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय ने अपने सस्कृत साहित्य के इतिहास में भारवि का समय यह शताब्दी के लगभग किया है। पण्डित सीताराम जयराम जोशी तथा विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज द्वारा निर्मित सस्कृत साहित्य के सक्षिप्त इतिहास में भारवि का समय यह शताब्दी का उच्यार्ण माना है। एडोल्फ (Adolph) शिकाकेस में रविकीर्ति से शिकाकेस और भारवि का जल्लेय किया है। इस शिकाकेस का समय (६३४ ई) है। आज भी यह शिकाकेस 'पेडोल्फ' नाम के जन बिहार में मिलता है। इस शिकाकेस के आधार पर भारवि का समय

१. देनाबीज नदेउपरस्करमर्षिणी विवकिना चिनचरम ।

२. निन्यता रविनीति कवित्वित-वाठिदासभारविकीर्ति ॥ शिकाकेसोप्यम् ॥

यह शताब्दी का उत्तरार्ध मानना ही उचित होगा। (मन् १९२४ में) के० रामनाथ शास्त्री तथा रामकृष्ण कवि के द्वारा दक्षिण भारती ग्रन्थमाला के तृतीय पुष्प में प्रकाशित दण्डी कवि प्रणीत 'अवन्ति सुन्दरी कथासार' में लिखा है कि भारवि अचलपुर के नियानी और कौशिक गौप्रोत्पन्न नारायण स्वामी के पुत्र थे।

महाकवि का एक नाम दामोदर भी था। आप दक्षिणात्य प्रायण थे और महाराज विष्णुवर्धन के समानण्डित थे। परन्तु अभी तक समस्त विद्वानों ने इसे मान्यता नहीं दी है। बङ्गों का मत है कि भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे और दण्डी के चतुर्थ पूर्वव दामोदर से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी तथा वे दक्षिण भारत के आहुक्य नदी महाराज विष्णुवर्धन के समानण्डित थे।

किरातार्जुनीय—

किरातार्जुनीय में अठारह सर्ग हैं। कविप्रोक्त महाकान्य के लक्षण से युक्त होने के कारण यह महाकान्य कहलाता है। और यह बृहत्सवी कान्यों में अन्यतम माना जाता है। इसकी कथावस्तु महाभारतीय वनपर्व से ली गयी है। यह कान्य प्रथम में 'श्री' शब्द से विभूषित है। इसके प्रत्येक सर्गान्त में 'लक्ष्मी' शब्द का सनिवेश है। इस कान्य में इन्द्रकीलपर्वत पर दिव्य अस्त्रागम के लिये तपस्या करनेवाले पाण्डुपुत्र 'अर्जुन' और किराताधिपति भगवान् 'शक्र' का परस्पर युद्ध वर्णित है। कविने शरी युद्धकी महत्त्व देकर कान्यको सुन्दर और विस्तृत बनाया है। किराताधिपति और अर्जुन के युद्ध की ही मुख्यता होने के कारण इस कान्य का नाम भी 'किरातार्जुनीय' पवा है। इस कान्य में राजनीति का प्रदर्शन करते हुए कवि ने साम, दान, दण्ड और भेद का बहूत गम्भीरता से वर्णन किया है। भारत वर्ष की प्राचीन रियों का कितना गम्भीर विचार था यह श्रौष्ठी की

- २ "अस्त्यानन्दपुर नाम प्रदेशे पश्चिमोत्तरे ।
 आर्यदेशशिरोरत्न यत्रासन् बहवो रूपा ॥
 ततोऽभिनि सृता काचिद् कौशिकककासन्दति ।
 ह्युरलोकादिवायान्ती पुण्यतीर्था सरस्वती ॥"
 "नासिपथभूमालीस्तुकथान्मूलदेवनिवेशिताम् ।
 प्राप्याचलपुर रीमधिवसत्वसी ॥
 तस्या नारायणस्वामिनाम्ना नारायणोदरात् ।
 दामोदर इति श्रीमानाविदेव ह्यवभवत् ॥
 स मेधावी कविर्विद्वान् भारवि प्रभवो किराम् ।
 अतुरध्याकरोन्मीर्षी नरेन्द्रे विष्णुवर्धने ॥"

उक्ति से स्पष्ट मरुत होना है। मारवि ने पात्र के अनुसार ही शब्दा का निवचन किया है यह भीमोक्ति से विन्त होता है। विचचना के विषय में किसी कार्य को करने से पहिले उसकी पूरी विचचना करके ही उसको करने में प्रवृत्त होना चाहिये ऐसा सुभिष्टिर नीतिके द्वारा करा है—

सहसा विवृषीत न क्रियामविवेक परमापदा पवम् ।

वृणते हि विमृश्यकारिण गुणलुब्धा स्वयमेव सम्पद ॥ (स २ श्लो १)

इस काव्य में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अत्यन्त मनोहर है। प्राकृतिक दृश्यों में कवि का दृश्य सज्ज निमग्न था य-साधनात्मिक मनोहर वर्णन से प्रतीत होता है—

मन्व्यमोपलनिभे लसद्दशावेकतरच्युतिमुपेयुपि भाभी ।

शौरवाह परिवृत्तिविलोला हारपट्टिमिव वासरलक्ष्मीम् ॥ (म ५ श्लो २)

इस श्लोक में 'परिवृत्तिविलोला अनन्त मनोहर है। सात्त्विक यह है कि जिस तरह जप करते समय माया दिखती रहती है उसी तरह चपला रक्ष्मी बचल हो रही है।

कवि ने स्थान स्थान पर वर्णन जटाशय, कुल मापी भाति का बहुत ही रम्य वर्णन किया है। चित्रनाम्य यमक अनुप्रास एकाहृत श्लोक पञ्चदश सर्ग में अधिक सुन्दर है। यह सर्ग अपेक्षाकृत कठिन भी है।

उपसंहार

इस काव्य में बीरोदात्त नायक है। उसमें मञ्जुन नायक है और किराताधिपति शकर प्रति नायक है। यह बीरोदात्त प्रधान काव्य है। इसमें दृग्गुण कथन और किरातपति शकर का बचन उद्दीपन विभाव नायक और प्रतिनायक का पशुराति आकर्षण आदि अनुभाव धैर्य क्षमाति यमिचारी भाव सत्साह स्थायी भाव शृङ्गारादि रस अह पञ्चाली रीति प्रसा गुण हैं। दिव्य पाशुपतास्त्रादि इस काव्य का पक्ष है—



संक्षिप्त कथासार

प्रथम सर्ग

युधिष्ठिर के प्रति बनेचर की उक्ति

जब कि महाराज युधिष्ठिर जूये में हार जाने से भीम, अर्जुन नकुल, सहादेव तथा द्रौपदी के साथ द्रैतवन नामक बहल में निवास करते थे, उस समय उन्होंने दुर्योधन वा समाचार जानने के लिये एक बन्वासी (किराल-बनेचर) को मालचारी के रूप में भेजा था, वह सब हाल जानकर महाराज युधिष्ठिर के पास आया और कहने लगा—'हे माग्राज' दुर्योधन इस समय राज्य का नीति-पूर्वक शासन कर रहा है, 'म राजा हू, मेरा यही धर्म है' देखा समझता हुआ शत्रु या पुत्र जो हो उसे धर्मशास्त्रानुसार दण्ड देता है। उमर, यहाँ बड़े २ राजा लोग आकर दरबार में कर देते हैं तथा जो आदेश करता है उसे मग पूरा करते हैं, उसके राज्य में सर्वत्र कृपि उत्तमरूप से होती हैं, और प्रज्य प्रसंगता में समय २ पर कर देती है। वह दु शासन को सुवराज बनाकर स्वयं बघादि करता रहना है, इसलिये अब आप उसे जोतने के लिये कोई प्रबल उपाय कर। इसके बाद युधिष्ठिर महाराज ने उसे पारितोषिक देकर विदा कर के उक्त समाचार भीमादि के सामने द्रौपदी से जाकर कहा, उसे सुनकर द्रौपदी ने कहा—

युधिष्ठिर के प्रति द्रौपदी की उक्ति

हे नाथ ! वपधि श्रीकृष्ण उपदेश पुरुषों के लिये अनादर सा होता है तथापि क्या करू मेरी आन्तरिक न्याया मुझे कहने के लिये बाध्य कर रही है अतः आप क्षमा करियेगा। हे महाराज ! भला बताइये तो—आपके सिवाय कौन ऐसा राजा होगा जो—अपनी स्त्री के समान राजलक्ष्मी को दूसरे के अधीन कर देगा। हा ! देखिये ये वही भीम हैं जो पहले सुन्दर पलङ्ग पर सोते थे आज जमीन पर सोते हैं, और जिन्होंने उत्तर कुश देश को जीतकर बहुत सा स्वर्ण आकर लाने में रखा था वेही अर्जुन आज बत्कल पहने हुए हैं और ये दोनों सुकुमार सुन्दर नकुल तथा सहादेव काठिन भूमि में सोते हैं इन सबों को इन हालतोंमें देखकर भी आप धैर्य और सन्तोष को नहीं छोड़ते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है, आपकी दुर्रशा देखकर मुझे तो अत्यन्त दुःख ही रहा है।

हे महाराज ! आप अब शान्ति को छोड़कर शत्रुओं को नष्ट करने के लिये अपना पुराना सेज धारण करिये, क्योंकि शान्ति से मुनियों का कार्य होता है न कि राजाओं का, यदि आप शान्ति ही को सुख का साधन समझते हैं तो राज-विच्छेद धनुषादि को त्यागकर न्याय नकाकर केवल मुनियों की भांति अग्निहोत्र किया करें। हे महाराज ! सब प्रकार से समर्थ होते हुए भी शत्रु-विजय के लिये आपका समय की प्रतीक्षा करते रहना उचित नहीं है क्योंकि भिलय जाहने वाले राजा लोग समय पहने पर किसी न किसी न्याय से सन्धि की भी तोह देते हैं।

द्वितीय सर्ग।

युधिष्ठिर के प्रति भीम की उक्ति

(अपने महानुकूल द्रौपदी की वार्ते सुनकर भीम युधिष्ठिर से बोले)—

हे महाराज ! द्रौपदी ने इस समय जो वधा यह उचिन्त है उसकी बात महत्स्यति की भी आश्चर्य में टाक देने वाली है इने खोसी कही हुई ममशुकर आपकी उपेक्षा करना उचित नहीं है क्योंकि युगप्राप्ती पुरुष की या पुरुष का विचार नहीं करते । बड़े क्षेत्र की बात है कि आप देवताओं को भी आश्चर्य में डालनेवाले पुत्रवर्ष को पाकर भी दुःखनों द्वारा दुर्नशा मोग रहे हैं छत्र की बढते हुए दीप्तर भी उसरी उपेक्षा करना अत्यन्त अनुचिन्त है । यद्यपि आप इस समय क्षीण ह तथापि जन उन्नति के लिये चेष्टा करेंगे तो प्रजायें आपके उत्साह की देखकर आपको नमन करेगी यदि अबधि की प्रतीक्षा करते रहियेगा तो निश्चय समझिये कि दुर्घोषन इनने दिनकर राज्यसुख भोगकर आपकी अबधि बीनने पर राज्य दे देगा यह असम्भव है । अतः आरत्य जोडकर पुनर्वाभ करिये आपके उठते ही शत्रुओं पर विपत्तिया आ पड़ेगी आपके शिषिजयी चारो माहयों के तेज को भरा शत्रुओं के मध्य में कौन है जो सह सकेगा । इस भांति अत्यन्त क्रुद भीमसेन की वान सुनकर मतवाले हाथी की भांति उन्हें पीरे २ शान्त करने के लिये महाराज युधिष्ठिर चेष्टा करते हुये बोले—

भीम के प्रति युधिष्ठिर की उक्ति

हे भीम ! छुमने जो क्रुद कहा है यह सब समबोचिन्त शाल-सङ्गन है तथाऽपि मेरा मन विचार पूर्वक कार्य करने को कहना है । असमय में क्रोध करना अत्यन्त अनुचिन्त है शान्ति से बढकर उत्तम साधन कौरें नहीं है इसके रटने से शत्रु स्वय नष्ट हो जाते हैं । और यदि हम समय नियम तोडकर चढारें न की जाय तो जितने राजा हैं वे सब अबधि के वान हमारी सहायता करेंगे । और यह समझना कि अबिक समय हो खानेपर राजा लोग दुर्घोषन के पक्ष में हो जायेंगे तो यह भूल है महद्गुरी मनुष्य की सेवा में जो लोग रहते हैं वे लोग जब समय पडता है तब उसे छोड देते हैं क्योंकि उसके दुर्ध्वनहार से मन में सभी अपसन्न रहते ह । अतः अब तक्र अबधि है तबतक्र शान्ति के साथ समय विताना उचिन्त है । इस प्रकार से अब महाराज युधिष्ठिर भीम को समझा रहे थे ठीक उसी समय द्वाप व्यास जी पहुंच गये उन्हें देखते ही सभीने उठकर स्वागत किया तथा आर के साथ काकर उच आसन पर बैठाया पश्चात् अपने भी आहा पाकर हाथ जोडकर सम्मुख बैठगये ।

तृतीय सर्ग।

युधिष्ठिर और अशुन के प्रति व्यास की उक्ति

हे राजन् ! सभाम में उसी की अब होगी है जिस के पास होगा तथा अशुनिक का विशेष बह है, यह वान परशुत्तम के साथ युद्ध करने में भीम ने उन्हें पराधिन धरके लोगों को निखना की है । और वमराज से भी नहीं करनेवाले भीम्य तथा कौरों वन प्रक-

यकालात्रि के समान बुद्ध में भयङ्कर द्रोणाचार्य आदि बोद्धागण भय दुर्वोधन के पक्ष में हैं अतः उन सर्वों को जिनसे जीत सकें उन दिव्य-भक्तों को पाने के लिये मैं अर्जुन को एक मन्त्र बतलाता हूँ जिसके द्वारा वे कठिन तपस्या कर इन्द्र भगवान् को प्रसन्न कर दिव्य बल तथा पराक्रम प्राप्त कर बुद्ध में विजयी हों, वस वही मेरे जाने का उद्देश्य है, ऐसा कह व्यासजी पुनः अर्जुन से कहने लगे—हे अर्जुन ! तুম अब मेरे कथनानुसार साथ में आनों-कौमी लिये हुए मुनियों की भाँति जाकर तपस्या करो, और जहाँ पर तपस्या करनी है वहाँ पर यह यक्ष तुम्हें शीघ्र ही पहुँचा देगा ऐसा कहकर जैसे ही व्यास जी अन्तर्धान हुए वैसे ही अर्जुन के पास यक्ष उपस्थित हो गया। तब उन्हें जाने के लिये उच्यते द्रौपदी अर्जुन से कहने लगी ।

अर्जुन के प्रति द्रौपदी की उक्ति

जबतक तपस्या पूरी न हो तबतक आप हम लोगों के बिना व्यग्र न होना क्योंकि बिना हृद आग्रह के कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, और उन्हें तपस्या के लिये उत्तजित करने के लिये पुनः कहने लगी कि—सत्सार में सैकड़ों पुरुषों की मान-हानि प्राण-हानि के तुल्य ही होती है, शत्रु से पराजित होने पर उनका अपमान होता है और शत्रुओं ने जो जो दुर्व्यवहार किये हैं और जिन्हें कि-मैं स्मरण भी नहीं करना चाहती, आज मुझे वे ही सब तुम्हारे बिना यद्यपि और भी कष्ट पहुँचायेंगे तथापि उन सर्वों को इस आशा से सहृदयी कि आप शीघ्र ही शत्रुओं को जीतने योग्य सामर्थ्य प्राप्त कर पुनः मिलेंगे । अतः अब आप तपस्या के लिये जाय और आप के समस्त विघ्नों को इन्द्र भगवान् दूर करें, हे नाथ ! आप व्यास जी का आदेश पालन करते हुए हम लोगों के मनोरथ को सफल करें । और अब आपकी छत्राचार्य देखकर पुनः आनन्द से आलिङ्गन करना चाहती हूँ । तब इन सब बातों को सुनकर अर्जुन को दुर्वोधनादिकों के ऊपर अत्यन्त क्रोध हुआ, और वह ध्वज पहनकर तलवार, धनुष, और तरकश लेकर यक्ष के बताये हुये रास्ते से इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के लिये चल पड़े, और सब लोगों को उनके जाने पर अत्यन्त दुःख मालूम पड़ने लगा पर समझाकर किसी भाँति अपने २ चित्त को शान्त किया, और उस समय मङ्गल यज्ञक दिव्य दुग्धुभी शब्द तथा आकाश में पुष्प वर्षा होने लगी जिसे देखकर सब अत्यन्त प्रसन्न हुये ।

चतुर्थ सर्ग ।

शरद्वतु वर्णन

इन्द्रकील पर्वत की ओर यक्ष के साथ जाते हुए अर्जुन ने शरद्व की शोभा को निम्न रूप में देखा—

वर्षाऋतु के शीत जाने से मार्ग पर कहीं पङ्क (कीचट) नहीं दिखता था । सृष्टि जल-विस्तृत नदी-तट श्वेत वायुकामय शरीरको धारण किया हुआ था । जलाशयों में अधिक

कमल खिलने के कारण दर्शकों को स्वल्प कमल की अन्ति उत्पत्ति होती थी। चारों ओर खेतों में अनेक प्रकार के धान की बालें झूट झूट कर पक्षियों के मन की आकर्षित कर रही थी।

इस तरह अर्जुन को शरद ऋतु की छटाओं की देखने में आसक्त जानकर यक्ष शरद सम्बन्धी बातें करने लगा—

पञ्चकृत शरद गुण वर्णन

हे अर्जुन ! यह समय बहुत सुन्दर प्रतीत हो रहा है। भूमि धान्यरूप फलों से भरी हुई है। सरोवर और नदियों का जल स्वच्छ ही गया है। आकाश मण्डल सबल मेघ रहित होने से निर्मल हो गया है। आकाश के अन्तराल में पक्षिगण मधुर शब्द करते हुए विचरण कर रहे हैं। सुगन्ध की लेकर पवन मन्द मन्द बह रहा है। दिशाएँ प्रमत्त शीत रही हैं। जल का जब हरित लता सफेद कमल और पक्षे हुए शाही धान की पीत कान्ति से इन्द्र वज्र की शोभा को धारण कर रहा है। गीरा की छलनाय अपने सुमधुर गीत से मयूरकी केलावाणी को भी तिरस्कृत कर रही है। उनके गानों में आसक्त हो कर हरिणी घृण चरने की भी भूल गयी है।

इस प्रकार यक्ष द्वारा वर्णित शरद कान्ति ना अनलोकन करते हुए अर्जुन की मनराशि से स्वाम रूप विरिन्द्र हिमालय का स्मरण हुआ।



पञ्चम सर्ग

कविकृत हिमालय वर्णन

इन्द्रकीर्ण वर्णन की ओर यक्ष के साथ जाते हुए अर्जुन ने हिमालय की शोभा को निम्न रूप में देखा—

हिमालय समस्त लोक के मनुष्य की आश्रय देने वाला है। इस के गर्भ में अनेक धातु और मणि सुम्भित हैं। जन एवं यह रक्षाकर की छविको धारण किया हुआ है। इस का शिखर प्रपञ्च हिमाच्छन्न और मध्य प्रदेश बहुत विशाल है। इसी मध्यप्रदेश पर मेघ मण्डल विचरण करते हैं। इस के उच्च प्रदेश पर लक्ष शिखर से जाह्नवी आदि सरसरितायें गिर रही हैं। जनपात से ठटभूमि छिन्न है अणुएव लघु और बृहत् अपने रम्य कान्ति को धारण किये हुए विविध वन और उपवन में मनोहर मावज पक रहे हैं।

यक्षकृत हिमालय वर्णन

हिमालय का उच्च शिखर आकाश मण्डल की छूने जा रहा है। इस के पार्श्व प्रदेश में मान सरोवर और कैलास आदि पवित्र स्थान हैं तथा मध्यप्रदेश में गहन वन हैं जिस में बड़े-बड़े वृक्ष और हिसक प्राणी निर्मय पूर्वक विचर रहे हैं। चारों ओर महीपक्षियाँ चम्क

कर बिजली की शोभा दे रही है। सरोवर और तनाकुल अत्यन्त सुन्दर है, जो नायक-नायिका को मुग्ध कर रहा है। इन हिमालय पर त्रि-य सुन्दरियों विहार के लिये स्वर्ग से आती हैं। यह परम पवित्र स्थान है। इसी स्थानपर भगवानीपार्वतीने अपनी विवट तपः शर्वा से भगवान् शंकर को प्राप्त किया था।

इसी हिमालय के पास पार्वतीपति भगवान् शंकर का निवासस्थान कैलास अपनी मणि मय कान्ति से सूर्य की किरणों को निरस्त करने का रहा है। तप-साधन में सदा तपस्वी जन के तप में विघ्न टालने वाली अप्सराएँ विविध रूप धारण कर भ्रूविक्षेपादि से तपस्वियों के धैर्य को क्षुब्ध करने की कोशिश कर रही हैं। परन्तु योगिजन अपने २ इन्द्रियवा सयम करते हुए अपने लक्ष्य रूप ब्रह्म सायुज्य प्राप्त कर सासारिक बाधाओं से मुक्त हो जाते हैं तट प्रदेश पर समृद्धशाली और सुरती रूपक लोग अपनी भयान्ता का पालन करते हुए आनन्द पूर्वक निवास करते हैं।

सचकृत इन्द्रकील (पर्वत) वर्णन

इन्द्रकील की सुपायें अत्यन्त सुन्दर हैं। यह पर्वत इन्द्रका अत्यन्त प्रिय है। स्वर्गमयी तटभूमि की कान्ति पवन प्रेरित लताओं के मध्य भाग पर जाकर विधुलता का अनुकरण कर रही है। यहाँ का चन्दन वृक्ष मत्त मत्त के फण्डों की रंग से सर्प रहित हो गया है। मरुत मणि की तीक्ष्ण प्रभा से इस पर्वत पर सूर्य की किरणें भी दृष्टप्रम हो गई हैं।

अर्जुन के प्रति सच का उपदेश

हे अर्जुन ! शक्य धारण कर इसी इन्द्रकील पर्वत पर आप तपस्या करें। तपस्या में बहुत ही विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होंगी उस के बाद आपको कल्याण होगा। इस लिए आप इन्द्रिय चापल्य को छोड़ें और भगवान् शंकर की तपस्या कर बर प्राप्त करें। लोकपाल और इंद्र आपको तपस्या की वृद्धि करेंगे। इस प्रकार अर्जुन को आशीर्वाद देकर यक्ष अपने स्थान पर चला गया और अर्जुन अपने कार्य सिद्धि के लिये इन्द्रकील पर निवास करने लगे।

अर्जुन राजा के समीप इन्द्रकील पर्वत के सुन्दर प्रदेश में पहुँचे। उस स्थान पर वृक्ष अपने आश्रित भ्रमर और पक्षियों के द्वारा मानो अर्जुन की जय ध्वनि और पवन के द्वारा पुष्प वृष्टि कर रहे थे। पवन पक्ष्य पराग और मनीषी के शैत्यको लेकर सुखस्पर्श कर रहा था। अर्जुन ने प्रवाह के वेग से भग देवदारु एवं अत्यन्त पतली २ बेंत की लता और हरक के ऊपर तैरने वाले कलहूसी तथा मत्त भ्रमर से युक्त तटप्रदेश को देखा।

पष्ठ सप्त ।

इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन के तपोउद्यान तथा विष्ट डालने वास्ते इन्द्रप्रति
अप्सरारों के गमन का वचन—

अत्यन्त सौम्य मूर्ति अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचकर गिरिसरिलाओं के बलरूपों से अत्यन्त शौनस्य मन्द सुगन्ध पवन के स्पर्श से आनन्द को प्राप्तकर हरना आदि प्राकृतिक पर्वतीय वृक्षों की अनुपम रमणीय सुपमाओं से अलकृत अत्यन्त निर्बल उस पर्वत के शान्त वातावरण को देखकर तपश्चरण के लिये उपत हुए । तदनन्तर सासारिक विषयों से चित्तवृत्तियों को रोककर सारी इन्द्रियों को अपने वश में कर के अत्यन्त कठिन तपस्या करते हुए अर्जुन ने थोड़ा भी अनुष्ठान अनित क्षेत्र का अनुभव नहीं हुआ प्रथम काम क्रोधादि आन्तरिक शक्तियों से विवेक द्वारा चित्त को हटाकर अन्तरात्मा में परम शान्तिजन्य आनन्द का अनुभव करते हुए अप-ध्यान-वन्दनादि से इन्द्र की प्रसन्नकर स्वभावत आगन्तुक धीर-शान्त रसों से समुद्रासित तैम को उन्होंने प्राप्त किया । बाद में तपोउद्यान अनित उस विद्वक्षण तैम से बगवतरी अर्जुन अत्यन्त देवीप्यमान होकर चमकने लगे । आयुध धारण कर तपस्या करते हुए अर्जुन के तप के प्रभाव से हिंसक सर्व सिद्ध व्याघ्र आदि जन्तुओं ने हिंसाभाव को भी छोड़ दिया । पवन अत्यन्त सुखद होकर मन्द २ बहने लगे । भूप निरतिशय सुसस्पर्श अनुभूत होने लगी । पौषे नूतन पक्षियों से रूढ़ गये । आकाश मण्डल अत्यन्त निर्मल हो गया । पृथिवीगत शूलि कर्णों से रहित होकर शान्त दौड़ने लगा । नैमित्तिक पुष्प अमीष्टफलपद मात्राज पढ़ने लगे । अर्जुन के उस तपोवैभव को देखकर वनेचरों ने अपने वषेन्द्र आहार विहार में क्लेश का अनुभव करते हुए इन्द्र के पास आकर अर्जुन के तपोउद्यान की सारी बातें कहीं । बाद में इन्द्र ने उन वनेचरों के मुख से अर्जुन के तपोउद्यान का वृत्तान्त सुनकर हर्ष वेगको रोकते हुए उनकी तपस्या के परीक्षणार्थ अप्सरारों को भुलाकर कहा—हे सुराङ्गनाओं ! आप लोग ही सर्वविविधी नामदेव के परम अमोघ अल हैं । आप के कथ्यक्षपातों से ही अत्यन्त कितेन्द्रिय महातपस्वियों के भी मन विचलित हो जाते हैं । आप सब के प्रसादसे ही स्वर्गलोक ससार में सब सौख्य से अह माना माना है । इस तरह उनकी अनेकों प्रशंसायें कर के गन्धर्वों के साथ मिलकर अर्जुन के तप में विष्ट डालने के लिये इन्द्रने उन अप्सरारों को सभी के साथ आदि विषयक सदेह-मय को दूर करते हुए विश्वास द्वारा निर्भीक बनाकर प्रेषित किया । बाद में वे अप्सरारों अनेक आभूषणों से शूषण होकर स्तनधारों से झुकी हुई एव अत्यन्त भावक भ्रुविद्योत-व्यङ्ग्यमान आदि शैल्याओं से सजको मोहित करती हुई इन्द्र की प्रणाम कर अर्जुन के प्रति लक्ष पड़ी ।

सप्तम सर्ग ।

गन्धर्वों के साथ अप्सराओं के विलासपूर्वक इन्द्रकील के प्रति प्रस्थान का वर्णन ।

महेन्द्र के भवनसे अर्जुन के समीप प्रस्थान करती हुई उन अप्सराओं के रक्षणार्थ इन्द्र ने रथ-हाथी घोड़ों के साथ अपने भृत्यों को भेजा । रास्ते में जाती हुई उन गन्धर्वाङ्गनाओं के कपोलों पर धूप के ताप से खलिमा छागयी । पसीने टपकने लगे । गमनजनित धक्कापट्टे नयन कमल मुरझाने लगे । अत्यन्त सुकुमारतम उन के शरीरों में आतप ताप की मदन-शीलता देखकर गन्धर्वगण चकित हो गये । क्रमशः वे सब मन्दाकिनी के पास पहुँचे । वहाँ पहुँचते ही उस नदी के तरङ्गों के सम्पर्क से अत्यन्त शीतल एवं विकसितमलों के किञ्चलसूरीमों से सुगन्धित होकर बहते हुए पवन से उनके मार्ग गमन अनित सारे परिश्रम दूर हो गये । विमान द्वारा अन्तरीक्ष में जाते हुए उन के ऊपर पानी वर्षा कर परिश्रम जनिता खेदों को दूर करने के कारण उन अप्सराओं ने बादल को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा । वायु द्वारा उन के जघनों से अधो वसन के हट जाने पर भी मणिमय मेरुलाओं के किरणों ने ही जघनों को अपने प्रकाशों से आच्छादित कर अधोवसन का काम किया । उनके विमानों की गति से बादल में इन्द्रचाप जनिता शोभा के नष्ट हो जाने पर भी उन मुर ललनाओं के भूषणों में जटे हुए मरकत-पषराण आदि विविध रणियों की रङ्गविरङ्गी अनेक प्रभाओं से फिर इन्द्रभनुष की शोभा उत्पन्न हो गयी । बाद में अर्जुन के तप में विन्म डालने की सफलता प्राप्त्यर्थ आपस में अनेकों बातचीत करते हुए वे सब इन्द्रसैनिक, इन्द्रकील पहाट पर पहुँचे । वहाँ पहुँचकर वह सारी सेनासदृति कमलों एवं फेनों के तुल्य मुख और श्वेत छत्रों से आकाश गया की भाँति अत्यन्त सुशोभित होने लगी । रथों में जोड़े हुए घोड़े, लगामों को पीछे कसने से अपने शरीर के पूर्व हिस्सा को झुकाकर बादल की शशी रूप सडक से उतरते हुए विमानों को क्षितिजल पर ले आये । उस पर्वत की ओर गगन से उतरते हुए हाथी सब, बादलों के मध्य में रहने के कारण समुद्रमध्य विराजमान मीनाक आदि पर्वत जैसे माछम पडते थे । उम पर्वत की चोटी पर बैठे हुए मीरगणक्षरणाओं के शब्दों से मिश्रित रथों के घर्ष आवाज को सुनकर मेघ गर्जन की भ्रान्ति से गले को ऊपर उठाकर ताकते हुए अत्यन्त उत्कर्षित हो गये । इस तरह सब जीव जन्तुओं का अत्यन्त कुतूहल पैदा करती हुई इन्द्रवाहिनी इन्द्रकील पर आपहुंची । बाद में गन्धर्व गण उस पर्वत पर शिबिरों को बनाकर गङ्गा के समीप हरी २ घासों से मरी हुई मृमि पर रहन सधन का क्रम स्थिर कर पर्वत की भी अत्यन्त शोभा बढ़ाकर रहने लगे । तदनन्तर उन मुराङ्गनाओं के मीम विलास के काम में आने से अत्यन्त सुमन्ध पुष्पों से सुशोभित पौधे तथा नवीन पल्लवों से सुसज्जित लतायें सफलता को प्राप्त हुई । उन लोगों के सहवास से नगर की तरह उस पर्वत की शोभा माछम पडने लगी ।

अष्टम सर्ग ।

गणधरों और अप्सराओं के क्रीडादि का वर्णन—

उत्सव गणों से युक्त होकर देवाङ्गनायें वन में विहार करने की इच्छा से अनेक विध सुख साधनों से सम्पन्न तथा अत्यन्त सुन्दर नगर को भी छोड़कर सवन वन में प्रवेश करती हुई अपनी कामितच्छया से वन जगामों को प्रकाशित करती हुई विन्वणी की तरह चमकने लगीं । वान में अनेक फूलों से सुशोभित लताकुम्भों में निदरण करती हुई बाहुलता रूप बनलताओं से लिपटे हुए पर्व पुष्परस का पान करने वाले भ्रमरों से युक्त चञ्चल त्रिजल्योवाली अशोक वृष्टि को देखती हुई परम आनन्द का अनुभव करने लगीं । उनमें किसी एक मानिनी नायिका को सरस नायक ने कहा—हे मानिनि ! नवीनपल्लववत् अत्यन्त कोमल बाधों को गत कपालो क्योंकि कल्पलता के भ्रम से आवे हुए भीरे टर रहे ह । प्रणय कलह में बनावटी गुस्सा कर प्रिय से लड़ी हुई किसी नवोद्गा को मनाती हुई सखी कह रही थी—हे सखी ! कोप को त्यागकर तुम अपने प्रिय बल्लभ के पास जाओ वरना पीछे पड़तापैकी इस तरह लीला के साथ विहार करती हुई वे अप्सरायें सरस पक्षियों के मधुर कलत्र से झकून होती हुई पर्वतीय वननदियों की अनुपम शोभा पर मोती की तरह हर नाओं के अन्विन्दुओं तथा भ्रमरों से श्याम पुष्पों से सुशोभित वनलताओं और चन्दन वृक्षों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं । —भी तो करी पर हाथ से ही तोड़ने के लयक रमणीय पुष्प पुष्पों को छोड़कर प्रेम से प्रिय द्वारा लिये गये पुष्पपुष्पों को ही लेना किसीने पसन्द किया। कहीं तो कोई कामिनी पुष्प देने की इच्छा से प्रिय द्वारा सौन के नाम से दुलार जाने पर अत्यन्त दुःख होकर नहीं कुछ उधर देकर केवल भाव बहानी हुई भूमि को नर से लिखने लगीं । कोई प्रीक्षा नायिका तो पति क साथ बान करते समय छीन होने से अवस्थाए नीरीकन्धन के मुक्त जाने पर भी "सखी अब शरीर पर से गिरे हुए कपड़े को भी नहीं सम्हाल सकी । किसी चतुर प्रणवमा नायिकाने तो प्रिय द्वारा दी गयी पुष्पमाला से शिर में अर्पण करने के बटाने से प्रिय को ही स्नान से शोभासा रङ्गरमस में ताजम किया । किसी कामिनी ने तो बखतहित नितम्ब पर कुछ झुले हुए दोनों स्तनों तथा रोमपक्षि युक्त उधर की दृष्टांकर अत्यन्त मनोहर काले २ केशपाशों से बल्लभ को मोहित किया किसी प्रीण्य भुवति ने तो अपनी आद्य में पड़ी हुई घृति को मुख पवन से निनालते रहने पर भी नदी सफ़ल होते हुए अपने प्राण बल्लभ को कुर्बों से शान्ति किया । उस समय पर्वतीय भाग से किसी तरह निकलनी हुईं उन सुगन्धनाओं क ऊरु-अपन स्नानादि के मार्ग से मन् गति पर चन्द्रशरमणि से शोभित निम्बों तथा स्नान एवं त्रिविधोभित उन्नों और पत्तीने के मूल से अत्यन्त छत्रित वगण सखि सुर्बों को कुपुष्ट के साथ देखते हुए गन्धर्वगण परम आनन्दित हुए । वान में वे अप्सरायें गणधरों के साथ जब केलि क्रीडा करने लगीं । स्नान समय

तरङ्गों से आहत होकर उनके केशपाश विखर गये। मालायें विवृण्विती हैं। म्मनादि में लिप्त कुङ्कुमादि के राग ध्रुव गये। कमलिनी में लीन रिती नायिका की आगों में झमर युक्त कमलों का और केशपाशों में झमरों का झमर होने लगा। जल में विहार करती हुई उन युवतियों के अञ्जन ध्रुव गये, आसँ लाल २ हो गयीं। अधर पद्म भी अलता के राग से रहित ही गये। उन ली जनों के हाथ से ताडित होकर मृदङ्ग सङ्घ गम्भीर शब्द करते हुए पानी का, नायिराओं के बड़े २ स्तनों क मन्मथक जन्व आघात से ताललय युक्त होकर मृत्वसा होने लगा। उरु स्तल के कपड़े में छोटी २ मण्डलियों क पुसकर फरफराने से त्रास के मारे आसँ चञ्चलिन होने लगीं और वाहुल्लायें कापने लगीं। मीन के अभिमव जन्व घबराहट के बहाने कोरँ नायिका प्रिय को ही लिपट गइ, कोरँ मानिनी हँसी मलौल में प्रिय द्वारा जल से ताडित होकर रुडी हुई सी होने पर भी नायक से मनायी जाने पर खुश हो गईं। कोरँ कासुकी तो मदन से विह्वल होकर दिहमी से प्रिय के ऊपर पानी छिड़कने के लिये उद्यत होती हुई हाथ को प्रिय द्वारा पकट लेने पर नीवीबन्धन के झुल जाने पर भी करवनी से कपडा को बान्धकर सन्धल गई, इस तरह व गन्धर्वाङ्गनायें चञ्चला-चञ्चली को विधुवा कर और कमल वन की शोभा को नष्ट कर तारे गणों से चमत्कृत रात की तरह सुशोभित हुई। और गङ्गा का जल भी उनके अङ्गों में लिप्त चन्दन रस के सम्यक से प्रुटित भूषण मणि की प्रभा से देदीप्यमान होते हुए तरङ्गों से युक्त होकर लीनों का अत्यन्त नयवानन्द जनक हुआ।



नवम सर्ग ।

सायंकाल आदि का वर्णन ।

अब सन से पहले महाकवि भारद्वाज उल्लेख द्वारा चर्यासुत का वर्णन करते हैं—जल केलि क्रीडा से निवृत्त उन सुराङ्गनामों के मन को रमण करने की इच्छा से क्लृप्तित सा समक्ष कर चर्य भगवान् अस्त होने के लिये उद्यत हुए। उस समय चर्य अपनी किरणों को ढीला कर पश्चिम दिशा का आश्रयण करके कमल-मधु के पान से लाल वर्ण सा अङ्कवाला होकर शोभने लगा। चक्रवाक पक्षी के हृदय में विरहसन्ताप प्रकट होने लगा। पश्चिमदिशा में अपने आश्रय भूत चर्य के व्यसन से दुःखी सा होकर किरणों का समूह मलिन सा हो गया। चिलिया पेटों पर आकर और गुल मचाने लगी। शाम का समय निकट आ गया सन्ध्याकालीन कालिमा से पश्चिमदिशा लाल सी हो गई। क्रमशः एकाएक सन्ध्याकाल भी बितने चला। अन्यक्षरों से वन उपवन नदी पर्वत और सब दिशायें व्याप्त हो गईं। मिलन की इच्छा रहनेस चक्रवाकदम्पति का विरह अन्य सन्ताप बहुत बढा सा देखने लगा। चक्रवाक के विरह दर्शन से व्यथित सा होकर कमलिनी का मुख भी मलिन सा हो गया। दूसरी ओर केतकी पुष्प के किञ्चलक की तरह स्वच्छ चन्द्र-चन्द्रिकायें दिगन्तों की व्याप्त

कर भासने लगीं। पूर्वदिशा चन्द्रोन्मत्त से अथकार रहित होकर अवलिन हो गई। हिमवत् शृङ्ग चन्द्रकिरणसमूह नील भागाद्य में समुद्रजल मध्य प्रविष्ट स्वच्छ गङ्गाजल की तरह फैल कर शीमने लगा। उदयकालिक छात्रिणा से रक्त सा दीपन हुआ चन्द्रमा पूर्वदिशा रूप पयोधि से सुवर्ण घट की तरह निकला हुआ सा शिखर देने लगा चन्द्रोदय से भासती हुई रात्रि अथकार रहित होकर प्रुषट रहित एतन्वनी भववत् की तरह हीखने लगी वरपि चन्द्रमा ने अपनी चान्दनी से आवाद्य की अत्यन्त प्रकाशित नहीं किया था शिखरों में अपनी ज्योति नहीं फलायी थी फिर भी रात्रि हिम निरण चन्द्रमा से अवदन सुशोभित हुई। चक्राक युगल चर्य किरण में विद्युत्त होनेसे शीतल शशि निरण की देखने में भी समर्थ नहीं हुआ। शीतल मन्त्र सुगन्ध पवन बह रहे थे कामदेव ने भी चन्द्रकिरणों को सन्ध्य मानवर विश्वविजयी थाप का सन्धान किया। उस अत्यन्त सुन्दर सुहावना समय के होने से सुरनिताय काम वासनाओं से अत्यन्त पीडित होकर सुरत भोग दिलास का उस उत्तम समय को समझकर कोकिलिनिर के सने होने पर भी बुधारा सुसम्भिन करने की अमिलाषा करती हुई एव अलङ्कन होने परभी पुन श्वासर से मूषिन होती हुए विरहखर होकर केवल प्रिय समागम की चाह करने लगीं। बाल में काम से अत्यन्त पीडित होकर स्वयं प्रिय भवन में चली जाने लगीं। कोर्न सुषति तो स्मर कर प्रिय को दूर भगा देने पर भी पुन बुधारे की भा ना से सटी की सुशामद करती हुई प्रिय से प्काथक स्वयं अथक मिल गई। उस समय में अवसर पाकर कामदेव ने मद्यपान से विद्युत्तनायिका का मान दग्धन कर कान्त के पास जाने में लब्धा की प्रियिल कर दिया। किसी नायिका ने प्रणय कलह से बठकर चले जाते हुए नायक की आद्य गिराकर अत्यन्त दारा लौटाया। किसी नायिका का प्रियश्वरा चुम्बन करनेपर कामोदीपन से लब्धा के साथ १ नीवीबन्धनभी सुल गया। किसीना मद्यपान से मान हट कर प्रणय कलह भी दूर हो गया। कामदेव का मनोरथ पूरा हुआ। नायक नायिकाओं का परस्पर मद्युपान का आदान प्रदान होने लगा। मद्यपान से मत्त होकर सली के सामने ही कोर्न नायिका नायक के शरीर पर रहरमस में निरने लगीं। चन्द्रोदय से मदनखर होकर सप्त सुषतिषा प्रिय के प्रति प्रणय कलह को भी खीट कर जाने लगीं। अकस्मात् वनिताओं को समोग करने की अमिलाषा होने लगी। चुम्बन हन्तखत अथर पान आदि रति व्यापार होने लगे। इतने में ही शत बीज कर प्रभात होने आया वैतालिक प्रात-कालिक संगल्लगान करने लगे। नी- सुलने पर धवन करने से रतिजन्य पञ्चवट दूर होने पर भगल गान द्वारा उद्वीधित होकर उन सुषतिषों का फिर से समोग आरम्भ हुआ। प्रभात पवन दयिताओं के रतिजन्य खट की दूर करते हुए धीरे २ बहने लगे।

दशम सर्ग ।

अर्जुन को लुभाने के लिये अप्सराओं का आगमन ।

अर्जुन को लुभाने के वास्ते उद्यम आभूषण एवं रति वर्द्धक इत्र सगन्ध तैलादि साधनों से सुशोभित होकर रमणीय हावभाव भ्रूमिक्षेपादि करती हुई सुरललनार्ये अपने शिबिरों को खोदकर पृथुल नितम्ब जघन तथा स्नान मारों से मन्द २ गमन बरती हुई चल पड़ी । उनके चलने से पैर के अलते के रङ्गों से रञ्जित होकर पृथिवी लोभायमान हुई । इन्द्र कार्पनीमृपुर आदि भूषणों के मधुर ध्वनि से वन पर्वतों को सुचार्ये प्रतिध्वनित होकर मुत्तरिन टो उठी, बाद में गङ्गा जी के तट पर यम नियम पूर्वक इन्द्रियों को वध में बरके तपस्या करते हुए इज्जत उस अर्जुन को देखा । देखते ही मुनिजन को ठगने के लिये प्रकृत उन गन्धर्वाङ्गनाओं का अर्जुन के प्रति काम भाव प्रवृत्त हुआ । उस समय गन्धर्वगण शृदङ्ग-वीणा बजाने लगे, सारी ऋतुएँ एक साथ एकत्रित होकर वहा आ गई । आकाश में बादलों की कालीवटा छा गयी । बिजली चमकने लगी । मालतीपुष्प सिलने लगे । वर्षा से न्योवन भीला हो गया । शीतल मन्द सुगन्ध पवन बहने लगे । नीयल को सुरीली ध्वनि होने लगी । मोर नाचने लगे । मलयान्वल पवन मन को हरने लगा । कुमुद पुष्प से सुशोभित शरदऋतु वर्षाऋतु से सम्मिलित हो गई । अमरसुधन से मिश्रित होकर हसरव शोभने लगी । प्रियङ्गु-कुन्द पुष्पों को विकसित करता हुआ अकाल में ही हेमन्त आ पडुचा, एवं खपली छताओं के पुष्पों के टिल जाने पर भी अर्जुन का मन जरा सा भी विह्वल नहीं हुआ । गिरि काननों को विकसित करती हुई नवीन पक्षियों से अत्यन्त रमणीय सङ्कार शृङ्गा को समुहासित करने वाली वसन्त ऋतु भी आ गई । अमर गण के सुबन से सुश्रित होता हुआ कमल वन खिलने लगा । किन्तु इतने पर भी मुनि अर्जुन का मन जरा सा भी विचलित नहीं हुआ । बाद में ग्रीष्म समय मङ्गल पुष्प को विकसित करता हुआ आ पडुचा । ये ऋतु गण तीनों लोकों को जीतने में समर्थ होते हुए भी अर्जुन को बन्दी-भूत नहीं कर सके । बन्धवों का मनोहर वीणारव और स्वाभाविक सुन्दर ऋतु समय अर्जुन को प्रलोभित करने में असफल होकर सुराङ्गनाओं के ही कामबिहार को पैदा करने लगे, वे सुनतिया सौन्दर्य गुणों से अर्जुन को प्रलोभित करती हुई स्वयं मदनातुर हो गई । लास्य में चतुर होती हुई भी मुनि को प्राप्तकर कामविह्वलता से नृत्यकला भी भूल गई । शृङ्गार चैथार्ये भी विकल हो गई । किन्ही के जघनों पर से यानु द्वारा कपट्टे हट गये । किसी दूती ने अर्जुन से सखी वचनों का अनुवाद करके कहा कि—“इम दवित को लाओ, मे काम से पीठित हो रही हूँ मेरा मन मुनि के पास चला गया है” इत्यादि । कोई तो ब्याक्ष विक्षेप करती हुई शान भाव चैथार्ये द्वारा लास्य कर रही थी । परन्तु जितों ब्रथ अर्जुन के प्रति उन अप्सराओं के सारे हावभावशृङ्गार रति चैथार्ये कटाक्ष-नाव हसपमनादि प्रवास विफल ही होते गये । इस तरह अविह्वल तपस्या से इन्द्र को आराधित कर रियु को नाश करनेके लियेअस प्राप्तकरारान्ध रक्षणी को चाहते हुए अर्जुन के प्रति विरल प्रवास होकर वे गन्धर्व और अप्सरायें अपने २ स्थान चली गयीं ।

पचादश सर्ग ।

अर्जुन के तपोऽनुष्ठान को देखने के लिये मुनिवशधारी इन्द्र का समागमवचन ।

अपसराओं के लीटकर चले जाने पर उनके मुँह से अर्जुन की त्रिनेत्रियुग मुनिक प्रमत्तता से इन्द्र अर्जुन के परीक्षणार्थ नरोदन में आवे। अत्यन्त भय मुनिवश में आवे हुए इन्द्र को देखकर उनसे अर्जुन अत्यन्त प्रमादित हुए। बाद में अर्जुन द्वारा मारुत होकर इन्द्र आसन पर बैठकर अर्जुन की उपदेश देने लगे—इ अर्जुन बृहज्जनों शाग भी मुदुत्वा लोऽनुष्ठान को तुमने ज्वानी में ही पूरा करवा प्रारम्भ किया है इससे मैं अत्यन्त दुःख हो रहा हूँ। समने अधिक वेदा प्रमाद मातृम पत्ता है। 'म मसा' न नारुण्यलक्ष्मी शरद कर्तु व मेवों की छाया की तरह क्षण स्याद्विनी होती है। विषयों आपल रणगीय होन हुए भी परिणाम म दुःख ही होते हैं। यह तो और शोचनीय विषय है कि प्राणिम की मय से पहले स्वयं लेने में कितना दुःख होना है वात् में जीवन भी हमेशा अवि-व्याधि-वीणाभार शौकादिसे युक्त होने से विषमिभिन अन्न की तरह भवकर रहना है 'म पर कृतु अगे विनरात्' बालवत् सुहृदो तैयार रहनी है। इसलिये आप जमे विवेकी महारत्ना पुण्य मोक्ष की ही इच्छा करते हैं परन्तु आप तो आशुष वचनानि युक्त होनेसे अविनयाभिलाषी मातृम पदतेह मोक्षाभिलाषी मातृम नहीं पत्ते। आत्मपीना की तरह परपीन भी नहीं करना चाहिये। इमालिये अमी गामी के पवित्र जल से अत्यन्त पावित्र इन्द्र इन्द्रोक्त पर्वन पर मुक्ति सुलभकर में मित मन्त्री है अन्त अन्त शक धारण करना न्यर्थ है। वात् म विनय के साथ अर्जुन इन्द्र से मधु वचन बोके भगवान् 'आपने विन्तुत्वा युक्ति युक्त वार्ते कपी है। आपल वचन शीघ्र और प्रसात् गुण से मेरे हुए प्रतीत होते हैं। सर्वथा अपना वचन अत्यन्त मनुष्य पत्ता है किन्तु आपने मेरे तपोऽनुष्ठान के रहस्य एवं पौर्यायर्त क्रम को नहीं जानकर ही मुनिवद सुझको उपदेश दिया है। प्रसून विषय को नहीं जानकर बोलने वाले बृहस्पति का वचन भी निष्फल ही जाना है। मैं आपको एक उपदेश का पात्र नहीं हूँ। मैं तो एक क्षत्रिय पाण्डु का पुत्र अर्जुन हूँ। दुर्बोवनात् द्वारा सर्वस्व ले डेनेर अत्यन्त दुःखी होकर सुभिष्ठिर की की आज्ञा से इस दुस्तर तर की मैं कर रहा हूँ। भगवान् व्यास से आदिष्ट होकर मन्त्र अहंकर क्षत्रिय कुल के इष्टदेव भगवान् इन्द्र की आराधनाार्थ यहा आया हूँ। महाराज सुभिष्ठिर कन्त जुआ में अपना सर्वस्व हार गये। अमी मेरे विरह से द्रीपथी और अन्य माहवों के साथ वे अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं। मैं आप से अधिक कदा तक बर्हूँ। छत्र ने हमारे शरीरों से चान्द तर भी छिन ली। सर्ववधी उनके वचनों की सुनकर हमारे हृदय क्रिदीर्ष हो गये हैं। बहुत दुःख की बात तो यह है कि मेरी सभा में तुरी तरह द्रीपथी उनक द्वारा अपमानित की गयी। बहा पर द्रीपथी आत् नहानी हुं तुररी पथी की तरह रोह। परन्तु समय की नियममर्मादा की जानसे हुए सुभिष्ठिर महाराज ने ऐसी कुत्सा की भी छेकते हुए अपनी मनस्विता का शक्तिव देकर विश्व को ही चकित कर दिया।

दुर्जनों के साथ मैत्री करना महान् अनर्थकारक होता है। उती का यह परिणाम हुआ कि दुर्योधनादि के साथ अज्ञात शत्रु युधिष्ठिर का भी उन से इतनी बड़ी शत्रुता होगी। दुर्जनों के स्वभाव का पता लगना फलप्रकाश से पहले अत्यन्त कठिन हो जाना है। युधिष्ठिरजी भी उसके प्रतीकार करने की भावना से ही जी रहे हैं। इस सत्तार में मानवीन भाषियों को लोग दृष्ट से भी तुच्छ समझते हैं। इसलिये मैं मुख का अभिलाषी नहीं हूँ। एव पुत्रापा और मृत्यु के भय से मोक्ष को भी नहीं चाहता, किंतु विरहाग्नि से सतप्त मनुवनिताओं के जीवन जल से बेरियों के झर से प्राप्त अपयश रूप कीचट को धोने की इच्छा से तप कर रहा हूँ। इसलिये मुझे लोकापवाद का भय नहीं है। मति विभ्रम जन्य प्रमाद की भी शक्ती नहीं है। शत्रु का बदला नहीं चुकाकर मोक्ष प्राप्त करना भी विजय का प्रतिबन्धक महान् विघ्न ही है। शत्रु को मार कर अपने यश को नहीं फैलाने वालों की अपेक्षा नहीं जन्म लेना ही अच्छा है। वैसा पुरुष ही जीता हुआ भी मरता ही रहता है। मेरे बड़े भाई युधिष्ठिर जी अपनी प्रतिष्ठा के अनुसार शत्रुवधार्थी होकर मेरी ओर ही निगाह डाले हुए बैठे हैं। मैं उनकी आशा का उल्लंघन नहीं करना चाहता। मेरी प्रतिष्ठा है—या तो मैं इस पर्वत में बिलीन हो जाऊंगा, या अपने इष्टदेव इन्द्र की आराधना कर अयश शल्य को संपूल नष्ट करूंगा। बाद में इन्द्र अर्जुन को महादेव की आराधना करने के लिये विजयार्थ उपदेश देकर अन्वहित हो गये।



द्वादश सर्ग ।

महादेव की आराधना के लिये अर्जुन का तपोऽसुष्ठान वर्णन—

इन्द्र के उपदेशानुसार अर्जुन यथाविधि शिवजी के आराधनार्थ कठिनतम तपस्वा करने लगे। शन्द्रियों को वश में कर के उपवास करते हुए विजयामिलापी हो कर सूर्य के सामने पक पौर से खड़े होकर तप करते हुए उन के कितने ही दिन बीत गये किन्तु वे पर्वत की तरह रैच धारण कर अपने नियम से नहीं बिग्ये। पास ही मैं वन के पके हुए फलों और अत्यन्त शीतल स्वच्छ पानी की भी चाह नहीं की। उन का मन उस अवस्था में भी परिभ्रान नहीं हुआ। तप से शरीर के पतले हो जाने पर भी ओज नहीं घटा बल्कि बढ़ता ही गया। जटाओं के समूह से देदीप्यमान होते हुए, और धनुष को तान कर सन्धान किये हुए वे अर्जुन रुद्र की तरह लोगों की विस्मय जनक भयकर प्रतीत होने लगे। बाद में अर्जुन के तप प्रभाव को नहीं सहन कर नरार्पिलोग शिवजी की शरण में पहुँचे। नहीं पाये पर सहस्र शूर्प किरणों से भी अधिक तेजों से प्रकाशमान महेश्वर को सहसा देखने में वे अपि समर्थ नहीं हो पाये। अनन्तर वे मुनिलोग शिवजी की सुती करने लगे। स्तुति सुन कर महादेव उनके सामने हृदयरूप धारणकर प्रकट हुए। बैठ पर खड़े हुए हिमालय के शिखर पर विराजमान होते हुए भी अलौकिक नेत्र पुञ्ज से अखिल विश्व की

व्याप्त करते हुए और महाकर्म में गंगा केन की तरह शक्तिशाली की धारण किये हुए पञ्च सर्य समूहों को बाहुओं में परिवर्द्धित किये हुए शिवजी स्वर्गात् से विभ्रजमान हो रहे थे। शिव के सामने बड़े पर व महर्षिभ्यो जर्जन क तन्मन्त्रभावा वा वर्जन धरन लगे—भावनू! इनासुर की तरह दुर्मन्त्रिण समूह की भी अभिभूत धरन वाग की भीणा शरीर वाला पुरुष तप कर रहा है। "स म यही एक विचित्रता है कि—तस्वी होना हुआ भी भगुप वाग कवच रख लय बन् और शृगधम की धागा किया हुआ तासत के विच्छ वेद्य वाला प्रतीत हो रहा है। जब वह चम्पन लगना है तब पृथिवी की काप ठगी है। हम लिये हमलोगों को उसक विषय म भानू मन्ह हो रहा है—कथा व मुरासुर सहित सारे ही विश्व को जपध वेग से त्वा र हराना चाहता है या जीन लेना चाहता है? या एक ही वाद सहाय कर आना है? ऐरिन हम इसके म्दु म्द वेद्य की सद्म करने में समथ नहीं है। भावनू! आप मर्तु होठे हुए भी कथा हमरी उपेक्षा कर रह है। हम आप की ही शरण में आये हुए है। आप ही हम को बचाने म समर्थ है। हम तरह निवन्धन कर महर्षिभ्यो क विरत होने पर भगवान् शशुर ने गम्भीरता पूर्वक बोधना प्रारम्भ किया—अये तस्विभ्यो! यह तो वन्धिकाग्रम तपोधन में रहनेवाले सृष्टि-प्रत्यक्षकारी भगवान् नारायण का अद्य हान पृथिवी पर अवनीर्ण मनुष्य नामधय कृष्ण का मिय मरामा भलब्ध है। अभी सरल लीन। की सनाने म तन्पर ह्म तुल्य पराक्रमशाली प्रबल शत्रुओं को जीवने की अभिलाषा से मुक्त को प्रमत्त करने व लिये तपोधनुषानार्थ चप हुआ है। देवराय में लगे हुए हमको देव कर दिव्यवाषा टालने के लिये छल से बराह रूप को धारण कर मूकदानव जीनता चाहैगा। तीसमय में किरान रूप धारण कर मेरे द्वारा उसकी मारे जाने पर भी अर्बन भी एक साथ वाग चषधने के कारण उस शृगवा के लिये ज्ञगर पड़ेगा। उस समय मेरे साथ वीरसम्यम करते हुए अर्बन के पराक्रम की आपली देव लेना। इस तरह उनकी समझा कर शिवजी विरात बध धारण कर नवार हो गये। तन्नुसार किरान सना मो तैवार होवर सिंह समान गरजने लगी। और शिवजी से आदिष्ट होकर शृगवा क बहाने से नीतरफ चल पड़ी। प्रमथ गणों के साथ महर्षेय की भयनर रूप धारण कर सब को भवभीन करते हुए अर्बन के आग्रम स्थान पर पहुंचे। वहा आवे ही अनुन की नीर घावा करता हुआ बराह रूपधारी मूक दानव को देखकर किन्हीं लडाकू विरातों के साथ शिवजी उसके पीठे चल पड़े।

अयोध्या संग ।

अर्बन के बराह रूपधारी मूकदानवदर्शन का वर्णन ।

परम तपस्वी अर्बन ने आत्मान भयनर शरीरवाले पर्वन को भी चिन्तित करने में समर्थ शीपगन्धार्जों से विकराल मुसवाले बराह रूप की धारण किये हुए मूकदानव की देखा। गान् में क्रोध से रोंगटें खड़े कर अपनी ओर ही दूर से धावा कर आवे हुए उस की देखकर

अर्जुन अनेक वितर्क करने लगे—वह शूद्र कठोर दातों से वृक्ष के बड़ भाग की उगार कर और पर्वतीय तट भागों की भी तोड़ फोड़ कर क्यों अकेला ही मेरी ओर आक्रमण कर रहा है ? तप के प्रभाव से तपोवन के शान्त स्वभाववाले मृगों के परस्पर हिंसावृत्तियों की छोट देने पर भी यह मेरी तरफ ही मारने की भावना से दीटता आ रहा है इसके मुझे शक हो रहा है कि शायद किसी दैत्य का तो यह बराह रूप का इन्द्रजात नहीं है ? अवश्य ही यह मारने वाला कोई व्यक्ति है, बराह नहीं है क्यों कि इस की देहकर मेरा मन बहुविध वृत्ति बाध हो रहा है । जिसको देखकर चित्त सक्षुब्ध एवं प्रसन्न हो उसी को क्रमशः शत्रु और मित्र समझना चाहिये । निरपराध मेरे जैसे तपस्विजन का शत्रु नहीं हो सकता यह समझना भी गलत है क्योंकि अकारण द्वेष करने वाले दुर्जनों के लिये कोई भी कार्य अकार्य नहीं है। इच्छिये यह माया रूपधारी कोई दैत्य दानव ही प्रणीत होता है। जो कोई भी हो अवश्य ही मैं इस हिंसक को मारूंगा। इस तरह शोकवद अर्जुन उसको मारने के लिये गाण्डीव धनुष पर बाण सम्भान कर सुसज्जित हो गये। बाद में भगवान् शूद्र जी सुसज्ज अर्जुन को देखकर अपने पिनाक धनुष को भी प्रत्यक्षा-तीर कमान से सम्भान कर तैयार हो गये। शिवजी ने तुरत ही उस बराह को लक्ष्य कर अपने पिनाक धनुष से बाण चलाया। वह बाण गनगनाहट के साथ अत्यन्त वेग से जाते हुए बराह शरीर की वैधित करके गिरा कर पृथिवी में धुल गया। अर्जुन ने भी उसी समय में बाण को छोड़ा। वह बाण भी सफल जीव जन्तुओं की न्यथित करता हुआ अत्यन्त वेग से जाकर लक्ष्य को विद्धकर पार चला गया। बाद में दोनों के बाण लगते ही वह शूद्र कटे वृक्ष की भांति गिरकर भराशावी हो गया। तदनन्तर अर्जुन अपने बाण को लेने के लिये उस बराह की ओर चल पड़े। वहा जाकर मृत बराह को देखने के बाद शिवजी के द्वारा भेजे हुए अचानक उपस्थित एक बनेचर को देखा। उस बनेचरने अपनी सम्पत्ता के अनुसार नम्रता पूर्वक अर्जुन को प्रणाम कर कहा—भगवन् ? आपका यह सौम्यवेश अत्यन्त रमणीय होकर मन को शान्त करने वाला प्रतीत हो रहा है। आपका तपोप्राप्त अत्यन्त ऊर्जस्वल एवं प्रभाव से परिपूर्ण माहुम पदार्थ है। तपस्वी होते हुए भी आप गुण गण गौरवों से पर्वतन्द्र दिनालय की तरह स्थिर एवं महेन्द्र के समान सुन्दर राजेन्द्र माहुम पद रहे हैं। निर्जन में रहते हुए भी मृत्तों से विरे हुए की तरह कान्तिमान् लक्षित हो रहे हैं। आप जैसे महात्मजों के लिये तो मोक्ष भी दुर्लभ नहीं है, विजय प्राप्ति की तो बात ही क्या है। ऐसी दशा में इतनी स्वाति वाले आप बराह को भेदन करनेवाले मेरे स्वामी शिवजी के बाण को नहीं लें। मनु पर्यन्त सभी महात्मा सत्याचार का पालन करते आये हैं, आप ही यदि उससे च्युत हो जायेंगे तो वह सदाचार ही रसातल में चला जायगा। मैं तो समझता हूँ कि मोक्ष से ही दूसरे के बाण को लेने के लिये आप प्रवृत्त हुए हैं। दूसरे के बाण से वैधित पशु की ही वैधित कर के आप समाप्ति नहीं हैं बल्कि चोरी करने के के लिये ही उष्य हो रहे हैं। भय आप का साहस है। मेरे स्वामी किरातपति के सिवाय दूसरा

कोई भी इस मयनर बठोर बराह को नहीं मार सकता है। सब विपन्नप्राणियों के हित करने वाले किरातपति के साथ उत्पन्न विरोध आपकी ही समूल नष्ट कर देगा। इस लिये उनका बाण लौटाकर राम सुग्रीव की भांति उनसे आप मैत्री कर लीजिये। आप विनय के साथ उनसे वाचना कर तो बाण की कौन पूछता सारी पृथिवी भी ही जीतकर वे आपको दे सकते हैं। उनसे कोई भी वाचक हताश होकर नहीं लौटता। इन तरह स बनेचर ने अर्जुन को अनेकों प्रकार बाण लौटाने के लिये समझाकर कहा।

चतुदश सर्ग ।

बनेचर के प्रति अर्जुन के प्रत्युत्तर का वर्णन—

उस बनेचर के गर्वले बचन प्रपञ्चों से अत्यन्त आहत होकर भी समुद्र के जल तरङ्गों से ताड़ित पर्वत की तरह अर्जुन क्रोधित होकर भी गम्भीरता के कारण विठ्ठल नहीं हुए। परन्तु बड़ी शान्ति से समयानुसार अभ्युत्थित होकर यथोचित उत्तर देने लगे—इन सप्ताह म स्पष्टाश्रितों से युक्त प्रसाद गुणगुम्फित अत्यन्त गम्भीर अवगणिय शब्दों की भी रचने वाली मधुर वाणी पुण्यवाल् व्यक्ति ही बोल सकते हैं। आपकी भी वाणी बसी ही मनोहारिणी प्रतीत ही रही है। को तो केवल शशाङ्क के ही प्रिय होते हैं। क्रोध बचन रचना में ही ह्मवगन मान की निविष्ट करने में चतुर होते हैं। कोई व्यक्ति तो गूढाध की ही कबल व्यक्त करने में पट्ट होते हैं। परन्तु आप तो इन सब गुणों से युक्त मातृम पट्टे हैं। यह आप में एक विशेषता पायी जाती है। किरात होकर भी आप अपनी एक विलक्षण बोलने की कला से सान्त्वना पूर्वक प्रलीमन देकर ठगना चाहते हैं। जिससे अनुचित कार्य भी समुचित ही मातृम पट्टा है। यदि आप बड़े उचित वक्ता हैं तो जब आप के स्वामी कलविधातक मेरे ऊपर आक्रमणरूप अनुचित कार्य करना चाहते थे तब आप ने उन्हें क्यों नहीं रोका। वास्तविक बात तो यह है कि आप के स्वामी का बाण नहीं छिप गया है उसके लिये तो बन पर्वतकी टूटना ही ठीक होगा। सब्जनों के सदाचारादिक भी मैं किसी तरह परित्याग नहीं करता। शाण्डववन की जलते समय अग्नि द्वारा मेरे सारे बाणों के दग्ध हो जानेपर भी मैंने सुतेन्द्र के बाणों की भी छेने की इच्छा नहीं की। पर्वतीय किरातक बाण की तो बात ही क्या है। इस जगल में रहनेवाले मृगादि पशु की मारने वाला ही उसका अधिकारी होता है इस नियम से भी बराह की मारने वाले मुण की ही बराह मिठना चाहिये। इसमें आप के स्वामी की अपनापन का मिथ्याभिमान छोड़ देना चाहिये अन्यथा उनका कल्याण नहीं होगा। अपने को बचाने के लिये बिधासुकी मारने में कोई भी दोष नहीं लगना है। इस शिकार को आप के स्वामी तथा मैंने एक साथ ही मारा है इसलिये पहले उनके द्वारा ही मारे जाने में कोई शक्ति नहीं है। यदि मुझमें बन्धानके लिये ही उन्होंने बाण फेला तो शत्रु का नाशमात्र होने से ही उनका उद्देश्य पूरा हो गया फिर उसकी मेरे द्वारा के छेनेपर क्यों उनकी धर का लोभ हो रहा है कुछ समझ में नहीं आता। कृपा की परम्परा ही

गयी। मनस्वी व्यक्तियों को दूसरे से मागना शोभा नहीं देना। आपके स्वामी मिथ्या भागीप
 ल्याकर क्रुद्ध अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। यदि वे अख् ही देना चाहते हैं तो
 मुझ से माग लें, मैं उनको दूमरा ही अख् दे सकता हूँ। महान् व्यक्ति नीचों के साथ, बैर
 या मित्रता नहीं करना चाहते, इसी से मैंने उनके बहुत से शिरोधार्य वचनों को सहन कर
 लिया है। यदि वे स्वयं वाण लेने के लिये यदा अव्यय तो मैं अच्छी तरह उम्मा मजा
 चला दूंगा, इस तरह अर्जुन के वचनों को सुनकर यार। "हमझे जीतकर कहा ज्यभोगे"
 इस तरह अपने प्रताप एवं गर्वोक्ति से वह बनेचर्चा अर्जुन को डराता हुआ महादेवजी के
 पास चल पड़ा। बाद में शिवजी को आज्ञा से किरात सेना गरजती हुई अर्जुन न हटने
 के लिये चल पड़ी। शिवजी भी अपने पिनाक धनुष को तांगकर सेना का अधिपति
 होकर विराजमान होने लगे। बाद में वे प्रथमगण तपोऽनुष्ठान से अत्यन्त क्रुश होते
 हुए भी परम ओजस्वी एवं तुणीर से एक वाण को निकाल कर विजय की अभिलाषा स
 धारण किये हुए अर्जुन के पास पहुँचे। पहुँचते ही वे सब एक ही बार अर्जुन पर दूट पड़े।
 परन्तु उनके द्वारा अनेकों अख् शस्त्रों के प्रहार करने पर भी अर्जुन का एक भी बाल बाका
 नहीं हुआ। बाद में अर्जुन गाण्डीव धनुष को सनक कर प्रलय कालिक घोर रूप धारण
 कर क्रुद्ध करने के लिये प्रथमगणों पर दूट पड़े। उनके वाणवर्षों से सारी किरात सेना
 टककर मूर्च्छित हो गयी।



पञ्चदश सर्ग ।

शिव और अर्जुन का युद्ध वर्णन—

अत्यन्त क्रुद्ध वीर अर्जुन के वाणप्रहारों से सारे भूतवर्ग भयभीत हो गये। महादेवजी
 की सेना अपने आयुधों को छोड़कर भाग गयी, सामने में विद्यमान शिवजी को भी भय
 के मारे बबका कर नहीं देस सकी। उस की दुर्दशा देसकर धनञ्जय की भी दया आगयी।
 महान् व्यक्ति को कमबोर शत्रु पर भी क्रुना भज्वाती है। तदनन्तर वह अर्जुन चाप
 सन्धान कर कार्तिकेय की ओर लड़नेके लिये आगे चल पड़े। भय के मारे भागते हुए कार्तिकेय
 के सैनिकों के पीछे वे भी चल पड़े। अर्जुन के वाणों से पीडित सैनिकगणों को देखकर क्रुद्ध
 बबकाकर कार्तिकेय जी तसल्ली देते हुए समझाने लगे—अब सेनापतियों। आप लोग सधाम
 भूमि से मत भागें। आपके वाणप्रतजन्व दु खों को मैं सुद दूर कर देना चाहता हूँ।
 आप लोग बबकारें नहीं। कौनसी विपत्ति अभी आप लोगों पर आपडी, जिसको दूर करने
 के लिये आप लोग क्रुद्ध भूमि को छोड़कर भागना चाहते हैं। यह तो एक साधारण
 मनुष्य है। इसकी छोड़कर क्यों मागना चाहते हैं। इसके पास तो रथ बोज़ा हाथी
 पैदल सेना आदि साधन भी नहीं हैं। इस लिये आपको यहा से नहीं भागना चाहिये।
 अन्यथा अवश्य होगा। पूर्व जहाने में अर्जुनों के साथ क्रुद्ध कर के प्राप्त हुयस को
 भी आप लोग अभी क्यों छस कर रहे हैं इस तरह कार्तिकेय द्वारा समझाये

गये प्रमथ गणों को शिवजी ने अपनी मुहुराहट स अभयवापय प्रदान करते हु आश्रयन देकर सतुष्ट किया। बाण में शिव और अर्जुन म तुमु सग्राम होने लगा। अजन द्वारा प्रक्षिप्त गणों को शिवजी ने नदी चतुरास से सिद्ध भिन्न कर दिया। अर्जुन भी शिवगाथा का निवारण करते हुए सग्राम भूमि म त्रिचरन लग जीर गाण्डीय धनुष की कर । हु गूर्वस्त चमकन लग। शिवजी ने कृपा से द्रविण होकर मर्मवधी गणों को नदी बना। अजन नरु अनेनगणों से आहत होकर भी नदी बनाने इन तरह इन दोनों ने रोमाघरा १ सग्राम को देखकर महर्षि देन जीर प्रमथादि गण सभ चरित हो वे।

पोडग लग

छीलामाथ से किरातवेस को धारण करने वाले शिवजी के समर दशन से अर्जुन का वितर्क घणन।

तपस्वी अर्जुन किरानपति की सग्रामकुशलना को देखकर एव चरित सा टोरु अननप्रकार क तरविनर्क करने लगे—अहो ! इस सग्राम में मनवाले सिंगज हाथी भी नहीं सिगारै पकते। और अनरु पनामाओं से अलकून महारथ भी नहीं ह। बड़े वाण्णी होकर लौने वाले घोड़े भी नहीं हैं। न वा अत्यन्त लण्णु नीर म योद्धागण ही सिगारै पन्ते ह। वीरों के उत्साहवर्क रणभेनी दुन्दुभि नगारे भी नहीं बज वे आ रहे ह। दधिर की नशिया भी शोणियों से भरपूर होकर नहीं बह रही ह। फिर भी यह अत्यन्त आश्रय की बान ह कि—इस किरान युद्ध में सनरुवीरों की मथिन क नेवाली मेरी शक्ति क्यों अब कुण्ठित हो रही है ? क्या यह कोई माया है ? या मुझ ही मति विभ्रम हो रहा है। या मैं वह अर्जुन ही नहीं हू ? जिससे कि मेरे गाण्डीय से निर्मुक्त अमोघ बाण भी लक्ष स टकराकर छुट छुट हो जाय है। वास्तव में यह किरान नहीं मात्तम पन्ता क्योंकि अपन धनुष के टुकार से आकाशमण्डल को ही विदारण करता हुआ सा लज्जित होना है और धनुष की सीबने एव प्रत्यक्षा को ठानने तथा गणों का सचान और मोक्षण आदि में अद्भुत ही इसरा हस्तलाव्य प्रनीन होना है। जस इसमें दूसरों क जिद को हडनकी पट्टण और अपन विररों के संरक्षण की कुशलता पारै जाती है वस तो वीर शिरोमणि भीष्म द्रोग में भी नहीं है। इस लिये इसके पराक्रम को दिव्यास प्रयोग द्वारा ही दूर करना चाहिये नहीं तो महान् अनर्थ होगा यह सोचकर अर्जुन ने अपने गा डीव धनुष पर प्रस्थापन नामरु महास्र को चढ़ाया। उसके प्रभाव स सारी शत्रुसेना घोर अन्धकारों स ढक गयी और नशा में पककर मूर्च्छित सी हो गयी। किसी के हाथ स लखार ही गिर पड़े। उस समय किरात वध स टके हुए चन्द्रसेसर महादेवकी के ललाट स क्रोध के मारे आग की चिनगारी निकलने लगी। उसके प्रकाश स अन्धकार रहित होकर प्रमथगण भी मूर्च्छा को त्यागकर फिर स लखार धारण कर सनद हो गये। शिंशाय प्रसन्न हो गई। छर्जकिरणे चमकने लगी। अर्जुन ने अपने प्रस्थापनास को विकल जानकर नाम

पाशों को चढ़ाया। नागपाशों के प्रभाव से आकाशचारी पक्षीगण इधर उधर भाग गये। बाद में भगवान् शङ्कर ने गरुडराज से उन नागपाशों को दृग् करने के लिये आकाशमण्डल की ही मरुदभय बना दिया। गरुट के परों के कम्बन से उत्थित पवन अत्यन्त वेग से चढ़ता हुआ वनवृक्षों को ही जड़ से उतार कर आकाश में ले आया। सर्प समूह भी सहसा शान्त हो गया। अर्जुन ने अपने नागाश्यों को बैरी के प्रभाव से विफल ममत्तकर कुछ होते हुए आग्नेवाह्न की चलयता उससे चारों तरफ आग की लपटों से ज्वालित भवकने लगी। इस तरह अखिललोकको प्रसने के लिये उषत होते हुए प्रलम्बकालिक महाप्रचण्ड ज्वलज्वालालावाली आग की देखकर भगवान् शङ्कर ने उसको शान्त करने के लिये वारणाह्न का प्रयोग किया। उससे तुरत ही आकाश में बादलों की पटा छा गयी। उससे मुसलाधार वर्षा होने लगी। बाद में कालों की लपटें आपसे आप शान्त हो गयीं। आग के शान्त होने से आकाशभाग हरा भरसा दीखने लगा। इस तरह वैरिद्वेषार्थ अर्जुन ने दिन २ अश्वों का उपयोग किया, उन २ अश्वों की महादेव की ने व्यर्थ ही कर दिया। अन्त में अर्जुन ने अपने सारे अश्वों के विफल हो जाने पर महादेवकी के साथ बाहु युद्ध ही करने की इच्छा की।

सप्तदश सर्ग ।

हरसेना के साथ अर्जुन के युद्ध का वर्णन ।

बाद में अर्जुन सारे दिव्याश्वों का सतम हो जाने से शिवजी के साथ सभ्राम से कुछ भयभीत होकर भी पुनः धैर्यधारण द्वारा अपने स्वाभाविक पराक्रम को प्राप्त कर विपक्ष पक्ष को जीतने के लिये सन्नद्ध हो गये। उस समय शीघ्र के मारे आपसे लाल २ हो गयीं। मुख पर पसीने छा गये। भाँड़े तन गई। धनुष की तानकर बाणों के वर्णन से शम्भु सेना को पीडित कर मनश्चय नमकने लगे। किन्तु महादेव के प्रति उनके सारे बाणों के प्रयोग विफल होते गये। फिर भी शङ्कर भगवान् अर्जुन के पराक्रम को देखकर क्षुब्ध हो गये और अर्जुन को सराहने लगे—अहो ? शत्रु से निर्गृहीत होकर भी परम उत्साह के साथ फिर से धनुष पर प्रत्यक्षा चढ़ाकर बाण छोड़ने के लिये उषत होता हुआ अत्यन्त बहादुरी के साथ कीर्ति को प्राप्त करने के लिये पराक्रम दिखलता हुआ वह लटने के वास्ते तैयार ही रहा है। बाद में अनेक तर्क विचार करके स्वयं भी युद्धार्थ उषत हो गये। दोनों में फिर से घोर सभ्राम होने लगा। अर्जुन के बाणों से आहत होकर शम्भु की सारी सेना भरी गई। बाद में शङ्कर जी अपनी सेना की दुर्दशा देखने से क्षुब्ध होकर साक्षात् बमराज की भाँति मयकर रूपधारण कर धनुष का टकार करने लगे। अर्जुन से प्रक्षिप्त सारे वर्णों की शिवजी ने बीच में ही विष्वस्त कर डाला। इसको देखकर अर्जुन बहुत धक्का गये। फिर से ही शत्रु में आकर अर्जुन हर सेनापर बाण वृद्धि करने लगे। तदनन्तर भगवान् शङ्कर ने अपने स्वरूप को प्रकट कर अर्जुन के सारे बाणों को एक साथ ही नष्ट कर दिया। अर्जुन अपने सारे बाणों के नष्ट हो जाने से बहुत चिन्तित हो गये। इसी मध्य में शिवजी ने मर्गपाती बाणों से अर्जुन की अधिक व्यथित किया। बाद में प्रभु की माया से शरीर से कश्च की भी

छोकर अत्यन्त दौलतमान होन लग्य। उसी समय उनका शरीर सदा तरबतर अचानक निरुद्ध पड़े। वद्य सुरत ही फिर से अजुन रथिर से लथपथ शरीर होकर भी बहादुरी के साथ शिवजी की पीडित करने लगे। महादेवजी से फिर द्विज भिन्न गन्तार होकर अर्जुन विष्णुचर्या छाडी हो गये। और परामन पाकर भी व पुन शिलापुष्टि करने लग्य। शिव द्वारा उसका भी निवारण कर देने पर अन्त में अर्जुन शिवजी के साथ बाहुबुद्ध करने के लिये ही तैयार हो गये।

अष्टादश सर्ग ।

शिव और अर्जुन का बाहु बुद्ध घणन ।

बाहु बुद्ध करने के लिये रणभूमि में आये हुए अर्जुन को लक्ष्मणर चाप शर त्याग कर भगवान् शङ्कर ने मुष्टि उठाकर मारा। उस समय दोनों ने बाहुबुद्ध से उत्पन्न ध्वनि पर्वतों की कन्दराओं की भी प्रतिष्ठा नित कर रही थी। दोनों के शरीर रथिर से लथपथ हो गये। जिससे दोनों को पहचानने में भी प्रमथ गण को धोखा हाने लगा। हिमाचल यापने लगा। पृथिवी बगमगाने लगी। गिरि नन्विका सशुभ्र तरङ्ग से चलायमान होकर स्वर्गभूमि को भी डुबाने लगी। बाहुबुद्ध करते व अर्जुन ने आकाश में उठे हुए शिवजी के चरणों को पकट लिया। पाद ग्रहण करते ही भगवान् आशुतोष शङ्करजी ने तादृश शुभ्र कार्य के अनुष्ठान से प्रसन्न होकर अर्जुन को गले से लगा लिया। अनन्तर भगवान् शिवजी किरातवेश को छोड़ कर स्वच्छ भस्म को रमाये हुए चन्द्रकला से शोभायमान भाऊ देव से सुशोभित बलेकर को धारण कर प्रकट हो गये। अजन्त भी तादृश वास्तव शङ्कर मूर्ति को देखा कर प्रणाम करते हुए उनके सामने नतमस्तक हो गये। उठकर अपने शरीर को बाण स्वच चर्म आदि से शोभायमान देख कर अर्जुन प्रकृत हो गये। दुन्दुभि की दिव्य ध्वनि होने लगी। आकाश से पृथिवी पर देव लोग रूखों की सर्पा करने लगे। इन्द्र प्रशस्ति लोकपाल विमान पर चढ़ कर आकाश को भासित करते हुए अत्यन्त विराजमान होने लगे। शीतल मन्द सुगन्ध पवन बहते हुए भगवान् शङ्कर को आह्वानित करने लगे। अर्जुन भी तपस्या का फल प्राप्त कर अत्यन्त आनन्द से शङ्कर की स्तुति करने लगे। अन्त में शिव को बाणी और मन का भी अगोचर नतछाते हुए अनेकों प्रकार स्तुति कर अर्जुन ने भगवान् स अमीष्ट कर माया—हे प्रभो ! जिस अस्त्र प्राप्त हो परमात्मा मेरे बड़े भार्य बुध्दिर जी धर्मभ्रसी कृतापराधी शङ्करा पर विजय प्राप्त करें देवा साधन देकर मुझे कृतार्थ कीजिये। बाद में आशुतोष शिवजी ने नतमस्तक धनजय को सम्बन्ध देकर सुत रहस्य के साथ पाशुपतास्त्र और समग्र धनुर्वेद पढाया। भगवान् धनुर्वेद मूर्तिधारण कर शिवजी की प्रदक्षिणा कर उपस्थित हुए। इन्द्राणि ने भी अमोघ आशीर्वात्पूर्वक अपने अपने अस्त्रों को देकर अर्जुन को प्रोत्साहित किया। अन्त में शिवजी से आदिष्ट होकर अर्जुन अपने घर आये।

विषयानुक्रमणिका

सर्गाङ्का	विषया	पृ०
१	युधिष्ठिरवनेचरयो सम्मेलनम् । तरसम्पादित द्रुयोधनस्य राजनीतिचातुर्य- वर्णनम् । वनेचरगमनम् । धर्मराजम्प्रति द्रौपदीगमनम् ।	१
२	युधिष्ठिरम्प्रति सकोपमीमसेनोक्तिः । भीमसेनम्प्रति युधिष्ठिरपरिवोधनम् । पाण्डवसन्निधौ व्यासमुने समागमनम् । तत्कृतमुनिमत्कारवर्णनम् ।	२७
३	व्यासऋषिस्वरूपवर्णनम् । व्यासयुधिष्ठिरयो सवाद । अर्जुनम्प्रति मुनि- कृतो विद्योपदेशः । तपश्चर्यार्थं निवेशश्च, व्यासऋषेरन्तर्धानम् । अर्जुनस्य गमनोपक्रमः । पाण्डवाना भाव्यर्जुनविरलेपज-न्यदु खनिमग्नत्वम् । अर्जुनस्य द्रौपदीदर्शनम् । अर्जुनम्प्रति कृणोक्तिः । ध्यासादिष्टेन गुह्यकेन सार्द्धमर्जुन- स्येन्द्रकीलाभिधेय हिमाद्रिपादविशेषम्प्रति प्रस्थानम् ।	५४
४	कविकृतनक्षरद्वर्णनम् । यत्तामिहितशरद्वर्णनम् । हिमालयदर्शनम् ।	७९
५	हिमालयवर्णनम्, तन्मूलेऽर्जुनसम्प्राप्तिः । यज्ञगमनम् ।	९६
६	इन्द्रकीले पृथासूनोरारोहणादिवर्णनम् । तत्र तस्य तपश्चर्यार्था आरम्भः । तपोवर्णनम् । सहस्राक्षसमीपे इन्द्रकीलवनरक्षककृतार्जुनतपोऽतिशयप्रख्या- पनम् । पृथासूनुतपोऽन्तरायार्थं वाराङ्गनागम्प्रति पारुजासनादेशः ।	११९
७	सगन्धर्वगणिकानाणस्य सविलासगमनादिवर्णनम् । इन्द्रकीलाद्री समागताता तेषां स्यन्दनतगादिसमेतस्य तच्छिथिरस्य सन्निवेशादिवर्णनम् ।	१३७
८	गन्धर्वाणां वारस्त्रीणाञ्च सुमनोवचनकेलिवर्णनम् । उदककेलिवर्णनम् ।	१५३
९	सन्ध्यावेलावर्णनम् । हिमाशूदयवर्णनम् । सुरतवर्णनम् । पानगोष्ठीवर्णनम् । पुनः सन्धेपेण सुरतवर्णनम् । सन्धेपेण प्रभातवर्णनम् ।	१७६
१०	अर्जुनप्रलोभनार्थम् धाराङ्गनाता तत्समीपे गमनवर्णनम् । पृथासूनुवर्ण- नम् । वर्षादिशत्रुवर्णनम्, पार्थमवलोक्य वारस्त्रीणां चैष्टान्वर्णनम् । गणिका- प्रयत्ननिष्फलताप्रकथनञ्च ।	२०७
११	पार्थाश्रमे मुनिवेषधारिण मध्वत समागमनम् । पार्थपाकशासनयो सवादः । शक्र प्रत्यक्षीभूयार्जुनम्प्रतिशङ्कराराधन समादिदेशेति वर्णनम् ।	२३४
१२	शङ्कराराधनार्थमर्जुनकृतस्य तपसः वर्णनम् । पार्थतपसा भृश तप्ताना सिद्धतापसानां शङ्करपार्थं गमन तत्तपोवृत्तकथनं च शङ्करकृत मुनि सान्त्वन- पार्थस्वरूपकथनं च । वराहवेषमास्थाय पार्थपराजयार्थमागतस्य मूकदान- वस्य धर्माथं पार्थानुशिष्टवृत्त्या च किरातरूपधारिणस्तद् रूपधारिण्यैव गण- सेनया सहितस्य भगवतो मृगयान्याजेन पार्थाश्रमे गमनवर्णनम् ।	२६६
१३	शूकरवेषधारिणो मूकदानवस्यार्जुनकृत विलोकनम् । तस्यावलोकनेन पार्थस्य विविधा वितर्काः । शूकरम्प्रति भगवतः पार्थस्य च सायकमोक्षवर्णनम् ।	

सर्गाङ्का	विषया	पृ
	वराहपञ्चवर्गमनवर्गनम् । शूकरसरीरत निवृत्तायकमावृत्तान पाथग्रति शाहरप्रहितस्य वनेचरस्योत्तेजः वचनम् ।	२८४
१४	वनेचरग्रति पाथोक्तिः । तच्छ्रुत्वा समागतस्य वनेचरस्य लपित समाग्रण्य सेनासहितस्य लीलानिरातस्य भगवतोऽनुनविजयाथ समागमनम् । भगव स्तेनयात्रु नस्य सम्परायवर्गनम् ।	३११
१५	चित्रयुद्धवर्गनम् ।	३३६
१६	त्रिरातावतारधारिण भगवता सम्परायवृत्तव समालोक्य पाथस्य वितक । भगवता साक पाथस्य शस्त्रसम्परायवर्गनम् ।	३५०
१७	सेमया साई पाथसम्परायवर्गनम् । भगवदनुनयोर्युद्धवर्गनम् ।	३७९
१८	भगवदनुनयोर्मुजयुद्धवर्गनम् । पाथस्य अनुलपराग्रम विलोक्य भगवता प्रसन्नतस्वरूपप्रकटीकरणञ्च तत्रैव शकविसुरागमनम् । पाथकृता भगव स्तुति । वरयाचनम् । पाथग्रति पाथपतासहितस्य धनुवन्स्य भगव स्तुत उपदेश । पाठशासनादिसुरागामपि भगवदाज्ञया पाथग्रति वरयाचन निजनिजासदान च । कृतकृत्यस्य पाथस्य भगवदाज्ञया धर्मावतारयुधिष्ठि रपार्थ समागमनम् ।	४१

पात्र-परिचय

वनेचर	(युधिष्ठिर का गुप्तचर)
युधिष्ठिर	(महाराज पाण्डु के प्रथम पुत्र धर्मराज)
भीम	(द्वितीय)
अर्जुन	(तृतीय)
नकुल	(" चतुर्थ)
सहदेव	(" पञ्चम)
द्वीपदी	(पञ्च पाण्डवों की धर्मपत्नी)
युयोधन	(कुरुदेशाधिप धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र)
राधेय-कर्ण	(कुन्तीपुत्र-सूयका औरस)
भीष्म	(महाराज धन्नु के पुत्र—भीष्मपितामह)
जामदग्न्य	(परशुराम)
द्रोण	(पाण्डवों और कौरवों के गुरु-द्रोणाचार्य)
यच	(द्रुप का वृत्)
ध्यास	(पराथर पुत्र—महाभारत रचयिता)

॥ श्रीः ॥

महाकविश्रीभारविप्रणीत

रितार्जुनीयम्

घण्टापथ-प्रकाश-टीकाद्वयोपेतम् ।

प्रथमः सर्गः

घण्टापथ (महिलनाथो)

अर्द्धाङ्गीकृतदान्पत्यमपि गाढानुरागि यत् । पिबन्त्या जगतस्तस्मै कस्मैचिन्महसे नम ॥
आलम्बे जगद्बालम् हेरग्यचरणान्मुजम् । शुष्यन्ति यद्भ्रज-स्पर्शास्तद्य प्रस्यूहवाधैय ॥
तद्विष्यमन्यय धाम सारस्वतमुवास्महे । यत्प्रकाशात्प्रखीयन्ते मोहान्वतमत्तरघटा ॥

बाणो काणभुजीमजीगणद्वाद्यासीच वैवासको-
मन्वस्तन्नामरस्त पद्मगवीगुम्फेखु चाबागरीत् ।

वाचामाचकलद्बृहस्पमखिल यश्चात्पदादरफुरा
लोकेऽभूचदुपद्मेव विदुषां सौजन्मजन्य यत् ॥

महिलनाथकवि सौम्य मन्दातमानुजिष्टुष्या ।

तकिरतार्जुनीयास्य काव्य व्याख्यातुमिच्छति ॥

भारिकेऽफलसमित षष्ठो भारवे सपदि सद्भिभज्यते ।

स्वादपन्तु रसगर्भनिर्भर सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

नामानिबन्धविपरैकपर्वैर्मितान्त साशङ्कषङ्कमणखिलत्रधियामशङ्कम् ।

कर्तुं प्रवेशमिह भारविक्राव्यबन्धे घण्टापथ कमपि नूतनमातनिष्ये ॥

इहाम्बयमुत्तेनैव सर्वं व्याख्यायते मया । नामूल छिद्यन्ते किञ्चिज्ज्ञानपेक्षितमुच्यते ॥

• अथ तत्रमयाभारविनामा कविः 'काव्य यशसेऽर्पयते व्यवहारविदे शिवेतर-
चतये । सद्य परनिर्भूतये कान्तासम्मिमततयोपदेशयुजे' ॥ इत्याद्यालङ्कारिकवचनप्रामा-
ण्यात्कारणस्यानेकमेव साधनता, 'काव्यालापांश्च वर्जयेद्' इति नियेषशास्त्रस्यासत्का-
व्यविषयता च परपन्किरातार्जुनीयास्य महाकाव्य धिक्कीर्तुंकिक्कीर्षितार्याविलपरिस-
माप्तिसम्भवायाविश्वैदुलङ्घनफलसाधनात्वाद् 'भाषागर्भमस्किन्वा वस्तुनिर्देशो वाऽपि

समुच्चयम् इत्याद्याहोर्वादाद्यन्वयमस्य प्रबन्धमुल्लङ्घनत्वाच्च वनेचरस्य युधिष्ठिरमा
 स्मिन् रूपं वस्तु निर्दिशन्कथामुपचरति—

श्रियं कुरूयामधिपस्य पातनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुक्त्वा वेदितुम् ।

स वणिग्लिङ्गो विदित समाययी युधिष्ठिर द्वैवतने वनेचर ॥ १ ॥

श्रिय इति । आदित् । श्रीशब्दप्रयोगाद्गण्यविष्णुस्त्रिभ्रातीशोपयुज्यते । तदुक्त-
 'देवतावाचका' शब्दा ये च मन्त्रादिवाचका । ते सर्वे नैव निष्णाः स्युर्लिपिती गणतोऽपि
 वा ॥ इति । कुरूणां निवासा कुरथो जनपदाः । तस्य निवास इत्यन्वयः । जनपदे
 लुप । तेषामधिपस्य दुर्योधनस्य संबन्धनीम् । लोपे यद्गी । श्रियो राज्यलक्ष्म्या । 'कर्तुं
 कर्मणोः कृति इति कर्मणि यद्गी । पात्यतेऽन्यति पातनी ताम् । प्रतिष्ठापिकामित्यर्थः ।
 प्रजासु मूलत्वात्सम्पद इति भावः । करणाधिकरणयोश्च इति करणे इयुट् । टिटटा
 यम— इत्यादिना ङीप् । प्रजासु जनेषु विषये । प्रजा स्यात्सन्ततौ जने इत्यमरः ।
 वृत्तिं व्यवहारं वेदितुं ज्ञातुं य वनेचरन्युक्तं नियुक्तवान् । वर्णं प्रशास्त्रस्यास्तीति
 वर्णां मद्वाचारी । तदुक्त—'स्मरणं कीतनं कृतिं प्रवर्णं गुणमायनम् । सङ्करोऽभ्यव-
 सायश्च क्रियाविशुचिरेव च । एतन्मैषुनमष्टकं प्रवदन्ति भगीपिण । विपरीतं मद्वाचय
 मेतदेवाष्टकणम् ॥ एतदष्टविधमैशुनाभावः प्रशस्तिः । वर्णाद् मद्वाचारिणि इतीनि
 प्रत्ययाः । तस्य लिङ्गं चिह्नमस्यास्तीति वर्णिलिङ्गो । मद्वाचारिण्येवमित्यर्थः । स नियु-
 क्तः, वने चरतीति वनेचर किरातः । 'भेदाः किरातशबरपुलिम्बा म्बेष्टम्रातय इत्य-
 मरः । 'चरेह इति उपत्ययः । तस्युरपे कृति बहुलम् इत्यल्लुक् । विदितं वेदनम
 स्यास्तीति विदितः । परब्रह्मान्तज्ञानवानित्यथा मद्वा चादिभ्योऽञ्च इत्यचप्र-
 त्ययाः । अथवा कतरि कमधर्मोपचाराद्विदितब्रह्मान्तो विदित इत्युच्यते ।
 उभयत्रापि 'पीता गावः' 'सुक्ता माह्वणाः' विभक्ता आतर इत्यादिवत्साधुत्व न
 तु कर्तरि क्- सकमकेभ्यस्तस्य विधानाभावात् । अत एव भाष्यकारः—'अकारो मत्व
 र्थीयः' । विभक्तमेवामस्तीति विभक्ताः । पीतमेवामस्तीति पीता इति सचत्र । अथपो
 चरपदलोपोऽत्र प्रष्टव्यः । विभक्तवना विभक्ताः पीतोदका पीता इति । अत्र लोपशब्दा
 यमाह कैयटा—'गम्यार्थस्वाप्रयोग एव लोपोऽभिमतः । विभक्ता आतरः इत्यत्र च
 चनस्य चद्विभक्तत्वं तद् आह्वयचरितम् । 'पीतोदका गाव इत्यत्राप्युदकरय पीतत्वं
 गोप्यारोप्यते' इति । तद्वचत्रापि वृत्तिगतं विदितत्वं वेदितरि वनेचर उपचर्यते ।
 एतेन 'वनाय पीतप्रतिबन्धकाया' 'पातुं न प्रथमं व्यवस्यति अल्लु सुभ्रातृपरीतेषु
 एवमाहपो व्याख्याता । अथवा विदितः विदितवान् । सकर्मकाद्व्यविचरिते कमणि कर्तरि
 क् । यथा आशितः कर्ता इत्यादौ । यथाऽऽहुः—'चातोरथान्तरे वृत्तेर्वात्यर्थेनोपस-
 कप्रहात् । प्रतिबन्धेरिचछाताः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥ इति । इतवने इत्याख्ये लोपोवने ।
 यद्वा इ इते गते यस्मात् इति होतमेव इति तच्च तद्ग्नं च तस्मिन्, शोकभोहादि-
 चरितइत्यर्थः । युधिष्ठिरं चर्नराभ्यः । 'हृदयन्तात्तम्या' संज्ञायाश्च इत्यल्लुक् । 'गवि-

शुद्धिग्या स्थिर' इति पत्वम् । समापयौ सम्प्राप्त । अत्र 'धने धनेचर' इति द्वयोः स्वर-
भ्यङ्गनसमुदायवारेकदेशावृत्त्या धृत्यनुप्राप्तो नामालङ्कारः । अस्मिन्सर्गे वरास्यपुत्र,
सहस्रपण—'अतो तु वरास्यमुदीरित्त अतो' इति ॥ १ ॥

प्रकाश

धरि शीघ्र परणरज शुक्वर के, करि विनय भदेश गजानन का ।

वह ठही लेखनी लिखने को, भाषानुवाद भारवि कृति का ॥ १ ॥

राजा कुह के वश में धृतराष्ट्र और पाण्डु दो भाई थे । धृतराष्ट्र के सी लडके थे ।
उन लडकों का स्वभाव शैशव काल से ही क्रूर था । उन में सब से प्रथम सुयोधन था ।
पाण्डु के पाँच पुत्र थे । वे सत्य और सुमन्त्र के अनिरिक क्रूरता और नीचता को अपने
पास नहीं फटकने देते थे । बाण्य काल से ही वे होमहार थे । उनकी कथा कुशलता की
समानता करने में सुयोधन अपने को अक्षमर्ष पाकर उनसे द्वेष करने लगा जिसके परिणाम
स्वरूप उसने उन्हें तेरह वर्षों के लिये निर्वासित कर दिया । पाण्डु के पुत्र, युधिष्ठिर,
भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के नाम से पुत्रारे जाते थे । लोग इन्हें पाण्डव कहा करते
थे । जब वे पाण्डव निर्वासित कर लिये गये ऐसी विषमावस्था में उन लोगों को सुयोधन
के शासन का पूर्णतया ज्ञान करना असम्भव सा था । सचमुच सब की रक्षा परमेश्वर करता
है । एक किरात युधिष्ठिर के समस्त उपरिचय हुआ । युधिष्ठिर ने उसे सिखलाया पढाया और
वह महाचारी का स्वरूप बनाकर इतिहासपुर गया । वहाँ कुछ दिन रहकर वधा की परिस्थिति
का गम्भीर अध्ययन किया और आकर सम्पूर्ण वृत्तान्त बिना किसी भय और संकोच के
युधिष्ठिर से निवेदन किया । पहले महाचारियों का सर्वत्र वशाध प्रवेशथा इसीलिये महाचारी
के स्वरूप में ही वह दहाँ गया था । वस, वहाँ से भारवि की कथा का योग्येश है ।

कुह देश निवासियों के स्वामी की राज्यप्री को रक्षा करने में समर्थ, प्रजा वर्ग के
साथ किये जाने वाले व्यवहार को समझने के लिये जो किरात महाचारी के स्वरूप
में मेला गया था वह सम्पूर्ण वृत्तान्तों का यथावत् ज्ञान कर के युधिष्ठिर के पास द्वैतवन में
(वहाँ वे भास करते थे) लौट कर आया ॥ १ ॥

सम्प्रति तत्कालोचितस्वमादेशयस्तस्य तद्गुणसम्पन्नत्वमादर्शयन्नाह—

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जिता सपत्नेन निवेदयिष्यत ।

न विन्यये तस्य मनो न हि प्रिय प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणाः ॥२॥

कृतप्रणामस्येति । कृतप्रणामस्य तत्कालोचितस्वमादेशयस्तस्य तद्गुणसम्पन्नत्वमादर्शयन्नाह—
इस्य सपत्नेन रिपुणा
दुर्योधनेन । 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्वेदेषणदुर्हृदः' इत्यमरः । जिता स्वायत्तीकृता
महीं महीभुजे युधिष्ठिराय क्रियाग्रहणात्सपदानत्वम् । निवेदयिष्यतो ज्ञापयिष्यतः ।
'लट्' सहा' इति शतृण्यय । तस्य धनेचरस्य मनो न विन्यये । कयमीदृशप्रिय राजे

विज्ञापयामीति मनसि न कचाहेत्यर्थः । अथ भयवहनयोः इति चातोक्तिः । उक्त-
मथमर्थात्तरन्वासेन समर्थयते—न हीति । हि यस्माद् । हितमिच्छतीति हितैषिण-
स्वामिहितायिनः पुरुषा मृषा मिथ्यामृतं प्रियं प्रवक्तुं नेष्यन्ति अन्वया कार्याविघातक-
तया स्वामिद्रोहिणः स्फुरिति भावः । अमौश्यमभ्यासममृषामाचित्वमभ्युदकत्वं चेति
चारुण्यं इति भीतिवाक्यमायुते ॥ २ ॥

(दुःख का कनक है—वह अपने स्वामी से उब अलग होगा है अथवा वह वह स्वामी के
समक्ष होता है प्रणाम करे । अतः) उसने सब प्रथम सुषिद्धि को प्रणाम किया । सुषुरी के
द्वारा प्रपन्न वसुधरा के लक्ष्य हुआ त को पूजया (चाहे वह स्वामी को प्रिय हो अथवा
अप्रिय) निवेदन करने में उसके मन में किनी प्रकार की भावना उत्पन्न न हुई क्योंकि
मिथी के कल्याण की कामना करने वाले पुरुष स्वर्ण की सोभाभिराम बानी नहीं निष्ठापते ।

तथाऽपि प्रियाहं शक्तिं कृन्मिच्छुरोक्तिं सुचेत्याशङ्क्य स्वाम्यनुज्ञया न दुष्यती
त्याशयेनाह—

द्विधा विघाताय विवातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभूतः ।

स सौप्तयौदायविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे ॥ ३ ॥

द्विधामिति । रहस्येकान्ते स घनेचरो द्विषां शङ्कणम् । कमणि पद्ये । विघाताय
विद्वन्मुमिस्यर्थः । 'दुर्मर्षाश्च भाववचनाद्' इति अनुर्था । भाववचनाद् इति दुर्मर्षे
अन्वयः ॥ अत्र तादर्थ्यमपि न दोषः । तथाऽपि प्रयोगवैचित्रीविशेषस्याप्यवधारणा
द्वेषव्याचक्षते । विघातु व्यापारं कर्तुमिच्छतः । 'समावकर्तृकेषु सुमुन् । द्विषो विद्वन्तु-
मुमुक्षुज्ञानस्वेत्यर्थः । अत एव भूभूतो सुषिद्धिस्थानुज्ञामधिगम्य । सुष्ठु भावः सौ-
प्तय शब्दसाम्प्यम् । सुष्ठुशब्दादन्वयाद्गुत्रात्प्रतिष्ठादन्वयः । उदारस्य भावः अौदा-
यमर्थसम्यक्तः । सयोर्द्वन्द्वः सौप्तयौदार्ये । अौदार्यशब्दस्याजाघदन्तत्वेऽपि 'लक्षण-
हेत्वो क्रियायाः' इत्यत्राक्षरस्वरस्याप हेतुसम्पत्त्य पूर्वनिपातमङ्गवता सूत्रकृतेव एव
निपातस्यानित्यत्वज्ञापनात् पूर्वनिपातः । उक्तञ्च काशिकायाम्— अयमेव लक्षणहेत्वो
रिति निर्देशः । पूर्वनिपातव्यञ्जिकारथिह्यम् इति । स एव विशेषः । तयोर्वा विशेषः ।
तेन शाकते शोभत इति सौप्तयौदार्यविशेषशालिनीं ताम् । तान्शीत्ये णिनिः । चिनि-
शितार्थो विशेषतः प्रमाणतो निर्णोतामिति बधवमाणरूपां वाचमाददे रथीकृतवान् ।
उवाचेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एका त स्वाम में उसने सुषुरी के विच्छेद करने के अविद्यापी भूरति (सुषिद्धि) से
प्रिय अथवा अप्रिय सवाद सुमाने की भाषा प्राप्त कर-करसवा और उदारता से विशेष महत्त्व
पूज और विशेष प्रमाणों से निर्वाण अथशुक्त वाणी में बड़ा अर्थात् सुषिद्धि मजुर और स्पष्ट
निवेदन किया ॥ ३ ॥

शौड—भारदे = भाव + दा + क्तिच् । दा धातु का अर्थ है देना परन्तु, या उपसर्ग से 'भरना' अर्थ शोचिष्ठ होता है ॥

प्रथम तावद्भियनिवेदकमात्मान प्रत्यक्षोभ याचते—

क्रियासु युक्तेर्नृप । चारचक्षुषो न वञ्चनीया प्रभवोऽनुजीविभि ।

अतोऽहंसि चन्तुमसाधु साध वा हित मनोहारि च दुर्लभ वचः ॥१॥

क्रियास्त्रिति । हे भूष । क्रियासु कृत्ववस्तुषु युक्तेर्नियुक्तेरनुजीविभिर्भूयै । धारा विमिरित्यर्थ । चरन्तीति चरा । पचाथच् । त एव चारा । चो पचायजन्ताम्-ज्ञादित्वाद्भ्यप्रत्यय । त एव चक्षुर्येषां ते चारचक्षुषः । 'स्वपरमपठके कार्याकार्यावच्छे-
कने चाराश्चक्षुषि क्षितिपतीनाम्' इति नीतिवाक्यामृते । प्रभवो निग्रहासुग्रहममर्षा स्वामिनो न वञ्चनीया न प्रलारणीया । सत्यमेव वक्ष्या इत्यर्थ । चारापचारे चक्षुर-
पचारावकाशा पदे पदे निपात इति भाव । अतोऽप्रतार्यत्वाद्देशो । असाध्वभिय साधु प्रिय वा । मनुष्कमिति शेष । चन्तु सोढुमहंसि । कुत । हित पथ्य मनोहारि प्रिय च वचो दुर्लभम् । अतो मद्बोधोऽपि हितत्वाद्भियमपि चन्तव्यमित्यर्थ ॥ ४ ॥

कार्य सम्पादन करने के लिये नियुक्त किये गये भूषो का कर्तव्य है—'ये भवने स्वामी के साथ कष्ट न्यरहार न करें' क्योंकि वे ही उनके भेष हैं (नौकरों के द्वारा स्वामी लोग सम्पूर्ण बातों का पता लगाते हैं) इस लिये यदि भ्रमिय बात हो तो आप सुना करें । कारण यह है कि कामभर और साथ ही साथ विचारकर्तक वचन का सर्वथा अभाव सा रहता है । किसी का कथन है—'रोना और हँसना साथ न मर्दां होता' 'दुःख एक साथ न होदि मुकाब । हँसत ठठार कुताह्व गालु ॥' सच बात हो यह है कि मुझे अचना कर्तव्य पालन करने के लिये यथार्थ निवेदन करना होगा, यदि वह आपको भला लगे या नुरा । यदि कदापि कुछ बात ऐसी भी हो वो उसके लिये जमागामी हूँ वरुं कि भिय और उपकारक नचने का दरपर सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

तर्हि दुष्कीर्भाव एव वरमित्याशाहवाह—

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिप हितान्न यः सशृणुते स किंप्रभु ।

सवाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसपद ॥५॥

स इति । य सखाऽभ्रावादिश्चिप स्वामिन साधु हित न शास्ति नोपदि-
शति । 'भुविशासि—'इत्यादिना शासेर्दुहादिपाठाद् हिकर्मकत्वम् । स शिवासुपदेशा । कुत्सित सखा किंसखा । दुर्मन्त्रीत्यर्थ । 'किम चेपे' इति समाप्तान्तप्रतिषेध । तथा 'यः' पञ्चनिग्रहानुग्रहसमर्थ स्वामी हितानुसन्नादितोपदेशे सकाशात् । 'आख्यातो-
पयोगे' इत्यपादाभावात्कामी । न सशृणुते न शृणोति । हितमिति शेष । 'समो गम्य-
च्छि—' इत्यादिना सम्पूर्वाच्छृणोतेरकर्मकादात्मनेपदम् । व वैचक्षिकम् । स हित-

मञ्जोता प्रभुः किम्भुः कुरिसत्स्वामी पूववत्समात् । सर्वथा सचिवेन वक्ष्यं श्रोतव्यं
स्वामिना । एव च राजमन्त्रिणोरैकमत्य स्यादित्यर्थः । ऐकमत्यस्य फलमाह—सदेति ।
हि यस्मान्नुपेयु स्वामिषु । अमासह भवा अमात्यास्तेषु च । अभ्ययात्पत् । अनुकृष्टेषु
परस्परानुरक्त्यु ससु सबसम्पदा सदा रतिमनुराग कुर्वते । न बन्तु जह तीत्यथ ।
अतो भया वक्ष्यं त्वया च श्रोतव्यमिति भावः । अत्रैव राजमन्त्रिणोर्हितानुपदेशतद्
अवगनिन्दासामर्थ्यसिद्धरैकमत्यलक्षणकारणस्य निर्दिष्टस्य सबसम्पत्तिरूपकार्येण
समयनात्कार्येण कारणसमयनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । तदुक्तं—‘सामान्यविशेष
वकाशकारणभावान्तरं निर्दिष्टप्रकृतसमयनमर्थान्तरम्यास इति ॥ ५ ॥

को मिन (कर्मचारी) स्वामी को सभ बना नहीं देता वह मिनअमनी राज कर्मचारी
दूत श्यावि शोग्य मिन नहीं (मिन का कतव्य है कि वह स्वामी को सत्य प्रदर्शन करे)
और वह स्वामी को हितोपदेश से हित की बात प्रवचन करने में लगेता करता है वह
स्वामी होने योग्य नहीं । क्योंकि जब स्वामी (राजा) और अमात्यादिक परस्पर अनुराग
करते हैं एक दूसरे के विपरीत (विरक्त) नहीं आते तो सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ बनती रह
जायिगी न कर रहें हैं ॥ ५ ॥

सम्पत्ति स्वाहकारं परिहरति—

निसर्गदुर्बोधमबोधविरुद्धा क मूपतीनां चरित क जन्तव ।

सवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवत्तम विद्विषाम् ॥ ६ ॥

निसर्गेति । निसर्गदुर्बोधं स्वभावदुःप्रहम् । ईषदुः— इत्यादिना अक्षयत्यम् ।
मूपतीनां चरितं क । अबोधविरुद्धा अज्ञानोपहता जन्तवः । माहताः पामरजना
इत्यर्थः । क । नोभयं सहृदय इत्यर्थः । तथापि निगूढतत्त्वं सवृत्तयायाप्यं विद्विषां
नयवत्तमं वाङ्गुण्यप्रयोगः सीधिविग्रहयानामि सस्याप्यासनमेव च । द्वेषीभावश्च वि
शेषा बहुगुणा नीतिवैधिमाम् । इत्यादिक्रपो धन्मयाऽवेदि । ज्ञातमिति धात्वत् । विदेः
कर्मणि लुक् । अयम् । इदं वेदनमित्यर्थः । विशेषप्राबल्यत्वात् पुष्टिनिर्देशः । तथा
नुभावात् सामान्यम् । अनुगतो भावोऽनुभाव इति धमन्तेषु प्राक्समासः । न स्पष्ट
हाहप्रत्ययः । मिणीमुकोऽनुपसर्गेः इत्यनुपसर्गाद्भवतेर्षातोवम्बिधानात् । अत पूव
काशिकायाम्—‘कथं प्रभावे राज्ञो प्रकृष्टो भाव इति प्राक्समास इति । शेषपरिहारी
सम्पत्तिरूपैव विज्ञापयामि । न तु धृष्या कणकटोर प्रकृषामीत्याशयः ॥ ६ ॥

राजावो का चरित समावत्ता दुःख्य होता है । न भी भन्द प्रथ पामर बन्तु हूँ भरणी
जासमान का भन्तर है । यह शत्रुओं के गुप्त-रक्षक-पूर्णा नीति का जो ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ
है वह भाव ही का अनुक वा है । तात्पर्य यह कि राजावो की नीति सुबुद्ध लोगों के ही
सम्पत्ति में आ सकनी है दुःख लोग नहीं समझ सकते । यदि दुर्लभ होते हुये धर्म में समझ
सका हूँ वह कैवल भाव के अनुभाव ही ॥ ६ ॥

सम्प्रति बहुकथ्य तदाह—

विशङ्कमानो भवत पराभव नृपासनस्योऽपि वनाधिवासिन ।

दुरोदरच्छब्दाजिता समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधन ॥ ७ ॥

विशङ्कमान इति । मुखेन बुध्यते सुयोधन । 'भाषाया शासियुधिदक्षिणपि-
मृषिभ्यो युन्वाष्य' । नृपासनस्य सिंहासनस्योऽपि । वनमधिवसतीति वनाधिया-
सिनो वनस्यात् । राज्यभ्रष्टादपीत्यर्थं । भवतस्त्वत् पराभव पराजय विशङ्कमान
उपेक्षमाण सन् । बुधमुदरमस्येति दुरोदर घृतम् । पृषोदरादिस्वासाधु । 'दुरो
दरो घृतकारे पणै धृते दुरोदरम्' इत्यमर । तस्य च्छब्दाना मियेण जिता लक्ष्मा हुनंया-
जितां जगतीं महीम् । 'जगती विष्टये महां वास्तुच्छब्दोविशेषयो' इति वैजयन्ती ।
नयेन नोरया जेतु वशीकर्तुं समीहते व्याप्रियते । न हृदास्त इत्यर्थं । बलवत्त्वामि-
कमविशुद्धागम च धन सुखानस्य कृतो मनस समाधिरिति भाव । अत्र 'दुरोदरच्छ-
ब्दाजिताम्' इति विशेषणद्वारेण पदार्थस्य चतुर्थपादार्थं प्रति हेतुत्वैतोपन्यासात् द्विती-
यकाभ्यलिङ्गमलङ्कार । तदुक्तं—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काभ्यलिङ्गमुदाहृतम्' ॥ ७ ॥

सुयोधन राज्यासनाधिकृत है और आप निर्वासित है हो भी वह आप से अपने पराभव
को आश्चर्य करता हुआ, घृत (जुवा) के न्यान से नीली हूँरे पृथ्वी को अब नीतिपूर्वक नीतने
को कामना कर रहा है । अग्निप्राय यह है कि उसने अन्याय से राज्य प्राप्त किया है ।
इस बात का उसे खेद है अतः अब नीतिपूर्वक भी विजयी बनने के लिये यत्नशील है ॥ ७ ॥

'नयेन जेतु जगतीं समीहते' इत्युक्तम् । तत्प्रकारमाह—

तथाऽपि जिह्न स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्र गुणसम्पदा यशः ।

समुन्नयन्भूतिमनार्थसङ्गमात् वर विरोधोऽपि सम महात्मभिः ॥८॥

तथाऽपीति । तथाऽपि साशङ्कोऽपि । जिह्नो घक । वञ्चक इति यावत् । स दुर्यो-
धनो भवज्जिगीषया । गुणैर्भवन्तमाक्रामितुमिच्छयेत्यर्थं । 'हेतौ' इति सूतीया । गुण
संपदा दानदार्पण्याद्विगुणयारिण्या । करणेन । शुभ्र यशस्तनोति । स खलो गुणलोभ-
नीया रत्नसम्पदमात्मसात्कर्तुं स्वतोऽपि गुणवचामात्मन प्रकटयतीत्यर्थं । 'नन्वेव
गुणिन सतोऽपि सज्जनविरोधो महानस्यस्य दोष इत्याशङ्क्य सोऽपि सत्ससर्गा-
कामे नीधसङ्गमाद्दरमुत्कर्षावहृत्वादित्याह—समिति । तथा हि । भूति समुन्नयन्नुत्कर्ष-
भाषादपन् । 'लट क्षतृज्ञानच्'—इत्यादिना क्षत्प्रत्यय । पुनर्लब्धग्रहणसामर्थ्यात्प्र
यसास्तामानाधिकरण्यम् । महारमभि समम् । सहैत्यर्थं । 'साक सत्रा सम सह'
इत्यमर । अनार्थसङ्गमाद् दुर्जनससर्गात् । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । विरोधो-
ऽपि वरं भनाधिप्रय । 'देवाद् वृते वर श्रेष्ठे त्रिषु ह्येव भनाधिप्रये' इत्यमर । अत्र
नैश्वयेषथा मनान्निप्रयत्वं विरोधस्य 'भूति समुन्नयन्' इत्यस्य पूर्ववाक्यान्वये समा-

तस्य धान्यायस्य पुनरादानात्समाप्तपुनरादायदोषापत्तिः । तदुक्तं काश्यपकारो—
समाप्तपुनरादानात्समाप्तपुनरादायकम् इति । न च भाष्यान्तरमेतत् । येनोक्तदोष
परिहारा स्यात् । अर्थान्तरमासाह्वार । स च मृतिसमुच्चयनस्य पदार्थविशेषण
द्वारा विरोधवशं प्रसिद्धेत्त्वाभिधानरूपकाम्यच्छिद्वाजुमणित इति ॥ ८ ॥

सद्यश्च हे तो भी कुट्टिक बद् (सुधोपन) धीमात् को धीने को अधिकाया से दान
वाशिष्ठादि ग्रन्थो से अपने विमल बश की अधिवृद्धि कर रहा है । योंकि दे-वर्ष्य की वृद्धि
करते हुये कुट्टो के सम्बन्ध की अपेक्षा मन्त्रों के साथ दैनन्तव्य करना भी कुछ अच्छा है ॥८॥

'मनु काठयं केवला नीतिः' इत्याशाह्वय नीतिपुक्त पौरुषमस्येत्याह—

कृतारिषद्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपा पदवीं प्रपित्सुना ।

विमम्य नक्तं विमस्ततन्निद्राणा वितन्यते तेन जयेन पौरुषम् ॥ ६ ॥

कृतेति । कणां वर्गं पदवर्गः । अरीणामन्तः शत्रूणां पदवर्गोऽरिषद्वर्गः । शिव
भागवतवत्समाप्तः । तस्य जय कृतो येन तेन तयोष्ठेन । विभीतेनेत्यर्थः । विभीता
चिह्नं प्रजापालनमिति भावः । अगम्यरूपां पुरुषमाश्रुष्याप्याम् । मनोरिमां मान
वीम् । मनुपदिहसदाचारपुण्यामित्यर्थः । पदवीं प्रजापालनपदंति प्रपित्सुना प्रप
त्तुमिच्छुना । प्रपद्यते सन्नन्तादुपस्यथ सनि मीमा—इत्यादिनेसादेशः । अत्र लोपो
अप्यासस्य इत्यप्यासलोपः । अस्ता तन्निद्राकरय यस्य तेनास्ततन्निद्राणा । अत्रलसे
नेत्यर्थः । तद्विस्तौप्रो चातुः । तस्मात् । अककवाद्यथ इत्यौणादिकं क्रिन्प्रत्ययः कृदि
कारादकितो वा लीच अकक्या इति । वन्दीघटीतीरतन्नीति लीचन्तोऽपि इति चीर
स्वामी । तथा रामायणे प्रयोगः—'निस्तन्निद्रप्रमत्तस्य स्वदोषपरदोषविद् इति । तेन
दुषोचनेन । पुरुषस्य कर्म पौरुषं पुरुषकारः, उद्योग इति यावत् । शुवाद्दत्त्वाद्यण प्रत्ययः ।
'पौरुषं पुरुषस्योक्ते भावे कर्मणि लैकसि' इति विश्वः । नक्तं च दिवा च अकन्निवम् ।
अहोरात्रयोरित्यर्थः । 'अचतुर इत्यादिना सप्तम्यथद्वयोरन्यथयोर्हन्निपातेऽप्यसमा
सान्ता विमम्यास्यां वेलागामिद् कर्मेति विमानं कृत्वा जयेन नीत्या वितन्यते
विस्तार्यते ॥ ६ ॥

यव (सुधोपन) काम क्रोध लोभ मोह मद भीर अहकार ये जो प्राणी के ह्य शत्रु
हैं उन्हें बोटकर मनुष्यमान के किये कुर्सेव (दुष्प्राप्य) मनु के द्वारा वषदिह जो शानकपद्धति
है उसे कर्म्य कम से लाने की (प्राप्त करने की) इच्छा रखकर और आकस्व को दूर भगाकर
समय-विभागानुक्रम नीति-यव का आभार लेकर अपने पुत्रपथ को विस्तृत कर रहा है ॥९॥

सम्प्रति श्रुत्याद्यनुरागमाह—

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविन समानमानान्पुत्रदश्च बन्धुमि ।

स सन्तत दर्शयति गतस्मय कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥९॥

सखीनिवि । गतस्मयो निरहङ्कारोऽत एव स दुर्योधन सन्ततमनारत साधु
सम्यक् । अकपटमित्यर्थ । अनुजीविनो मृत्यान् । प्रीतिधुल म्निग्धान्सखीनिव
मित्राणीव । दर्शयते । लोकरूपेति शेष । 'हेतुमति च' इति णिच । 'णिचञ्च' इत्यात्मने-
पदम् । शोभनं दृश्य येषा तान्मुहुरो मित्राणि च । 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामिप्रयो'
इति निपात । बन्धुभिर्भ्रात्रादिभि समानमानास्तुल्यसङ्कारान् दर्शयते । बन्धूना
समूहो बन्धुता ताम् ॥ 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' । कृतमाधिपत्य स्वान्य यस्या-
स्ता कृताधिपत्यामिव दर्शयते । बन्धूनधिपतीनिव दर्शयतीत्यर्थ । यथा मृत्यादिषु
सख्याद्विद्विजोयते लोकरूप तया तान्त्रभाषयतीत्यर्थ । अनुजीव्यादीना 'कर्तुरीप्सि-
सततम कर्म' इति कर्मत्वम् । पूर्वे त्वस्मिन्नेव पदान्वये वाक्यार्थभरणे वर्णयन्ति-स
राजाऽनुजीव्यादीन्सख्यादीनिव दर्शयते । सख्यादय इव ते तु स पश्यन्ति । सख्या-
दिभाषेन पश्यतस्तास्तया दर्शयते । स्वयमेव इन्द्रानुवर्षितया स्वदर्शन तेभ्य
प्रयच्छतीत्यर्थ । अर्थात्स्येप्सितकर्मत्वम् । अणि कर्तुरनुजीव्यादे 'अभिवादिदशोरा
त्मनेपदसुपसख्यानाम्' इति पाठिक कर्मत्वम् । एव चात्राप्यन्तकर्मणो राज्ञो ष्यन्ते
कर्तृत्वेऽपि 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इत्यादिवद्भूयमाणकर्मन्तरत्वाभावाच्चाय
षेरणादिसूत्रस्य विषय इति मत्वा 'णिचञ्च' इत्यात्मनेपदं प्रतिपेदिरे । भाष्ये तु षेरणा-
दिसूत्रविषयत्वमप्यस्योक्तम् । यथाऽऽह—'पश्यन्ति भूरया राजान्' 'दर्शयते मृत्यान्
राजा' 'दर्शयते भृत्यै राजा' अत्रात्मनेपदं सिद्धं भवति' इति । अत्राह कैयट—
'ननु कर्मन्तरसङ्गात्वाद्ब्रह्मणेपदेन भाष्यम् । उच्यते—'अस्मादेवोदाहरणाद्भाष्यकार
स्यायमेवाभिप्राय ऊह्यते—'अव्यन्तावस्थाया ये कर्तृकर्मणी तद्वधतिरिक्तकर्मन्तरस-
ङ्गात्वादात्मनेपदं न भवति । यथा—'स्थलमारोहयति मनुष्यान्' इति । इह त्वप्य-
न्तावस्थाया कर्तृणा मृत्यानां गौ कर्तृत्वमिति भवत्येवात्मनेपदमिति ॥ १० ॥

यह (सुबोधन) अहङ्कार से प्रयक् रहकर अपने कर्मचारियों के साथ सर्वदा प्रीति-पात्र
मित्रों की तरह, मित्रों का आदर (स्तुकार) ठीक निम्नो गोत्र कुटुम्बियों की तरह, और जो
उसके भगे कुटुम्ब के लोग हैं उनका साक्षात् राज्याधिकारी की भाँति आदर करता है,
तात्पर्य यह कि उसके व्यवहार से सब लोग सन्तुष्ट हैं ॥ १० ॥

च चाय त्रिधर्गात्ममाधतीत्याह—

असक्तमाराधयतो यथायथ विभज्य भक्त्या समपक्षपातया ।

शुषानुरागादिषु सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगण्य परस्परम् ॥११॥

असक्तमिति । यथायथ यथास्व विभज्य, असङ्कीर्णरूप विविचयेत्यर्थ ।
'यथास्वे यथायथम्' इति निपातनात् द्विर्भावो नपुंसकत्व च । 'ह्रस्वो नपुंसके प्राति-
पदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम् । पक्षे पात' पक्षपात आसक्तिविशेष- समस्तुहयो यस्या
तया समपक्षपातया । भक्त्याऽनुरागविशेषेण । पूर्वेष्वनुरागो भक्तिरित्युपदेश ।

पुण्यशायं त्रिवर्गं इति । असक्तमनासक्तम् । अन्यसन्निवृत्तयेति यावत् । आराधयत-
सेवमानस्यास्य दुर्योधनस्य अयाणा धर्मायकामानां गणस्त्रियणस्त्रियण । 'त्रिवर्गो
धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोऽहकैः इत्यमरः । गुणानुरागात्तदीयगुणैश्चतुरागात् । गुणवदा-
अयकोभादित्यथ । सद्य मैत्रीं सद्युयोः इति यमत्वयः । ईदित्यानुपगतवागिवेद्यु-
ष्येष्टा । उपेयिदाननाधाननूधानम्' इति छसुप्रत्ययान्तो निपात् । 'भाद्रोपसर्गस्त-
न्मम्' इति काशिकाकार आह स्म । परस्परं न भाधते । समवर्तित्वात्स्य धर्माय
कामाः परस्परानुपमर्देन वर्धन्ते इत्यर्थः । उक्तं च—'धर्मायकामाः सममेव सेव्या यो
ऽसक्तः स अनोऽसक्तः' इति ॥ ११ ॥

यद्दुर्योधन अनासक्त होकर किसी में विशेष पक्षपाल न कर के बसोबिन विभाग
करते हुये भिन धर्म अथ और काम इन त्रिवर्गों का सेवन करता है वे त्रिवर्ग परस्पर में सधन
को नहीं प्राप्त होते हैं परन्तु उसके अभ्युदयमें सहकारी होते हैं । ऐसा मालूम होता है कि वे
परस्पर मित्र बन गये हैं । (जैसे—यह वह धर्म करण है उस समय धर्म और काम उसके धर्म
में रोका नहीं अटकते । या अब वह अभोपार्जन का व्यवसाय करता है तो उसमें धर्म और
काम बिना नहीं छोड़ने और यह वह काम का सेवन करता है तब उसके शिषे धर्म और
धर्म बाध नहीं करते) ॥ १२ ॥

अथ स्त्रोत्रप्रयेणोपायकौशल्यं दृश्यन्नादौ सामदाने दर्शयति—

निरत्यथ सामं न दानवर्जितं न भूरि दानं विरह्य सत्क्रियाम् ।

प्रवृत्ते तस्य विशेषशालिनी गुयानुरोचेन विना न सत्क्रिया ॥१२॥

निरत्यथमिति । तस्य दुर्योधनस्य निरत्यथ निर्वाचम् । अभाषिकमित्यर्थः ।
अन्यथा अनामो दुर्योधनस्य इति भावः । सामं सामन्वम् सामं सान्त्वमुने समे इत्य-
मरः । दानवर्जितं न प्रवृत्ते । अन्यथा कुम्भापावजनस्य दुर्योधनस्य इत्युक्तत्वादि-
ति भावः । उक्तं च—'सुभमर्तेन गुह्योपास्तानुमज्जिकर्मणा । मूर्खान्पानुरोचेन तत्त्वा-
र्जेन च पण्डितम् ॥ इति । तथा भूरि प्रभूतं न तु कदाचित्स्वल्पमित्यर्थः । दानं
भगवत्याम् । सद्दित्यादरार्थेऽन्ययम् । आदरानादरयोः सदसती' इति विपातसज्ञास्म-
रणात् । तस्य क्रियां सत्क्रियां विरह्य विहाय । क्वचिच्छुपूर्वात् इत्ययादेशः । न
प्रवृत्ते । अनादरे दानवर्जितादिति भावः । न चैव सर्वत्र यथाविवेकित्वं कोशहानिश्च
स्यादित्याह प्रति । विशेषशालिनीतिशब्दबोधिनी सन्निधाऽऽर्हादिव्या गुणानुरोचेन
गुणानुरागणं विना न प्रवृत्ते । दृढनिश्चिना—इत्यादिना पृथीया । गुणेष्वेवाद्दरो मूरि
दानं चैते नोक्तदोषावकासा इत्यथ । अश्रोतरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणतया स्थापना
श्लेषावस्थलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'दथाप्येतेऽप्योक्तते वागपि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यस्तु यत्र सकारणं द्विधा ॥ इति ॥ १२ ॥

सामं दानं दण्डं और भेद यह चार प्रकार की राज्याभो की नीति है । इनमें साम का

प्रयोग जो द्रुयोधन के द्वारा किया जाता है दान के बिना नहीं किया जाता (क्योंकि लोभी पुरुष को वश में लाने के लिये दान की आवश्यकता पड़ती है) । और जो वह प्रचुर मात्रा में दान करता है वह सत्कारपूर्वक करता है । और उसका विशेष सत्कार गुण के बिना नहीं होता अर्थात् वह योग्य व्यक्तियों का ही सत्कार करता है ॥ १२ ॥

अथ दण्डप्रकारमाह—

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्मं इत्येव निवृत्तकारणं ।

गुरुपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ॥१३॥

वसुनीति । वशी स दुर्योधनो वसुनि धनानि वाञ्छन्न । लोभान्नेत्यर्थः । 'वसु तोये घने मणौ' इति वैजयन्ती । निहन्तीति शेषः । तथा मन्युना कोपेन न च । 'मन्युर्दैन्ये क्रमौ कर्षा' इत्यमरः । 'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविजित' इति स्मरणादित्यर्थः । किन्तु निवृत्तकारणो निवृत्तलोभादिभिर्मित्त सन्स्वधर्म इत्येव । स्वस्य राज्ञः सतो ममाय धर्मो ममेदं कर्षणमित्यस्मादेव हेतोरित्यर्थः । 'अदण्डवान्दण्डयन् राजा दण्ड्याक्षैवाप्यदण्डयन् । अयसो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति' ॥ इति स्मरणादिति भावः । गुरुपदिष्टेन प्राद्विवाकोपदिष्टेन । 'धर्मशास्त्र' पुरस्कृत्य प्राद्विवाकं मते स्थितः । समाहितमिति पर्येद् व्यवहाराननुकमात् ॥ इति नारदस्मरणात् । दण्डेन दमेन । क्षिप्रयेत्यर्थः । रिपौ सुतेऽपि वा । स्थितमिति शेषः । पूतेनास्य सम-र्थात्समुक्तम् । धर्मविप्लवधर्मव्यतिक्रमम् । अधर्ममिति यावत् । निहन्ति निवारयति । दुष्ट पत्न्यास्य शत्रुं क्षिप्रं एव मन्युर्न तु सम्बन्धनियन्त्रेण पक्षपातोऽस्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

वह निर्वैन्द्रिय होकर, न तो धन की लालच से न क्रोध से किसी को दण्ड देता है या अपराध मुक्त करता है, किन्तु वह क्रोध लोभ से निवृत्त होकर गुरुपदिष्ट धर्मशास्त्रानुकूल शत्रु और पुत्र में भेद न समझकर, दण्ड के द्वारा धर्म विप्लव को क्षमन करना अपना कर्तव्य समझता है, क्योंकि जो दण्डार्ह नहीं उन्हें दण्ड देना तथा दण्डनीयोंको अपराध मुक्त करना, राजा को अपवश का भागी बनाता है और पश्चात् नरक में शोक देता है ॥ १३ ॥

सम्प्रति भेदकौशलं दर्शयति—

विधाय रक्षान्परित परितैरानशङ्कितकारमुपैति शङ्कितः ।

क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृता कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पद ॥१४॥

विधायेति । शङ्का सञ्जाताऽस्य शङ्कितोऽविश्वस्त सन् परितः सर्वत्र स्वपर-मण्डले परितरावलीयान् । अवशङ्कानिति यावत् । यद्वा परानितरयन्ति भेदेनात्मसा-स्कुर्वन्तीति परितरान् । तत्करोति ध्यन्ताकर्मण्यपश्यत्यर्थः । रचन्तीति रक्षान् रक्षकान् । मन्त्रगुप्तिसमर्थानित्यर्थः । 'नन्दिग्रहि—'इत्यादिना पद्याद्यच् । विधाय कृत्वा । नियु-ज्येत्यर्थः । अशङ्कितकारमुपैति । स्वयमविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदेव व्यवहरन्परमुखे-

नैव पराम्निमत्तौच्यम् । न च तान् रक्षानुपेक्षते येन तेऽपि विकुर्षोरक्षित्वाह—कृत्वैति ।
 क्रियाभ्यवर्गेषु कर्मसमाप्तिष्वनुभोविताङ्कता मृत्वाधीना कृताः । अपराधार्थितया
 वृत्ता ह्यवर्गः । देवे प्रा च इति सातिप्रथमः । सम्पदास्य राज्ञ कृतज्ञतामुपक-
 रित्व यदन्ति । श्रौतिद्वारेणैवाप्य कृतज्ञत्व प्रकल्पते न तु वाङ्मताश्रयेत्यर्थः । कृतज्ञे
 राज्ञ्यनुजीविनोऽनुत्पन्त्यन्तेऽनुरक्तान् त रक्षतीति भावः ॥ १४ ॥

मुपोषन स्वराष्ट्र परराष्ट्र एवं भवत् नन्-नोपन-समथ आत्मीय कर्मचारियो को
 कार्यकार सौप कर रथम बनका विवाहन कर निवृद्धता का भावप्रदसन्भाव करता
 है । कार्य समाप्ति के पश्चात् मृत्यो को भेदन के रूप में प्रदान की गयी सम्पत्तिवा रसको
 क्रायना एविव करती है ॥ १४ ॥

अथोपायप्रयोगस्य फलवन्ता दर्शयति—

अनारतं तेन पदेपु क्षाम्भिता विभज्य साम्यग्निनियोगसत्क्रिया ।

- फलान्मुपाया परिबृंहितायतीरूपेत्य सधपमिवायसम्पद ॥ १५ ॥

अनारतसिद्धि । तेन राज्ञा पदेपुपादेयवस्तुषु । पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्षणा
 कश्चिद्वस्तुषु इत्यमरः । सम्पदसङ्घीर्षमप्यरत च विभज्य विविधम् । विविधीय एव
 सत्क्रियाऽनुग्रहः सकार इति पाथत् । येषां ते क्षाम्भिताः । स्थानेषु सम्पदप्रयुक्त
 इत्यर्थः । उपायाः सामाव्यः । सङ्घर्षं पास्यास्पर्षाऽनुपेक्षेवेत्युच्येत् । परिबृंहितायतीः
 अर्थितोच्छ्रकाळा स्थिरा इत्यर्थः । अर्थसम्पदोऽनारतमजलं यकन्ति प्रमुषत ;
 इत्यर्थः ॥ १५ ॥

उच्यते (मुपोषन ने) बना-योग्य पानमें विन साम दान एवं और भेद कोविषो
 का प्रयोग किया है वे समुचित निवृत्ति से सम्पन्न हो कर एक दूसरे से परस्पर स्पर्षा
 करती हुई उचोपच इतिनाशिवी ऐश्वर्य राशि का समझन मत्त करती है ॥ १५ ॥

अर्थसम्पदमेवाह—

अनेकराजन्यरथाश्वसंकुला तदीयमास्थाननिकेतनाखिरम् ।

नयत्ययुग्मसङ्घदराधिपराईसा भृशं नृपोपायनदन्तिना मद् ॥ १६ ॥

अनेकेषु । अयुग्मसङ्घस्य सप्तपर्जन्यस्य वा च इव गन्धो यस्यासावपुरमण्डद
 यम्भिः । सप्तमुपमान—इत्यादिना बहुव्रीहिसत्तरद्वयोपमा । 'उपमाभाषण' इति समा-
 साम्त इकारः । नृपाणांमुपायनान्युपहारमृता वेदन्तिमस्तेषां मयः । उपायनमुपमास-
 मुपहारस्तपोपदा इत्यमरः । राज्ञामप्यानि पुमांसो राज्ञ्याः कश्चिवाः । 'राजश्चतुरा-
 थम्' इति यत्त्वयथः । राज्ञोऽपत्ये कातिग्रहणादत् । रथाश्वाश्वान् रथाश्वम् । सेनां
 त्यागैकवशात् । अनेकेषां राज्ञ्याणां रथाश्वेन सङ्कुलं भ्यासं तदीयमास्थाननिकेत-
 नाखिरं सामाम्ण्यवाङ्मनी मृत्समात्यर्थमाईतां पश्चिकरथ नयति । एतेन महासङ्घखिरत्यो

का । अत एवोदात्तालङ्कार । तथा चालङ्कारसूत्रम्—समृद्धिमद्स्तुवर्णनमुदात्तः इति ॥
 सुयोधन के सभामण्डप का प्राङ्गण (भागन) अनेक राजाओं के रथ और घोड़ों से
 व्याप्त रहता है । उसे राजाओं से उपरार में आवे हुये मत्त पशुधियों का मद, अितमें विप
 मच्छद (द्वितीय) के गन्ध सदृश गन्ध होता है, भार्य बनाये रहता है । (एससे सुयोधन
 की अथ सम्पत्ति का परिचय मिलता है) ॥ १६ ॥

नोट—द्वितीय—इसमें सात सात पत्ते एक एक ढरछमें होते है अत इसे विपमच्छद कहते है ।

सम्प्रति जनपदचेमकरत्वमाह—

सुखेन लभ्या दधत कृषीवलैरकृष्टपन्था इव सस्यसपद ।

वितन्वति चेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवञ्चकासति ॥ १७ ॥

सुखेनेति । चिराय तस्मिन् दुर्बोधने चेम वितन्वति चेमङ्कुरे सति । देव भर्जन्य
 एव माता देवा ते देवमातृका घृष्टपशुजीविनो देवा । ते न भवन्तीत्यदेवमा
 तृका नदीमातृका इत्यय । 'देशो नद्यन्तुघृष्टपशुसम्पन्नव्रीहिपालित । स्यान्नदीमातृको
 देवमातृकश्च यथाक्रमम् ॥' इत्यमर । पृतेनास्य कुल्याऽऽदिरुत्पवर्तकत्वमुक्तम् । कुल्या
 निवासः कुरवो जनपदविशेषा । कृष्टेन पच्यन्त इति कृष्टपन्था । 'राजसूय—इत्या-
 दिना कर्मकर्त्तरि वयस्प्रवयान्तो निपात । तद्विपरीता अकृष्टपन्था इव । कृषिर्षोपाम-
 स्तीति ते कृषीवलैः, कर्षकैरित्यर्थ । 'रञ्ज कृषि—इत्यादिना वलच् प्रत्यय । 'वले'
 इति शीर्ष । सुखेनावलेनो लभ्या लभ्यु लभ्या सस्यसम्पदो दधतो धारयन्त ।
 'नाम्यस्तापशु' इति शुभ्रागमप्रतिषेध । चकासति । सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्त इत्यर्थ ।
 'अदम्यस्ताप' इति शेरदादेश । 'जक्षित्वाद्य एट्' इत्यभ्यस्तसन्ज्ञा । सम्पन्न-
 जनपदत्वाद्सन्तापकरत्वाच्च दुःसाध्योऽयमिति भाव ॥ १७ ॥

(सुयोधन) चिरकाल से प्रजा के भङ्गुदय के निमित्त यत्नशील रहता है । उसका राष्ट्र
 घृष्टपशुजीवी नहीं है किन्तु, उसने आवश्यकवानुसार, जगह २ पर कुर्वे, ताडाव और
 नहरों का निर्माण कराया है जिनको छोड़िना अधिक परिश्रम किये ही अन्न का ढेर झुलम है
 जिससे उसके देश के निवासी बरे बरे हैं । तापर्थ्य यह कि उसके सुप्रवच से उसकी प्रजा
 दुष्काळ का अनुभव कभी नहीं करती ॥ १७ ॥

नन्वेव जनपदानुवर्तिन कथमर्थलाम इत्यत आह—

उदारकीर्त्तैरुदय दयावत प्रशान्तबाध दिशतोऽभिरक्षया ।

स्वय प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्तुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥ १८ ॥

उदारैरिति । उदारकीर्त्तैर्महायशसः । 'उदारो दातृमहतो' इत्यमर ॥ दयावत-
 परदुःखप्रहाणेच्छो । अत एव प्रशान्तबाध प्रशमितोपद्रव यथा स्यात्तथेति क्रिया-
 विशेषणम् । उदयविशेषण वा । 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना धामिधातोर्णन्ताञ्जि
 घान्तो निपात । अभिरक्षया सर्वतस्त्राणेनोदय वृद्धिं दिशत सम्पाद्यतो वसूपमानस्य
 कुषोपनेस्य । 'वसुर्नृपस्त्राणवनाधिपेषु' इति विश्व । अस्य दुर्बोधनस्य गुणैर्दया-

दादिभ्यादिभिर्यस्तुता प्राविता मेदिनी वसुभि घनाभि । 'वसु तोवे घने मणी इति
 वैजयन्ती । स्वयं प्रभुत्वे । अथजेनो न दुह्यत इत्यथ । दुहे कमकर्त्तरि छट । व
 दुहस्तुनमां पत्तिकणौ इति यकप्रतिषेध । यथा केनचिद्द्विदग्धेन भवप्रसूता रचिता च
 गीः स्वयं प्रभुत्वे तद्वदिति भाव । अठड्वारस्तु- विशेषणमात्रसाम्याद्प्रस्तुतस्य राग्यत्वे
 समासोक्ति इति सङ्घस्वकारः । अत्र प्रतीयमानया तावा सह प्रकृताङ्गया मेदिन्या
 मेदेःमेदृच्छणातिशयोक्त्यस्योद्भास्येवोक्तिरिति सङ्घेषे ॥ १८ ॥

परम यशस्वी श्रीर वशात् चारो तरफ से रक्षा की सुश्रवस्वा से निमित्त अशुद्ध
 का सम्पादन करते हुये श्रीर कुनैरसदृश उच सुशोभन के राज्य की वस्तुनरा उभके गुणों से
 प्रसन्न होकर दिना परिश्रम सन्पत्ति प्रदान करती है ॥ १८ ॥

धीरमदानुकूल्यमाह—

महीजसो मानघमा घनार्चिता घनुर्नृत सपति सम्भकीर्यय ।

नसंहवास्तरय नमिप्रभृतय मियाणि वाञ्छत्यसुभि समीहितुम् ॥ १९ ॥

महीजस इति । महीजसो महाबला । अन्यथा दुर्बलानामनुपकारित्वादिति
 भाव । मान कुच्छरीलाघमिमान एव घन येषां ते मानयनाः । अन्यथा कदाचिद्
 बलवर्धाङ्गुर्भरिति भावः । घनार्चिताः घनैरर्चिताः सरकृताः । अन्यथा दारिद्र्यादेन
 जलरिति भाव । सपति सङ्घप्राप्ते सम्भकीर्यय । बहुमत्तस इत्यथ । अथवा कदा
 अशुद्धसुरिदि भाव । सद्गता मिथःसद्गताः स्वार्थनिष्ठा न भवन्तीति नसद्गता ।
 मजघस्य नशब्दस्य सुप्सुपति समासः । मिद्वद्वृत्तयो मियो विरोधात्मकामिकार्यका
 न भवन्तीति नमिप्रभृतय । पूर्ववत्समासः । अन्यथा स्वामिकार्यविघातकृत्या स्वामि-
 त्तोहिजा इतिरुभयप्रापि तात्पर्यायाः । घनुर्नृतो घानुष्काः । आनुषोपमाशोपकण्
 ण्येतत् । माघान्याङ्गनुप्रहयम् । तस्य धुर्योभनस्यासुभि प्राणैः मिथानि समीहितुं
 कर्तुं वाञ्छन्ति । आनुष्यार्थं प्राणान्दातुमिच्छन्ति । अन्यथा दोषसम्पत्तादिति भाव ।
 अत्र महीजसाधिपदार्थायां प्राणदानकृत्यपत्तां प्रति विशेषणमाया हेतुत्वाभिधानत्वा
 व्यङ्ग्यमलङ्कारः । लक्षण दूकम् । तथा सामिप्रावविशेषणत्वात्परिकराळङ्कार इति
 द्वयोस्त्विकत्वदूकत्वद् विनकृत्याः एतुत्वात्सङ्घेः ॥ १९ ॥

(उसकी सेवा के) अनुभर को महाबलिष्ठ है । मैं है अपनी कुशोभता का गर्व है द्रव्यादि
 से सन्तुष्ट है समराज्य में सम्भप्रतिष्ठ है घुलसोरी है एक दूसरे से मिले हुये भी नहीं
 रहते है श्रीर जबसर पर अपनी अपनी श्रीर नहीं पकाते ऐसे उभके बोद्ध अपने प्राणों
 से उभके कल्याण की कामना करते रहने है ॥ १९ ॥

सम्प्रति स्वराष्ट्रवपराष्ट्रचान्तमपि वेधीत्याह—

महीमृतां सञ्चरितैरचरै क्रिया स वेद निशरोधमरोषितक्रिय ।

महोदयैस्तस्य द्विदानुषिचिभिः प्रतीयते घातुरिवेहितं फले ॥ २० ॥

महीमृतामिति । अरोषितक्रिय समापितकृत्य । आकलोद्भवकर्म्मत्वार्थ । स

दुर्योधन सचरितैः शुद्धचरितैः । अवल्लक्षैरित्यर्थं । धरन्तीति चरास्तैश्चरै । प्रणि-
 च्छिभिः । । महीभृतां क्रिया द्वि शेष वेद वेत्ति । 'विदो छटो वा'
 इति णळादेशः । स्वरहस्य तु न कश्चिद्द्वैतवाह—महोदयैरिति । चातुरिव तस्य
 दुर्योधनस्येहितमुद्योगो महोदयैर्महावृद्धिभिः । हितमनुयन्त्यनुसन्धन्तीति हितानुय-
 ण्छिभिः । स्वन्तैरित्यर्थं । फलैः कार्यसिद्धिभिः प्रतीयते ज्ञायते । फलानुमेयास्तस्य
 इत्यर्थः ॥ २० ॥

यह (दुर्योधन) जिस कार्य का आरम्भ करता है उसे समाप्त करके दो छोटता है
 वह अपने शुद्ध व्यवहार करने वाले शुद्धचरों से राजाओं का सम्पूर्ण घृचान्त जानता है ।
 उसके शुभेच्छु लोग भी, ईश्वरीय इच्छा के समान, क्लिप्ताननित प्रचुर फलसिद्धि से उसके
 कार्य का अनुमान कर सकते हैं । सारांश यह कि कार्य निष्पन्न होने पर ही उसका भेद
 ज्ञानता है ॥ २० ॥

मिश्रबलमाह—

न तेन सख्य कचिदुद्यत धनु कृत न वा कोपविजित्यमाननम् ।

गुणानुरागेण शिरोभिरुद्धते नराधिपैर्मातृमित्रास्य शासनम् ॥२१॥

नेति । तेन राज्ञा कचिदुद्यतपि । सह ज्यया भौर्वा सख्यम् । 'भौर्वा ज्या
 शिञ्जिनी गुण' इत्यमरः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति षट्श्लोहि । धनुर्नाचत नोर्ध्व-
 कृतम् । आतन च कोपविजित्य कोपकुटिल न कृतम् । यस्य कोप एव मोदेति कुत-
 स्तस्य बुद्धप्रसक्तिरिति भावः । कथं तर्ह्याज्ञा कारयति राज्ञ इत्यत्राह—भुणेति ।
 भुणेतु दयावृत्तिव्यादिष्वनुरागेण प्रेम्णा । मातृमित्रैः सूत्रानुपद्वेज । यद्वा सौदम्यगुण
 लाभेन । नराधिपैरस्य शासनमाज्ञा । मातृव मातृव तदिव । 'चातुर्वर्ण्यादिस्वास्त्वायै
 प्यध्' इति धीरस्वामी । शिरोभिरुद्धते धार्यते । 'वचिस्वपियजादीना किति' इति
 यकि सम्प्रसारणम् । अत्रोपमा स्फुटैव ॥ २१ ॥

उसने धनुष पर प्रत्यक्षा (कोरी) आरोपित करके किसी को शुद्ध के लिये आह्वान
 नहीं किया और न तो क्रोध से भ्रमज्ञ ही किया, तथापि राजस्य वर्ग उसके गन दक्षिण्यादि
 गुणों से आकृष्ट होकर पुण्यमाळा की भांति उसकी आज्ञा शिरोधार्य करता है ॥ २१ ॥
 सप्रत्यस्य धार्मिकत्वमाह—

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धत निधाय दुःशासनमिद्धशासन ।

मलेष्वस्त्रिभ्रोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हृदयेन हिरण्यरेतसम् ॥२२॥

स इति । इद्धशासनोऽप्रतिहताज्ञः स दुर्योधनो नवयौवनोद्धत प्रगल्भम् ।
 अरुणरमित्यर्थः । भुजेन शास्यत इति दुःशासनस्तम् । 'भाषायां धासियुधि—'
 इत्यदिना अल्लर्षे युष्मत्स्यय' । यौवराज्ये युवराजकर्मणि । आह्वानादिस्वास्त्वायै ।
 निधाय । निपुज्येत्यर्थः । पुरोधसा पुरोहितेनानुमतोऽनुज्ञात । तस्मिन्वाजके सती-
 त्यर्थः । बहुवचने दोषस्वरणादिति भावः । 'निष्ठा' इति भूतार्थे च । न तु 'मति-

बुद्धि इत्यादिना वक्ष्यमानार्थे । अन्यथा पुरोधसा इत्यत्र कस्य च वर्त्तमाने इति
 षष्ठी श्यात् । अखिलोऽनलसो मन्त्रेषु कृत्तुषु हृष्येन इति । द्विरण्य रेतो यस्य त
 द्विरण्यरेतसमनलं चिनोत्त प्रीणयति । चिन्त्रैः प्रीणयार्थाद् 'चिन्त्रिकृष्णयोर् च' इत्यु
 प्राथम्यः । अकारान्तादेशः ॥ २१ ॥

सुबोधन का भाजानम् कमी नहीं होवा । वह अनिजन सुवानरणा से बृह् बुधशासन
 को सुवराज बनाकर पुरोधित को भाषा से (सर्वथा) भाष्य का परित्याग कर के यथ मे
 अग्निदेव को इत्यादि प्रदान द्वारा प्रसन्न करता है ॥ २२ ॥

न चैतावता निरुद्योयैर्मान्यमित्याद्याह्वाहां वृष्टयति—

प्रलीननूपात्मपि स्थिरायति प्रसासदावारिधि मयच्छल भुव ।

स चिन्तयत्येष मियत्स्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥ २३ ॥

प्रलीनेति । स बुबोधन प्रलीननूपात्म । निःसपत्नमित्यर्थाः । स्थिरायति ।
 विरथायीत्वम् । सुबो मच्छलमा वारिधिन्म भावारिधि । आह्मर्थादाऽभिविध्यो
 इत्यप्यधीमाव । प्रसासदाज्ञापयन्नपि । अखित्याद्य चद् इत्यम्यरेतसज्ञा । नाम्य
 स्ताण्ड्यु इति नुमागमप्रतिषेधा । स्वत् स्वत् पृथतीरामिभ्यती । घातनामनेकाय
 एवानुक्तार्थसिद्धिः । अयवाऽऽहूय पाठः । प्येषत्पूठसु' इति बुद्धिः । 'वृट् सहा'
 इति वाच्यत्वम् । उगितश्च इति ङीप् । भाष्योन्नतोर्तुम् इति विक्रमग-ब्रुमभावाः ।
 नियो भयहेतुः । विपद् इत्यर्थः । चि' तयत्यालोचयत्येव । स पृवाह—अहां बलवद्वि
 रोधिता दुरन्ता बुद्धयसाना । सर्वभूमिस्थापि प्रबलै सह वरापमाणत्वमभ्यर्षपर्यव
 सात्पेवेति शाल्यर्थः । सामान्येन विशेषसमयनरूपोऽर्थांतरन्यास ॥ २३ ॥

वह समुद्र पर्यन्त भूमच्छल का छासन करता है । समुद्र नष्ट हो गये है । राज्य भी
 स्थिर हो गया है । ववारि काप से (बुधिर से) भागे वाले मय की चि ता करता ही
 रहता है । वह वाग ठीक ही है कि मयको के साथ विशेष करने का फल भयहृत्कारी होता है।
 मनु गृह्णाकरीद्वितस्य तस्य अथ स्वया कथं निर्योरीत्यग्राह—

कथाप्रसङ्गेन जनैरुवाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुचिक्रम ।

तथाभिधानाद् व्यथते नतानन' स दु.सहा'मन्त्रपदाविबोरग ॥२४॥

कथेति । कथाप्रसङ्गेन गोष्ठीवचनेन जनै । अन्यथा कथाप्रसङ्गेन विषयैवेन ।
 कथाप्रसङ्गे वार्त्तार्था निषयैवऽपि वाच्यत्वा इति विषयः । एकवचनस्यात्मत्वाजन
 विशेषणम् । उदाहृताहुवा'देवात्तथाभिधानात्प्रामेवात्समारकावतो' । 'द्विती' इति
 पञ्चमी । 'आकथाद् अभिधान च नामवेव च प्राप्त च' इत्यमरः । अन्यथा तथाभिधा
 नात् । 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्' इति न्यायात्तश्च यश्च तवी साप्यवासुकी
 तयोर्भिधान यस्मिन्पदे सत्त्वात् । यद्वा कथाप्रसङ्गे इत्याद्य से अभावेनेकं पदम् ।

अनुस्मृत्याल्लब्धसुनुविक्रमः स्मृतानुनपराक्रमः सुनु सहादतिदुःसहान्मन्त्रपदान्मन्त्र
शब्दास्मारकाद्गतो । आल्लब्धसुनुरिन्द्रानुभ । उपेन्द्रो विष्णुरिति पावत् । 'सुनु
पुत्रेऽनुजे रवी' इति विश्वः । तस्य वि पक्षी । गरुड इत्यर्थः । तस्य क्रम पादविशेष ।
सोऽनुस्मृतो येन स तथोक्तः, स्मृतगारुडमहिमा । उरग इव नतानन सन् । व्ययते
दु खायते । 'धीढा वाधाव्यथा दु खम्' इत्यमरः । अयुःकष्टभयदोषादिविकाराः पुर्वांरा-
इति भावः । 'सर्वतो जयमन्विष्वक्त्रेऽनुजाविच्छेरेपराजयम्' इति न्यायाद्दुर्नोत्कर्ष-
कथन युधिष्ठिरस्य भूषणमेवेति सर्वमवदातम् ॥ २४ ॥

निस तरह मुनक्षम (सर्प) मन्त्रवेत्ता से उच्चारित गरुड और वासुकी के नामयुक्त
असह्य मन्त्रपद से गरुड के पराक्रम का स्मरण करके नतमस्तक हो जाता है, ठीक वही
दशा सुयोधन की हो जाती है । जब कभी जनसमूह की चर्चा में आप का नाम किसी के
मुँह से निकल जाता है तो वह उसे सदन करने में असमर्थ हो जाता है और अजुन के बल
का स्मरण कर शिर झुका लेता है अर्थात् उसका हृदय प्रतिध्वज सन्तप्त हुआ करता है ॥

निगमयति—

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्वामुद्यते विधीयता तत्र विधेयमुत्तरम् ।

परप्रणीतानि वचांसि चिन्वता प्रवृत्तिसाराः खलु मादशा गिरः ॥२५॥

तदिति । तत्तस्मात्तवयि निह्व कपट कर्तुमुद्यते । त्वर जिह्वासाविश्वर्थः । तत्र तस्मि
न्दुर्बोधने विशेष कर्तव्यमुत्तर प्रतिक्रियाऽऽशु विधीयता क्रियताम् । ननु कर्तव्यमपि
स्वयंबोध्यतामिति चेत्तत्राह—परेति । परप्रणीतानि परोक्तानि वचांसि चिन्वता गवे-
षयता मादशाम् । वार्त्ताहारिणामित्यर्थः । गिरः प्रवृत्तिसाराः वार्त्तामात्रपाराः खलु ।
'वार्त्ता प्रवृत्तिगृह्यान्त' इत्यमरः । वार्त्तामात्रवादिनो वयम् न तु कर्त्तव्यार्थोपदेश-
मर्था । अतस्त्वयैव निर्धार्यं कार्यमिति भावः । सामान्येन विशेषतमर्थमादर्था-
न्तरन्यासः ॥ २५ ॥

इस लिये, आपको चाहिये कि आपके समूह निर्मूलन करने की चेष्टा में लगे हुए दुर्बोधन
की प्रतिक्रिया शीघ्रतः शीघ्र करें (यदि आप कहें कि निस तरह वृत्तान्त बतलाते हो उसी
तरह उपाय भी बतलाओ) तो यह हो नहीं सकता, क्योंकि कि हम लोग दूसरे के भवार
पर समाचार के समूह करनेवाले हैं । वार्त्तामात्र के समूह का कार्य हम लोगों से कराना
चाहिये ॥ २५ ॥

श्वीरयित्वा गिरभात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्न्यौ वनसन्निवासिनाम् ।

प्रविश्य कृष्णासदन महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसनिधौ वचः ॥ २६ ॥

हवीति । वनसन्निवासिना पत्न्यौ वनेचराधिप इति गिरमीरयित्वाऽऽत्तसत्क्रिये
गृहीतपारितोषिके गते सति । 'दुष्टिवानमेव चाराणा हि वेतनम् । ते हि तद्धोभात्
२ कि-

स्वामिकार्येष्वसीन स्वयमन्ते इति भीतिवाक्यामृते । अथ महीश्रुजा राज्ञा कृष्णा
सदृश द्वीपद्वीपवनं प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्गुणैश्चरोक्तं यद्यो वाक्यमाचक्ष्व व्याख्यातम् ।
अथवा कृष्णेति पदच्छेदः । सदनं प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्गुणं कृष्णाऽऽचक्ष्व
व्याख्याता । अचिच्छो बुद्धावेर्हि कर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि लिट् ॥ १६ ॥

पूर्वोक्त संदेशों को निवेदित कर ११वां पुरस्कार प्राप्तकर मनवरराज के चडे जाने
पर महाराज युधिष्ठिर पाञ्चाही (द्वीपदी) के कुटीर में गये और वहाँ भार्यो के समीप
द्वीपदी से सारा वृत्तान्त कह सुनाये ॥ १६ ॥

निशम्य सिद्धिं द्विपतामपाकृतीस्ततस्तत्सत्या विनियन्तुमक्षमा ।

नृपस्य मन्युष्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिर ॥ २७ ॥

निशम्येति । अथ नृपदात्मजा द्वीपदी द्विपतां सिद्धिं बुद्धिरूपां निशम्य ततस्तद
मन्तरम् । ततो द्विपद्वयं व्यापतास्ततस्तथा । अव्ययात्त्वप इति त्वप । अपाकृती
विंकाराग्भिनियन्तु निरोद्धुमक्षमा सती नृपस्य युधिष्ठिरस्य मन्युष्यवसाययोः क्रोधो
योग्योदीपिनी सखिनीगिहो वाक्यान्नुदाजहार । अथादेत्यथ ॥ २७ ॥

द्वीपदी शत्रुओं के अन्धुरप की वार्ता सुन उनसे क्रिये गये अपकारों का स्मरण कर
अपने आप को रोक न सकी और महाराज के क्रोध तथा उद्योग का उद्बोधित वाक्य बोलीं ।

मवाहरोषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिच्छेप इवानुरासमम् ।

तथाऽपि यक्षुं व्यवसाययन्ति मा निरस्तनारीसमया दुराधय ॥ २८ ॥

मवाहरोष्विति । मवाहरो मवाह्रिधा । पण्डिता इत्यर्थः । तेषु विषये । त्वदा-
दिषु— इत्यादिना कञ् । 'मा सयनाम्न इत्याकारादेशः । प्रमदाजनोदितं स्त्रीजनोक्तम् ।
यद्ये कः । 'अचिस्वपि— इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अनुज्ञासर्गं नियोगवचनमधिच्छे-
पस्तिरस्कार इव भवति । अतो न युक्तं यक्षुमित्यथ । तथाऽपि यक्षुमनुचितत्वेऽपि
निरस्तनारीसमयास्तथाजितशाहीनताकूपक्षीसमाचाराः । 'समयाः सापथापारकाक-
सिद्धान्तसंविदा इत्यमरः । दुराधयाः समयोद्धव्यनहेतुत्वाद् बुद्धा मनोभ्यया । पुंस्या
चिर्मानसी भ्यया इत्यमरः । मां यक्षुं व्यवसाययन्ति प्रेरयन्ति । य किञ्चिद्युक्तं बुद्धि-
नामिति भावः ॥ २८ ॥

महाराज के सदृश व्यक्ति के विषय में स्त्री नानि का नियोग वचन निन्दा की तरह होता
है । पर क्या कहें बेसी प्रकृत शान्तिक देहना स्त्रियों के कर्तव्य मर्त्यादा का उल्लंघन कर
करने के लिये बाध्य करती है । अर्थात् इदम व्यक्ति को कुछ कहें, सब योग्य है ॥ २८ ॥

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिस्त्रिरं घृता भूपतिमि स्ववराजै ।

त्वयाऽऽत्महस्तेन मही मदप्युता मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ॥ २९ ॥

मल्लण्डमिति । आलण्डलतुल्यधामभिरिन्द्रतुल्यप्रभावे । स्वधराजैर्भूपतिभिर्भरतादिभिश्चिरमलण्डमविच्छिन्नं पृता मही । त्वया । मद प्योततीति मद्भयुत् । किप् । तेन मद्भ्राविणा मत्तङ्गजेन जगिवात्महस्तेन स्वकरणे स्वचापलेनेत्यर्थः । अपवर्जिता परिहृता त्यक्ता । स्वदोषादेवायमनर्थागम इत्यर्थः ॥ २६ ॥

इन्द्र के सदृश तैजस्वी आप के पूर्वजों ने (भरतादिकों ने) इस बसुन्धरा का अविच्छिन्न उपभोग किया है जिसने आप स्वयं इतनी सरलतापूर्वक रूप से बैठे, जितनी सरलता से एक मदसावी गजराम सुमनोप्रथित मानव को ध्वस्त कर देता है अर्थात् पूर्वजों की सञ्चित सम्पत्ति को आप ने विना किसी प्रयाग के ही खो दिया है ॥ २९ ॥

‘स्वदोषादेवायमनर्थागम’ इत्युक्तम् । स च दोष कुटिलेष्वकीटिक्यमेवेत्याह—

व्रजन्ति ते मूढाधिय पराभव भवन्ति मायाधिपु ये न मायिन ।

प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसवृत्ताङ्गाभिश्चिता इवेषवः ॥३०॥

व्रजन्तीति । मूढाधियो निर्विवेकबुद्धयस्ते पराभव व्रजन्ति, ये मायाविपु मायापस्तु विषये । ‘अस्मायामेवा—’इत्यादिना विनिप्रत्यय । मायिनो मायावन्तः । प्रोक्षादि-त्यादिनिप्रत्यय । न भवन्ति । अत्रैवार्थान्तरं न्यस्यति—प्रविश्येति । शठा अपकारिणो धूर्त्तास्तथाविधानकुटिलानसवृत्ताङ्गानवर्मितक्षरीरान्निश्चिता इपव इव प्रविश्य प्रवेशं कृत्वाऽऽशमीया भूत्वा घ्नन्ति हि । ‘आजं व हि कुटिलेषु न नीतिरिति भावः ॥ ३० ॥

ये अविवेकी पुरुष (सर्वदा) पराजित होते हैं जो मायाविधियों के समूह मायावी नहीं बनते अर्थात् ‘शुद्धे शठेषु समाचरेत्’ इस नीति का अवलम्बन नहीं करते । वे भावावी (वज्रक) सरलचित्त न्यक्तियों के अन्तःकरण की बातें जानकर इस प्रकार गला बोटते हैं जैसे तीक्ष्ण धार वाले बाण कवच रहित शरीर में प्रवेश कर घातक बन जाते हैं ॥३०॥

न च लक्ष्मीचाञ्चल्यादयमनर्थागम, किन्तु स्वोपेक्षादोषमूलत्वावित्याशयेनाह—

गुणानुरक्तमनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजा नराधिपः ।

परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥ ३१ ॥

गुणेति । अनुरक्तसाधनोऽनुकूलसहायवान् । उक्तं च कामन्दकीये—‘उद्योगाद् जेहृत्तस्य ससहायस्य धीमत् । छापैवानुगता तस्य नित्यं धी सहचारिणी ॥’ इति । कुलाभिमानी अस्त्रियस्वामिमानी कुलीनस्वामिमानी च त्वदन्यस्त्वन्तोऽन्यः । ‘अन्याराद्—’इत्यादिना पक्षमी । क इव नराधिपो गुणैः सन्ध्यादिभिः सौन्दर्यादि-भिश्चानुरागिणी कुलजा कुलकमादागता कुलीना च मनोरमां श्रियमात्मवधूमिव स्वभार्यामिव ‘वधूर्त्वा स्तुपा स्त्री च’ इत्यमरः । परैः शत्रुभिरन्यैश्चापहारयेत् । स्वयं मेवापहार कारयेदित्यर्थः । कलत्रापहारवस्तुलक्ष्यपहारोऽपि राज्ञा मानहानिकरत्वाद्नु-पेक्षणीय इति भावः ॥ ३१ ॥

आप के अतिरिक्त इस वसुधावल में कौन ऐसा रामा है जो अनुरक्त सहायक साम
मियो के रहने हुये तथा जिस को अत्रिब होने का गव है सचि आति तथा सोदय आदि
राजोचिन गुणों से अनुरक्त बध परम्परा से रहिन रात्रयत्री को अपनी मनोरमा
विषयमा की प्राति (देखते हुये) अपहृत होने देगा ॥ ११ ॥

अथ वसुनि कोपोदीपनं करोति—

अथन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्त्तमान नरदेव । वसुनि ।

कथं न मन्युष्वल्यत्युदीरित शमीतरु शुष्कमिवरग्निरुच्छिद्य ॥३२॥

अथन्तमिति ॥ नरदेव ! हे नरेन्द्र ! एतर्हीदाभीम् अरिमन्नापत्कालेऽपीत्यथ, 'ते
'एतर्हि सम्प्रतीचाभीमनुना साम्प्रत तथा इत्यमर' । 'हृवमोर्हि' इति द्विप्रत्ययः ।
'एतेतौ रथोः इत्येतादेशः । आपदमेवाह—मनस्विगर्हिते शूरजन्तुगुणिते वसुनि
मार्गे विवर्त्तमानम् अनुकृतां दुर्दृशामनुभवन्तमित्ययः । अथन्त स्वासुदीरित उद्दीपितो
मन्युः क्रोधः । शुष्क वीरसम् । 'शुष्क क इति निहातकारस्य ककार' । शमी चासौ
सकरचेति विशेषणसमास । तस्य । शमीग्रहर्णं क्षीग्रञ्जलनस्वभावात्कृतम् । उच्छिद्य
उद्धतज्वाळः । वृथित्वाले अपि शिले' इत्यमरः । वदिरिव । कथं न उच्छयति । उच्छ
वित्तुमुचितमित्ययः । मित्तां ह्रस्वा ॥ ३२ ॥

महारान ! सम्प्रति आप शूचीरों से गहिन पद का अन्तमरण कर रहे हैं । प्रखर
ज्वालायुक्त अग्नि जिस तरह भीरुस शमी वृक्ष को जला कर मरान कर देना है उनी तरह
आप का प्रखर क्रोध आप को क्यो नहीं अन्तेवित करता ? ॥ ३२ ॥

अथन्तुवाद्यं क्रोधस्याम्भ एवेत्याशङ्कवाह—

अथन्त्यकोपस्य विहन्तुरापवां भवन्ति वरया स्वयमेव देहिन ।

अमपशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषावर' ॥ ३३ ॥

अथन्त्येति ॥ अथन्त्याः कोपो यस्य सत्यावन्धकोपस्यात्त एवापवां विहन्तुर्मिग्रहा-
नुग्रहसमर्थस्वेत्यर्थः । पुंस हति शेषः । देहिनो जन्तव स्वयमेव वरया वधंगता भवन्ति ।
वधं गत' इति यप्रत्ययः । अतस्त्वया कोपिना भवितव्यमित्यर्थः । अतिरेके त्वनि
हमाचष्टे—अमपशून्येन निष्कोवेन जन्तुना । अन्त्या शोक इतिवत् देवी इति
वृत्तीया । हृदयस्य कर्म हार्दं स्नेहः । 'प्रेमा ना मियता हार्दं प्रेम स्नेह' इत्यमर' ।
पुषादित्वावरण । हृदयस्य हृदलेखवदन्ततेषु' इति हृदादेशः । जातहार्देन जीतस्नेहेन
सदा जनस्यादरो न । विद्विषा द्विषता च सदादरो न । अमर्षहीनस्य रागद्वेषावकि-
ञ्चि करत्वाद्गण्यमित्यर्थः । अथवा विद्विषा सता दरो अर्थं न । 'दरोऽखियां अये अन्न'
इत्यमरः । एतस्मिन्नेव प्रयोगे सन्निवषात् द्विषा पदञ्छेद' । पुंवाक्येषु न दोषः । अत-
स्याने कोपा कार्यलयाज्यस्वस्थाने कोप इति भावः ॥ ३३ ॥

जिसका क्रोध कुछ न कुछ कर के दिखा देता है और जो आपत्तियों को दूर भगाता है उसे पुरुष की पराधीनता लोग स्वयं स्वीकार कर लेते हैं । क्रोध से रहित मित्र का कोई आशर भी नहीं करता और क्रोधविहीन शत्रु से कोई भय भी नहीं खाता ॥ ३३ ॥

परिभ्रमँल्लोहितचन्दनोचित पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूपित ।

महारयः सत्यधनस्य मानस दुनोति नो कच्चिदय वृकोदर ॥३४॥

परिभ्रमणिति । लोहितचन्दनोचित उचितलोहितचन्दन । 'वाऽऽहितान्या द्विषु' इति साधु । अम्यस्तरकचन्दन इत्यर्थ । 'अम्यस्तेषुचित न्याय्यम्' इति यावत् । महारयो रथचारी । उभयत्रापि प्रामिति शेष । अद्यत्तु रेणुरूपितो धूलि-
च्छुदित पादाभ्यामतति गच्छतीति पदाति, पादचारी 'अज्यतिभ्या च' इत्यनुसृष्टौ 'पादे च' इत्यौणादिक इण्प्रत्यय । 'पादस्य पदाभ्यामतिगोपहतेषु' इति पदादेशः । अन्तर्गिरि तिरिष्यन्त । विभवस्यर्थेऽभ्यधीभाव । 'गिरेश्च सेनकस्य' इति विकल्पा-
स्तमासान्ताभाव । परिभ्रमन्वय वृकोदरो भीम । सत्यधनस्येति सोल्लुण्ठनवचनम् । अद्यापि स्वया सत्यमेव रचयते, न तु भ्रातर इति भावः । तवेति शेष । मानसं नो दुनोति कच्चिन्न परितापयति किम् । 'कच्चिच्छामप्रवेद्वे' इत्यमर । स्वाभिप्राया विष्करण कामप्रवेदनम् ॥ ३४ ॥

पहिले तो यह भीम रक्तचन्दन का अम्बासी में और उत्तम रथ पर बैठ कर भ्रमण करने में थे, इदानीं यही रथकण से व्याप्त होकर पैदल पर्वत पथ पर विचरण करते हैं । जो क्या जतनी यह दशा देख कर सत्य पुजारी (युधिष्ठिर) का मन सन्तप्त नहीं होता ? ॥३४॥

विजित्य यः प्राज्यभयच्छदुत्तरान्कुल्लुण्ठयत्सु वासवोपमः ।

स वल्कवासासि तवाधुनाऽऽहरन् करोति मन्यु न कथं धनञ्जयः ॥३५॥

विजित्येति । वासव इन्द्र उपमा उपमान यस्य स वासवोपम इन्द्रतुल्यो यो धन-
ञ्जय, उत्तरान्कुल्लुण्ठनेरोरसरान्मानुषान्प्राज्येषांविशेषान्विश्रित्य प्राज्य प्रभूतम् । 'प्रभूत प्रचुर प्राज्यम्' इत्यमर । कुप्यादन्प्रदकुप्य हेमरुप्याधमकम् । 'स्यात्कोशाल हिरण्य च हेमरुप्य कृताकृते । तान्या यदन्वत्तकुप्यम्' इत्यमर । यसु धनमपचद्द् इत्त यान् । 'पात्रा-→इत्यादिना दाणा वच्छादेश । स धन जयतीति धनञ्जयोऽर्जुन । 'सञ्जाया भृगुवृत्ति-→इत्यादिना शब्दप्रत्यय । 'अर्द्धिपद्-→इत्यादिना मुमागम । अधु-
नाऽस्मिन्काले । 'अधुना' इति निपातनाम्नाऽपु । तव वल्कवासास्याहरन्कथं तव मन्यु क्रोधं नु स वा न करोति ॥ ३५ ॥

देव्य के समान पराक्रमशाली जिस अर्जुन ने भुवने के उत्तरनिवासियों पर विजय पत्राका आरोपित कर सम्पत्ति छानकर समर्पित किया था, आज यही अर्जुन वल्कव वल्कवारी बने हुए है क्या जन की रथ दयनीय दशा को देख कर भी आप का क्रोध आगृत नहीं होता ? ॥

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिषागजौ गजौ ।
कथं त्वमेतौ घृतिसंपनौ यमौ विद्वोक्यन्तुत्सहसे न बाधितुम् ॥३६॥

वनान्तेति । वनान्तो वनभूमिरेव शब्दा तथा कठिनीकृताकृती कठिनीकृतवेद्यौ ।
आकाशे वेद आकृतिः इति वैश्वती । विष्वक्प्रमत्तात् । समस्ततस्तु परितः सर्वतो
विष्वगित्यपि इत्यमरः । कचाचितौ कचभ्याम् । विशीणकेशाक्षिपर्यः । अत एवायनौ
गिरिसम्भवी राज्याविष स्थितावेतौ यमो युग्मत्राती भात्रीयुत्राधित्वथ । यमो यम
धरे पञ्चकचे सयमे यमज्जेऽपि च इति विश्व । विद्वोक्यस्य कथं पृत्तिसयमी सप्तोप
नियमी । घृतियोगाग्तरे धैर्ये धारणाभ्यस्तुष्टिषु इति विश्व । बाधितुं भीत्सहसे न
प्रवर्त्तते । शक्य-इत्यादिना प्रमुत् । अहो ते महदेवमिति माव ॥ ३६ ॥

बलिहारी है आप के इस भय की ! ये सहजात जुलुल और छहद्वेन बनेके हाथियों के
सङ्घ हो गये हैं वनस्थलों पर छपन करने से इनके शरीर में बहुत बल गये हैं । इनके केवल
पात्र बिखरे हुए हैं । ह-ह देख कर क्या आप ये व और सिद्धम का परिभाषा करने के क्रिये
तय्यार नहीं हो रहे हैं ? ॥ ३६ ॥

अथ राज्ञो बुर्धशां दर्शयितुमुपोद्धातमाह । प्रकृत्यथ वर्णयितुमर्मान्तरवणतमुपोद्धाव ।

इमामह वेद न सावर्धी धियं विचित्ररूपा खलु चित्तघृतय ।

विचिन्तयन्त्या भवदापदं परा हजन्ति चेत प्रसभ ममाधम ॥३७॥

इमामिति । इमां वर्त्तमानाम् । सधेमां सावर्धीं स्वदीपाम् । तस्येदम् इत्यञ्
प्रत्यय । तवकमकावेकवचने इति तवकादेशः । धियं स्वदापद्विषयां चित्तघृतमई
न वेद कीदृशी वा न वेत्ति । परब्रह्मप्रत्यक्षत्वादिति मावः । विदो लटो वा इति लटो
णकादेशः । न चात्मदृष्टान्तेनापन्मत्वाद् दुःखित्वमनुमातुं शक्यते । धीरादिष्वनका-
न्तिकत्वादित्याशयेनाह-चित्तघृतयो विचित्ररूपा धीराधीराधनेकप्रकाराः खलु ।
किन्तु परामुक्तां भवदापदं विचिन्तयन्त्या भावयन्त्या मम चतुर्विधम् । आधयो
मनोग्यथायः । 'अपसर्गे धो कि' इति किप्रत्ययः । प्रसभ प्रसह्य दर्जन्तं मङ्गन्ति ।
हमो मङ्गे इति घातोर्लट । परयतामपि युग्महा दुःखजननी त्वद्विपत्तिरनुभवितार त्वां
न विकरोतीति महत्विचित्रमित्यर्थः । चत इति कर्मायांनो भावयन्तानामन्वरेः इति
बह्वी न भवति । तत्र दोषाधिकाराच्छेषत्वस्य विवक्षितत्वादिति ॥ ३७ ॥

मुझे आप की इस बुद्धि का परिचय नहीं मिलना । लोगों की चित्तघृतिवों मिलक्षण
होती है । आप की इन असौम आपत्तियों का स्मरण कर मेरे हृदय में उलझवली मच जाती
है अर्थात् आप की विपत्तियों के देखने वाले को तो प्रसह्य वेदना होती है परन्तु न जाने
क्यों आप पर इस का प्रयाग नहीं पकटा ? ॥ ३७ ॥

तदापदमेव श्लोकत्रयेणाह—

पुराऽधिरूढ शयन महाघन विबोध्यसे य स्तुतिगीतिमङ्गलै ।

अदध्रदर्भामधिशय्य स स्थली जहासि निद्रामशिवै शिवारुतै ॥३८॥

पुरेति । यस्य महाघन बहुमूल्य श्रेष्ठम् । 'महाघन महामूल्ये' इति विश्व । शयन शय्यामधिरूढ सन् स्तुतयो गीतयश्च ता एव मङ्गलानि तै करणभूतै पुरा विबोध्यसे । वैतालिकैरिति शेष । पूर्वं बोधित इत्यर्थ । 'पुरि लुब्ध् चाम्से' इति भूताष लट् । स त्वमदध्रदर्भा बहुकुशाम् 'अस्त्री कुश कुशो दर्भ' इति । 'अदध्र बहुल बहु' इति चामर । स्थलीमहत्प्रिमभूमिम् । 'जानपद—'इत्यादिना कृत्रिमार्थे ङीप् । एतेन तु सहस्रपक्षात्मकम् । 'अधिशोऽस्याऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम् । अधिशय्य दायित्वा । 'अपहृषि द्विति' इत्ययडादेश । अशिवैरमङ्गल शिवारुतै क्रोष्टुवासितै । 'विधा हरितकी क्रोष्टा क्रमी नद्यामरुक्च्युमे' इति वीजयन्ती । निद्रा महासि । अशेति शेष ॥ ३८ ॥

(दे नरेन्द्र !) पहले आप बहुमूल्य शय्या पर विभ्राम करते थे और वैतालिकों के द्वारा स्तुति और गायन रूप मातृलिक पाठ से निद्रा त्याग करते थे । वही (आप) कुशबहुला भूमि पर शयन करते हैं और अमङ्गल सूक्त मंगलियों के शब्द से बहोषित होते हैं ॥ ३८ ॥

पुरोपनीत नृप । रामणीयक द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा ।

तदद्य ते बन्धफलाशिन' पर परैति कार्श्यं यशसा सम वपु ॥३९॥

पुरेति । हे नृप । यदेतत्पुरोवर्ति वपु पुरा द्विजातिशेषेण द्विजमुक्तावशिष्टेनान्ध साऽन्नेन । 'मिस्ता स्त्री भक्तमन्वोऽन्नम्' इत्यमर । रमणीयस्य भागे रामणीयक मनोहरत्वमुपनीत प्रापितम् । नयतेर्द्विकर्मकस्वात्प्रधाने कर्मणि क्त । 'प्रधानकमण्य-रुयेये छादीनाद्द्विकर्मणाम्' इति वचनात् । अथ बन्धफलाशिनस्ते तव तद्वपु यशसा सम परमतिमात्र कार्श्यं परैति प्राप्नोति । उभयमपि ज्ञेयत इत्यर्थ । अथ सहोक्तिरुद्धार । तदुक्त काव्यप्रकाशे—'सा सहोक्ति सहायस्य धर्मादेक द्विवाच कम्' इति ॥ ३९ ॥

हे राजन् । पहले आप का यह शरीर प्राण्यमुक्तावशिष्ट अन्न से परिवर्धित होकर रमणीय था, वही (शरीर) आज जङ्गली फलों के आहार से अत्यन्त दुर्बल होता जा रहा है और साथ साथ यश को भी क्षीण बना रहा है । यहाँ एक लोकोक्ति है 'बाण बाण मये चार धाप पगवा मो लेते गये' ॥ ३९ ॥

अनारत्त यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिर'ञ्जवा रज. ।

निपीद्वत्स्तौ चरणी बनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् ॥४०॥

अनारत्तमिति । अन्तर

मणिपीठशायिनी मणिमयपादपीठशायिनी यौ

अरणी राजशिर-अर्जा नमदुसूपाळमौलिस्तर्जा रता परागोऽरजयत् तौ ते अरणी घृत-
द्विबेभ्य तपस्विभिरात्तुनचित्तैषु क्षिप्त्वाप्रभु बहिर्वा कुशाग्राम् । 'बहि' कुशाद्रुताशयो
इति विश्व । अनेषु निषोद्धतस्तिष्ठत ॥ ४ ॥

जो (महाराज के) गुणन अरण्य रस नदिन सिंहासन पर विमान्त प्राप्त करते थे और
अभिवादन के लिये झुकने वाले राजाओं की मौळिमान्त्राओं के पुष्परस से रञ्जित होते थे
आज दिन नहीं अरण्य इदियो और आशयो के द्वारा विज्र कुशो पर विज्रम पाते हैं । पर
रुद्ध की बात नहीं है क्या ॥ ४ ॥

अनु सवप्राणिताधारण्यामापदि का परिदेवनेत्यब्राह्—

द्विषन्निमित्ता यदिव दशा तत समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।

परैरपर्यासितवीर्यसम्पदा परामर्षोऽभ्युत्सव एव मानिनाम् ॥ ४१ ॥

द्विषद्विति । अघतः कारणद्विषं दशाऽवस्था । दशा अर्थावस्थावाम् इति विश्व ।
द्विषन्तो निमित्तं अस्था सा । द्वियोऽमित्रे इति शतृप्रथमम् । अतो मे मनः समूर्धं
साहायमुन्मूलयतीवोत्पाठयतीव । द्विकी स्वापद्य दुःखायेत्याह—परैरिति । परै
सभुभिरपर्यासिताऽपर्यासिता वीर्यसंपदेषां तेषां मानिनां माध्वामिर्दुःसहा अस्थाप-
द्विति भावः ॥ ४१ ॥

आप की यह वर्तमान दशा अज्ञ के कारण हुई है इसी लिये मेरे अन्न करण में देवकी
की प्रतीति होती है । ऐसे मानियों का भित्त वे बन और पराक्रम को अज्ञ निरस्त नही
कर सकता पराक्रम भी उ साह नर्भक ही होगा है अर्थात् पराक्रम सदा है और [मानहानि
नहीं ॥ ४१ ॥

विहाय शान्तिं नृप ! धाम तत्पुन प्रसीद संशेहि वधाय विद्विधाम् ।

प्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहा शमेन सिद्धिं मुनयो न भूयुतः ॥ ४२ ॥

विहायेति । हे नृप ! शान्तिं विहाय तत्पत्तिर्धं धाम तेजो विद्विषां वधाय पुनः
सम्प्रेक्षणीकृत्य प्रसीद । प्रार्थनायां कोट् । अनु शमेन कार्यसिद्धी किं कोषेनेत्यब्राह्—
प्रजन्तीति । निःस्पृहा मुनयो अत्रनवधूय निजित्य शमेन कोषवजनेन सिद्धिं प्रजन्ति ।
भूयुतस्तु न । कैवलयकायवद्राजकार्यं च शान्तिसाध्यमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

महाराज । ज्ञाना को दूर भगावदे रियुओ का दमन करने के लिये फिर उस प्रथम प्रथाप
का आनय लीजिये और प्रसन्नता को स्थान दीजिये । कामन्य रदित महर्षि कोय काम कोषादि
अनुषों का दमन करने ही सिद्धि प्राप्त करते हैं किन्तु राजा नहीं ॥ ४२ ॥

पुर सरा धामवर्ता यशोधना सुदुःसह आप्य निष्करसीदराम् ।

भवाटशास्त्रेदधिकुर्वते रविं निराश्रयं हन्त । हता मनस्विता ॥ ४३ ॥

पुर इति । किं च धामवता तेजस्विनाम् । परनिकारासहिष्णूनामित्यर्थं । पुर
सस्तीति पुरन्तरा अग्रेसरा । 'पुरोऽप्रतोऽग्रेषु सते' इति उपस्थय । यतोयना भवा
शशा' सुबु सहमतिदु सहमीदृशमुक्तप्रकार निकार पराभव प्राप्य रति सन्तोषमवि-
कुर्वते चेत्तर्हि हन्त इति पेदे । मनस्विताभिमानिता निराश्रया सती हता । तेजस्वि-
जनैकशरणस्थान्मनस्विताया इत्यर्थं । अत पराक्रमितव्यमिति माय । यद्यप्यत्र
प्रसहनस्यासङ्गतेरधिपूर्वात्करोते 'अथे प्रसहने' इत्यात्मनेपद न भवति 'प्रसहन
परिमय' इति शाशिका, सयाऽप्यस्या कर्त्रभिप्रायविद्यपायामेव प्रयोजकरवाक्कर्त्रभि-
प्राये 'स्वरितञित्' — इत्यात्मनेपद प्रसिद्धम् ॥ १३ ॥

आप-वैते क्षीर्तिसर्वस्व तेजस्वियो के अधिनायक, यदि इस प्रकार के भयदा परामव
को प्राप्त होकर सन्तोष कर आते हैं तो मनस्विता निराश्रय हो कर इस दुनिया से चले
जसेपो ॥ १३ ॥

अथ क्षमामेव निरस्तचिक्रमश्चिराय पर्येपि सुखस्य साधनम् ।

विहाय जदमीपतिलक्ष्म कर्सुंके जटाधरः सङ्गुधुधीह पावकम् ॥४४॥

अथेति । अथ पश्चान्तरे निरस्तचिक्रम सन् । चिराय धिरकाकेनापि क्षमा शान्ति-
मेव । 'चित्तिचान्त्यो क्षमा' इत्यमर । सुखस्य साधन पर्येष्यवगच्छसि तर्हि
छपमीपतिलक्ष्म राजचिद्ध कर्सुंके विहाय । धरतीति धरः । पचाद्यच् । जटाना धरो
जटाधर सखिह धने पावक सुधुधि । पावके होम कुर्मित्यर्थं । अधिकरणे कर्मत्वो-
पचार । विरक्तस्य किं धनुपेत्यर्थं । 'हुस्तम्भ्यो हेधि' ॥ ४४ ॥

यदि शीर्ष का परित्याग पर एक क्षमा को निरहाल रूप को सामग्री मानना मनीष्ट
हो तो राजाको के चिद्ध स्वरूप धन्दा को फेंक दीजिये और जटा बड़कर इसी जगह (दैत-
वन में) अग्नि देव में आहुति प्रवेष्ट कीजिये ॥ ४४ ॥

अथ समयोक्तलक्षणाद् विभेपि तदपि न किञ्चिदित्याह—

न समयपरिरक्षण क्षम ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधान्न ।

अरिषु हि विजयार्थिन च्छितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ४५

नेति । परेषु शत्रुषु । निकृतिषु पर प्रधान येषु तेषु । तथोक्तेष्वपकारतत्परेषु
ससु भूरिधान्नो महौजस प्रतीकारक्षमस्य ते तव समयस्त्वयोदक्षसत्करसाम्बने वरस्या-
भीक्ष्येवरुपा संवित् । 'समया क्षपथाचारकालसिद्धान्तसविद्' इत्यमर । तत्त्व परि-
रक्षण प्रतीक्षण न क्षम न युक्तम् । 'युक्ते क्षम शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । हि यस्मा
द्विजयार्थिनो विजिगीषय च्छितीशा अरिषु विषये सोपधि सकपट यया तथा । 'क्ष-
योऽग्नी व्याजदम्भोपधयदक्ष्यकैतवे' इत्यमर । सन्धिदूषणानि विदधति केनचिद्
न्याजेन दोषमापाय संधि दूषयन्ति । विघटयन्तीत्यर्थं । शक्यस्य हि विजिगीषो सर्वथा

अरणी राजकिर-सजां भमद्मूपाळमौलिस्त्रजां रज परागोऽरभयत् तो ते अरणी मृग-
हिंजेभ्य सपस्विभिरात्ननक्षितेषु द्वि-नामपु बर्हिषां कुसानाम् । 'बर्हि' कुण्डुतापापो
इति विश्वः । यनेषु निपोवतस्तिष्ठत ॥ ४ ॥

जो (महाराज के) पुत्रन अरय रज जटिन निहामन पर विमानि प्राप्त करते वे और
भमिषादन के लिये झुकने वाले राजाओं को मीठिमापाओं के पुत्ररभ से रञ्जित होते वे
आज दिन वहाँ अरथ हरिषों और भाजणों के द्वारा द्विज कुलों पर विभ्रम करते हैं । यह
कष्ट की बात नहीं है क्या ? ॥ ४ ॥

अनु सर्वमाणिसाधारण्यमापदि का परिदेवनेत्यत्राह—

द्विषन्निमित्ता धदिय दशा सत समूलमु-मूलयतीव मे मनः ।

परैरपर्यासितवीर्यसम्पदा परामबोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥ ४१ ॥

द्विषदिति । अथतः कारणादिये दशाऽवस्था । दशा वर्त्तावस्थापाम् इति विश्वः ।
द्विषन्तो निमित्तं यस्या सा । द्विपोऽमिधे इति शत्रुप्रथयः । अतो मे मनः समूहं
साक्षयमुन्मूलयतीवोत्पाठयतीव । वृषिकी त्वापद्य कु-सापोऽयाह—परैरिति । परैः
अश्रुमिरपर्यासिताऽपर्यासिता वीर्यसंपदेषां तेषां मानिनां मानहानिदुःसहा नक्षाय
दिति भावः ॥ ४१ ॥

आप की यह वर्तमान दशा अत्र के कारण हुई है इसी लिये मेरे मन कारण में वेदको
की प्रतीति होती है । मेरे मानियों का जिस के वन और पराक्रम को अत्र निररहण नहीं
कर सकता परामव भी व छाह बर्नक ही होगा है अर्थात् परामव सहा है और [मानहानि
नहीं] ॥ ४२ ॥

विहाय शान्तिं नृप ! धाम तत्पुन असीद सधेदि वधाय विद्वियाम् ।

अजन्ति राज्ञूनवधूय नि-स्पृहा रामेन सिद्धिं मुनयो न भूयुः ॥४२॥

विहायेति । हे नृप ! शान्तिं विहाय त्व्यसिद्धं धाम तेजो विद्विषो वधाय पुनः
सन्वेहाङ्गीकुक्ष प्रसीध । पार्थिव्यां ओद् । अनु रामेन कायसिद्धी किं कोधेनेत्यत्राह—
अजन्तो य । नि स्पृहा मुनयो राज्ञूनवधूय निश्चित्य रामेन कोषवजनेन सिद्धिं अजन्ति ।
मूर्त्तवस्तु न । कैवलयकायवद्राजकार्यं न शान्तिसाध्यमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

महाराज ! ज्ञाना को दूर भगावये रिपुओं का दमन करने के लिये फिर वस्तु प्रकल्प प्रताप
का आश्रय कीजिये और मसुधना को स्वाग हीजिये । कामना रहित महविजोग काम कोषादि
शत्रुओं का दमन करने ही सिद्धि प्राप्त करते हैं किन्तु रामा नहीं ॥ ४२ ॥

पुर-सरा धामवतां यशोधना मुदु-सहं प्राप्य निफारमीदशाम् ।

मवाहराओदधिकुर्वते रतिं निराभया हन्त । इव मनस्विता ॥ ४३ ॥

पुर इति । किं च घामवता तेजस्विनाम् । परनिकारासहिष्णुनामित्यर्थ । पुर सरन्तीति पुर सरा अप्रेसरा । 'पुरोऽप्रतोऽप्रेषु सर्ते' इति उपस्थय । यशोधना भवा-
 वशा सुदु सहमतिदु सहमीदृशमुक्तप्रकार निकार परामव प्राप्य रति सन्तोषमधि
 कुर्वते चेत्तर्हि हन्त इति त्वेदे । मनस्विताऽभिमानिता निराश्रया सती हता । तेजस्वि-
 जनैकशरणवाग्मनस्विताया इत्यर्थ । अत पराक्रमितव्यमिति भाव । यद्यप्यत्र
 प्रसहनस्यासङ्गत्तेरधिपूर्वात्करोते 'अथे प्रसहने' इत्यात्मनेपठ न भवति 'प्रसहन
 परिभव' इति कान्तिका, तथाऽप्यस्या कर्त्रनिप्रायधिवधायामेव प्रयोजकरवात्कर्त्रमि-
 प्राये 'स्वरितञित्' इत्यात्मनेपठ प्रसिद्धम् ॥ ४३ ॥

भाप-जैसे कौदिसर्वस्य तेजस्विनों के अधिनायक, यदि इस प्रकार के असह परामव
 को प्राप्त होकर सन्तोष कर जाते हैं तो मनस्विता निराक्रम्य हो कर इस दुनिया से चले
 गयेगी ॥ ४३ ॥

अथ क्षामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येपि सुखस्य साधनम् ।

विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुक जटाधर सखुहुधीह पावकम् ॥४४॥

अथेति । अथ पदान्तरे निरस्तविक्रम सन् । चिराय चिरकालेनापि क्षमा धान्ति-
 मेव । 'चित्तित्थान्त्यो क्षमा' इत्यमर । सुखस्य साधन पर्येभ्यवशेषुसि तर्हि
 लक्ष्मीपतिलक्ष्म राजश्विद्ध कार्मुक विहाय । धरतीति धर । पचाद्यच । जटाना धरो
 जटाधर सखिह धने पावक सुहुधि । पावके होम कुर्वित्यर्थ । अधिकरणे कर्मत्वो-
 पचार । विरक्तस्य किं धनुषेत्यर्थ । 'हुङ्क्लभ्यो हेधि' ॥ ४४ ॥

यदि शीर्ष का परित्याग कर एक क्षमा को चिरकाल रूप को सामग्री मानना अभीष्ट
 हो तो राजाओं के चिह्न स्वरूप धन्या को फेंक दीजिये और जटा गड़ाकर रसी जगद (दैत-
 वन में) धमि देव में आहुति प्रेष्य कीजिए ॥ ४४ ॥

अथ समयोक्तव्यत्वाद् विभेपि तदपि न किञ्चिदित्याह—

च समयपरिरक्षण क्षम ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधान् ।

अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ४५

नेति । परेषु शत्रुषु । निकृतिः पर प्रधान येषु तेषु । तयोक्तेष्वपकारतरपरेषु
 सखु भूरिधानो महौजस प्रतीकारक्षमस्य ते तव समयस्योदक्षसवत्सरान्वने वत्स्या-
 भीत्येवरूपा सन्ति । 'समया क्षयवाचारकालसिद्धान्तसविद्' इत्यमर । तस्य परि-
 रक्षण प्रतीक्षण न क्षम न युक्तम् । 'युक्ते क्षम शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । हि यस्मा
 द्विजपार्ष्णिने विजिगीषव क्षितीशा अरिषु विपये सोपधि सकपट यथा तथा । 'कप-
 टोऽस्त्री ध्याजदम्भोपघयरक्षयकैतवे' इत्यमर । सन्धिदूषणानि विदधति केनचिद्
 न्याजेन शोपमायाय सधि दूषयन्ति । विघटयन्तीत्यर्थ । शक्तस्य हि विजिगीषो, सर्वथा

कार्यसाधन प्रधानमन्यत्समपररक्षणदिकमशक्तस्येति भाव । अर्धान्तराध्यासोऽष्टद्वार
पुष्पिताया वृत्तम् ॥ ४२ ॥

आपका परान्न भक्षीय है । उपर्युक्त शत्रुको के साथ समय की प्रतीक्षा करना शुक्त
नहीं । विषयाकांक्षी मूर्खपाल किमी न किमी बढ़ाने शत्रु के साथ क्रिये हुये धर्म-नियमों
को मङ्गल कर लाने हैं ॥ ४५ ॥

उक्तमर्थमाशीर्वाद्पूवकमुपलहरति—

विधिसमयनियोगादीमित्सहारजिह्व शिथिलवसुमगाधे मप्रमापत्पयोधी ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमान दिनादी दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वा समध्येतुभूय ॥
इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये प्रथम सर्ग ॥ १ ॥

विधीति । विधिर्ज्ञेयम् । विधिर्विधाने द्वये च इत्यमरः । समयः कालस्तयो-
नियोगान्निवमनाऽस्तौ । तयोर्हुरतिःकर्मत्वादिति भावः । अगाधे हुस्तरे । आपणयो
विरिधेरुपमितसमासः । दिनकृतमिवेति षष्ठ्यभाणानुसारात्तस्मिन्नापणयोर्धो मग्नम् ।
सूर्योऽपि साय सागरे मज्जति परेषुऽन्मज्जतीत्यामम । दीप्तिः प्रताप आतपत्र
तस्याः सहारेण विह्वलमप्रसन्नम् । शिथिलवसु शिथिलधनम् अम्यत्र शिथिलहरिमम् ।
'वसुर्देवेऽग्नी हरौ च वसु सोमे धने मणी इति वज्रयन्ती । शिथिलवसु इति
पाठ तुभ्यत्रापि शिथिलशक्तिकमित्यर्थः । रिपुतिमिरमिवेति रिपुतिमिरमुदस्य निर-
स्योदीयमानमुद्यन्तम् । 'इव गतौ इति घातादिवादिकारकर्त्तरि शानच । त्वां दिनादी
दिनकृतमिव लक्ष्मीभूय समध्येतु भवतु । आशिषि टिकलोटी इति लोटः । यम
त्कारितपा मङ्गलचरणरूपतया च सर्गान्तरलोकेषु लक्ष्मीशब्दप्रयोगः । यथाऽऽह
मगवान्माध्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथयन्ते
वीरपुरपकाव्यायुष्मपुरककाज च भवन्त्यन्धेतारत्र प्रथकारो भवन्ति इति । पूर्णो-
पमेयम् । मालिनी वृत्तम् सर्गान्तरवाद् वृत्तमेदः । यथाऽऽह इण्डी—'सर्गैरनति
विस्तीर्णं भाव्यवृत्तः सुसंविधिः । सन्न निन्नवृत्तान्तरूपेत लोकरत्नकम् ॥ इति ॥४६

अथ कविः काव्यकर्त्तव्यत्वात्पूर्वकं सगपरिसमाप्तिं कथयति—इतीत्यादि ।
इतिशब्दः परिसमाप्ती । भारविकृतादिति कविनामकथनम् । महाकाव्य इति महत्त्व
शब्देन लक्षणसन्निधिः सूचिता । किरातार्जुनीय इति काव्यवर्णनीययोः कथनम् ।
प्रथम सर्गः । समाप्त इति शेषः । पूवमुत्तरत्रापि दृष्टव्यम् । किरातार्जुनावधिपूर्वक
कृतो प्रथ- किरातार्जुनीयस्य शिशुकन्दपमसमङ्गल-द्वजन्नादिभ्यश्च इति इण्डी
शब्दप्रत्ययः । राधवपाण्डवीयमितिवत् । तथा इत्यत्र एवात्र नायकः । किरातरसु तदु-
त्कर्षाय प्रतिघटतया वर्णितः । यथाऽऽहण्डो—'वैशावीयप्रतापादि वर्णयित्वा रिपोरपि ।

सज्जयाप्रायकोरुर्कयन च विनोति न' ॥ इति । अथाय समग्र — 'नेता मध्यम
पण्डितो भगवतो नारायणस्याश्रजस्तस्योत्कर्षकृते त्ववर्ण्यततरा दिव्य किरात पुन ।
श्वङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीर प्रधानोरस शोभायानि च वर्जितानि बहुगोदिव्या
खलाम फलम् ॥ इति ।

इति श्रीमद्भागवतपुराणायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिताया किरातासुनोयकाव्य-
व्याख्याया षष्ठापथसमाह्वयाया प्रथम सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

सूर्य भगवान् जिस प्रकार भाग्य और समय के डेर फेर से आप के विनष्ट होने से
निश्चम तथा क्षोण रहिब होकर सायङ्काल को विपत्ति के सदृश (अपार) समुद्र में अस्त
हो जाते हैं और पुन दिन के आदिम भाग में अशुभ रूप अ-धकार को विनष्ट कर उदय होते
हैं । वनकी दिनप्रो पूर्ववत् सनका आलिङ्गन करने लंग जाती है वसी प्रकार इत समय भाप
भी भाग्य और समय के कुचक में रठकर प्रयाप क नष्ट होने से अग्रसज्ज हो गये हैं । आप
अकिञ्चन (निधन) हो गये हैं । इदानीं आप विपत्ति क सागर में मोते झार रहे हैं । अन्ध
कार के सदृश अशुभों का नाशकर अपने भाग्योदय के प्रथम भाग में वर्तमान आप का राज्य
भी पुन स्वागत करेगी ॥ ४६ ॥

इस प्रकार 'प्रकाश' व्याख्या में प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

विहिता प्रियया मनःप्रियामय निश्चित्य गिर गरीयसीम् ।

उपपत्तिमदूर्जिताश्रय नृपमूचे वचन वृकोदरः ॥ १ ॥

विहितामिति । अथ वृकोदरो भीम प्रियया द्रौपद्या । प्रियाग्रहणमस्या हितोपदे
शतात्पर्यसूचनार्थम् । विहिताम् , अनिहितामित्यर्थ । विपूर्वस्य द्वाते- क्रियासा
मान्यवाचिनो बोधविशेषपर्यवसानात् । मन प्रियामभिमतार्थयोगान्मनोहरा, विशो-
कगद्दयेनापि विशो द्राक्षावमुक्त, गिर गरीयसीं सारवत्तरं निश्चित्य नृप घर्मराजमुप
त्तिमद् युक्तिबुक्तमूर्जिताश्रयमुदार्थं वचनमूचे उक्तवान् । कर्त्तरि लिट् । ब्रुवो वचिरा-
देश । 'शुविद्यार्त्तस—'हत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । 'अर्काद्यस च' इति नृपस्य कर्मत्वम् ॥ १ ॥

उदर भीम ने प्रियतमा द्रौपदी के द्वारा उक्त वचन का हितोपदेशक तथा सार गमित
मानकर युधिष्ठिर के समक्ष शुचिबुक्त तथा छदामिप्राय पूर्ण वचनों में समर्थन करते
हुए कहा ॥ १ ॥

श्रीपुत्रादिलक्षणे निश्चया ननु निरास्या बलु । 'बाळाश्वि सुभाषितं प्राक्षम् इति
श्यायादिति भावः ॥ ६ ॥

ये शीमती (शीपनी) के श्वे दुबे छन्दर भूमिप्राय पूज वास्य भाव को अश्वे स्पने
चारिये भाव गुणप्राप्ती है । यदि भाव कहें कि शी शी वात नहीं तुननी चारिये तो हमकी
भाव जाने दीजिये । विद्वान् लोग केवल वास्य के गुणों को ग्रहण कर लेते ह और यह ध्यान
में भी नहीं लाते कि बला को है वा पुरव ॥ ५ ॥

सम्प्रति स्वप्नमुपाकमते—

चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप ! विद्यासु निरुद्धिमागता ।

कथमेत्य मतिर्धिपययं करिषी पङ्कमिवावसीदति ॥ ६ ॥

चतसृष्विति । हे नृप ! चतसृष्वपि विद्यास्वान्वीचिष्यादियु । आन्वीचिको
श्रीमती शार्त्ता श्वन्नीतिश्रद्धाश्रयो । विद्याशैलाश्रयस्तु लोकसंस्मृतिहेतव इति
कामन्दकः । निरुद्धिमागता प्रतिदि गता । अत एव विवेकिनी सदसञ्चिबेकवती ।
अथाऽऽह मनु— आन्वीचिकयोः तु विज्ञानं अर्थाद्यमौ शरीरियती । अर्थाद्यौ तु
शार्त्तायां श्वन्नीत्यां अद्यानयो ॥ इति ॥ ते मतिः कथ करिषी पङ्कमिवावसीदति वेप
शीममविवेकेकरूपमोत्यावसीदति नश्यति तन्न युक्तमिति भावः ॥ ६ ॥

लोक को सुस्थापना के लिये आन्वीचिकी शरी शार्त्ता और श्वन्नीति ये चार तरह की
विद्याएँ हैं इन में आप की बुद्धि सत् और असत् को विवेचना करती हुई अथवा प्राप्त कर
ती है । फिर क्या कारण है कि शरी बुद्धि विचारविषय को प्राप्त हो कर दखरक में पड़ी
हुई श्विनी की अति कराह रही है । ॥ ६ ॥

किं नरिद्वन्द्वमिदानीं वेनेत्यमुपाकम्येमहीत्यब्राह्—

विपुत्र किमसं पर परैरवगीतां गमिते दशामिमाम् ।

अवसीदति यत्पुरैपि त्वयि सम्भाषितवृत्ति पौरुषम् ॥ ७ ॥

विपुत्रमिति । त्वयि परैः शत्रुभिरिमामीदशीमवगीतां गार्हितवाम् । 'अवगीतं तु
निषदि सुहृदं च गार्हिते इति शिवा । दशां गमिते प्राणिते सति । पुरैरपि संभा-
षितवृत्ति बहुकृतप्रसारम् । अथवा निहितसमावम् । पौरुषं पुङ्गवकारः । पुत्रादि
त्वाद्यन्वयः । अवसीदति नश्यतीति यत् । अतः परम् अतोऽन्वयविक्रमं किं विपुत्र
किं कष्टम् । अ किञ्चिद्विषयः । विपुत्रं प्रत्यवाये त्याक्तविरलेषयोरपि इति वैज
यन्ती । अस्तीति शेषः । अस्तिर्नदन्वीपर अथमपुत्रोऽप्युपवमानोऽप्यस्ति इति
मास्वकारः । अवसीदति कष्टः पूर्वावर्णना संज्ञा । यथा—पुरपाधिकारस्य सुहृता सा
च शत्रुकृता । तदुपरि महत्कष्टं तस्य त्वदुपेक्षयेत्मुपाकम्याः स हृत्परं ॥ ७ ॥

शत्रुओं के द्वारा आप के इस भवस्थ को प्राप्त होने पर (आपका) पुत्रवार्ध, जिसकी प्रशंसा देवता लोग मुक्तकण्ठ से करते हैं, विफल हो रहा है, इससे बढ़कर कष्ट और क्या हो सकता है ? ॥ ७ ॥

अधोपेक्षाकालत्वादियमुपेक्षेत्वाशङ्क्य नायमुपेक्षाकाल इति वस्तु तदेव तावच्छ्लोक-
इत्येव विविचि—

द्विषतामुदयं सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरं सुमर्षयाः ।

न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणं परिचयः ॥ ८ ॥

द्विषतामिति । भूतिमुदयमिच्छता । शोभना मेधा यस्य तेन सुमेधसा सुधिया ।
'नित्यमसिद्धप्रजामेकयो' इत्यसिद्धप्रत्यय । गुरुर्महानप्यस्वन्ततरोऽयन्तदुरन्त ।
अयोन्मुख इत्यर्थः । द्विषतामुदयो वृद्धिः । सुतेन मृष्यत इति सुमर्षणं सुसह ।
उपेक्ष्य इत्यर्थः । 'स्वन्तरश्चेत् दुर्मर्षणं इति भावः । 'भाषाया शासि—'इत्यादिना
श्लोके युक्तस्य । महानपि फलसम्पत्प्रवणं फलसम्पद्वन्मुख । "प्रतिरन्तर—"
इत्यादिना णत्वम् । परिचयो न सुमर्षणं, नोपेक्ष्य इत्यर्थः । अन्यथा तूपेक्ष्य इति
भावः । न ह्युदय एव प्रतीकार्यो न च स्य इत्येवोपेक्ष्य । किन्तु स्थन्तरवास्वन्तरवाभ्या-
मुभावपि प्रतीकार्यावुपेक्ष्यौ च भवत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

ऐश्वर्य्य को फलमवा करने वाले मैधानो (बुद्धिमान्) प्रथम शत्रु के महान् अन्धुदय को,
जो क्रमशः भवतिष्ठ को प्राप्त होने वाला है, उपेक्षा कर देते हैं, किन्तु यदि वह (शत्रु)
महान् अन्धुदय को वरक अग्रसर होता हो और वर्तमान परिस्थिति में भले ही भवतिष्ठ
में पडा हो तो कदापि उपेक्ष्य नहीं ॥ ८ ॥

अधोमयोरपि मध्य एकतरस्थोदयस्ययोगतिमुक्त्वेदानीं युगपरिचयागमे गति-
माह—

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीता विगणाय्य चात्मनः ।

ज्ञययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥ ९ ॥

अचिरेणेति । कृतमनेनेति कृती । कुशल इत्यर्थः । 'इष्टाविभ्यश्च' इतीनिप्रत्यय ।
परस्य शत्रो ज्ञययुक्तिं स्ययोगमचिरेणाश्रमाविनीं भूयसीं दुरन्तां च, तथाऽऽत्मन
ज्ञययुक्तिं विपरीतां चिरभाविनीमत्पीयसीं च विगणय्य विचार्यं । "त्यपि लघुपूर्वात्"
इत्यायादेशः । उपेक्षते । अन्यथोक्तवैपरीत्ये । परस्य ज्ञययुक्तावस्वीयस्थां, स्वस्य
भूयस्या च सत्यामित्यर्थः । तर् तस्या ज्ञययुक्ते, प्रतिकारमचिरेणाश्र कुरुते ।
एव सति यदा शत्रोरन्धुदय स्वस्य चातिपरिचयो यथाऽस्माक, तदा किं वक्तव्यम् ।
सद्यः प्रतिशुक्ल इत्यर्थात्सिद्धमनुसन्धेयम् ॥ ९ ॥

अतः अति, शत्रु की विपत्ति प्रचुर परिणाम में आशुभाविनी और अपनी चिरकाल

में अथवा नैवालो समझ उपेक्षा कर देते हैं इनके विपरीत जहाँद शत्रु को अधिक समय में कम और अपनी अपकाल में अधिक होने वाली विपत्ति को समझ कर उनको उपेक्षा नहीं करते निद्रु प्रसन्न कर देने के लिये उपचार हो जाने हैं ॥ ९ ॥

तथाऽप्युपेक्षामनिहयाचष्टे—

अनुपालयतामुदेप्यती प्रभुरास्ति द्विपतामनीहया ।

अपयान्त्यचिरान्महीभुजा जननिर्वादमयादिव भिय ॥ १० ॥^७

अनुपालयतामिति । उदेप्यती वर्द्धिष्यमागाम् । आच्छीनघोनुम् इति विकल्पा
भ्रुमभावः । द्विपती प्रभुरास्ति कोशदण्डज तेजः । स प्रभाव प्रतापश्च यत्तज कोश
दण्डजम् इत्यमरः । अनीहयाऽनुत्साहेनानुपालयतामुपेक्षमाणानां महीभुजा भिया
सम्पदो जननिर्वादमयादिकृष्टपुण्यानुरागोरथलोकापवादमयादिवेति हेतुप्रेषा । अधि
रावपयान्त्यपसरन्ति । यथाऽऽह कामन्दकः—'क्षीमि षण्ड इव श्रीभिरलस परि
भूयते इति । अतः पराकमितल्पमित्यथा ॥ १ ॥

जो राजन्य बग अनुत्साहपूर्वक शत्रुको को कमरा बर्षिण्यु राजकीय उचितों को
उपेक्षा करते हैं ऐसे राजाको को राजनी शीघ्र ही उस से अलग हो जाती है मानो उसने
कोकापवाद के भय से ऐसा किया है ॥ १ ॥

ननु परिशील कथं प्रकथेतामियुग्यत इत्यब्राह्म—

क्षययुक्तमपि स्वभावज दमस्तं धाम शिवं समुद्धये ।

प्रयामन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपञ्चन्द्रमिव प्रजा नृपम् ॥ ११ ॥

क्षयति । क्षययुक्तमपि तथा क्षीणमपि सग्तं स्वभावजं सहजं शिवं सर्वलोकालाहा
इक धाम क्षत्र तेजः प्रकाश च दमस्तं समुद्धये क्षुद्रपर्यमुत्थितमुपुक्तम् । वर्द्धिष्युमित्य
र्थः । नृपं । प्रजा । प्रतिपञ्चन्द्र द्वितीयाचन्द्रमित्येत्थर्थः । प्रतिपञ्चन्द्रेण द्वितीयाग्रह
जम् प्रतिपदि तस्याद्वयत्वाद्वात् । प्रयामन्ति । प्रह्वीभावेन वर्त्तन्ते इति भावः ।
चन्द्रो नृपमस्त्वर्थमिति । क्षीणस्याप्युत्साहः कायसिद्धिर्निदानमित्यर्थः । कथं हि सततो
त्साही बुधकोऽपि समरनुते इति कामन्दकः ॥ ११ ॥

वित्त वरह कोश मिसर्गन नगान द्दर तेजके पाठो उदरोपर बर्षिण्यमाय द्वितीया के
चन्द्रमा को क्षीण होने पर भी नमस्कार करते हैं (पूर्णिया के चन्द्र को पूर्ण होने पर भी
देते नमस्कार नहीं करते) उसी तरह स्वभावतः प्रजा के क्षयवाक्यकारकतेन के भारी क्षीणक
चतरोत्तर अक्षितप्रकारो उत्साही राजा का अधिवादक करते हैं । कारणमें यह कि यदि
दुर्बल हो पर उत्साही हो तो अनग्न उसका स्वागत करधी है और यह निमयी
होता है ॥ ११ ॥

ननु प्रमुखाकिशून्यस्योत्साहाः कुत्रोपयुज्यत इत्यत्राह—

प्रभव. खलु कोशदण्डयो कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नय ।

स विधेयपदेषु दक्षता नियति लोक इवानुरुच्यते ॥ १२ ॥

प्रभव इति । कर्मणाभारम्भोपाय, पुरुषद्वयसम्पद्, देशकालविभागो, विनिपातप्रतीकार, कार्यसिद्धिरथेति पञ्चाङ्गानि । यथाऽऽह कामन्दक-सहाया साधनोपाया विभागो देशकालयोः । विनिपातप्रतीकार सिद्धि पञ्चाङ्गमिष्यते ॥ इति । पञ्चानामङ्गानां विनिर्णयं पञ्चाङ्गविनिर्णय । 'तद्वितार्थ—'हृत्यादिनोत्तरपदसमासः । कृत पञ्चाङ्गविनिर्णयो यस्य येन वा स तथोक्त । नयो नीति । मन्त्र इति यावत् । कोशोऽर्थराशि । 'कोशोऽस्त्री ब्रुह्मले खद्यपिधानेऽर्थाद्यद्विषयो' इत्यमर । दण्डश्च गुरुरसैन्यम् । 'दण्डोऽस्त्री वासने राज्ञा हिंसाया लघुषे यमे । यात्राऽऽज्ञायां सैन्यभेदे' इति वैजयन्ती । तयो कोशदण्डयो । प्रमुखात्तेरित्यर्थ । प्रभवपरमादिति प्रभव कारणम् । आदोरप । स नयो विधेयपदेषु कार्यपरतुषु । 'पद व्यवसितत्राणस्यान्लक्षमाङ्गमिवरुषु' इत्यमर । दक्षता चिप्रकारिणम् । उत्साहमित्यर्थ । लोक हृत्यादिप्रपुत्रो जन । नियति दैवमिव । 'नियतिनियमे दैवे' इति विश्व । अनुरुच्यते अनुसरति । रुधेर्देवादिकार्कर्त्तरि लट् । मन्त्रार्यापि मूलमुत्साहस्तमूलाया प्रमुखात्तेर्मूलमिति किमु वक्ष्यम् । अता स एवाश्रयणीयः । यतो नस्तद्विद्य मन्त्रयतस्तस्यापि प्रभोनि सत्साहस्य न किञ्चिद्विस्तपतीति ॥ १२ ॥

कार्यं सिद्धि के पांच अङ्ग हैं— (१) सहायक, (२) कार्य साधन के उपाय, (३) देश-निर्माण, (४) काल विभाग और (५) विपातप्रतिकार । सिद्धि के पांचो अङ्गों का निरूपण करनेवाली, प्रभु शक्ति की उपायिका नीति वृत्तों की दैवानुसरण की भाँति उत्साह को अपेक्षा करती है अर्थात् उत्साह के बिना कोई सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

ननु सोऽसाहस्यालहापस्य कथमर्थसिद्धिरित्यत्राह—

अभिमानवतो मन्स्विन प्रियमुच्चै पदमारुरुक्षत ।

विनिपातनिवर्त्तनक्षम मत्तमालम्बनमात्मपौरुषम् ॥ १३ ॥

अभिमानवत इति । अभिमानवतो मानघनस्य प्रियमिष्टमुच्चैरुन्नत पदं स्थान शय्यादिद्विमाशरक्षत आरोहुमिष्यत प्राप्नुवामस्य मन्स्विनो धीरशशमपौरुष स्वपुत्रपकार एव विनिपातनिवर्त्तनक्षममन्स्विनप्रतीकारसमर्थमालम्बन सहकारि मत्तमिष्टम् । यथा कस्य चिदुन्नमारोहत किञ्चित्प्रतिषेधकमनुत्तरहरतादिकमालम्बन सद्बुद्धि इति ध्वनि । किं पौरुषाद्युच्ये सहाय्ये शूराणामिति भाव ॥ १३ ॥

उक्त पद पर आरोहण करने के लिये शत्रु, मानशाली भीर पुरुष, आपत्ति निवारण

कारने में समर्थ अपने पुरुषार्थ का आशय लेना जनिग मानते हैं । शत्रुवीरो का प्रवचन ही रुखा सहायक है ॥ १३ ॥

पौरुषानङ्गीकारे दोषमाह—

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रम रहस्यत्यापदुपेतमायति ।

नियता लजुता निरायतेरगरोयान पदं नृपश्रिय ॥ १४ ॥

विपद् इति । अविक्रम पौरुषहीने विपदोऽभिभवन्त्याकामन्ति । आपदुपेतं विपन्नमायतिरुत्तरकालः । उत्तरः काल आपति इत्यमरः । रहस्यति त्यजति । निरायते आसन्नसुखस्येत्ययः । लजुताऽगौरवं नियताऽवश्यम्भाविनी । न कश्चिदेवमाद्रियत इत्यर्थः । अगरीवीकलवीयान्तरश्रियो राजलक्ष्या पदमाश्रयं न भवति । यद्वा—नृपेति पदश्लेषः । तस्मात्पौरुषं कतम्यमेवेत्यथ । अत्र पूर्वपदस्याविक्रमशब्देरुत्तरविशेषादिकं प्रति कारणत्वात् कारणभाकाऽऽशयोऽलङ्कारः । तथा च सूत्रम्—पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाहा ॥ १२ ॥

पुरुषार्थ में होन पुरुष को विशिष्टा भाकान्न कर लेती है । विपत्तियों से भाकान्न होने पर उनका भाविनी उन्नते रह नती है । निर उल का गौरव नष्ट हो जाता है । गौरव नष्ट होने पर राज्यशो के लिये छोड़े रह नती रह मात्रा नित का यह आशय ले सके ॥ १४ ॥

कलितमाह—

तदल प्रतिपद्युन्नतेरवलम्ब्य व्ययसायवन्धनाम् ।

निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विपादेन समं समृद्धय ॥ १५ ॥

उचिते । तत्तस्माद् उपेक्षायां दोषसम्भवदित्ययः । उन्नतेरमुद्रपश्य प्रतिपद्युन्नतेरव्यवसायवन्धनाम् अवलम्बनेनालमित्यर्थः । अलसवशो प्रतिवेद्योः प्राचां क्त्वा इति क्त्वाप्रत्ययः । तस्य व्ययान्तेषु । तथा हि । पराक्रम आसया कारणं प्रासां तास्वयोक्तः समृद्धयः सम्पत्ने विपादेन सममनुत्साहेन सह न निवसन्ति । पौरुषसाध्याः सम्पदो नानुत्साहसाध्याः । उन्नयोः सहायस्थान विशेषादित्ययः । वैधर्म्येण कायकारणरूपोऽर्थास्तरन्धास ॥ १५ ॥

उन्नति के पथ में वापक अनुत्साह का अवलम्बन करके पड़े रहना ठीक नहीं क्योंकि समृद्धियां पराक्रमशास्त्रो (उताही) पुरुष का आशय लेती है और अनुत्साही का परि त्याग का देती है ॥ १५ ॥

अनु समय प्रतीच्यते किं वेगेनेत्यत्राह—

अथ वेदवधि प्रसीदयते कथमाविष्कृतजिह्ववृत्तिना ।

धृतराष्ट्रमुतेन मुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पद् ॥ १६ ॥

अथेति । अथावधि काल प्रतीष्यते चेद् । 'अवधिसवधाने स्यात्सीग्नि काले
विलेडपि च' इति विश्वः । आविष्कृतजिह्ववृत्तिना प्रकटितकपटव्यवहारेण घृतराष्ट्रमुत्तेन
दुर्योधनेन नरेन्द्रसम्पदो राज्यसम्पद । नरेन्द्रेति वा पदच्छेदः । चिरं प्रयोद्दशावर्षा-
भ्यास्वाद्यानुभूय कथं सुखजा । ज्ञातास्वावेन तेन पश्चादपि सुखेन युद्धफलेश विना न
स्यष्यन्त पूर्वस्यवधिप्रतीक्षणं स्वर्थमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अदि आप डेरद वर्ष की अवधि की प्रतीक्षा करते हैं तो (आप स्वयं समझिए)
घृतराष्ट्रपुत्र सुयोधन जो प्रत्यक्ष कपट का व्यवहार करता है वह अधिक काल पर्यन्त राज-
लक्ष्मी का उपभोग कर क्यों कर उससे शपक् हो सकता है ॥ १६ ॥

अथवा तदा देववशात्स्वयमेव सम्पदो दास्यति चेत्तथाऽपि तत्कथं रोचयेमहीत्याह—

द्विषता विहित त्वयाऽथवा यदि लब्धा पुनरात्मन पदम् ।

जननाथ ! तवानुजन्मना कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥ १७ ॥

द्विषतेति । अथवा द्विषता विहित पुनः प्रत्यर्पितमत्तमन पदं राज्यं त्वया लब्धा
लप्स्यते यदि । लभे. कर्मणि लुट् । हे जननाथ ! तवानुजन्मनामनुजानामाविष्कृत-
पौरुषैः प्रकटितपराक्रमैर्भुजैः कृतमलम् । अस्मद्भुजैर्न किञ्चिस्ताप्यमित्यर्थः । राज्यदा-
नादानयोर्द्विषतामेव स्वात्तन्त्र्येऽस्मद्भुजवैकल्यात् । 'घृत्रिप्रस्थ विजेतव्यम्' इति
शास्त्रास्वात्प्रेषैव राज्यं प्राप्स्यमिति भावः । कृतमिति प्रतिषेधार्थमव्यय चाद्विपु पठ्यते ।
'कृतमिति निवारणनिषेधयोः' इति गणन्यायवने । भुजैरिति गम्यमानसाधनक्रिया
अपेक्षया करणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्यासोवृष्टोते—'न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्त
कारकमावस्थापि तु गम्यमानाऽपि' इति ॥ १७ ॥

प्रजानाथ ! यदि शत्रु पुनः राज्य लौटा दे और वह आप के करतल में हो जाय तो आप
के सोदरों के पराक्रमशाली मुनारों फिर कब और कहाँ सफल होंगी ॥ १७ ॥

ननु साम्रैव कार्यसिद्धौ किं क्षात्रेण । यथाऽऽह मनु —'साम्ना दानेन भेदेन
समस्तैरथवा पृथक् । विजेतुं प्रयत्नेतारीन्नुद्धेन कदाचन' ॥ इति । तत्किमाश्लेषेण-
त्यामाह—

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्चयते स्वयं हतैः ।

लघयन्स्रलु तेजसा जगन्महानिच्छति भूतिमन्यत ॥ १८ ॥

मदेति । मृगाधिपः सिंहो मदसिक्तमुखैः, मदवर्षिभिरित्यर्थः । स्वयं स्वेनैव हतैः
करिभिर्वर्चयते वृत्तिं करोति । तैरेव जीवतीत्यर्थः । चीरादिकाद् वृत्तेर्लट् । भौवादि-
कस्य तु 'अनावकर्म' काचित्सवः कर्तृकाद्' इति परस्मैपदनियमादिति । तथाहि—तेजसा
अनावेण । 'तेजो बले प्रभावे च उपोतिव्यर्षिवि रेतसि' इति वैजयन्ती । जगत्लघय

कलधनुषन्महांस्तेऽस्यन्यतोऽभ्यस्मात्पुरपाद् मूर्ति हृदि नेष्ट्वति सत्सु । महि तेज
स्त्वित् परायत्तपृथिव्यं युक्तम् । अनुवचन स्वर्गविपथमिति भाव । विशेषेण वच्यमा
णसामान्यसमर्पनरूपोऽर्धांतरस्यास ॥ १८ ॥

शृगेन्द्र (सिंह) अपने मारे हुये मरुत्तावी दन्तिपो (शम्भियो) के द्वारा अपना
आहार सम्पादन (निर्वातन) करता है उसी तरह महात् स्वर्ग संसार से अपने प्रताप से
अभिभूत करता हुआ किसी अन्य की सहायतासे अपने अशुभ को अमिताया नहीं करता १८
अनु युद्धात्पादिको कामः उपायान्तरैस्तु न तथेत्याशङ्क्याह—

अभिमानघनस्य गत्वरैरसुभि स्थास्तु यशश्चिपीत ।

अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मी फलमानुपदिक्म् ॥ १९ ॥

अभिमानेति । अभिमानघनस्य अनिर्यातनमाहमिष्टस्य । अत एव गत्वरैर
ममशीलैरस्विरै । 'गतवरस्य हृति क्वरन्तो निपात । अमुभि प्राणैः । कारणैः ।
युक्ति भूयस्यसका प्राणा' इत्यमर । रथास्तु स्वरम् । श्लाजिस्वयश्च गन्तु इति
स्तुप्रत्ययः । यशश्चिपीतस्तु सप्रहीतुमिच्छत । चिपीते सन्मन्ताश्चतुप्रत्यय ।
अधिरमशवो वस्था साऽचिरांशुनिष्ठुत्तया विलासः स्फुरण लक्ष्मचञ्चला चणि
केऽवधः । लक्ष्मी सम्पद् अनुपद्नादायतमानुपदिक्कमन्वाच्यशिष्टमवप फलम् । मान
प्राणन यश्च एव मुख्य फलमशुच्यस्तु लक्ष्मीरिति मानिनामिहमेव रक्षाध्वनि
त्ययः । अत्रास्विरप्राणशवागेन शिष्टर्यशस्वीकाराभिधानाभ्युनाधिकविनिमयाद्य
परिहृष्यलक्ष्णारः । सद्रुक्त काम्यप्रकाशो— परिहृषित्विनिमयो योऽर्थानां स्यारसमा
समे इति ॥ १९ ॥

नाति कुल नीर मर्त्यांश की रक्षा को अपना सर्वस मानने वाले पुरव अस्थिर प्राणों
के द्वारा रक्षायी यक्ष के पकनीकरत की रक्षा करते हैं कदापि उस के साथ २ विधुस्पता
के परिस्फुरण सद्रुक्त अफल लक्ष्मी भी प्राप्त हो जाय तो वह उन के लिये आनुपदिक फल
है अर्थात् उन का लक्ष्य वो यक्ष है यदि लक्ष्मी भी मिल जाती है तो क्या करना ॥ १९ ॥

मन्वस्वस्य मानस्य हेतोः कथं प्राणात्यागः क्षयथते कस्तु यतः— जीवन्तरो भद्रहा
सानि पश्येद् इत्याशङ्क्याह—

क्वलिर्त न हिरण्यरेतस चयमास्कन्दति भस्मनाजनः ।

अभिभूतिभयादसूनत सुखमुष्कन्ति न घाम मानिन ॥ २० ॥

क्वलिर्तमिति । जनो भस्मना चय पुष्पमास्कन्दति पादादिनाऽऽकामति । अक्ष-
हृत्वाहिति भाव । अक्षन्तम् । कर्षरिक्तः । मतिबुद्धि— इत्यादिसूत्रे चकाराद्धर्मा
नायत्वम् । हिरण्यं रेतो यस्य स हिरण्यरेतसमग्नि नास्कन्दति । दाहकत्वाहिति भाव ।
अतो हेतोर्मानिनोऽभिभूतिभयाप्याथलानेन तेजस्यागे परिमनो भविष्यतीति भयाद्

सूनेव सुखमकिलमुञ्जन्ति । मानवानि ऋराज्जीवनारस्वतेससा मरणमेव वरमित्यर्थं ।
पूर्ववरश्लोकवदर्थान्तरन्यास ॥ २० ॥

लोग राख के डेर को पदाक्रान्त करते हैं, परन्तु जानवश्चमान अक्षि को पदाक्रान्त नही करते । मानी मानवानि की आशुता से सुखपूर्वक प्राण वितर्जित कर देते हैं, पर अपने मान मर्त्यादा तथा तेज को पक्का नही लगने देते ॥ २० ॥

अथवा किमन्न प्रयोजनचिन्तया, किन्तु तेजस्विनामय स्थभाव एव यत्किञ्चिदुत्पत्त-
मित्याशयेनाह—

किमपेक्ष्य फल पयोधरान् ध्वनत प्रार्थयते मृगाधिप ।

प्रकृति. खलु सा महीचस सहते नान्धसमुन्नतिं यथा ॥ २१ ॥

किमिति । मृगाधिप सिंह किं फल प्रयोजनमपेक्ष्य ध्वनतो गर्जत । धरन्तीति धरा । पथाचक्ष । यससा धरास्तान्पयोधरान्मेवान्प्रार्थयतेऽभियाति, 'याज्ञायामभि याने च प्रार्थना कल्पते बुधैः' इति केशव । यद्वा—अबलमद्गीत्यर्थं । प्रा अर्थयते । 'प्रा स्वाद् याज्ञाऽकरोधयो' इत्यभिधानात्प्रा अकरोधेन । प्रा इति तृतीयान्तस्य प्राशब्दस्य योगविभागाद् 'आतो धातो' श्वालोप । तथा हि—महीचसो महत्तरस्य सा प्रकृति. खलु यथा प्रकृत्याऽन्यसमुन्नतिं न सहते । महताः परमजनमेव पुरुषार्थं इत्यर्थं । पूर्ववदलङ्कार ॥ २१ ॥

सिंह किस फल की आशा से गरजते मेवों को देख ऊपर को उड़ता है, बड़े लोगों का वह स्वभाव है जिसके कारण कितनी के अम्युदय को वे सहन नहीं कर सकते ॥ २१ ॥

सम्प्रत्युक्तप्रयोजन निगमयति—उक्तार्थोपसहरण निगम उच्यते—

कुर्वन्मतिमेव विक्रमे नृप । निर्धूय तम प्रमादजम् ।

ध्रुवमेतदवेहि विद्विषा त्वदनुत्साहहता विपत्तय ॥ २२ ॥

कुर्वन्ति । हे नृप । सत्समाहुकरीत्या पराक्रमोत्साहयोहतुत्साहेतो, 'यत्तद्यत्-
स्ततो हेतौ' इत्यमरः । प्रमादज तमो मोह निर्धूय निरस्य विक्रमे पौरुष एव मतिं कुर्व
न् नृपयान्तरमित्यर्थं । न च विक्रमवैकस्यशङ्का कारणेत्याह—ध्रुवमिति । विद्विषा
विपत्तयस्यदुत्साहहतास्त्ववानुत्साहेनाव्यवसायेन हता प्रतिवद्धा । अन्यथा प्रागेव
विपद्येरन्मिति भावः । इत्येतद् ध्रुव निश्चितमवेहि विद्धि । 'ध्रुव निरपे विधिते च'
इति आशयः ॥ २२ ॥

उत्साह और पराक्रम ही प्रधान है, अतः हे महाराज, जनवपानता के अन्धकार को मार मगाइये, पराक्रमावलम्बी होने का विचार कीजिये । इस बात को अटक मानिये कि शत्रुओं की विपत्ति केवल आप के अनुराग के कारण दूर है, अगर आप ऊँचाही हो जाँव तो शत्रु शीघ्र ही विपद्यस्व हो जाँव ॥ २२ ॥

न च न परामयसाहा कार्येत्याह—

द्विरदानिध द्विग्विभायिताश्चतुरस्तोयनिधीनिवायत ।

प्रसहेष रयो तवानुजान् द्विपता क शतमन्युसेजस ॥ २३ ॥

द्विरदानिति । द्विविधाविताम्बुषु प्रसिद्धास्तानामत आगच्छत । आकृष्टादि
प्राप्तो वाचस्पत्यः । चतुरो द्विरदादिग्वानिध सयोक्तविशेषणाश्चतुरस्तोयनिधीनिव
रण आयतो द्विग्विभावात्तान्मन्नुसेजस इन्द्रविक्रमाश्चतुरस्तवानुजान्द्विपता मध्ये
का प्रसहेत । सोढुं शक्युयादित्यथ । शक्ति लिङ् च इति शक्यार्थे लिङ् । अतो निशाङ्ग
प्रवसत्वेति भावा ॥ २३ ॥

(यदि आप कहें कि ऐसा करने में परलय की आशङ्का है तो कदापि नहीं—)
सम्पूर्ण विशासों में विदित मण्डलों और चारों समुद्रों की भाँति समराज्य की ओर
प्रस्थान करने हुए राजा के समूह पराक्रमशाली आप के कनिष्ठ आताओं के पराक्रम से
शत्रुओं में ऐसा कौन है जो सह सकता है ? ॥ २३ ॥

आशीर्वाद्भ्याजेन फलितमाह—

अततस्तत्र जातवेदस सततं वैरिहृतस्य चेतसि ।

विदधातु राम शिरेतदा रिपुनारीनयनान्मुसन्तति ॥ २४ ॥

अतत इति । तत्र चेतसि सतत उच्यते वैरिहृतस्य जातवेदसः । श्लोधाग्ने
रित्यर्थः । शिवेतराऽसिवाऽमङ्गलाः । यद्यप्यदुःखजनकत्वादिति भावः । रिपुनारीनय
नान्मुसन्ततिर्द्वैरिवनिताऽन्नुप्रवाहः रामं विदधातु । वैरिहृतस्य श्लेषस्य वैरिदधमन्त
रेण श्लान्त्यसम्भवाद्दधस्य तद्दधस्त्वया कर्त्तव्य इत्यर्थः । श्लेषस्य विषयस्य निगरणेन
विषयिणो जातवेदस पूर्वोपनिबन्धादतिपायोक्तिरङ्गहारः । तदुक्तं— विषयस्यानुपादा-
नाद्विषयमुपनिबन्धते । यत्र साऽतिशयोक्तिः स्यात्कवेः प्रीडोक्तिर्जीवित्वा ॥ इति ।
सन्नापि श्लेषस्य जातवेदसो भेदेऽप्यभेदाध्यवसायाद् भेदेऽभेदरूपाः । तत पूर्वानुमिर्वा
प्यत्योक्तिश्च घटते । तथा च— यथाऽन्नुसेकेनाग्निः शाम्भति तथा शत्रुपथेन श्लेष
इत्यौदर्यं गम्यते ॥ २४ ॥

शत्रु के कारण आप के मन्त्र-करण में सतत आवश्यकमान श्लेषादि को अमङ्गलरूपक
रिपुमन्त्रियों के सेन की अनुपारा धमन करे अर्थात् आप के शत्रु मारि जायें उनकी विषया
क्रियाओं उनके विषय में कष्ट बढ़ाने करें जिससे आप के हृदय को आकाश प्राप्त हो ॥ २४ ॥

इति दर्शितविक्रियं सुखं मरुत कोपपरीतमानसम् ।

उपसान्त्वयितु महीपतिर्द्विरब् दुष्टमिवोपचकमे ॥ २५ ॥

इतीति । इत्युच्यतेत्या दर्शिता विक्रिया विकारो वागारम्भात्मको येन तं कोप-

परीतमानस कोपाक्रान्तचित्तम् । हृदं विरोपणद्वय द्विरदेऽपि योज्यम् । मरुत सुत भीम
महोपतिर्बुध्निष्ठिरो दुष्ट द्विरदभिव । एतेन भीमस्य शौर्यमेव, न बुध्निरस्तीति गम्यते ।
उपसान्भवयितुमनुनेतुमुपचक्रमे प्रवृत्त 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इत्यात्मनैपदम् । राजा
तावद्गुणकारविशेषोपापेभ्यो कथञ्चिदवधो जन शनै शनैर्द्विरद्वयद्वशीकरणीय, न तु
स्याज्ज इति भावः ॥ २५ ॥

भूपति (बुधिष्ठि), उच्युक्त प्रकार के विकारोत्पादनवर्ता क्रोध से आक्रान्तचित्त,
वायुनन्दन भीमसेन शो, दुष्ट मन्वाले दौ (शशी) की तरह वश में करने का प्रयत्न
करने लगे ॥ २५ ॥

प्रथम तावस्तुत्यादिभि प्रसादयति—

अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयप्राहिणि मङ्गलास्पदे ।

विमला तव विस्तरे गिरा भतिरादर्श इवाभिदृश्यते ॥ २६ ॥

अपवर्जितेति । विप्लव प्रमाणबाध । अन्यत्र बाधमलसकृम । सोऽपवर्जितो
यस्य तस्मिन् अपवर्जितविप्लवे । शुचौ । शौशब्ध लोहशुद्धिश्च शुचित्वम् । तद्वर्तित्यर्थः ।
अत एव हृदयप्राहिणि मनोरमे मङ्गलास्पदे । एकत्र हितार्थप्रतिपादकत्वादन्यत्र मङ्गल
वस्तुत्वाच्च श्रेयस्करी । 'रोचन चन्दन हेम मृदङ्ग दर्पण मणिम् । गुरुनग्नि तथा सूर्य
प्रातः परयेत्सदा बुधः' ॥ इति पुराणवचनात् । तव गिरा विस्तरे धामप्रपञ्चे । 'प्रथमे
चावशब्दे' इति चम्प्रतिषेधाद् 'अदोरप्' इत्यप् । अत एव 'विस्तारो विमलो व्याप्त
स तु शब्दस्य विस्तर' इत्यमरः । मतिस्त्वद्बुध्निरादर्श दर्पण इव । 'दर्पणे सुकुरादर्पो'
इत्यमरः । विमला विशदाऽभिदृश्यते । वाग्वैशद्यादेव मतिवैशद्यमनुमीयते । तत्पूर्व-
कत्वात्तत्त्वोत्पत्त्यर्थः ॥ २६ ॥

महाराज बुधिष्ठि ने कहा—“जिस तरह कपरी मलिनता से मुक्त (निर्मल), लोह
काष्ठदि सामग्रियों से शुद्धिभित, चिन्ताकर्षक और मङ्गलकारी दर्पण में रूप का प्रतिबिम्ब
स्वच्छ दृष्टिगोचर होता है, वही तरह प्रमाण शुद्ध, सुन्दर शब्द योचना शुद्ध मिय और हि-
क्त वाक्प्रपञ्च में तुम्हारी बुद्धि स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होती है ॥ २६ ॥

अथ युष्मेनाह—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।

रचिता पृथगर्थता गिरा न च सामर्थ्यमपोहित क्वचित् ॥ २७ ॥

स्फुटतेति । पदैः सुस्तिष्ठन्तशब्दे स्फुटता विशदार्थता नापाकृता न त्यक्ता । अर्थ
गौरवमर्थव्यसम्बन्ध न न स्वीकृतम् । स्वीकृतमेवेत्यर्थः । वैशद्यप्रसक्तार्थगौरवाभावादि
वर्तमाने नन्द्यम् । 'सम्मानार्थानपेक्षमितर्त्तने द्वी प्रतिषेधौ' इति वामनः । गिरा पदानामवा-
न्तरवाचयाना च पृथगर्थता निश्चार्थता । अपुनरुत्पाद्यतेति यावत् । रचिताकृता । तथा

अथैवपि सामर्थ्यं गिरामन्वोऽन्यसाकाङ्क्ष नारोहित न वर्जितम् । अथवा दत्त-
 दादिमादिशब्दवैकल्यावता न स्वाद् । यथाऽऽहुः— अर्थकथाके धारय सापे
 वेद्विभागे स्वाद् इति । अन्वर्थागौरवमित्यत्र कथं षष्ठोत्तमास पूरणगुण—इत्या
 दिना प्रतिषेधाद् । नेत्र दोष । ये शुक्लादय शब्दा गुणे गुणिनि च वसन्ते यथा परस्य
 शौक्ल्यं शुक्लं पठ इति च तेषामेवात्र निषेधाद् । ये पुन स्वतो गुणमात्रवचना यथा—
 गौरव प्राधान्यं रसो यथा स्वस्य इ वेचनादयः तेषामनिषेधाद् । तथा तत्पर्येष गुण
 षष्ठो समस्यते इति वचनाद् बहुलमभियुक्तप्रयोगदर्शनत्वात् । यथाकायाः शौक्ल्यमि
 त्यादौ तु भाष्यकारवचनात्समास । अत एवाह धामनः— अत्रपोतिमादितु गुणवच
 नसमासो बाहिरयाद् इति ॥ २७ ॥

तुमने सु । १ आर तिष्ठन् पने से र वि शस मे पूजा नहीं को हे अर्थगाम्भीर्य को
 स्थान न दिया हो सो जो नहीं पालना में परस्पर विरुद्ध भावों का भी समर्थ नहीं होने
 पाया है । तात्पर्य यह कि पुनरुक्त दोष से जो मुक्त है और परस्पर शब्दों को आनाया
 का भी परित्याग नहीं होने पाया है अर्थात् स्वाकरण सम्बन्धी श्रुतिवा भी पुश्चाटो वाक्य
 रचना में नहीं होने पायी है ॥ २७ ॥

उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागम सूत ।

इदमीदानीदगाराय प्रसभ वक्तुमुपक्रमेत क ॥ २८ ॥

उपपत्तिरिति । किञ्च बलाद् वक्तुमाश्रित्य । कर्मणि वयक्त्रोपे पक्षमी वक्तव्या ।
 उपपत्तिमुक्तिरुदाहृता । पराक्रमपश् एव श्रेयानिति युक्तिरुक्तव्य । उचित चैतन्महा
 धोरस्येति भावः । तथाऽनुमानेन युक्त्याऽऽगमा बाधे च न सूतो न हतः । किन्वा-
 यमाविरुद्धमेरोक्तम् । अथवा—तद्दिशोवास्तुमानस्यैव प्रामाण्यमज्ञादिति भावः । ईदं
 गिरत्य चात्रयुक्तिमि वचनमविद्यमान इदगासव इत्य चात्रयुक्ताभिप्रायो यस्य सोऽभी
 दगासवः । अनिप्रापरश्चन्द आशयः इत्यमरः । कः प्रसभ वक्तुमुपक्रमेत । न
 कोऽपीत्ययः । इत्थं वक्तुमुपक्रमितव नास्ति । यथा तु दूरापास्त एवेति भावः । के-
 चिदेतच्छ्लोकत्रयं भिन्दापरत्वेनापि योजयन्ति । तदसद् । द्वितीयसमाप्रतत्परस्यास्ति
 वास्तवस्य राज्ञो मत्सरिण इव महावीरे घातरि विषये सर्वानयमूलयूतनिष्ठातात्पर्य
 कल्पनाऽभीष्टित्वादिति ॥ २८ ॥

तुमने जिन युक्तियों का उदाहरण दिया है सब पुत्रपाप का अपलम्बन करती है और
 उन से जिन युक्तियों को निरुद्ध किया है वे नोति शक्य विरुद्ध नहीं है । क्वीन ऐसा पुरुष है
 जो इस विचार से सम्मन न हो और वचाद रस प्रकार कहने के लिये उच्चार हो ॥ २८ ॥

यदि साधुक्त तद्दि तथैव क्रियतामित्याद्युदाह—

अचित्तप्रतया तथाऽपि मे हृष्य निगममेव धावति ।

अवसाययितु क्षमा सुख न विषेयेषु विरोपसम्पद ॥ २९ ॥

अविवृततयेति । तथाऽपि स्वया सम्बद्धनिर्णीतेऽपि मे हृदयमविवृततयाऽसन्नुष्ट-
 तया । अद्यापि सशयगतस्वेनेत्यर्थ । निर्णयमेव धायत्यनुसरति । अपेक्षत इति यावद् ।
 अद्यापि निर्णयस्यानुदयादिति भाव । निर्णयानुदये हेतुमाह—अवेति । विधेयेषु
 सन्धिविग्रहादिकर्त्तव्यार्थेषु या विशेषसम्पदोऽवान्तरमेवभूमानस्ता सुप्रमक्लेशेनाव-
 साययितुम् । पुरुषान्प्रत्यानुकूल्येन स्वस्वरूप स्वयमेव क्षीघ्र प्रत्याययितुमित्यर्थ ।
 स्यतेष्यन्तादणिकर्मकृत्कान्तुमुन् । गेरणादिसूत्रस्याय विषय । समन्त इति समा ।
 पचाद्यच् । शक्ता न भवन्ति । 'द्यम शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमर । विधेयमात्रस्य सुग-
 मत्वेऽपि लक्षितेषाणां सौचम्याद्वाहुल्यत्वाच्च दुर्ज्ञापत्वादद्यापि निर्णयाकार्षेति तात्पर्या-
 र्थ । अत्र निर्णयधावन प्रत्युत्तरवाक्यार्थस्य हेतुत्वाभिधानाद्वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग-
 मलङ्कार । तदुक्त—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति ॥ २९ ॥

यद्यपि अचिद प्रतिपादन किया गया है तथापि मेरे मन को सन्तोष न हुआ, अतः वह
 कत-यानुष्ठान के निर्णय की ओर अग्रसर हो रहा है । विशेष सम्पत्तियों सन्धि, विग्रहादि
 कत-यानुष्ठान के विषय में अपने स्वरूप को सरलतापूर्वक प्रकट करने में अममर्थ्य होती हैं २९

यस्तुविशेषावधारणमन्तरेणैव प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह—

सहसा विदधोत न क्रियामविवेक परमापदा पदम् ।
 वृष्यते हि विमृश्यकारिण गुणलुब्धा स्वयमेव सन्पद ॥३०॥

सहसेति । क्रियत इति क्रिया कार्य सहसा । अविवृतयेत्यर्थ । 'सहसेत्याक-
 स्मिकाविमर्शयो' इति षणञ्कारुणाने श्वरादिपाठावश्यकम् । न विवृधोत न कुर्वीत ।
 कुत । अविवेकोऽविवृतयेत्यर्थ परमत्यन्तमापदा पद स्थानम् । कारणमित्यर्थ ।
 म्यतिरेकेणोक्तमर्थमन्वयेनाह—घृणत इति । गुणलुब्धा गुणगृह्णत इति स्वयवरहेतु-
 क्ति । सम्पद श्रिय । विमृश्य करोतीति विमृश्यकारी । 'उपपदमत्तिङ्' इति समा-
 स । त स्वयमेव घृणते भजन्ते हि । 'घृङ् सभक्तौ' इति धातु । तस्माद्विमृश्यव
 प्रवृत्तित्वमित्यर्थ । अत्र सहसाविधाननिषेधलुब्धविमृश्यकारिस्वरूपकार इ-
 रूपव्यतिरेककार्येण समर्थनाद्द्वेषभवेणार्थान्तरन्यास । द्वितीयाधेन च स एव साधर्म्य-
 वेति ज्ञेयम् ॥ ३० ॥

एकपक्ष (विवेचना किये बिना) किसी कार्य का आरम्भ नहीं करना चाहिये । सम्यक्
 विचार न करना परम अपत्ति का उत्पाक होता है । गुण के ऊपर अपने भाव को
 समर्पण करनेवाली सम्पत्तियों विचारवान् पुरुष को स्वयं मनोनीत करती है अर्थात् जो कुछ
 किया जाय उसके भाले पीछे को सब बातों का विचार कर लेना चाहिये ॥ ३० ॥

अथ साहसिकस्यापि फलसिद्धिरप्यत एव । तत्किं विवेकेनेत्यत्राह—

अभिवर्षति योऽनुपालयति विधिबीजानि विवेकवारिणा ।

स सदा फलशालिनीं त्रिया शरदं लोफ इवाधितिष्ठति ॥ ३१ ॥

असीति । या पुमान् । विधीयन्त इति विधयः कृत्यवस्तूनि बीजानीयेत्युपमित समासः । शरदं लोफ इवेति वाक्यगतोपमानुसारात् । ता न विधिबीजानि । विवेको वारीव तेन विवेकवारिणा । पूरकसमासः । अनुपालयन्प्रतीचमाण शरदश्चमिवर्षति सिद्धति । स पुमान् । फल साधननिष्पाद्योऽथ सस्य च सस्ये हतुकृते फलम् इत्यु अयत्राप्यमर । सञ्ज्ञादिर्भी क्रिया कम लोको जनः । लोकरतु भुवने जने इत्यमरः । शरदं सदा नित्यमधितिष्ठति । सदा क्रियाफल प्राप्नोत्येव । न कदाचिद्वपमि चरतीत्यर्थः । साहसिकस्य काकतालीयन्यायेन फलसिद्धिविवेकिनरतु निघतेति भावः । अत्र फलान्नेन सस्यदेतुकृतयोरयोरभेदात्पक्षसायाच्छेपभूलातिशयोक्तिरतदनुपृ हीता शोपमेत्यनुसम्भेदम् ॥ ३१ ॥

यो विवेको पुरन कृत्य विषयो को बीज के समान मान कर उसे स एक विचार रूप नख से सिद्धन करते है वे (पुरन)-सबदा उही तरह फलसिद्धि प्राप्त करते है जिस तरह कृषक सस्यो का सिद्धन करते हुए उरत्काल में उसके फल से शोपिन सस्य सम्पत्ति को प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

वियता विवेकिनः फलसिद्धिरित्युक्तम् । अगति तामेव कथ्यर्धं स्तीति—

शुचि भूपवति भुत यपु प्रशमस्तस्य भवत्यलक्रिया ।

प्रशमाभरण पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषण ॥ ३२ ॥

शुचीति । शुचि सप्रदायशुद्धं भुत साक्षमवर्णं कर्तुं यपुर्भूषयति । अन्यथा विद्धा—पु क्वा शोष्य इति भावः । तस्य भुतस्य प्रशमः शोषोपशान्तिरलक्रिया भूषण भवति । अन्यथा भुतवैफल्यसिद्धिः भावः । पराक्रमः सत्यवसरे शौर्यं प्रशमस्तस्यभरणं भवति । अन्यथा सर्वो परिभूषयति इति भावः । स पराक्रमः । नयापादिता नीतिसम्पादिता । विवेकपूर्विकेति यावत् । सा चासी सिद्धिश्च सव भूषणं यस्य स तयोक्तः । अन्यथा साहसिकस्य सिद्धिः काकतालीयत्वेन पक्षे पराक्रमवैषम्ये स्वादिति भावः । यद्युपो भूष्यतेवात्र सिद्धिर्भूषणत्वेन तु । उभयं मध्यमानो तु तेषां पूर्वोत्तरेभ्यः ॥ इति वि वेकः । पर्व विशिष्टसिद्धिरनन्यभूषिताया एव भूषणत्वात्स्या सर्वोत्तरतया स्तुतिशय्यते । अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणत्वादेकावयवच्छेदः । तदुक्तं— यत्र विशेषणमाह पूर्व पूर्वं प्रति क्रमेणव । अगति परं परमेयाच्छेदकृतिरेकावली कथिता ॥ इति ॥ ३२ ॥

शुचिप्रणय से शुद्ध साक्षाम्यास शरीर की शोभा बढ़ता है । शोष का उपशमन करना उभ साक्ष का भच्छेद होता है । भवसर प्राप्त होने पर शोभ्यं (पराक्रम)

क्रोधोपशान्ति का मूषण होता है और नीतिसम्पादितविवेकपूर्विका सिद्धि पराक्रम का आभरण होती है । तात्पर्य यह है कि विवेकी पुरुष की कार्यसिद्धि अवश्यम्भाविनी है और साहसियों की फल सिद्धि सन्देह रूप भूले पर भूलवी रहती है ॥ ३२ ॥

‘विमृश्य कुर्वादि’ति स्थितम् । तत्र विमर्शोपाय. क. १ इत्युक्ते शास्त्रमेवेत्याह—

मतिभेदस्तमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम् ।
सुकृतः परिशुद्ध आगम कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ॥ ३३ ॥

मतीति । मतिभेद कार्यविप्रतिपत्ति । मतिभेदस्तम इवेत्युपमितसमास । दीप इवेत्युपमाऽनुसारात् । तेन तिरोहित आच्छन्नेऽत एव गहने दुरवगाहे कृत्यविधौ कार्यानुष्ठाने विवेकिनां सुकृत सदभ्यस्तोऽत एव परिशुद्धो निश्चितोऽन्यत्र सुबिहित प्रवाताद्विदोषरहितश्च । आगमः शास्त्रम् । ‘आगम शास्त्र आयतौ’ इति विश्व । दीप इवार्थदर्शनं कार्यज्ञान वस्तुप्रतिभासन च कुरुते ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार वातादित विद्यो से सुरक्षित और सुव्यवस्थित प्रदीप अन्धकाराच्छन्न वस्तु के प्रदर्शन कराने में समर्थ होता है वही तरह जब विवेकी पुरुष कर्तव्यानुष्ठान के समय सकल्प और विकल्प में पल जाता है, उस समय सम्यक् अभ्यस्त और परिशुद्ध ज्ञानज्ञान उसके कर्तव्यपथ का प्रदर्शक होता है ॥ ३३ ॥

एव विमृश्य कुर्वतो देवादनर्थागमोऽपि न कश्चिदपराध इत्याह—

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छ्रुता मन ।
विधिहेतुरहेतुरागसा विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः ॥ ३४ ॥

स्पृहणीयेति । स्पृहणीयगुणैर्लोकश्लाघ्यगुणैर्महात्मभि सज्जनैश्चरितेऽनुष्ठिते वर्त्मन्याचारे मनो यश्च्युता निदधताम् । सम्भारोण व्यचहरतामित्यर्थ । विधिहेतुर्देव निमित्तकः । ‘विधिविधाने देवे च’ इत्यमर । अत एवागसात्पराधानामहेतुर्विनिपातो देविकानर्घोऽपि । ‘विनिपातोऽधपाते स्याद् देवादिभ्यसनेऽपि च’ इति विश्व । समुन्नतेरतिबुद्धे समस्तुल्यम् । देविकेषु पुरुषस्यानुपालम्बत्वादिति भावः । यथाऽऽह कामन्वक —‘यत्तु सम्यगुपकान्तं कार्यमेति विषयम् । पुरुषस्तनुपालम्बो देवान्तरितपौरुष’ ॥ इति ॥ ३४ ॥

प्रथम शुण्ठाली मशपुरुषों के द्वारा आचरित पथ का अयलम्बन कर्वा व्यक्ति की आपत्ति (अवनति) कि ही भी अपराधों या कारण नहीं होती और अदृष्ट ही उसका कारण होता है, तथा वह भी उन्नति के समान ही है ॥ ३४ ॥

शिवमौपयिक गरीयसीं फलानिष्पत्तिमदूषितायतिम् ।

विगायप्य नयन्ति पौरुष विजितक्रोधरया जिगीषव ॥ ३५ ॥

विनमिति । द्वितीयको विनयेच्छब्दे नृश विनितकोधरया जितकोधवेगा सम्भो
 गरीयसो प्रमृतामद्विज्ञापितमध्वोत्तरकालाम् । स्वन्तामित्ययम् । फलनिष्पत्तिश्च
 सिद्धि विनाशय्य । फलवशं निश्चिन्नेरयम् । पौरुष पुरुषकारं गिवमनुकूलमौषधि
 कमुपायम् । विनयाद्विन्वात्स्वार्थं यत् । उपायाद्भ्रस्वरश्च च । नयन्ति प्रापयन्ति ।
 पौरुषमुपायेन योग्यन्तीत्यर्थः । गानिश्चितफले कम कुचत इति भावः । यथाऽऽ
 कामन्दकः— निष्फले श्लेशजहुल सन्निधायफलमेव च । न कम कुर्वाणमतिमानस्य
 वैरलुचन्धि च ॥ इति । अयस्ति प्रापणार्थं द्विकर्मक । अत्र पौरुषस्य कमुपायकर्मोपे
 उपायस्वातन्त्र्यात्वात्कोषं विनयत इत्यादिवत् कमुपाये चासरीरे कमति इत्यात्मनेपद
 य भवति ॥ ३५ ॥

विनयेच्छु पुरुष कोष के आवेग को मोन कर पक्षिद्धि को बहुवचन और उत्तर का
 ये उत्तकी विररणा का सम्यक विचार करके पौरुषकार को उपाय से युक्त करते हैं ॥ ३५ ॥

यदुक्त विनितकोधरया इति तदावरयकमित्याह—

अपनेयमुत्तेतुमिच्छता तिमिर रोपमय धिया पुर ।

अविभिद्य निशाकृतं तम प्रभया नाशुमताऽप्युदीयते ॥ ३६ ॥

अपनेयमिति । उदेतुमभ्युदेतुमिच्छता राज्ञा पुरः प्रथम रोपमय शोषाहातम् ।
 मयत् च इति मयत् । तिमिरमज्ञानं धिया विवेकबुद्धया करुणानपनेयमपनोषत् ।
 सपा हि—अशुमताऽपि कर्ता प्रभया सेवसा करुणैव निशाकृतं तमो भवान्तमविभिद्य
 बोदीयते । किन्तु विभिद्यतेत्यर्थः । सूर्यस्वाप्तेव किमुतान्येषामित्यपिहाह्वार्थं । इषो
 भावे चत् ॥ ३६ ॥

उदपाभिकापी पुरुष को च हिये किं सर्वं प्रथम बुद्धि से भयान को मार मगावे । अशु
 माली (सूर्य) की रातिननित अ रकार को नष्ट किये बिना अग्नि नहीं होती ॥ ३६ ॥

अनु बुद्धकस्यैवमस्तु, धर्मीयसस्तु मोघादेव कार्योत्तिद्धिविस्थत आह—

वलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं ह्ययद्वि य ।

क्षयपक्ष इवैन्दवी कला सकला हन्ति स शक्तिसम्पद ॥ ३७ ॥

वल्गविति । वल्गवाम्पूरोऽपि यः कोषाऽभ्यस्य अस्य सत्य कोपजन्मनः । अथर्व
 बह्वीहिव्यचिह्नने कम्भापुत्तरपद् इति धामन । तमसो मोहस्य । कुत्तोरारक
 र्त्ति चङ्गी । अभिभवंशाम्कारित अ लणद्धि य निवारयति । स क्षयः । क्षयस्य पक्ष
 क्षयपक्षः कुम्भपक्ष ऐश्वर्योत्तिङ्गसम्पत्तिनी । कला इव । कला तु योहशो भाग्य
 हत्यमरा । सकलाः समग्राः शक्तिसम्पद् प्रभुमभोगसाहसकीरितोऽपि हन्ति वा
 अयति । अक्षय्य जटवावकमिव कोषान्धस्य लोकोत्तरमपि सामर्थ्यं व्यर्थमेवेत्यर्थः ।

अत्र सर्वकारणत्वात्त्रयपक्षस्य कलात्रयकारित्वमस्यैव । तमसस्तु तरकालवि-
जृम्भणात्तथा व्यपदेश ॥ १७ ॥

शुद्ध होता हुआ भी जो पुरुष ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले मोह की भावना का अवरोध नहीं करता, वह कृष्णपक्षीय चन्द्रमा की कलाओं की भाँति अपनी प्रभु, मन्त्र, और उत्साह मूल तीनो शक्तियों से हाथ धो बैठता है ॥ १७ ॥

विद्युत्स्य कुर्वत क्रियाप्रकारमाह—

समवृत्तिरूपैति मार्दव्य समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।

अधितिष्ठति लोकभोजसा स विद्यस्वानिव मेदिनीपति ॥ ३८ ॥

समेति । य समा नात्सिद्धुर्नात्तिसमा वृत्तिर्यस्य स समवृत्ति सन् समये सत्यवसरे मार्दव्य सृष्टुवृत्तिव्युपैति तिग्मता तीक्ष्णवृत्तिव च तनोति । स मेदिनीपतिर्विद्यस्वानिव, भोजसा तेजसा लोकमधिष्ठायाक्रामति । सूर्योऽपि, ऋतुभेदेन सम-
वृत्तिरित्यादि शोध्यन् ॥ ३८ ॥

वह भूमिपाल, जो न तो अत्यन्त सरलता और न अत्यन्त क्रूरता का अवलम्बन करता है, यथासमय और यथावसर कोमलता और क्रूरता दोनों का व्यवहार करता रहता है, वह सूर्य के समान अपने प्रताप से समय सत्कार पर भाषिण्य स्थिर रहता है ॥ ३८ ॥

उक्तान्यथाकरणेऽनिष्टमाह—

क चिराय परिग्रहः श्रिया क च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता ।

शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरता हि बहुच्छला श्रिय ॥ ३९ ॥

क्वेति । श्रिया सपदा चिराय बहुकाल परिग्रह स्वायत्तीकरण क ? इन्द्रियाणि वाजिन इवेत्युपमितसमास । दुष्टानाममार्गधाषिनामिन्द्रियवाजिना वश्यो वशज्ञतस्तस्य भावस्तत्ता क ? नोभयमेकत्र तिष्ठतीत्यर्थ । कुत । हि यस्माच्छरदभ्रचलाश्चला । किञ्च बहुच्छला बहुध्यावा । यदुरन्मा इति थाब्द् । 'छल तु स्तुष्टिते व्याजे' इति विश्व । श्रिय सपद । चलेन्द्रियैरजितेन्द्रियैरसुरता रक्षितुमशक्यता । कथञ्चित्प्राप्ता अपि श्रियो नाविनीतेषु तिष्ठन्तीत्यर्थ । वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कार ॥ ३९ ॥

चिर काल तक सम्पत्तियों का बुरीकरण कहाँ और उन्मार्गगामी घोड़ों की भाँति दुष्ट इन्द्रियों को अपने बश में करना कहाँ ? (क्यों कि) सम्पत्तियों शरत्कालीन गेध की तरह चञ्चल और अनेक छिद्रों से पूर्ण हैं । चलेन्द्रिय पुरुषों के द्वारा उनकी रक्षा होना सामर्थ्य के बादर है ॥ ३९ ॥

श्लेषस्य दुष्टतामुक्त्वा तस्य त्यागमुपदिशति—

किमसामयिकं वित्तवता मनसः शोभमुपात्तरहस ।

क्रियते पतिरुचकैरपो भवता धीरतयाऽधरीकृत ॥ ४० ॥

किमिति । उपात्तरहस प्राप्त्यवरस्य मनसः । समयोऽस्य प्राप्तः सामयिका । समयस्तदस्य प्राप्त्य इति ठम । स न भवतीत्यसामयिकसमशास्त्रकारं शोभं वित्तवता भवता धीरतया धैर्यगुणेन । ममलो निर्विकारत्व घय सत्त्वपि हेतुपु इति रसिकाः । अधरीकृतस्तिरहकृतः । प्रामिति शेषः । अपो पतिः समुद्रः किं किमर्थं मुचकैरधिका क्रियते । न परामित पुनरुचकैः कुर्यान्मिति भावः । अत्र वित्तवतेति श्रीमन्नियोगत्वेन अपात्पतिपदायस्योच्यते । करणे हेतुत्वोक्त्या काव्यकृतमथ श्लोकाः ॥ ४० ॥

आपने अपने धैर्य के कारण जलराशि समुद्र को जीत लिया है फिर वेगवान् मन में असामयिक शोभ उत्पन्न करने उसे बढ़ने का अवसर क्यों प्रदान करते हैं ? अभिप्राय यह कि समुद्र अनन्त जलराशि प्राप्त करने पर भी अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करे और भीमसेन ने भी अपनेकानेक विपत्तियों से यात्रा न होने पर भी धैर्य का परित्याग नहीं किया था अब समुद्र पर आप विजयी बने थे अब अनापयिक शोभ के कारण धैर्य परित्याग करने से फिर समुद्र को ही विजयी बनने का अवसर प्राप्त होगा है ॥ ४० ॥

भुतमप्यधिगम्य ये रिपून् विनयन्ते न शरीरजन्मन ।

जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापलाभयम् ॥ ४१ ॥

भुतमिति । किञ्च । ये अतं हाह्यमधिगम्यापि शरीरजन्मनः शरीरप्रभवान् रिपून् कामक्रेपादीन् विनयन्ते न नियच्छन्ति । 'कदस्ये वासरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदम् । ते खल्वचिराय सम्पदां चापलाभयमर्थैर्भविष्यन्ममपयो दुष्कीर्तिं जनयन्ति । आभयदोषादस्यैर्षं सम्पदां न स्वशोपाविर्यम् । अजितारिपदवर्गस्य कृतं सम्पद इति भावः ॥ ४१ ॥

जो लोग शत्रु के हाथ होकर भी अपने शरीरसमाप्त्युक्त काम क्रोध लोभ मोह मद और अहंकार इन शत्रुओं को अपने दण्ड में नहीं करते वे शीघ्र चञ्चला सम्पत्तियों की अक्रीडि के भागी होते हैं अर्थात् अल्पकाल में ही उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का अवसान हो जाता है ॥ ४१ ॥

तथा श्लेषकार्यं ह्यग्निस्त्वाशयेनाह—

अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी ।

जनयन् भवन्तमद्यमा नयसिद्येरपनेतुमहति ॥ ४२ ॥

अतिपातितेति । अतिपातितान्यतिक्रान्तानि काल समयोऽनुरूप साधनानि सहायादीनि यथा सा तथोक्ता । तापयतीति तापनी । कर्त्तरि रुबुट् । टिष्वान्डीप् । स्वस्य यश्चरिरीरमिन्द्रियवर्गश्च तयोस्तापन्यक्षमा क्रोधो भवन्त जनवत्पृथगजनमिव । 'तेन तुल्यम्—' इति घतिप्रत्ययः । तेनेवार्थो लक्ष्यते । 'तद्विदध्यासर्वविमक्तिः' इत्य-
व्ययम् । नवसिद्धेर्नयसाध्यफलादपनेतु पृथक्कर्तुं नार्हति । असमयकोषस्यात्मसन्तापा-
तिरिक्त फल नास्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

समय और साहाय्य की अतिक्रमकारिणी और अपने ही इन्द्रियवर्गों की कष्टप्रदायिनी, असहिष्णुता सामान्य व्यक्ति की भाँति तुम्हें न्याय के साध्य फल की सिद्धि से दूर करने में समर्थ नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥

'दुष्ट क्रोध' इत्युक्तम् । अत्र जमाया गुणानाह—

उपकारकमायतेभृश प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः ।

अनपायि निबर्हण द्विषा न तित्तिद्यासममस्ति साधनम् ॥ ४३ ॥

उपकारकमिति । आयतेरुत्तरकालस्य भृशमत्यन्तमुपकारक स्थिरफलहेतुरित्यर्थः । भूरिण प्रभूतस्य कर्मफलस्य । प्रसूयतेऽनेनेति प्रसव कारणम् । अयायि न भवती-
त्यनयायि स्वयमविनश्यदेव द्विषा निबर्हण विनाशकमेवगुणक साधन तित्तिद्यासमं
समातुल्य नास्ति । 'दाम्नि क्षमा तित्तिद्या च' इत्यमरः । 'तिज निशाने' इति
धातो 'मुष्किञ्चिद्भ्य सन्' इति क्षमार्थे सन्प्रत्ययः । तित्तिद्यासममित्यनुश्लेष
मेवा समाप्त भार्या लुप्तोपमा, भृशायत्यनपायिशब्दै साधनान्तरवैलक्षण्याद् व्यति-
रेकश्च व्यज्यते । भेदप्राधान्य उपमानदुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये च व्यतिरेकः ॥ ४३ ॥

भविष्य के लिये अत्यन्त उपकारिका और प्रचुर परिमाण में कर्मफल की जनविनी शान्ति के सङ्ग्रह स्वयं अविनाशी और शत्रुओं का विनाशकारी कोई अन्य साधन नहीं है ॥ ४३ ॥

ननु तित्तिद्याया फालहेपे दुष्योचन सर्वान्राशो वशीकुर्यादित्यत्राह—

प्रणतिप्रवणान्विहाय न सहजस्नेहनिबद्धचेतसः ।

प्रणमन्ति सदा सुयोधन प्रथमे मानभृता न वृष्णयः १ ४४ ॥

प्रगतीति । सहजस्नेहेन कृत्रिमप्रेम्णा निबद्धचेतसोऽस्मासु गाढ ऊप्रचित्ता । सुयोधने तु न तथेति भावः । किं च । मानभृतामहङ्कारिणा प्रथमेऽप्रेतरा । सुयो-
धनस्तु ततोऽपीति भावः । वृष्णयो यादवा प्रणतिप्रवणान्प्रणामपरान् । सुयोधनस्तु
न तथेति भावः । नोऽस्मान्विवाहाय सुयोधन सदा न प्रगमन्ति न नमन्ति नातुसर-
न्ति । किन्तु कार्यं काले त्यक्त्वन्वेवेत्यर्थः । सति यादवविग्रहे न किञ्चिद्भस्माक
भवेदिति भावः । अनेकपदार्थहेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

यदुबंशी लोग अहद्वारियों में सबप्रथम है इनका चित्त हम लोगों के स्वाभाविक प्रम
पात्र में रहना हुआ है हम लोग उनसे सर्वदा विनम्र रहते हैं । अतः वे हम लोगों के सिवा
सुयोधन का अनुसरण सबदा नहीं करते रहेंगे । तात्पर्य यह कि अहद्वार में सुयोधन उनसे
बढकर है । वे लोग जितना हम लोगों में प्रम करते हैं उतना पहले नहीं रहस्यि वे लोग
हमें लोगों की सहायता करेंगे ॥ ४४ ॥

सुहृद्व सहजास्तयेतर मतमेपा न विलङ्घयन्ति ये ।

विनयाधिष यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये ॥ ४५ ॥

सुहृद्व इति । किं चैषां शुष्पीनां ये सहजाः सहजाताः । मातृपितृपत्न्या इत्यर्थः ।
'अन्येष्वपि हरवते इति उपलक्ष्य' । सुहृदो मित्राणि तथेतरे कृत्रिमसुहृदश्च मत शुष्पि
पत्न्य न विलङ्घयन्ति मातिष्ठासन्ति । ते ह्येवमपि मृषाः । दुर्योधनोपजीविनोऽपीति
भावः । आत्मजीवनार्थं धृतराष्ट्रात्मजं दुर्योधनं विनयादानुष्ठय्यादिष यापयन्ति काल
समयान्ति । कायकाले तु शुष्पिपत्न्यैश्चिन धृतेत्यर्थः । यातेष्व-तादृश । अतिही-
हत्यादिना पुत्रागम ॥ ४५ ॥

तथा और जो हम यदुवर्णियों के मित्रवग है और जो इनके मातृ-पितृपत्नीय है वे
भी इनके मन के विरुद्ध ही ना सकते । वे केवल अपने समय को डालने के लिये धृतराष्ट्र
के पुत्र सुयोधन के सामने वि-म्र की तरह रहते हैं ॥ ४६ ॥

द्विष्ट वाप्यर्मानयोगकाल इत्याशयेनाह—

अभियोग इमा महीभुजो भवता तस्य कृत कृतावये ।

प्रविघाटयिता समुत्पतन हरिदश्व कमलाकरानिय ॥ ४६ ॥

अभियोग इति । कृतावधेः परिभाषितकालस्य । अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीमि
काले धिक्तेऽपि च इति विश्वः । तस्य सुयोधनस्य । कर्मणि षष्ठी । भवता कृतः । अव
चित्त प्रागिति शेषः । अभियोगः । आर्त्ताभिभव इति यावत् । 'अभियोगस्तु दापये स्याद्दार्द्र्यं
च परामये इति विश्व । इमां पूर्वोक्ता महीभुजो राज्ञो हरिदश्व उप्परश्मि कमलाकर
रानिय समुत्पतन्मुष्णनेव प्रविघाटयिता भेत्स्यति । घाटयते भौवादिक्कालस्युट औरादि
कर्य तु मिता हस्ता इति हरवत्व स्वात् ॥ ४६ ॥

सुयोधन ने जो प्रबोधन रूप को अपधि निमित्त की है उससे पहले यदि आप विम्र
करेंगे तो यह अभियोग यदुवर्णियों को इस प्रकार द्विष्ट मित्र कर देगा जिस तरह हरे रंग
के बोड़े वाले सूर्य कमलसमूह की पत्रलियों को उद्भिन्न कर देता है ॥ ४६ ॥

अथ न वे शुष्पापचास्ताम्रत्याह—

उपजापसहार्थिलङ्घयन् स विघाता नृपतीन्मवोद्धत ।

सहते न जनोऽप्यध'क्रिया किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥ ४७ ॥

उपजापेति । मदीदृश स दुर्योधनो नृपतीनन्यान्मृषाम्बिलङ्घयन्मदात्त्वमानयन् । सहन्त इति सहा पचाद्यच् । उपशापस्य सहान्मेदयोग्यान् । 'समौ भेदोपजायौ' इत्यमर । विधाता विधास्यति । दधातेर्लुट् । अधमानितो जनसुभेध इति भाव । न च ते सहिष्यव इत्याह—जन प्राकृतोऽप्यथ कियामपमान न सहते । लोकाधिकधाम लोकोत्तरप्रताप राजक राजसमूहः । 'गोत्रोचोद्—'इत्यादिना बुद्ध्याय । किमु । न सहत इति किं वक्ष्यमित्यर्थः । तथा सति कृत्स्नमेव राजमण्डलमस्मानेवावलम्बित्वा भावः ॥ ४७ ॥

मदद्वार से उदण्ड दुर्योधन राजाओं की अधमानना करके भेद योग्य बना देगा । एक साधारण व्यक्ति भा अपना तिरस्कार सहन करने में असमर्थ होता है तो जो लोकोत्तर प्रतापशाली राजन्स्यवा है, उसकी क्या क्या बहना? अर्थात् वह अपमान कदापि नहीं सहन कर सकता ॥

वतु 'सखीनिवेश्याद्विषनेचरोक्त्या तस्य मदसभावनाऽपि कथमित्यत्राह—

असमापितकृत्यसम्पदा हतवेग विनयेन तावता ।

प्रभवन्त्यभिमानशालिना मदमुत्तम्भयितु विभूतयः ॥ ४८ ॥

असमापितेति । असमापितकृत्यसम्पदानकृतकृत्यानामसोऽभिमानशालिनामहङ्कारिणा विभूतयः सम्पदा एव तावता स्वरूपेन विनयेन । कार्यवशादारोपितेनेति शेष । हतवेग प्रतिषद्धवेग म शु स्वरूपतो हत मदमुत्तम्भयितु वर्धयितुं प्रभवन्ति । सर्वेषां दुर्जनसम्पदो विकारयन्तीति भावः ॥ ४८ ॥

कार्य को भङ्गा छोड़ने वाले अहङ्कारियों की सम्पत्तियां कार्यवश कृत्रिम विनम्रता से, न्यूनवेग होने वाले अभिमान की वृद्धि करने में सहकारिणी होती हैं अर्थात् वह स्वार्थ साधन के लिये वस्तुका भंगत बना रहता है और अहङ्कार पर अधिक समय तक आवरण ढालने में असमर्थ रहता है, अन्तर्गतता उत्तका अहङ्कार अपना रूप धारण कर ही लेता है ४८

अथ मवस्थानयद्वैतता युग्मेनाह—

मदमानसमुद्धत नृप न वियुक्ते नियमेन मूढता ।

अतिमूढ उदस्यत नयात्नयहीनादपरज्यते जनः ॥ ४९ ॥

मद्वैति । मदमानाभ्यां दर्पाहङ्काराभ्यां समुद्धत नृप मूढता कार्यापरिज्ञान नियमेनावरय न वियुक्ते न विमुञ्चति । अतिमूढो नयात्नयहीनादपरज्यते इति च्युते । कर्मकर्त्तृरि ऋट् । नयहीनाज्जोऽपरज्यतेऽपरको भवति । 'स्वरितमित्—' इत्यादिनाऽऽत्मनेपदम् ॥ ४९ ॥

अज्ञानता गर्व और अहङ्कार के कारण उदण्ड नरपति का कमी परित्याग नहीं करती । अत्यन्त अज्ञानी पुरुष नीतिष्व से अज्ञ हो जाता है । नीतिष्व से पराबुद्ध होने पर जनता भी उससे अलग हो जाती है ॥ ४९ ॥

अपरागसमीरयोरित क्रमशीर्णाकुलमूलसन्तति ।

मुकरस्तद्वत्सहिष्णुना रिपुरन्मूलयितु महानपि ॥ ५० ॥

अपरागेति । अपरागोऽग्रीति । ह्येव इति यावत् । समीरण इव । तेनेहितश्रोत्रिता । अत एव क्रमेण शीर्णां शीर्णामूलाऽऽकुला चला च मूलसन्तति प्रकृत्यादिस्वजनवर्गः शिफासकृत्वात्तत्र वस्य स सयोक्तः । मूल वशीकृते स्थीये शिपाताराऽन्तिक्रादित्वा इति वैजयन्ती । रिपुरमहावपि तद्वद् इव इव सहिष्णुना समापतोन्मूलयितुमुद्धर्तुं मुकरा सुसाध्यः, मुकरोन्मूलन इत्यथ । अत्र महादेः पूरपूर्वश्चोत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात्कारणमाका तद्वत्सहित्युपमा चेति ह्यथोः संघट्टिः ॥ ५ ॥

जैसे मोरग बाँधी के सञ्चार से कम्पित होने के कारण वृक्ष की जड़ें जनरित हो जाती हैं और वे वृक्ष गन्तावास हो ज' मूलित हो जाते हैं; वही तरह ह्य से विषमिण महान् शत्रु-निन्दके अमात्य वग वसके विरुद्ध हो जाते हैं वह बिना परिभ्रम के ही समाशील पुरुष के द्वारा पदभ्रुव किया जा सकता है ॥ ५ ॥

मन्दन्तर्मेदमात्रय कथं सुसाध्यस्तत्राह—

अगुरप्युपहन्ति विग्रहं प्रभुमन्तप्रकृतिप्रकोपजं ।

अस्त्रिर्लं हि दिनस्ति भूधर वरशास्याऽन्तनिषयजोऽनलं ॥ ५१ ॥

अगुरिति । अगुरवोऽप्यन्तःप्रकृतिप्रकोपजोऽन्तरङ्गमात्पाद्यपरागसमुत्पत्तः । प्रकृतिः पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे । अन्तःकारणगुणेषु जन्ममात्पादिकेष्वपि ॥ इति वैजयन्ती । विग्रहो वैरं प्रभुमुपहन्ति नाशयति । अत्र वृहन्तमाह—तद्वत्साऽऽप्तानां निवर्णं सर्वत्र सज्जोऽनकोऽग्निः । भूधरं विरिमस्त्रिर्लं साकश्येन द्विषस्ति हि दृहतीत्यर्थः । अज्ञोपमानोपमेयसमानवर्माणौ प्रतिबिम्बतया निर्देशेन वृहन्ता कश्चरः ॥ ५१ ॥

अन्तरज अमात्यादिकों के श्लेष से प्रादुर्भूत अल्पमान की विरोध (विग्रह) राधा की नाश कर देता है जैसे वृक्ष की शाखाओं के परस्पर सवर्ण से गणव दावानल समस्त पत्रपदों को अलग कर सकता है ॥ ५१ ॥

तथाऽपि कथं सर्वमानं शत्रुमुपेक्षेतेत्यासङ्ख्यं दुर्विधीतत्वादित्याह—

मतिमान्विनयप्रमाथिनं समुपेक्षेत समुज्जति द्विष ।

सुजय खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदं ॥ ५२ ॥

मतिमानिति । मतिमान्प्राज्ञः । विषय प्रमत्वातीति विनयप्रमाथिनो दुर्विधीतस्य द्विषं समुज्जति इति समुपेक्षेत । उपेक्षायां फलमाह—तादृगविनीतोऽन्तरे कश्चिद्रूपं सुजया सुखेन जेतुं शक्यं कश्चु । द्वि यस्याविविनीतस्यो विपदन्ता विपन्नमर्थादिका । अर्थावर्द्धका इत्यथा ॥ ५२ ॥

दुर्दिमात् को चादिये कि दुर्विनीत शत्रु के अशुभदय को उषेधा कर दे । इन ऐसे शत्रु किसी न किसी दोष से सृज्य होते हैं, वनों कि दुर्विनीत मनुष्यों की सम्पत्तियों का अवसान निपत्ति में होता है ॥ ५२ ॥

कथं दुर्विनीतस्य शत्रो सुजयत्वमिस्पाशङ्क्य भेदजर्जरितत्वादिरयाह—

लघुवृत्तितया भिदा गत बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलाम् ।

अभिभूय हरस्यन्तरः शिथिल कूलमिवापगारयः ॥ ५३ ॥

कन्विति । लघुवृत्तितया स्वस्य दुर्बलरूपतया बहिर्मित्रादिजनपदेष्वन्तरमात्मा-
दिषु च भिदा भेद गतम् । 'विद्विद्वादिभ्योऽङ्' इत्य । नृपस्य मण्डल राष्ट्र-
मनन्तर सखिहितो जिगीशुरापगारयो नदीवेग शिथिलमन्तर्भेदजर्जर कूलमिवा-
भिभूयाक्रम्य हरति ॥ ५३ ॥

जैसे अन्तर्भेद से जर्जरित तट को नदी का प्रवाह नष्ट कर देता है, वैसे ही शत्रु के दुर्बलद्वार से मित्रादि प्रवाहार्ग और अन्तरङ्ग मन्त्रिवर्ग भेद को प्राप्त हो जाते हैं । ऐसी परि-
स्तिथि में समीपवर्ती राष्ट्र तप पर आक्रमण कर विजयी बन जाता है ॥ ५३ ॥

अनुशासतमित्यनाकुलं नयचत्माकुलमर्जुनाभ्रजम् ।

स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः ॥ ५४ ॥

कन्विति । इतीत्यमाकुलमरिणिकारस्मरणात्पुमितमर्जुनाभ्रज भीमसेन नयवत्स
नीतिमार्गमनाकुलमसङ्कीर्णं यथा तथाऽनुशासतमुपदिशन्तम् । 'अचित्पाद्य पट्'
इत्यभ्यस्ताप 'मभाव । स युधिष्ठिर पराशरात्मजो वेदज्यास स्वयमभिवाञ्छितोऽर्थ
इव । साधाम्मनोरथ इवेत्युत्प्रेक्षा । अभीयाय प्राप्त ॥ ५४ ॥

शत्रु से किये गये अपकारों का स्मरण कर विद्योम को प्राप्त अर्जुन के ज्येष्ठ भ्राता
भीमसेन को इस तरह विधेयनापूर्वक नीति मार्ग का उपदेश करते हुये युधिष्ठिर के पास, स्वयं
अभिछवित मनोरथ सिद्धि के सङ्घ पराशरपुत्र श्रीवेदव्यासजी का आगमन हुआ ॥ ५४ ॥

अथ युमेनाह—

मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि राम निरीक्षितैः ।

परित' पटु विभ्रदेनसा दहन धाम विलोकनक्षमम् ॥ ५५ ॥

सहसोपगत सविस्मय तपसा सूतिरसूतिरापदाम् ।

दट्टो जगतीभुजा मुनि स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चय' ॥ ५६ ॥

मधुरैरिति । मधुरै शान्तैर्निरीक्षितैरवलोकनै । वपुसके भावे कः । न विद्यते
सत्य येषां सान्यवसानि प्रतिकूलानि । 'वशामायत्ततायां च' इति विश्वः ।

तिर्यञ्चि शृगपक्ष्यादीनि शम् शान्तिं कामयन्प्रापयन् । 'छमेञ्च' इति मुनागम् ।
 'गत्यथ—'इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । परित पदञ्ज्वलमेतसाम् । दृष्टतेऽनेनेति दहनं
 निवतर्कं तथाऽपि विष्णोकनचन दशानीयम् । वद्ववादिबिष्णुगमिति भावः । धाम
 सेवो विप्रत् ॥ ३२ ॥

सहसेति । पुन सहसोपगतोऽम्बरमादागतस्तपसां सूति प्रभव आपदामसूतिर
 प्रभव । निवतर्क इति भावत् । स मुनिर्वासो वपुष्माश्चेहधारी पुण्यसञ्चयः पुण्यरा
 त्तिरिवैत्युत्प्रेक्षा । जगतीमुजा राज्ञा सविस्मयं दृष्टो दृष्ट ॥ १९ ॥

शोधैव्यासजी सौम्य निरीक्षण से सम्बन्ध पशु-पक्षियों के दृश्य में शान्ति स्थापित
 करती थे । कामका तैत्र 'पुत्र अत्यन्त समुत्पन्नकन तथापि अवलोकन योग्य दुष्कृतों का नाशक
 था । विपक्षिधारक वपुष्मार्थों के उत्पादक अकस्मात् आये हुये वेदव्यास को राजा ने
 साक्षात् धरीरी दृष्टत पुत्र की भाँति देखा ॥ १९-२० ॥

अधोऽधकैरासनतः परार्थाद्बुधन्स धूताकृषावल्कलाम् ।

रराज कीर्त्यापिशाशुजालं शृङ्गात्सुमेरोरिव तिग्मररिम ॥ ३७ ॥

अथेति । अथ दृष्टानामन्तरम् । अधोऽधकैरुत्पराभ्यांश्चेद्वात् । अर्थात् । 'परा-
 वराधमोत्तमपूर्वाच्छ' इति यथाशयः । आसनतः सिंहसनाद्बुधन्नुत्तिष्ठत्त एव धूताभि
 कमिपताम्यक्षानि वक्ककाग्रणि यस्य स तथोक्तः । स नृप कीण विस्तृतमाकषिधाम-
 शुजालं यस्य स तथोक्तः । सुमेरोः शृङ्गाद्बुधन्तिग्मररिमरिव । रराज ॥ १७ ॥

दशमोत्तर श्रेष्ठ और ४ नव आसन से (२५१गताय) उठते हुये मुनिद्वि के लाल रंग
 के धूनक कम्बल हो रहे थे । उन क्षण उन की छोभा कपिष्ठ वर्ण की किरणपुत्र
 को पैकाने वाले सुमेशिखर से उदय होते हुये भगवान् भास्कर की सी प्रतीत
 होती थी ॥ १७ ॥

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हामृषिवटविप्रवरे गुरुपदिष्टाम् ।

तदनुमतमलञ्चकार पद्मात् प्रशाम इव अतमासन नरेन्द्र ॥ ३८ ॥

अवहितेति । स वरे-द्रोऽवहितहृदयोऽग्रमत्तचित्तः सन् । ऋषिवरे मुनिश्रेष्ठे,
 ऋषिवटम्यर्हाम् । अर्हां वै वतिप्रत्ययः । गुरुपदिष्टाम् । शास्त्रीयानित्यर्थः । अर्हां
 पूजाम् । 'गुरोश्च हृत्' इत्यकारप्रत्ययः । विधाय पद्मावगन्तर तदनुमतं तैनालुजात-
 मासनम् । प्रशाम शान्तिं श्रुतं शास्त्रभक्षणमिव । अलञ्चकार । उक्तं च— यत्तमस्तस्य
 अवत्यर्कक्रिया इति । मुन्याश्चयोषविष्टशानित्ययः ॥ ३८ ॥

मुनिद्वि महााराज ने शान्तिवचि होकर शास्त्रीय विधि के अनुसार मुनिश्रेष्ठ व्याप

देव की शक्तियों के बोध पूजा की। पुन जिस तरह शम, शाल को चुशोभित करता है, उसी तरह उन्होंने मुनि की आज्ञा से अपने आसन को चुशोभित किया ॥ ५८ ॥

व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ-
स्तिष्ठन्मुनेरभिमुख स विकीर्णधाम्नः ।
तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमशुजाल
लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्त्तः ॥ ५९ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

व्यक्तेति । व्यक्तोदितै स्फुटोद्गतै स्मितमयूखैर्विभासितावोष्ठौ यस्य स तयोक्तः । विकीर्णधाम्नो विस्तीर्णतेजसो मुनेरभिमुखं तिष्ठन् स नृपः । इदं शीघ्रमशुजालं तन्वन्तं गुरु गोप्यतिम् । 'गुरुर्गोप्यतिपित्रादौ' इत्यमरः । 'अभितः परितः—'हृत्पादिना द्वितीया । अभितोऽभिमुखम् । तिष्ठत इति शेषः । सकलस्य सपूर्णस्य शशाङ्का मूर्त्ति-
र्यस्य तस्येन्दोर्लक्ष्मीमुवाह वहति स्म । अत्रोपमेयस्य राज्ञ उपमानेन्दुधर्मेण लक्ष्म्या साक्षात्सम्बन्धासम्भवात्सदृशी लक्ष्मीमिवेति प्रतिबिम्बकरणात्तेवादसम्भवद्वस्तुस-
म्बन्धात्पदार्थद्वैतनिर्दर्शनात्कारः । तदुक्तम्—'प्रतिबिम्बस्वाकरणं सम्भवता यत्र वस्तुयोगेन । तत्साम्यमसम्भवात्ता निर्दर्शना सा द्विधाऽभिमतः ॥ इति ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमह्विनायसूरिविरचिताया

किरातार्जुनीयमहाकाव्यव्याख्याया चण्टा । ख्याया

द्वितीय सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

मुनि का तेज सर्वत्र फैल रहा था। उनके समीप बैठे हुए चुचिष्टिर, जिनके ऊपर (होठ) मन्द हास के समय दशनपत्तियों से निरपट्ट परिस्फुरणकारी किरणपुञ्जों से उद्भासित हो रहे थे, चतुर्दिक् अपने वभापुत्र को निवेदते हुए वृष्टसक्ति के समीप समागत, सम्पूर्ण राजा सम्बन्ध शशलाञ्छन (चन्द्रमा) की शोभा को प्राप्त हुये ॥ ५९ ॥

इस प्रकार 'प्रकाश' व्याख्या में द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः ।

अथ विभिर्भुनि विधिपञ्चतुर्भिः कलापकमाह । तदुक्त- द्वाग्धां युष्ममिति प्रोक्तं
त्रिभिः दलोर्कविशेषकम् । कलापक चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥ इति ।

तत शरच्चन्द्रकरामिरामैरुत्सर्पिभिः प्राशुमिवाशुजालैः ।

विभ्राणामानीलरुच्य पिराङ्गीजटास्तद्धित्वन्तमिवाभ्युवाहम् ॥ १ ॥

तत इति । तत उपवेशानन्तरं चर्मात्मजो युधिष्ठिरः शरच्चन्द्रकरामिरामैः ।
आङ्गादकैरित्यर्थः । उत्सर्पिभिरूर्ध्वं प्रसारिभिरंशुजालैः प्राशुमुक्षतमिव स्थितमित्यु-
त्प्रेषा । पुनराणीलरुच्यं कृष्णवर्णं पिराङ्गीः पिरङ्कवर्णा । गौरादित्त्वान्दीप । जटा विभ्राणं
शरपन्तमत पूष तद्धित्वन्त विद्युत्पुच्छमशुवाहमिव स्थितमित्युत्प्रेषा ॥ १ ॥

पासने भासनाद्योम होने पर (बैठ जाने पर) शरद् मद्रु के चन्द्रमा को किरणों के
समान मनोहर ऊर्ध्वप्रसरणकारी रंग समूह से चर्मात (पील बाल में बड़े) मादृम पड़ते थे ।
उनके शरीर का रंग हल्का नीला था । उनके किर पर पीके बस को जटा थी । अत वे
विजयी से युक्त मेष के समान दिखलाई पड़ते थे ॥ १ ॥

प्रसादलक्ष्मीं दधत्तं समप्रा चपुःप्रकर्षेण जनातिगेन ।

प्रसह्य चेतसु समासजन्तमसस्तुतानामपि भावमाद्रम् ॥ २ ॥

प्रसादेति । पुनः समप्रां संपूर्णां प्रसादं सौम्यता तस्य लक्ष्मीं संपदं दधत्तम् ।
अत एव अनमतिगणकृतीति जनातिगेन लोकान्तिस्साधिना । अन्येष्वपि द्रव्यते इति
उपलक्ष्यः । चपुःप्रकर्षेणाकारसंपदाऽसस्तुतानामपरिचितानामपि । आस्तोऽयमित्यजा-
नतामपीत्यथा । संस्रवाः स्वल्पविचयाः इत्यमरः । चेतसु चित्तेष्वामावममिप्रार्थ
प्रसह्य कलासमासजन्तम् । कलापन्तमिति यावत् । 'दशासमस्वजां शपि ह्युपधा-
या कोषः । प्रसह्यकारेषु सर्वोऽपि स्थिद्यतीति यावत् ॥ २ ॥

उनमें प्रसन्नता की सम्पूर्ण सामग्रियां पारं जाती थीं । शरीर को स्वरूपा में उपते
बड़े-बड़े थे । जिसके कारण अपरिचित लोगों के हृदय में भी अपने विषय में अज्ञा
और शक्ति का मान स्थापित करा देते थे ॥ २ ॥

अनुद्धताकारतया विविधां तन्वन्तमन्तःकरणास्य वृत्तिम् ।

माधुर्यैर्विसम्भविशेषभाजा कुट्रोपसमापमिवेक्षितेन ॥ ३ ॥

अनुद्धतेति । पुनरनुद्धताकारतया शान्ताकारत्वेन किञ्चना-तःकरणस्य वृत्ति
विविधां पूताम् । शान्तामिति यावत् । विविधौ पूतविजनौ इत्यमरः । तन्वन्तं प्रक-
र्यन्तम् । आङ्कितरेवास्य चिच्छब्दि कथयतीत्यर्थः । पुनर्माधुर्यं निसर्गसौम्यता

विद्यन्मो विद्यास । 'समौ विद्यन्मविद्यासौ' इत्यमरः । तयोर्विशेषमतिशय मज्जती-
ति तयोक्तेनेचितेन दर्शनेनैव कृतोपसभाषा समापण येन तमिवेत्युत्प्रेक्षा । इष्टिविशो
येनैवोपसभाषमाणमिध स्थितमित्यर्थः । काशिकाया तु 'उपसम्भाषणमुपसाम्बन्धनम्'
इति भासनादिसूत्रे ॥ ३ ॥

उनका आकार शान्त था, जिससे उनके अन्त करण की सौम्यता के भाव स्पष्ट मलक
रहे थे । सौम्यता और विद्यास पूर्ण अदलोकन से प्रतीत होता था कि इनसे कमी सम्भाषण
हो चुका है ॥ ३ ॥

धर्मात्मजो धर्मनिबन्धिनीना प्रसूतिभेनःप्रसूदा श्रुतीनाम् ।

हेतु तदभ्यागमने परीप्सुः सुखोपविष्टं मुनिमावभाषे ॥ ४ ॥

धर्मेति । पुनर्धर्मं निबन्धन्तीति धर्मनिबन्धिनीनामग्निहोत्रादिधर्मप्रतिपादिका-
नाम् । एन प्रसूदाभवच्छिदाम् । क्षिप् । श्रुतीना वेदानाम् । 'श्रुति स्त्री वेद आम्ना-
य' इत्यमरः । प्रसूति प्रभष सुखेनोपविष्ट मुनिं तदभ्यागमने तस्य मुनेरागमने हेतु
परीप्सुर्निज्ञासु । आप्नोते सन्नतानुप्रत्ययः । 'आप्ञ्जप्पृथामीत्' इतीकार । 'अत्र
छोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । आवभाषे उवाच ॥ ४ ॥

अग्निहोत्रप्रसूति जो धार्मिक कृत्य है उनके प्रतिपादक और दुष्कृती के विनाशक
शास्त्रों के निर्माणकर्ता (रचयिता) थे । ऐसे मुनि के आगमन का कारण जानने की इच्छा से
धर्मपुत्र (सुविष्टिर) ने मुनि से कहा ॥ ४ ॥

अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सचित्री ।

तुल्या भवदर्शनसपदेवा वृष्टेर्दिवो धीतवलाहकाया ॥ ५ ॥

अनाप्तेति । अनाप्तपुण्योपचयैरकृतपुण्यसम्रहैर्दुरापा दुर्लभा फलस्य सचित्री
श्रेयस्करी निर्धूतरजा हस्तरजोगुणा, अन्यत्र निरस्तधूलि । 'रजो रजोगुणे धूळी परा
मार्त्तवयोरपि' इति शाश्वतः । एषा भवदर्शनसपत्सपत्ति । छात्र इति वाच्यः । सपदा-
दिभ्य क्विपो भाषार्थत्वात् । धीतवलाहकाया यतमेघाया दिव आकाशस्य संबन्धि-
न्या वृष्टेस्तुल्येद्युपमाऽलङ्कारः । अनञ्जवृष्टिधवतर्कितोपनत भवदर्शन सर्वथा कस्य-
चिच्छ्रेयसो निदानमित्यर्थः । चारि वहतीति बलाहकः । वृषोद्गरादित्वात्साधु ॥ ५ ॥

आपकी यह दर्शन-सम्पत्ति, विना पुण्य सहाय किये दुपे पुरुषों के लिये दुष्प्राप्य है,
यह रजोगुण से रचित है, और अमिलापामों को सफल बनाने में समर्थ है । यह मेघ-
निर्मुक्त आकाश की वर्षा के सदृश है । मुञ्ज-जैसे शक्ति के लिये आप का दर्शन अस-
म्भावित था ॥ ५ ॥

अथ क्रिया कामदुघा' कृतूना सत्याशिष सप्रति भूमिदेवाः ।

आ ससृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वज्यागते यद् बहुमानपात्रम् ॥ ६ ॥

अथेति । अथ कर्तृना क्रिया अनुष्ठानानि कामान् हुहन्तीति कामवृथा । फलदा इत्यथ । हुहः कथञ्च इति कथ्यत्ययो भावेशञ्च । संपत्त्यद्य भूमिदेवा प्राज्ञणा । द्विवात्यप्रगमममूरेववाडवा विप्रञ्च प्राज्ञण इत्यमरः । सत्याशिशो आताः । प्राज्ञणाशिशोऽथ फलिता इत्यर्थः । यद्यतः कारणात्कर्म्यागते सति । त्वद्यागमदेव निमित्तेनेत्यर्थः । अस्मीत्यहमर्थेऽप्यथम् । अस्मीत्यस्मदर्थानुवादेऽहमर्थेऽपि इति प्रयोगाच्च । आ संघृतेरा संसारात् । यावत्संसारमित्यथः । अभिविधावाङ्कविकल्पद् समासः । अगस्तु बहुमानपार्थ बहुयोज्यतामाज्जम् । आत । सकलसत्कर्मफलमूर्त त्वद्यागमनं येन मे अगम्यान्यतेति भाव ॥ ६ ॥

आज आप के शुभागमन से मेरे किये हुये बहानुष्ठान सम्पूर्ण कामनाओं के पूरे हुए । इस समय प्राणियों का भागीर्षा सत्य हो गया । अब से सृष्टि की रचना हुई है, वन से मैं ही आज इस संसार में सबसे अधिक सम्मान का पात्र हुआ ॥ ६ ॥

अथ विकर्षत्यपहन्त्यथानि श्रेय परिस्नौति तनोति कीर्त्तिम् ।

सदर्शनं लोकगुरोरमोर्ध सत्त्वात्मयोनेरिव किं न धत्ते ॥ ७ ॥

अथमिति । आत्मयोनेर्ब्रह्मण इव लोकगुरोस्तत्त्वामोर्धमविकलं संदर्शनं अथ विकर्षत्याकर्षति । अथानि हुहन्त्यान्यपहन्ति । 'अहोहुःशब्दसनेष्वथम्' इत्यमरः । श्रेयं पुरुषार्थं परिस्नौति स्रवति । कीर्त्तिं च तनोति किं बहुना किं न धत्ते किं न करोति । सर्वं करोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

अगस्तु च आज का दर्शन स्वयम्पू (ब्रह्मा के समान विकल ही हो सकता दर भी की वृद्धि करता है पापों को निमूक करता है कथ्याय की बर्षा करता है और कीर्त्ति का विस्तार करता है ॥ ७ ॥

श्च्योत्तन्मयूखेऽपि हिमद्युतौ मे ननिर्वृत निवृत्तिमेति चक्षुः ।

समुक्त्तिसंज्ञातिवियोगखेदं त्वत्सन्निधायुच्छ्वसितीव चेत ॥ ८ ॥

श्च्योत्तदिति । हे भगवन् ! श्च्योत्तन्मयूखे सुधाघ्राविकरे हिमद्युताचिन्हावपि विषये ननिवृत्तम् । नन्वथस्य प्रशान्तस्य सुप्सुपेति समासः । मे चक्षुस्त्वत्सन्निधौ निर्वृत्तिं सुखमेति । तथा चेतस्य समुक्त्तिसंज्ञातिवियोगखेदं त्वत्कव-पुबिरहृद्-सं समुच्छ्वसि तीवाद्युपरोधेन प्रागितीयेत्युपश्रुत्वा । पूर्वार्द्धे तु निर्वृत्तिकारणे सत्यधी-दावनिर्वृत्तिकथना द्विदोषोक्तिः । तदुत्तरं—'तस्मान्ममवामनिर्वृत्तिर्विदोषोक्तिर्निगद्यते' इति ॥ ८ ॥

अदृग्मयो किरणों के परिस्रवणकारी और छीतक ज्योतिःसम्पन्न अद्रमा के दर्शन से मेरे नेत्र (सुप्त) नहीं होते थे वे (आज) आप के दर्शन से दृप्त हो गये । इस समय वाम्पदोंके विद्योगमनिवृत्त दुःख का परित्याग कर शिरा हरय पुनः जीविन हो उठा है ॥ ८ ॥

निरास्पद प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीन किमु निःस्पृहाणाम् ।
तथापि कल्याणकरीं गिर ते मा श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति ॥ ६ ॥

निरास्पदमिति । प्रश्नकुतूहलित्व निरास्पदम् । त्वदागमनप्रयोजनप्ररनो विरा
स्पद इत्यर्थः । 'आस्पदं प्रतिष्ठापाम्' इति निपातः । प्रश्नानवकाशे हेतुमाह—
निःस्पृहाणाम् । युष्माद्भ्रामित्यर्थः । अस्मास्वधीनमायत्त किमु । न किञ्चिदस्मत्तो ल
भ्यमित्यर्थः । आधारत्वविचक्षाया सप्तमी । तथाऽपि कल्याणकरीम् । अस्मद्विर्तेकहे-
तुमित्यर्थः । निःस्पृहपृत्ते पाराध्यादिति भावः । 'कुत्रो हेतुः' इति उपत्यये ङीप् ।
अतस्ते गिरं श्रोतुमिच्छा माम् । मुखवायस्यास्तोति मुखरो निरन्तरभाषी । 'रप्र
करणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसखानम्' इति रः । 'दुर्मुखे मुखरायद्वमुखौ' इत्यमरः ।
तत्तश्चिन्प्रत्ययः । मुखरीकरोति । व्याहारयतीत्यर्थः । निःस्पृहस्यापि ते वाक्यमस्म-
द्वितकरत्वाच्छ्रोतव्यमिति भावः ॥ ६ ॥

आप के आगमन के प्रयोजन की वार्ता सर्षया निर्मूल है, क्योंकि जिनमें किसी तरह की
इच्छा नहीं है उनका हम लोगों के साथ प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? यह होते हुये भी
आप के आगमनप्रयोजन की वार्ता जानने के लिए मेरी इच्छा मुझे प्रेरित करती है ॥ ९ ॥

इत्युक्तवानुक्तिविरोधरम्य मनः समाधाय जयोपपत्तौ ।

उदारचेता गिरमित्युदारा द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्र ॥ १० ॥

इतीति । इतीत्यनुक्तिविरोधरम्यमुक्तिवैचित्र्यवारु यथा तथोक्तवान् । उदारचेता
महामना नरेन्द्रो द्वैपायनेन व्यासेन । द्वैपमयन स्थान जन्मभूमिर्यस्य स द्वैपायनः ।
स एव द्वैपायनस्तेन । 'प्रज्ञादिस्यञ्च' इति स्वार्थेऽणप्रत्ययः । नापत्यार्थः । 'नडाद्विभ्य
फक्' । तेष्वेव पाठाद्वाचितार्थत्वाच्च । जयोपपत्तौ मनः समाधाय । जयसिद्धिमपेक्षे-
त्यर्थः । इति वक्ष्यमाणप्रकारामुदाराभर्यवर्ती गिरमभिदधे उक्तः । दुहादित्वादप्र-
धाने कर्मणि लिट् । 'प्रधानकर्मण्यार्षवेये लादीनाहुर्हिकर्मणाम् । अपधाने दुहादीनां
भ्यन्ते कर्तुंश्च कर्मणः' ॥ इति वचनात् ॥ १० ॥

उदार अभिप्राय वाले बुधिशिर ने पूर्वोक्त प्रकार की उक्ति के वैचित्र्य से सुन्दर वचन
कहे । फिर उन के मित्रधर काय का ध्यान रखते हुये व्यासजी ने उदार वचनों में
मशाराज से कहा ॥ १० ॥

आदौ तावत्तस्य माध्यस्थ्यमद्भ्यदोष युग्मेन परिहरति—

चिचीपता जन्मवतामलार्द्धी यशोऽवतसामुमयत्र भूतिम् ।

अभ्यर्हिता बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम् ॥ ११ ॥

चिचीपतामिति । अलार्द्धीं युर्वीम् । 'बेतो गुणवचनात्' इति ङीप् । यशो-

अवतस्तां कीर्तिमूषणाम् । उभयत्रेह चामुत्र च मूर्ति श्रेयश्चिषीषतां चेत् सङ्ग्रही
 सुमिच्छताम् चिनोतेः सन्नन्ताच्छ्रप्रत्ययः । अम्मवतां शरीरिणां बन्धुषु विषये
 सुख्यकपेकविद्या वृत्तिव्यवहारोऽम्बर्हितोचिता । तपोधनानां त्वस्मत्सदृशां विशेषेण
 नियमेनाभ्यर्हिता ॥ ११ ॥

इत लोक तथा परलोक में कीर्ति और शोभा से युक्त महान् ऐश्वर्य्य की कामना करने
 वाले शरीरधारियों के लिये कुटुम्बियों के समस्त समान व्यवहार करना उचित है तथा तप
 स्विषो के लिये तो विशेष प्रकार से समान व्यवहार करना उचित है ॥ ११ ॥

तथापि निर्धनं नृप । तावकीनै प्रह्वीकृत मे हृदय गुण्यौषै ।

वीतस्पृहायामपि मुक्तिभाजा भवन्ति भक्त्येषु हि पक्षपाता ॥ १२ ॥

तथापीति । तथापि सुखसुख्यौचित्येऽपि । हे नृप ! तावकीनैस्त्वदीयै ।
 पुष्पाद्दस्मदोरन्वतरस्यां कञ्च इति सम्प्रत्ययः । तावकममकावेकवचने इति तत्र
 कादेशः । गुण्यौषैः प्रह्वीकृतमावजित मे हृदयं निर्धनं त्वदायत्तम् । अधीनो निद्र
 भायत्त इत्यमरः । मनु निःस्पृहस्य कोऽप्य पक्षपात इत्यत्राह—वीतेति । वीतस्पृ
 हाणां विरक्तानां मुक्तिभाजाः । सुसुख्यामपीत्यर्थः । भवन्तीति भव्या साधवः ।
 भव्येभ्य— इत्यादिना कर्त्तरि निपाता । तेषु पक्षपाता स्नेहा भवन्ति । मनु
 साध्वनुग्रहे महतां माध्यस्थ्यमञ्जक इति भावः ॥ १२ ॥

वयपि हमें दोनों को समान वृत्ति में देना चाहिये तो भी है राजन् ! आप के गुण
 राशि से आकृष्ट होकर मेरा हृदय आप के लक्ष में हो गया है ; कामनारहित मुक्ति के चाहने
 वाले महात्माओं का भी सन्तानों के प्रीति पक्षपात हो ही जाता है ॥ १२ ॥

अथ नृपस्य गुणवत्तां प्रकटयितुं धृतराष्ट्रस्य दुःखेष्टमुदाहरति—

सुता न नृप किमु तस्य राज्ञ सुयोधन वा न गुणैरतीता ।

यस्त्यक्तथा व स वृथा बलाद्वा मोह विधत्ते विषयामिलाप ॥ १३ ॥

सुता इति । पूय तस्य राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सुताः पुत्रा न किमु । अपि तु सुता
 सुवेत्ययः । गुणैः शान्तिदानदाक्षिण्यादिभिः । सुयोधन मातीता मातिक्लान्ता वा ।
 अतीता सुवेत्ययः । कर्त्तरि क्तः । अस्तुतत्वमगुणत्व च त्वाग्रे हेतुः । पुष्पासु तत्रा
 स्तीत्ययः । उपात्तमे कारणमाह—व इति । यां धृतराष्ट्रेषो पुष्पान् वृथा
 निष्कारणमेव त्यक्तवान् । यदि अथ सुता गुणाधिक्या तर्हि कममत्याक्षीतत्राह—
 बलादिति । स विषयामिलापो मोगवृण्णा बलाद्वा बलादिव । 'वा स्वाहिकवपो
 पमयोरेषार्येऽपि समुद्यये इति विश्व । मोहमविवेकं विषयः । विषयामिलापा
 तिरिच्छे न कश्चिपुष्पत्पागहेतुरस्तीत्यय । अत्र कायकारणसमर्थनरूपोऽर्था
 न्तरभ्यासः ॥ १३ ॥

क्या आप लोग उस धृतराष्ट्र के पुत्रों में से नहीं हैं ? क्या आप लोगों ने गुणों से दुर्योधन को नहीं जीता है क्या ? जिसने आप लोगों को स्वर्ग निर्वासित किया है, वे विवशेष्यक धृतराष्ट्र दृष्टम् क अधिविकी बने हुये हैं ॥ २३ ॥

अथ राज उवाहवर्द्धनाय सत्रोर्हानि सूचयति—

जहातु नैन कथमर्थसिद्धिः सशप्य कर्णादिषु तिष्ठते च ।।

असाधुयोगा हि जयान्तराया प्रमाथिनीना विपदा पदानि ॥ १४ ॥

जहाति । पुन धृतरा मर्थसिद्धि कथ न जहातु । जहात्वेवेत्यर्थ । 'प्रैषा तिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इति प्राप्तकाले छोट । तस्य हानिकाल प्राप्त इत्यर्थ । कृत । यो धृतराष्ट्र सशप्य सदिश कर्णादिषु तिष्ठते । कर्णादीन्दुर्मन्त्रिण सन्दि-
भ्याथे निर्णेतृत्वेनावलम्बत इत्यर्थ । 'प्रकाशनस्थेयाक्ययोश्च' इति स्थेयाक्यापा-
माभनेपदम् । तिष्ठतेऽस्मिन्निति स्थेयो विवादपदनिर्णय । तथा हि । असाधु-
योगा दुर्जनससर्गा जयान्तराया अवविघालका । किञ्च प्रमाथिनीनामुन्मूलनशी-
लाना विपदा पदानि स्थानानि । 'पद व्यवसितप्राणस्थानलषमाङ्गिबिस्तुषु'
इत्यमर । न केवल जयवतिन किञ्चनर्थकारिणोत्थेयर्थ । एतद्राष्ट्रोऽपि दुर्जनवि-
धेयत्वाद्भिन्नदृश्यतीति भाव । ॥ १४ ॥

अर्थ सिद्धि (प्रयोजन सिद्धि) इस धृतराष्ट्र ने, जो सन्दिह-प्राप्त विषयों का निर्णय करने के लिये कर्ण मन्त्रि दुर्मेन्द्रियों का भाग्य लेता है, क्यों नहीं बलग हो जाती ? क्योंकि दुष्टों का संपर्क विषय में बाधक होता है और सर्वनाशक विपत्तियों का स्थान होता है ॥ २४ ॥

एव शशोरनर्थ सूचयित्वा राज्ञोऽर्थसिद्धि सूचयति—

पथश्च्युताया समितौ रिपूणा धर्म्या दधानेन धुर चिराय ।

त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरस्यमाविष्कृत प्रेम पर गुणेषु ॥ १५ ॥

पथ इति । रिपूणा समितौ समायात् । 'समासमिति ससद्' इत्यमर । पथश्च्युताया मार्गाद् अष्टायाम् । दुरात्मनो दुःशासनस्य सोम्रहणसाहस्रमहरीकृत्-
वत्त्वामित्यर्थ । चिराय धर्म्या धर्मादनपेताम् । 'धर्मपथ्यधर्म्यामादनपेते' इति यत्प-
त्त्य । धुर मार् दधानेन । कृच्छ्रेण्वपि धर्मावचलतेत्यर्थ । त्वया विपत्स्वपि,
अविपत्त्वविभाश्यत एव रम्य गुणेषु शान्त्वादिषु विषये परमुक्कृतम् प्रेमाविष्कृतम्
प्रकटीकृतम् । दुःसहमपि सोढवता त्वया साधु कृतमिति भाव ॥ १५ ॥

यव आप के शत्रुओं की समा पथभ्रष्ट हो चुकी (जिसके फलस्वरूप दुःशासन ने द्रौपदी के पत्न्यापहरण की चेष्टा की) थी, उस समय भी आप लोग बहुत काबलक धर्मपूर्वक

कायकार बदन करते रहे। आप ने विपत्ति के समय भी गुणों के प्रति श्वाची एक प्रशस्तीय
मम मरहून किया है ॥ १५ ॥

विधाय विष्वसमनात्मनीनं रामैकवृत्तेर्भवतस्त्रतेन ।

प्रकाशितत्वन्मविशीलसात् कृतोपकारा इव विद्धियस्ते ॥ १६ ॥

विधायेति । किं च शम एषैश्च मुख्या वृत्तिर्यस्य तस्वापरोपवादिनो भवतरङ्ग
जेन कपटेन । आत्मने हितं जारमनीनः । स च भवतीत्यनात्मनीनः । इदस्यवान
यैहोतिर्यथाः । तन् । 'आत्मस्थिरश्चक्रममोयोत्तरपदात्स इति सप्रत्यय । विष्व
समपकार विधाय कृत्वा । प्रकाशित' प्रख्यापितस्त्व'मविशीलयोस्तव प्रयासद्
वृत्तयो सात् । प्रकर्षो भैस्ते सयोकाः । ते तव विद्धिय कृतोपकारा इवोपकृतवन्त
इव । अपकारोऽप्युपकाराश्चैव संवृत्ताः । येषां शीर्षम् शुभ्रमासीदम्य च अगति
शुभ्रकमासीदित्यर्थः । विद्यमानस्यापि सुखमस्य चन्दनदाहण इव गुण्या परिभव
एव प्रशुचीभवन्तीति भावः ॥ १६ ॥

आप के शत्रुओं ने शान्ति के उपायक आपका अपकार जो उनके स्वयं मनन का
कारण है वरुं आपकी प्रति और शील का प्रथम दिखाने हुए भावो आपका उतकर ही
किया है क्योंकि इन लोगों के किये हुए दुर्भ्यंदाह से उनके और आप के गुणों का वधा
परिणय मिल गया है ॥ १६ ॥

अथ प्रयोक्षनान्तरमाह—

लम्बा धरित्री तव विक्रमेण ज्यायाञ्च वीर्थाञ्चभैर्विपक्षु ।

अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेय प्रकर्षतन्त्रा हि रथे जयसो ॥ १७ ॥

उच्येति । तव । त्वयोत्तर्यः । 'कृतवानां कर्त्तृत्वा इति षष्ठी । धरित्री विक्र-
मेण कम्बा प्राप्तुम्बा । च च सुखम्या सं विनेत्याह—विपक्षञ्च शत्रुरपि । क्षीय क्षीय
मन्नाप्याग्नेयादीनि यजानि सैम्यानि तैर्भ्यान्वकस्वतर । अधिकतर इति
यावत् । ज्येष्ठस्य ग्याहादीयञ्च इति ग्यादेश । अतः प्रकर्षायाधिपत्याव विधि-
प्रायो विधेय कर्त्तव्यः । कुतः । हि यस्माद्गणे जयर्षीः प्रकर्षतन्त्रा प्रकर्षवधाया ।
प्रकर्षायस्त्यथाः । 'सन्ध प्रधाने सिद्धान्ते इत्यमरः । यस्मिन् एव सन्धे, न तु सुषुप्त-
स्येति भावः ॥ १७ ॥

परमन का आग्रह केकर ही बाद को दृष्टी पर अधिकार प्राप्त करना होगा ; आप का
अनु वन और एक में आपसे बड़ा थका है ; अतः शत्रु से करने के किये उपाय करना
होगा क्योंकि सुखसत्र में विषयकक्षी प्रकर्षादीन रची है ॥ १७ ॥

अथ त्रि—'इत्यादिना श्लोकचतुष्टयेन विषयव्यायस्य वर्णयति—

त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीना हन्ता गुरुर्षस्य स जामदग्न्य ।

वीर्यावधूत, स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशा गुणानाम् ॥ १८ ॥

त्रिःसप्तति । त्रिरावृत्तान्तप्रवाराणि सप्तऋतव । एकविंशतिकृत्व इत्यर्थ । त्रि-सप्तशब्दयो 'सुष्पुप'ति समास । 'सख्याया क्रियाऽभ्यासृत्तिगणने कृत्वसुच्' इति कृत्वमुच्प्रत्यय । जगतीपतीना महीपतीना हन्ता नाशको गुरुराश्वेदोपदेष्टा । स प्रसिद्ध इत्यर्थ । अत एव यच्छुद्धानपेक्षत्वम् । तदुक्त काण्डप्रकाशे—'प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादान नापेक्षते' इति । जमदग्नेरपत्य पुमान् नामदग्न्य । 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ्प्रत्यय । यस्य भीष्मस्य वीर्यावधूतो विक्रमाभिभूत । अश्विकास्वयवर इत्यर्थ । तदा भद्रप्रतिसमये गुणानां शौर्यादीनां प्रकर्षमतिशयमाधारवशमाश्रयाधीन विवेद जज्ञे । स्म । स्वनिष्ठाया स्वशिष्ये भीष्मे स्वस्मादपि प्रकर्षाधानदर्शनादिति भावः । 'स्म पाठपुरणे भूतेऽर्थे च' इति विश्व ॥

पाराशराम जमदग्नि कवि के पुत्र थे, उन्होंने इकीस बार राजाओं का वध कर डाला था तथा शकविया के वे आचार्य्य थे । वे भी अपने शिष्य भीष्म से पराजित हो गये (घार गये) ठबठ'होंने समझा कि जैसा पात्र होना वैसा ही गुणों का प्रकर्ष होगा ॥ १८ ॥

यस्मिन्ननैरर्षयैकृतव्यलीक पराभव प्राप्त इवान्तकोऽपि ।

धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवण स भीष्म ॥ १९ ॥

यस्मिन्निति । यस्मिन्भीष्मे विषये । अनौश्वरस्य भावोऽनैश्वर्यमसामर्थ्यम् । 'नन शुचीस्वरचेन्नक्षत्रकुशलनिपुणाहाम्' इति विकल्पान्नत्र । पूर्वपदपृथक्भावः । तेन कृतव्यलीको जनितवैलष्य । 'दु खे वैलचये व्यलीकम्' इति यादव । अन्त-कोऽपि यमोऽपि पराभव प्राप्त इव । भीष्मस्येच्छामरणत्वादन्तकोऽपि पराजित इवास्ते, किमुतान्य इति भाव । स भीष्मो रणे धनुर्धुन्वन्कम्पयन्कस्य मनो भयैक-प्रवण भय एकप्रवणमेकोन्मुखम् । शिवमागावतवत्समासः । न कुर्यात् । सर्वस्यापि मनसि भय कुर्यादेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

जिन भीष्मपितामह के विषय में यमराज भी अस्मार्थ से डूबी होकर पराजित सा हो गया, वही भीष्म युद्धस्थल में धनुष्प्रकम्पन करते हुये किस के मन में भय उत्पन्न नहीं करेगा अर्थात् सभी लोग भय से व्याप्त हो जायेंगे अर्थात् भीष्म ऐसे वीर सुयोधन के सहायक थे, रतलिये वह आपसे बल में बढकर है ॥ १९ ॥

सृजन्तमाजात्रिपुसहृतीर्वः सहेत कोपज्वलित गुरु क' ।

परिस्फुरल्लोकशिखाऽप्रजिह्व जगन्निघत्सन्तमिवान्तवह्निम् ॥ २० ॥

सृजन्तमिति । आजौ रण ह्युसंहतीर्बाणसद्वान् सृजन्तं वर्धतं कोपञ्जलितमत
 पृथ परिस्फुरन्त्यो लोलाश्च शिक्षाप्रणयेव जिह्वा यस्य स तथोक्तम् । जगत्सोक्तं त्रिष
 सन्तमत्तमिच्छन्तम् । अदेः सञ्जन्ताच्छ्रुदप्रत्ययः । 'सुहसगोर्धस्त्' इति वृत्ता-
 वैशः । अन्तवद्धि काळाग्निमिव स्थितं गुहं द्रोण धो युष्मार्कं मध्ये का सहेत सोई
 शशनुवात् । न कोऽपीत्यर्थः । 'शक्ति लिङ् च' इति शान्त्यार्थं लिङ् ॥ २ ॥

जिस तरह प्रलयवाग्नि अपने प्रचण्ड ज्वालना से ससार को बलाने के लिये घटा हुआ
 है इस समय उसके ज्वाला में सब लोग आहुति बन जाते हैं ठीक उसी तरह द्रोणाचार्य
 काशर के मैदान में बाणों की वर्षा करते हुये क्रोध में आकर सम्पुत्र उपस्थित हो जायेंगे
 उस समय आपसों में से कौन कौन व्यक्ति उनकी सामना कर सकता है ? ॥ २ ॥

निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमावधितजामवग्न्यम् ।

असस्तुतेषु प्रसभ भयेषु जायेत सृत्योरपि पक्षपात ॥ २१ ॥

निरीक्ष्येति । संरम्भेण कोपेन निरस्त स्याजित धैर्यं निर्विकारचिन्तारत्नं येन स
 सयोक्यम् । जातोपेवैव परधैर्यापहारिणमित्यथा । आरावितजामवग्न्यं द्रुमवित
 भार्गवम् । जामवग्न्याद्विद्यगतास्तरुहस्यमित्यर्थः । राधेयं राधासुत कर्णम् । 'क्षीम्यो
 ङ्क्' । निरीक्ष्य सृत्योरप्यसस्तुतेष्वपरिचितेषु । संस्तवः स्यात्परिषया इत्यमरः ।
 भयेषु प्रसभं पक्षपातः परिषयो भवेत् । सृत्योरन्वयमादिर्भीयात्किमुवाच्य इति
 भावः । संभावनायां लिङ् । अत्र अजिक्रियाऽपेक्षया समानकसुकत्वाभावेऽपि पक्ष
 पातक्रियाऽपेक्षया तत्सम्भवाच्चिरीक्ष्येति व्यङ्गिर्वैशः समर्थनीया । प्रधानोपसर्जन-
 आवस्थप्रयोजकः इति व्यङ्गिचिद्वेककारः । अत्र भयसम्भारहितस्य सृत्योभयस
 सम्भवाभिधानादसम्भवे सम्भवाक्याऽतिशयोक्तिरुच्यते ॥ २१ ॥

जिस अधिरथ पुत्र कर्ण के कोपमान से धैर्य का भी पैसा छूट जाता है । शिर्होने
 जमदग्निकुमार परशुराम को अच्छी तरह सुभूषा को है प्रणत बनकी सेवा करके
 सरहम्य शकों को पाया है, ऐसे कर्ण को देखकर सुख को देता था या हचोचता है
 जिसका स्वरूप उनको स्वप्न में भी दिखाकारें न पता होगा ॥ २१ ॥

अयामन्तरं करणीयमात्मवप्रयोजनं च युष्मेनाह—

यथा समासादितसाधनेन सुदुश्चरमाचरता तपस्याम् ।

पते दुरारपं समवाप्य धीर्यमुन्मूलितार कपिकेतनेन ॥ २२ ॥

यथेति । यथा विधया करणेन सुदुश्चरामविदुष्कां तपस्यां तपस्वर्याम् ।
 कर्मणो रोमन्धतपोर्भां वचिचरो' इति वदक । अ प्रत्ययात्' इति स्त्रियामप्रत्ययः ।
 आचरता । पश्यति प्रति तपा कुर्वतेत्यर्थः । अत एव समासादित प्राप्तं साधनं पाशुप-

तास्वरूपं येन तेन । अपिर्हनुमान्केतन चिह्न यस्य तेन । अर्जुनेनेत्यर्थं । दुरापमन्यस्य दुर्लभं वीर्यं तेन समवाप्य । एते पूर्वोक्ता भीष्मादय उन्मूलितार उन्मूलयिष्यन्ते । उन्मूलयतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुट् । अत्र चिष्वदिटागमेऽपि तस्य 'असिद्धवद्भावात्' अर्यसिद्धत्वाद् 'गेरनिटि' इति णिलोप । तन्निमित्तस्यैव 'अनिटि' इति निषेधात् । उक्तं च—'चिष्वद् वृद्धिर्युक्च हन्तेश्च धरव, दोषंशोक्तो यो मितं वा चिणीति । इत् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णिनित्यस्याय वदिनमित्तो विधाती ॥' इति ॥ २३ ॥

जिस मन्त्रविधा के अनुसार अर्जुन उग्र तपश्चर्चा करके पाशुपतास्त्र रूप साधन प्राप्त करेगे और जिसके कारण दुष्प्राप्य पराक्रम प्राप्त करके वह इन भीष्म द्रोण और कर्ण प्रभृति वीरों का नाश करने में समर्थ होगा ॥ २२ ॥

महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं ता नृप ! देवतानाम् ।

दातु प्रदानोचित ! भूरिधान्नीमुपागत. सिद्धिभिवास्मि विद्याम् ॥ २३ ॥

महत्त्वेति । हे नृप ! महत्त्वयोगाय प्रकर्षलाभाय महामहिम्ना महानुभावानां देवतानामिन्द्रादीनाम् । आराध्यतेऽनयेत्याराधनी ताम् । प्रसादपिप्रीमित्यर्थं । करणे क्युट् । लीप् । भूरिधान्नीं महाप्रभावाम् । 'घाम वैशे गृहे शर्मौ स्थाने जन्मप्रभावयो' इति विश्व । 'अन उपघालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति वा लीप् । तां विद्यामिन्द्रमन्त्ररूपा सिद्धिं साक्षात्कार्यसिद्धिर्भवेति विद्याया अमोक्षवोक्तिः । हे प्रदानोचित ! दानपात्रमूत । फलमोक्षत्वात्स्य पात्रवोक्तिः । दातुमुपागतोऽस्मि ॥ २३ ॥

ये प्रदानपात्र । वह मन्त्रविद्या—जिसके द्वारा महामहिमशाली शूद्रारिक देवताओं का आराधन किया जाता है, जिसका पराक्रम अतुल्य है और जो साक्षात् अग्निमा, मदिमा तदिमा इत्यादि सिद्ध स्वरूपा है, उसी मन्त्रविद्या का प्रदान करने के लिये आप के यहाँ उपस्थित हुआ हूँ । वैसे आप लोगों के प्रकप (बल और पराक्रम) की अभिवृद्धि होगी ॥

इत्युक्तवन्तं ब्रज साधयेति प्रमाणाथन्वाक्यमजातशत्रो ।

प्रसेदिवास तमुपाससाद् वसन्निवान्ते विनयेन जिघ्क्षुः ॥ २४ ॥

इतीति । इत्युक्तवन्तं प्रसेदिवास प्रसधम् । 'सद्वसन्नश्च' इति कसु । तं भुक्ति जिघ्क्षुर्जायनशीलोऽर्जुन । 'श्लानित्यश्च—' इति स्तुप्रत्यय । ब्रज साध साधुतिष्ठेत्येवरूपम् । अलातशत्रोर्धर्मराजस्य । स्वयमविहेक्षणशीलत्वादित्य सशा । वाक्य प्रमाणयन् । तदादिष्ट सन्नित्यर्थं । अन्ते वसन्त्यात्र इव 'छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये' इत्यमर । विनयेनानीदित्येनोपाससाद् समीप प्राप ॥ २४ ॥

अर्जुन, विद्याओं की तरफ (ज्येष्ठ भाग) शुभिक्षिर् की 'जाओ, तपस्या करो' इस आज्ञा का स्वीकार कर विनम्र भाव से, विद्या का महत्त्व समझते हुए तथा प्रसन्नमुख देख्यास के समक्ष उपस्थित हुये ॥ २४ ॥

निर्याय विद्याऽथ दिनादिरम्याद्विम्बाविवाकस्य मुखामहर्षेः ।
 पार्यागनं वह्निकणावदाता दीप्ति स्फुरत्यग्रमिवाभिपेदे ॥ २५ ॥

निर्यायेति । अथ वह्निकणावदाता स्फुटिद्वचनुज्ज्वला । देवतासाक्षिभवादिति भावः । विद्येभ्रमररूपा । दिनादिरम्यादकस्य प्रभासमास्करस्य दिम्बादिषु महर्षे-
 र्भ्यासस्य मुखाग्निर्वाय निर्गम्य । 'समासेऽनभ्यूर्ध्वे कश्चो वचप् । दीप्तिरकदीप्तिः' ।
 स्फुरतिह्रिकसाग्रमिवा । पार्यागनमनुजस्य मुखमामपेद प्रविष्टा ॥ २५ ॥

वैसे दिन के प्रथम भाग के भगवान् आस्कर के दिम्ब से निकल कर दीप्ति विकसित
 कमलों का आशय ग्रहण करती है वैसे ही अग्नि की विनयारिषो केतमान अत्यन्त प्रकाश
 मान विद्या ने महर्षि भ्यास के मुख से निकल कर अनुज के मुख का आशय प्राप्त किया ॥२५॥

योगं च त योग्यतमाय तस्मै तपःप्रभावाद्धिततर सद्यः ।

येनास्य तप्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेष चिराय चक्षुः ॥ २६ ॥

योगेति । योग्यतमायाहृतमाय तस्मै पार्याय तं वक्ष्यमाणमहिमानं योग भ्या
 मविधि च । योगः संनह्नोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु इत्यमरः । तपःप्रभावात् सद्यो
 विततार ददौ । चिरकाकप्राज्ञमपीति भावः । येन योगेन तप्वेषु प्रकृतमहर्षादिषु ।
 तथा च—भूकप्रकृतिमहानदह्कारो मनश्च पञ्च तन्मात्राणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च
 कर्मेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीति चतुर्विंशति तत्त्वानि । तत्रावभासे साधारकारे कृते
 साध्यस्यार्हूनरस्य चक्षुरादि चिराय समुन्मिमीलेषोऽग्निमित्तमित्येत्युत्प्रेषा । तदा तस्य
 कोऽपि महानखिलाज्ञावमजनस्तत्त्वावभासश्चिरादन्वस्य इष्टिकाम इवाभवदिति
 भावः ॥ २६ ॥

भ्यासजी ने अपने तपोव्रत से अद्वित पात्र अर्जुन को ज्ञान ही योगविधि को बतला
 दिया जिससे चौबीसो तत्त्वों के ज्ञान में इनकी अर्द्ध बहुत समय के बाद सुखी हुई की
 भोति हो गई ॥ २६ ॥

आकारमारसितभूरिक्षाम दधानेन तत्करणानुरूपम् ।

नियोजयिष्यन्विजयोदये तं तपःसमाधौ मुनिरित्युवाच ॥ २७ ॥

आकारमिति । आसंसित आक्याप्तो भूरिक्षामोऽनेकमयःप्राप्तिर्वेन तं तपोऽस्य ।
 महाभ्याससूक्ष्ममित्यथ । अन्तःकरणशब्देन तद्बुद्धिस्वप्नाहो लक्ष्यते । तदनुकूलं
 तदनुकूलम् । उत्साहानुगुणभ्यापारचममित्यथ । आकारं भूतिं दधान समर्पणं मुनि-
 विजयोदये विजयकालके तपःसमाधौ तपोनियमे । 'समाधिनिधये भ्याने मीवाके च
 समयने' इति शिवाः । नियोजयिष्यन् विजयवित्तुनिष्कलित्यथः । तद् शेषे च इति
 शब्दः । 'शब्दः सद्वा' इति साध्यत्ययः । इति वक्ष्यमाणमुवाच ॥ २७ ॥

अर्जुन के अन्त कारणमें उत्साह मलक रहा था । उनकी भाकति महान् काम की सूचना दे रही थी । उन्हें विजयलाम दिखाने वाले तपोनिघम में लगाते हुये व्यासजी ने कहा—

अनेन योगेन विबृद्धतेजा निजा परस्मै पदवीमयच्छन् ।

समाचराचारमुपात्तराक्षो जपोपवासाभिषवैर्मुनीनाम् ॥ २८ ॥

अपेनेति । अनेन स्वोपदिष्टेन योगेन विबृद्धतेजा निजा पदवी परस्मा अयच्छन् । परस्य प्रवेशमयच्छन् । उपात्तराक्षो निगृह्योतायुष सन् । जपोपवासाभिषवैः स्वाध्यायानशनस्तानैर्मुनीनामाचार समाचरानुविष्ट ॥ २८ ॥

तुम (इस मेरे द्वारा उपदिष्ट) योग से अपने तेज और पराक्रम की वृद्धि करके, अपने मार्ग को किसी को प्रदर्शन न कराते हुये (अर्थात् गुप्त रूप से) हाथ में मूल धारण कर मन्त्र जप, आहार परित्याग और अभिषेक पूर्वक ऋषियों की वृत्ति को धारण करो ॥ २८ ॥

श्रेत्रविशेषे तप सिद्धिरित्याशयेन त निवृक्ष्यग्राह—

करिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रसक्तये गोत्रभिदस्तपांसि ।

शिलोक्षय चारुशिलोक्षय तमेघ क्षणात्क्षेप्यति गुह्यकत्वाम् ॥ २९ ॥

इति । यत्र शिलोक्षये गोत्रभिद इन्द्रस्य प्रसक्तये प्रसादाय सुदुश्चराणि तपांसि करिष्यसे, चारुशिलोक्षय रम्यशिखर त शिलोक्षय विरिभिन्द्रकीलरूपम् । 'अद्रिगोत्रगिरिप्रावाचलशैलशिलोक्षय' इत्यमर । स्वामेघ गुह्यको यद्यः । जनन्तस्मेवास्य पुर प्रादुर्भावादेश इति निर्देश । क्षणात्क्षेप्यति प्रापयिष्यति ॥ २९ ॥

जिस पर्वत पर इन्द्र के प्रसन्नार्थ तुम्हें उग्र तपश्चर्या करनी है, उस रम्य शिखर बुद्ध पर्वत पर यह घन तुम्हें क्षणमात्र में पहुँचा देगा ॥ २९ ॥

इति त्रुभाषोऽन महेंद्रसूनुं महर्षिणा तेन तिरोबभूवे ।

त राजराजानुचरोऽस्य साक्षात् प्रदेशमादेशमिवाधितष्टौ ॥ ३० ॥

इतीति । इतीत्य अहेन्द्रसूनुमर्जुनं सुवागेनोक्तवता । 'वर्त्तमानसाम्नीप्ये' इति मूले वर्त्तमानव्यत्ययस्तिरो चिह्नमसूचनार्थं । तेन महर्षिणा तिरोबभूवेऽन्तर्देषे । भावे क्लिप्तः । राजराजो यश्वराज । 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यद्ये चत्त्रियशाक्यो' इति विश्व । तस्यानुचर पूर्वोक्तयज्ञोऽस्य मुनेरादेश साक्षादिव च प्रवेशमर्जुना-चिह्नितस्यानभितष्टौ । प्राप्त इत्यर्थं । 'स्थाधिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' इति षत्वम् ॥ ३० ॥

प्रासमी, इन्द्रपुत्र अर्जुन से पूर्वोक्त प्रकार का वाताकाप समाप्त कर अन्तर्हित हो गये । इसके पश्चात् कुबेर का अनुचर (यज्ञ) मुनि के मूर्तिधारी आदेश की तरह अर्जुन के पास आ खड़ा हुआ ॥ ३० ॥

कृतानतिर्व्याहृतसान्त्ववादे जातस्पृहं पुण्यजन स जिष्यौ ।

इयाय सख्याविव सम्प्रसादं विश्वासयत्याशु सता हि योग ॥ ३१ ॥

कृतेति । स पुण्यजनो यच्च कृतानतिः कृतप्रणामं सन् व्याहृतसान्त्ववादे
वक्तृप्रियवचने । व्याहार उक्तिर्लपितम् इत्यमरः । जिष्यावर्जुने जातस्पृहो जातानु
रागं सन् । सखी सुहृदीव । अयं मित्र सखा सुहृद् इत्यमरः । सम्प्रसादं विश्वम्
मिवाय प्राप । तथा हि-सतां साधूनां योगः संगतिराशु विश्वासयति विश्वासं जन-
यति हि । सामान्येन विशेषसमयनरूपोऽर्थान्तरभ्यास ॥ ३१ ॥

पण्ड ने प्रणाम किया और मनुष्यवादी भर्जुन ने प्रेम उत्पन्न कर मित्र की तरह विशाल
किया क्योंकि सुननों का सम्पर्क शीघ्र ही विश्वास उत्पन्न करा देता है ॥ ३१ ॥

अथोप्यभासेव सुमेरुकुञ्जान्विहीयमानानुदयाय तेन ।

शृद्दयुतीन्दु खकृत्वात्मसार्म तम रानै पाण्डुसुतान्प्रपेदे ॥ ३२ ॥

अथेति । अथोप्यभासाः सूर्येणोदयाय पुनस्तत्रमाय विहीयमानान्त्वज्यमाना-
निति तम-प्राप्तिकारणोक्तिः । शृद्दयुतीन् सौवर्णत्वादीभ्यमानानित्यर्थः । इति
तमसः संकोचकारणोक्तिः । सुमेरुकुञ्जानिव । अत्र सुमेरुग्रहणं कुञ्जानां सौवर्णत्वयो-
चनायम् । तेनार्जुनेनोदयाय अथसे विहीयमानान्शृद्दयुतीनमेककुञ्जप्रकमान् ।
पूर्वद्विषेणद्वययोजनमनुसन्धेयम् । पाण्डुसुताम् । चतुर इति शेषः । सुमेरु
कृष्णेन कृत उपपादित आत्मलाभ उत्पत्तिर्यस्य तत्तथोक्तम् । तेषां विवेकित्वात्कञ्
चिदुप्योदयमित्यर्थः । तमाः शोकोऽन्धकारम् । तमोऽन्धकारे स्वभ्रान्तिं तमाः शोके
गुणान्तरे इत्युभयत्रापि विश्वः । शनैर्मन्दं प्रपेदे । तेषां विवेकित्वात्ततोत्तमीतमिवेति
भावाः । अत्र तम-शब्दस्य रिक्तत्वात्कृष्णेषानुप्राणितेयमुपमा ॥ ३२ ॥

जिस तरह सूर्य उदय होने के लिये प्रकाशमान ग्रहण के शिखरों को पीछे छोड़ देता
है फिर क्रमशः अन्धकार उन्हें व्याप्त कर लेता है ठीक वही तरह भर्जुन अन्धुदय के लिये
बनेकविष बुद्धिचातुर्भ्यं से प्रसन्न रहने वाले अपने चारों भाई पाण्डुपुत्रों से जिस समय
बलाग होने लगे उस समय दुःख के द्वारा उत्पन्न होने वाले शोक ने धीरे २ उन्हें वेर किया ॥

असंशयलोपितकार्यनुमं प्रग्या समानीय विभज्यमानः ।

सुह्याद्विभगादिव तन्मनोभिर्दुःखातिभारोऽपि स्रष्टु स मेने ॥ ३३ ॥

असंशयपेति । असंशयमसंदिग्धं यथा तथाऽऽलोचितं विवेचितं यत्कार्यं तेष
दुषो निरस्त इति कमुत्पहेतुनिः 'जुद्विद्वेन्द्राग्राहीम्योऽन्धतरस्याम्' इति निष्ठा-
नत्वम् । कायगौरवमालोभ्य निरस्त इत्यर्थः । तथाऽपि मेमेया आत्पुवास्तस्येन कर्तुं
समानीय पुनराह्वय विभज्यमानः समलोकायां क्रियमाणाः । तुष्येव प्रीत्या तुष्य-

दुःखत्व भवतीति भाव । स पूर्वोक्तो दुःखमेवातिभारोऽपि । अतिभारमूलमपि
दुःखमित्यर्थः । सन्मनोभिस्तेषां चतुर्णां पार्थानां मनोभिस्तुष्याद्विभागादिव पूर्वोक्ता-
र्यमेकतात् समविभागादिवेत्यर्थः । वस्तुतस्तु विवेकादेवेति भावः । पुनविभागप्र-
हण तस्य हेतुत्वोपेक्षाऽर्थमनुवादाद्दोषः । लघुर्मेने मतः । यथैकोऽनेकधा विभज्य
बहुभिस्त्रयमात्रो महानपि भारो लघुर्मन्यते तद्वदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

चारों भारों ने विश्व से सशय का परित्याग करके कार्य्य भार के ऊपर विचार किया
था, अतः दुःख का भार दूर हो गया था, परन्तु आत्प्रेम के कारण फिर उसे उन्होंने प्रकथित
कर के मन से सनान भागों में मानो विभक्त कर दिया, जिस के कारण वह इतका मात्सम्य
पडने लगा ॥ ३३ ॥

अथैव प्रेम्णाऽऽकृष्यमाणमपि शोक विवेको निर्जिगायेत्याह—

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः ।

वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोन स तेषु न स्थानमवाप शोकः ॥ ३४ ॥

धैर्येणेति । धैर्येण तेषां निसर्गतो विर्बिकारचित्तत्वेन तथा महर्षेर्व्यासस्य ।
प्रवर्त्तकस्येति शेषः । वि । । अद्वैतवचनत्वेनेत्यर्थः । अरातिप्रभवादरातिहे-
तुकाशोवाद् दुःसहान्मन्यो क्रोधाद्धेतोस्तथाऽर्जुनप्रभावपरिशानाचेति हेत्वन्तरं वि-
शेषणमुखेनाह—मघोन सुतेऽर्जुने वीर्यं च । 'न लोके—'इत्यादिना पृष्टीप्रतिषेधः ।
विद्वत्सु । ज्ञानवत्स्विति वाच्यः । 'विदे शतुर्बभूवुः' इति वैकल्पिको घस्वादेशः । तेषु
पार्थेषु स शोकः स्यात् स्थितिं नावाप न प्राप ॥ ३४ ॥

वे चारों भाता स्नाभाविक वैर्वाशाली थे, महावि वेदव्यास के वचनों में भ्रष्ट रखते
थे, शत्रु के दुर्ण्यवहार से उन के क्रोध की मात्रा भी बहुत बढ़ी चढ़ी थी, और रुद्र के पुत्र
मर्जुन के शौर्य्य को वे जानते थे, अतः एव उन पाण्डवों के पास शोक ठहर न सका ॥ ३४ ॥

ताम् भूरिधात्मनश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य ।

एकौघभूत तदशर्मं कृष्णा विभावरौ ध्वान्तमिव प्रपेदे ॥ ३५ ॥

तानिति । तत्पार्थीस्यक्तवच्छर्मं सुखम् । 'शर्मघातमुखानि च' इत्यमरः ।
तद्विरुद्धं सुखम् । 'नञ्' इति नञ्स्त्वमासः । भूरिधात्मनोऽतितेजस्विन इति धानिहे-
तुत्वोक्तिः । चतुरस्ताम्पार्थानपि वासरस्य भूरिधात्मनश्चतुरो यामानप्रहरानिव । दूरं
विहाय एतत्कौघभूतमेकराशिभूतं सत् । 'अपेक्षादय कृतादिभिः' इत्यर्थे कर्मधारयः,
'अपेक्षादिराकृतिगणः' इति प्राकट्यापनः । कृष्णा विभावरौ कृष्णवपुशश्चि ध्वान्तमिव ।
कृष्णां द्रौपदीं प्रपेदे प्राप ॥ ३५ ॥

जैसे अन्वकार परम प्रकाशमान दिन के चारों महर्षों का अतिक्रान्त्य कर एकत्र होकर

कृष्णपद्मी की रात्रि के पास पहुँच जाता है, उसी तरह अञ्जुन के विरह से तरपन्न छोड़ प्रविभाशाली चारों भाइयों का अतिक्रमणकर एक रात्रि बनकर श्रीयो की पास पहुँच ॥ ३५ ॥

तुपारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पयधुयी मङ्गलमङ्गभीरु ।
अगूढभावाऽपि विलोकने सा न लोचने मीलित्युं विपेहे ॥ ३६ ॥

शुभारेति । सा श्रीयो विलोकनेऽनुनावलोकनेऽगूढभावाऽगूढानिप्रायाऽपि । स्फुटमिच्छाविणीति यावत् । भावो कीलाक्रियाचेष्टामूल्यमिभावजन्तुयु इति घञ्यन्ती । मङ्गलमङ्गभीरुमङ्गलदानेर्भिता सती । पयधुयी परिगताधुके । वाप्पावृते इत्यथ । अत एव शुभारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे हिमविन्धुसहिते दीवरसन्निभे इत्युपमाऽऽह्वारा लोचने मीलित्युं न विपेहे न शशाक । अञ्जुनो दृष्टावावरकत्वेऽपि तस्मिन्पातद्वयामङ्गलत्वात्तस्मिन्तर्क विमीलनं सा न चकारेत्यथ ॥ ३६ ॥

अञ्जुन के अवलोकन के लिये श्रीयो का अतिक्रमण एक था तो भी उसने हिमकण से युक्त कमल के सदृश अशुभ अपने नेत्रों को अपशकुन हो जाने के डर से निमोहन करने में अपने को असनय पावा (उन्हें खों की खों ही रखा । यात्रा के समय की का भाँव बहाना यात्रा को विफल कर देता है) ॥ ३६ ॥

अकृत्रिमप्रमरसामिराम रामार्पितं दृष्टिविलोमि दृष्टम् ।
मन-प्रसादाञ्जलिना निष्कम जनाह पायेयमिवेद्रसनु ॥ ३७ ॥

अकृत्रिमेति । इन्द्रसुनुइत्युक्तः । क्रियया निर्धृताः कृत्रिमाः । विवत विभ्रः इति विभ्रः । अवेर्मेग्नित्यम् इति मन्प्रत्ययः । दृष्टिविलोमि । प्रमेव रसः । अकृत्रिमेण प्रेमरसे नामिरामम् । अन्वय-प्रमरसेन अशुरादिना चामिरामम् । रामया इत्युपार्पितम् । दृष्टिविलोमयतीति दृष्टिविलोमि । दृष्टिमियमित्यथः । दृष्टं दृष्टनं नपुंसके भावे क्तः । मन प्रसादः । प्रसन्नं मन इत्यर्थः । सोऽञ्जलिविधेयुपमितसमाप्तः । तेन मनःप्रसादाञ्जलिना । पथि साञ्जु पायेयं सम्बलमिव । पथ्यतिथिवलतिस्वपतेर्बल विकामम-तिहायेव अग्राह । रामार्पितं पायेयं पथि चेमाव मवतीत्यायामः ॥ ३७ ॥

इन्द्रनन्दन अञ्जुनने अञ्जलि से खी के द्वारा प्रपन्न किये गये अम्बक (रास्ते का कलेवा) को तरह स्वामयिक प्रेम रस से मनोहर दृष्टिविलोमी पक्षन को प्रसन्न मन से ग्रहण किया अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक देखा ॥ ३७ ॥

धैर्यावसादेन हृतप्रसादा ध-यद्विपेनेष निदाघसिन्धु ।
निरस्तवाप्पोवयसज्जन्मपठमुवाच कृच्छ्राविति राजपुत्री ॥ ३८ ॥

धैर्येति । ध-यद्विपेन । धम्यग्रहणमुच्छृङ्खलवयोतनायम् । निदाघसिन्धुर्ग्रीष्म-वहीव । निदाघग्रहणं दीवस्ययोतनायम् । धैर्यावसादेन धैर्यज्ज्ञानेन कर्ता इत्यप्रसादा

इतनैर्मत्या । शोभ गमितेश्यर्ष । राजपुत्री चत्त्रियसुता द्रौपदी । अतः शास्त्रयुक्तमेव
 वक्ष्यतीति भाव । निरुद्धवाणोदय सरुद्धरोदन सक्षकण्ठ हीनस्वरम् । अथ तपोरुभयो
 कृतधनुर्ग्रीहोः क्रियाविशेषणयोर्विशेषणसमासः । कृच्छ्राः कथञ्चिदिति चक्ष्यमाणमुवाच ॥

बिना तरह बहली दाखी शींभ काल में नदियों की निर्मलता का अपहरण कर केजा है,
 उसी तरह पैर्य की न्यूनता ने राजकुमारी को प्रमथना का अपहरण कर लिया । अतुवेग
 के निरोध से उनका स्वर शीय हो गया था, इस लिये वह कष्ट के साथ बोली—॥३८॥

ममा द्विषच्छद्मनि पङ्कभूते सम्भाषना भूतिमिबोद्धरिण्यन् ।

आधिद्विषामा तपसा प्रसिद्धेरस्मद्विना मा शृशामुन्मनीभू ॥ ३९ ॥

ममामिति । पङ्कभूते पङ्कोपमिते । 'भूत ममाऽऽदौ पिशाचादौ न्वाच्ये सत्योपमा-
 नयो' इति विश्व । द्विषच्छद्मनि शत्रुकपटे ममाम् । दुस्करामित्यर्थ । सम्भाषनां
 योष्यताम् । गौरवमिति यावत् । भूति सपदमिव । 'भूतिर्मस्मनि सपदि' इत्य-
 मर । उद्धरिष्यन् । उद्धारकस्त्वमिति शेष । आधिद्विषा तु च्छिक्त्वा तपसामा प्रसिद्धेः
 सम्यक्सिद्धिपर्यन्तमस्मद्विना । अस्माभिर्विनेत्यर्थ । 'पृथग्भिना' इत्यादिना
 विकल्पाप्यञ्जनी । शृश मोन्मनीभू । अस्मद्विरहाद् दुर्मना मा शूरित्यर्थ । वीर्य-
 स्वस्य तप परिपन्थित्वादिति भाव । 'माहि' इत्याशौर्ये लुङ् । 'न माश्र्योगे' इत्य-
 ङागमप्रतिषेध । अनुन्मना उन्मना सम्पद्यमान उन्मनी । अनुन्मत्तत्वादे च्चि । 'अश-
 र्मनुश्चक्षुषेतोरहोरजसा लोपश्च' इति सकारलोप । 'अस्य ष्यौ' इतीकारः ॥ ३९ ॥

शत्रु के रूपरूप कौचक में फसे हुये संपत्तिरूप गौरव के आप ही उद्धारकर्ता है,
 इसलिये मानसिक व्यथा के दूर करने में समर्थ तपस्या की सिद्धि पर्यन्त हम लोगों के विरह
 से आप न्यथित न हों ॥ ३९ ॥

अथानौसुखयदादवार्थं तस्य सर्वाधैसिद्धिनिदानत्वमाह—

यशोऽधिगन्तु सुखलिप्तया वा मनुष्यसख्यामतिवर्तितुं वा ।

निरुत्सुकानामभियोगभाजा समुत्सुकेवाङ्गमुपैति सिद्धि ॥ ४० ॥

यज्ञ इति । यशोऽधिगन्तुम् । कीर्त्तिं लब्धुमित्यर्थ । सुखस्य लिप्तया लब्धुमि-
 ष्टया वा । मनुष्यसख्यां मनुष्यगणनामतिवर्त्तितुमतिक्रमितुं वा । अमानुष कर्म
 कर्तुं तेष्यर्थ । अभियोगभाजाभिमिनिवेशयता निरुत्सुकानामनुत्सुकानाम् । अनुर्मना-
 यमानावामित्यर्थः । सिद्धिं पूर्वोक्त यज्ञ सुखाद्यर्थसिद्धिश्च । समुत्सुकेवानुरक्तकान्तेवा-
 ङ्गमुत्सङ्गमन्तिक श्योपैति । तस्मादस्मद्विरहदुःखमा तप सिद्धे सोऽङ्गमिति भावः ॥

धार्मिकता करने के लिये, सुख को पाने की, तथा मनुष्य की सख्या को उत्कृष्टता
 करने (सब से बढ़कर कहे जाने) की इच्छा से कार्य करने के लिये उद्यत जो पुरुष उत्सुकता
 का परिष्ठापण कर देते हैं, उनकी सिद्धि उत्कृष्ट रमणी की तरह अङ्गस्य ७ कर्ता है ॥ ४० ॥

अथास्य मन्मूरीपनद्वारा तपप्रवृत्ति प्रथयितुमस्मिन्नकारं तावच्चतुर्भिस्त्रादवति—

लोकं विधात्रा विहितस्य गोप्तुं चित्रस्य मुष्यान् वसु जैत्रमोल ।

तेजस्विताया विजयैकवृत्तेर्निघ्नन्प्रियं प्राणमिवाभिमानम् ॥ ४१ ॥

लोकमिति । विधात्रा ब्रह्मणा लोकं गोप्तुं विहितस्य घटस्य चित्रस्य चत्विजस्यैव सम्बन्धिः । जपवशीकं जेयुं तद्वैव जैत्रम् । गोप्तुं चत्विजस्यैव प्रजाविषयम् इति स्वार्थेऽयमन्वयः । लोको बलं वीक्षिषां । लोको बले च वीक्षी च इति विधाः । तद्वैव वसु चनमिति रूपकालङ्कारः । मुष्यान्नपहरन् । अग्निनिराकृतस्य कुतां चान्नं तेज इति भावः । किञ्च विजयैकवृत्तविक्रयैकवीधितायाः । 'चत्विजस्य विजितम्बम् इति स्मरणादिति भावः । 'वृत्तवत्तन्वीधने इत्यमरः । तेजस्विताया तेजस्वितामित्यर्थः । तेजःप्रधान्यघोतनार्थं भावप्रधाननिर्देशः । प्रियं प्राणसममित्यर्थः । अभिमानमद्गुण विजितम् अणुवचनम् । तेजस्वितां प्राणहानिमाया भावहानिरिति भावः ॥ ४१ ॥

(आने श्लोक ४१ से लेकर ४४ तक का सम्बन्ध एक दूसरे में लगा हुआ है प्रधान किता श्लोक से ४४ तक हीतर वरण में 'नवीनरिष्यत् पद है ओर इसका कर्ता श्लोक से ४४ के अन्तिम पद में 'निकार' पद है) । ब्रह्मा ने लोक की रक्षा के लिये चान्न तेज की रचना की है । विजयशील पण्डित इसका सर्वेश है । इस तरह के चान्न तेज की सम्पत्ति का अपहरण करता हुआ अङ्गु कुत्र परामव लग अनिय भाति के अद्भार का जो प्राणों से भी बंद कर है नाश करता है ॥ ४१ ॥

अविद्येपाद्यसहज तेजः प्राणात्पथेऽपि च त्पान्यमित्याह—

श्रीदानतैरासज्जनोपनीतं सरान्य कृच्छ्रया नृपै प्रपन्न ।

विदानभूत विदत्तं वृषिध्या यथा समूहमिव विरिचकीर्णम् ॥ ४२ ॥

श्रीवेति । पुनश्च । आसज्जनोपनीतः सावित्रः । प्रापित इत्यर्थः । तथा अपि संशय्य सवित्रः । अर्धमावित्तुद्धयति भावः । श्रीदानतैः । ह्युपसितवृचान्तमव गादिति भावः । नृपैर्वैदानतरस्यै कृच्छ्रेण प्रपन्नः । आसोकात्कथंचिद्विद्वस्त इत्यर्थः । यः शृण्वतामपि ह्यसहः किमुताशुभवतामिति भावः । इत्येव । पूर्वेषां व्याख्या । अत्रया च व्याख्यापते—आसज्जनोपनीतो जातिहृतः संशय्य कथमिदमभ्यास्यमुपैष्यमिति विधाय श्रीदानतैः । ह्युपसितकमर्दानादिति भावः । नृपैस्तत्र त्वैः कृच्छ्रेण प्रपन्नोऽश्रीकृता । गोत्रकलहेषु मन्वस्यैषदासितम्बमिति सुदोपेक्षित इत्यर्थः । पञ्चनृपैऽपि प्रपन्नः इत्यत्रासज्जनोपनीतत्वस्व पदाधमृतस्य विशेषणत्वात्वा हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलकारः । वृषिन्वा विदानभूतमुद्धोचोपमितम् । अङ्गा विदानभूतं विदानसमम् । अङ्गोचतुर्विमिति भावः । 'पुके चमाऽऽदाहृदे भूते प्राण्यतीति समे त्रिषु इत्यमरः । अङ्गी विदानमुद्धोच इत्यमरः । विरिचकीर्णं दिग्मलकमम् ।

चित्तानमपि दिगान्तलानमिति भाव । वितस प्रथित यश समूहक्षिय संकोचयञ्जिये-
त्युद्येवा । अरातिपरिभूतस्य कुत कीर्तिरिति भाव ॥ ४१ ॥

(सुयोधन के समच दुदृष्टासन के द्वारा जो मेरा केशकर्णग्रहण निन्दित कर्म किया गया है) वस से और देशान्तर स्थित राजाओं ने पहले तो विश्वास नहीं किया फिर आप लोगों के मुख से निकलने के कारण किसी तरह विश्वास कर लब्धा से शिर झुका लिया । तथा उस समा में उपस्थित आतीय और सम्बन्धी राजाओं ने इस कुसित्त कर्म को देख लभित हो कर किसी तरह उस की उपेक्षा की—इस तरह का जो शत्रुकृत परामव है, वह वृष्णी के एक छोर से दूसरे छोर तक बँदोये की तरह फैले हुये आप के यश को सङ्कुचित करते हुए की तरह है ॥ ४२ ॥

वीर्यावदानेषु कृतावमर्षस्तन्वन्नभूतामिव सम्प्रतीतिम् ।

कुर्वन्प्रयामन्वयमायतीनामर्कत्विषामह इवाचशेष ॥ ४३ ॥

वीर्येति । पुनश्च । वीर्याव्येवावदानानि तेषु कृतावमर्षं कृतास्कन्दन । पुराकृत-
पराक्रमजातान्यपि प्रमृजश्चिदर्थं । 'अवदान कर्म घृत्तम्' इत्यमर । अत एव
सम्प्रतीतिं ख्यातिम् । 'प्रतीतिं प्रथितख्यात्तवित्तविज्ञातविश्रुता' इत्यमर । अमृताम
ि मियेषुश्रेष्ठा । सतोऽप्यसर्वमुख्येष्वते—तन्वन्कुर्वन् । पुनश्चाहोऽवसेपो
दिवान्तोऽर्कत्विषामिवायतीनामुत्तरकालायां प्रयागपय दैर्घ्यनाश कुर्वन्तिती श्रीती
पूर्णपमा । अरिनिराकृतस्य कृतश्चिरावस्थानमिति भाव ॥ ४३ ॥

यह शत्रुकृत परामव, आप लोगों के पूव कृत पराक्रम के कार्त्थ्य पर परदा बाजवा
हुआ, 'अपने पराक्रम का कार्त्थ्य कभी किया ही नहीं है' इस तरह की प्रसिद्धि (ख्याति)
लोगों के बीच में फैलाता है और जैसे दिन का अवशिष्ट भाग दिशाओं में फैले हुए
ध्वं को किरणों का संहार कर डालता है वैसे ही यह निकार (परामव) आप के उत्तर
काल की स्थिरता का संहार कर रहा है ॥ ४३ ॥

प्रसह्य योऽस्मासु परै प्रयुक्तं स्मर्तुं न शक्यं किमुताधिकर्तुम् ।

नवीकरिष्वत्युपशुष्यदारुः स त्वद्विना मे हृदय निकारः ॥ ४४ ॥

प्रसह्येति । पुनश्च । परै शत्रुभिरस्मासु प्रसह्य प्रयुक्त आचरितो यो निकार' परि-
भव केशकर्णरूपा स्मर्तुं न शक्यं । अधिकर्तुंमनुमवित्तु किमुत । यस्य
वि दुःसहमनुभवस्तु दुःसह इति किमु वक्तव्यमिदर्थं । स निकारस्त्वद्विना त्वया
विना 'शुश्रुविना—' इत्यादिना—पञ्चमी । आर्द्रं सन्कुतश्चिद्विभूतापुराणप्रहार हव ।
त्वद्विरहदुःसायुवनबीकरिष्यति । नवीभविष्यतीत्यर्थं । उपशुष्यत् । त्वया विना
शुष्कमिति भाव । दुःसहस्तम्भर्ष शोचपदारुो मे हृदय नवीकरिष्यत्प्राद्वीकरिष्यति ।

अणमिवेति भावः । कुम्भितस्य पुनकुम्भोपचया प्रशान्तप्रथमपि कुम्भहेतुं पुनकुम्भवाट
यतीत्यर्थः । अत्र कुम्भोपचयोपसाम्याद् अणत्प्रस्तुतार्थप्रतीतेः समासोत्तरकारः ॥

एकपक्षे च कुम्भो ने हम कुम्भो पर को अन्वयार किना है उसकी रचि ही मसल है
फिर उसकी वनुभूति के विषय में कहना ही क्या ? । वह आप को अनुपस्थिति में खड़े हुये
पाप को तरह कुम्भ का दुःख को मूलसा गया ना फिर पाप करा देगा ॥ ४४ ॥

प्राप्तोऽभिमानयसनादसङ्घं दन्तीव दन्तयसनाद्विकारम् ।

द्विपत्रत्वापान्तरितोऽस्तेजा शरद्धनाकीर्ण इवादिरेह ॥ ४५ ॥

प्राप्त इति । अभिमानस्य व्यसनाद् अनाद् 'अवसन्नं विरदि अतो दोषे कामप्रको
पत्रे' इत्यमरः । दन्तव्यसनाद् दन्तमङ्गादम्बीवासङ्घ विकार वैकृत्यं प्राप्तः । अतो न
प्रत्यभिज्ञायत इति भावः । एवमुत्तरप्राप्त्यनुसम्भेयम् । पुनश्च । द्विपत्रत्वापेन शत्रुते
असाङ्गतवित्तिरिच्छतमुक्तं तेषां प्रतापो यस्य स तयोक्तः । अत एव शरद्धना
कीर्ण शरम्भेयङ्गोऽहं भादि' इत्युच्य इव स्थितः । तद्देवाप्रत्यभिज्ञायमान इत्यर्थः ।
अप्याहस्तु मेघानरभेऽपि कश्चिद्व्यत्यभिज्ञायत एवेत्याशयेनोक्तमाहिरिति ॥ ४५ ॥

दोषों के दूट जाने से जिस तरह गजराज विकृत हो जाता है वही तरह (आज कल)
मान सम्भाव के मह हो जाने से आप भी विकृत-से हो गये हैं । आप का प्रताप शत्रु के
प्रताप से अप्प्राहित हो गया है अतः आप हरलोक के मेघ द्वारा अप्प्राप्त अन्वय का
तरह वसम हो रहे हैं ॥ ४५ ॥

सत्रीहम वैरिव निष्कियत्वात्त्रात्यर्थमस्त्रैरवभासमान' ।

यशश्च्युत्तौणजलाणवामरुधमयमाकारमिषाभिपन्न ॥ ४६ ॥

सत्रीवेति । पुनश्च । निष्कियत्वात्त्रात्यर्थमस्त्रैरवभासमान' सत्रीहैरत एव
अस्त्रैरपट्टमिरिव स्थितैरित्युत्प्रेषा । 'मृदान्वाशुभिर्माग्या भ'हा' इत्यमरः । अस्त्रै
त्यर्थं भावमासमानो न प्रकाशमान' । पूव तु जेवमिति भावः । किं तु अस्त्रैरवभासितोः
शौणजलो योऽभवस्तदापरतरमदसस्त्वमभ्यमाकारमामपन्न' प्राप्त इव स्थित इत्येतु
उत्प्रेषा । तस्य शौणजलाणवाम इत्युपमासङ्घाः ॥ ४६ ॥

कथ्य मे न जान के कारण के अक्ष कवित्त को तरह कुम्भित हो गये हैं इनसे भार
का तब सम्पद पक गया है । आप वक्ष के हात हो जाने के कारण विना अक्ष के मर्षात् सुखे
हुये समुद्र की तरह समुद्र नहीं दिखलाई पक रहे हैं प्रसून मालु पचना है आपने अपना
स्वरूप बरक दिया है ॥ ४६ ॥

दुःशासनामर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनायैरिव भाग्यनाथै' ।

केशै कर्ष्यैकृतवीर्यसारः कश्चित्स एवासि धनस्ययस्त्वम् ॥ ४७ ॥

दुःशासनेति । पुनश्च । दुःशासनस्य कर्तुरामर्षं ज्ञानपङ्गमाकर्षणं स एव रजो धूलिः । मालिन्यहेतुत्वाद्दिति भावः । तेन विकीर्णविक्षिप्तैरत एव विनाशैरिव स्थितवर्ता युष्माकमसत्त्वप्रायस्त्वाद्वाद्यैरिव स्थितैरित्युपप्रेक्षा । अन्यथा क्रममिव दुर्दशेति भावः । किन्तु भाष्यनायैव समाश्रयणैः । अन्यथा स्वरूपमपि लुप्येतेति भावः । प्रमि-परिदृश्यमानं । असत्यमितैरिति भावः । केनौ शिरोरुहैः कुत्सितोऽर्थो वस्तु कथं । 'अर्थोऽभिधेयैरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । 'को कत्तपुरुषेऽधि' इति कुशाब्दस्य कदादेशः । कथं कृतौ गह्वर्योऽर्थो वीर्यसारौ शौर्ययले यस्य स तथोक्तः । इत्थं पूर्व-विकल्पास्तव स एव धनज्ञयोऽसि कश्चित् । 'कश्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः । स एव चेत् नैवमस्मानुपेक्षस इति भावः ॥ ४७ ॥

दुःशासन के क्रोधरूप (वसीटे जाने के कारण) धूल से भरे हुए, असहाय को तरह ईश्वर के भरोसे रहने वाले इन मेरे केशपाशों से जिस आपका पराक्रम और बल-दोनों लुप्त हो जाते हैं, क्या आप वही अर्जुन हैं ? ॥ ४७ ॥

अथाप्युपेक्षणे दोषमाह—

स क्षत्रियस्त्राणसहः सता यस्तत्कार्मुक कर्मसु यस्य शक्तिः ।

बहन् द्वयीं यद्यफलेऽर्थजाते करोत्यसस्कारहतामिबोक्तिम् ॥ ४८ ॥

स इति । सतास्त्रायत इति सत्र क्षत्रियकुलम् । 'सुप्' इति योगविभागात्क प्रत्ययः । पृषोदरादित्वात्पूर्वपदस्यान्यलोपः । अथवा क्षिति क्षिप्रन्तोपपदात्कप्रत्ययः । क्षत्रे जात क्षत्रियः । 'सत्राद् घ' इति घप्रत्ययः । कर्मणे प्रभवतीति कार्मुकम् । 'कर्मण उकम्' इत्युक्त्वात्प्रत्ययः । एव स्थिते वाक्यार्थः कथ्यते । य सता साधूनाम् । सहस इति सह । पचायच् । चाणस्य सहस्राणसहो रक्षणसम स एव क्षत्रियशब्द चायः । तथा यस्य कार्मुकस्य कर्मसु रणक्रियासु शक्तिः । अस्तीति शेषः । तदेव कार्मुकशब्दवाच्यम् । अत्रैवंतौ शब्दौ सुलभौ । नान्यत्रैत्यर्थः । एव स्थिते द्वयीं द्विविधामुक्तिम् । द्वाविमौ क्षत्रिकार्मुकशब्दावित्यर्थः । अफले । पूर्वोक्तावयवार्थशून्ये, अर्थं जाते । स्वाभिधेयसामान्यजातिमात्र इत्ययः । 'जात आत्योषजन्मसु' इति विश्वः । बहन् चर्चयन् । असस्कारहतामभ्युत्पत्तिदूषितामिव पुरोतीत्योत्प्रेक्षा । तस्मात्त्वमस्मद्-पणेनोक्तदोषादात्मान मोक्षयस्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

जो सज्जनों को रक्षा करने में समर्थ हो, वही क्षत्रिय है । जिसकी कर्म (कार्य) करने में अर्थात् समाम में कार्य करने की शक्ति हो, उसी का नाम कार्मुक है । यदि इन दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियों के होते हुए भी व्युत्पत्ति का अर्थ सुसंपन्न नहीं होता अर्थात् ये दोनों (क्षत्रिय और कार्मुक) अपने अवयवार्थ के अनुकूल कार्य करने में असमर्थ पाये जाते हैं तो अस्कारण शब्द के अनुसार इन शब्दों की व्युत्पत्ति कर के इन का साधन

करना सब व्यर्थ है अर्थात् क्षत्रिय को सबकों को रखा भरस्य करनी चाहिये और वदुष को समर में कार्य क्रुशकता प्रदर्शन अवश्य करना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथ स्वर्गुणा अपि नोऽस्तीत्येयुरित्याह—

वीतीजसं सन्निधिमात्रशेषा भवत्कृता भूक्तिमपेक्षमाया ।

समानदुःखा इव नस्त्वदीयां सरूपता पार्थ । गुणा भजन्ते ॥ ४९ ॥

वीतेति । हे पार्थ ! वीतीजसो निष्पन्नाः सन्निधिमात्रशेषाः सत्तामात्रावशिष्टा भवत्कृता भवता करिष्वमाणासु । आर्जुनसार्था भूतवत् इति भूतवत्प्रत्ययः । भूतिमभ्युदयमपेक्षमाणास्त्वदीया गुणा समानदुःखा समदुःखमात्र इव नोऽस्माकं सरूपता वीतीजस्त्वादिसाधर्म्यं भजन्त इत्युपमा । सा च समासदुःखा इवेत्युपेक्षया वीतीजस्त्वादिसमावृत्तियाऽनुप्राणितेत्यनुसन्धेयम् ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन ! जिस तरह हम लोग परात्महीन हो गये हैं । सब कुछ नष्ट हो गया केवल हम लोग एक दूसरे से पृथक नहीं हैं (अर्थात् एक साथ निवास करते हैं) वही भवक्षेत्र रह गया है । हम लोग आप के द्वारा विहित अभ्युदय की अपेक्षा (प्रतीक्षा) कर रहे हैं वही तरह आप के जमादिक गुण भी निस्तेज हो कर सत्तामात्र अवशिष्ट है ये आप के द्वारा होने वाली उन्नति की प्रतीक्षा कर रहे हैं । वे हम लोगों को ही तरह दुःखी भी हो रहे हैं । हम सब बातों से हम लोगों की परावृत्ति करते हुए ही तरह आपक वे गुण हैं ॥ ४९ ॥

तथाऽपि समैव कोऽर्थं भार हृत्वत आह—

आश्चिप्यमाणं त्रिभुभिः प्रमादान्नागैरिवल्लससट भूगेन्द्रम् ।

त्वा धूरिय योग्यतयाऽधिकरुदा दीपत्या दिनशीरिव तिमररिमम् ॥ ५० ॥

आश्चिप्येति । प्रमादात्प्रशाहीनत्वात् । न तु दीर्घत्वादिति भावः । त्रिभुविराश्चिप्यमाणमभिश्चिप्यमाणस्य पृथ्व प्रमादात् । नागौगजैः । प्रहेमाहिगजा नागाः इति कैज वन्ती । आल्लससटमाशिसकेसरम् । सटा अटाकेसरयोः इत्यमरः । भूगेन्द्रं सिंहमित्थितम् । स्वामिय धूर काशमात् । तिमररिमं सूर्यं दीपत्या दिनशीरिव योग्यतया निर्वोहकयाऽधिकरुदाऽऽरुचवती । कश्चित् खः । स्वर्ध्वीनेत्यर्थः ॥ ५० ॥

अनुभवानो के कारण हाथियों के द्वारा गधन के बाल नोचाने वाले सिंह की भाँति शत्रुओं से आप अपमानित हुए हैं । जिस तरह दिनही अपनी कान्ति से प्रसर किरण वाली सूर्य का आलय प्रस करती है वही तरह शत्रुका सम्युह दुर्देश के दूर करने का भार आप को योग्य समझ कर आप पर निर्भरित है । (हम लोगों की इस विपत्ति का नाश करने में आप ही समर्थ हैं) ॥ ५० ॥

पूर्वं निरर्थवसायस्य 'स चत्वित्रय' ह्यग्नादिना दोष उक्त । सपति व्यवसायिना गुणमाह—

करोति योऽश्लेषजनातिरिक्त्वा सम्भावनामर्थवतीं क्रियाभि ।

ससस्तु जाते पुरुषाधिकारे न पूरणी त समुपैति सख्या ॥ ५१ ॥

करोतीति । यः पुमान् अश्लेषजनादितरजनादतिरिक्त्वा अधिकाम् । सर्वातिशायिनीमित्यर्थं । सम्भाषणा योग्यता क्रियाभिश्चरितैरर्थवतीं सफला करोति । त पुमास ससस्तु सभासु 'सभासमितिससद्' इत्यमर । पुरुषाधिकारे योग्यपुरुषगणनाप्रस्तावे जाते सति पूर्वतेऽनयेति पूरणी संख्या । द्वित्वादिसख्या । न समुपैति न गच्छति । अद्वितीयो भवतीत्यर्थं । तस्मात्साधारणलाभाय त्वयाऽपि महानुत्साह आस्थेय इति भाव ॥ ५१ ॥

जो व्यक्ति, अपने कर्तव्यों से (अपनी) सब श्रेष्ठ योग्यता को सफल बनाता है, सभा में योग्य पुरुष की गणना का प्रस्ताव उपस्थित हो जाने पर उस पुरुष की समानता के लिये फिर दूसरो सखा उस के पास नहीं आती क्योंकि वह या एक (अद्वितीय) गिना जाता (सर्व प्रथम होता) है ॥ ५१ ॥

अथ द्वाभ्या सुलभविपक्षस्य प्रोषितस्याहुंनस्य कर्तव्यमुपदिशति—

प्रियेषु ये पार्यं । विनोपत्तेर्विचिन्त्यमानैः क्लममेति चेत् ।

तत्र प्रयातस्य जयाय तेषां क्रियादधाना मधवा विघातम् ॥ ५२ ॥

प्रियेष्विति । हे पार्यं ! प्रियेष्वस्मानु विषये । उपपत्ते कारणाद्दिनैव विचिन्त्यमानैर्यश्चेत्तत् क्लम स्वेधमेति । जयाय प्रयातस्य तत्र सम्बन्धिनां तेषामधाना व्यवसानाम् । 'तु खैनोव्यसनेष्वधम्' इत्यमर । मन्वेन्द्र । योऽस्माभिरुपास्यत इति भाव । विघात विदारण क्रियात्करोतु । आक्षिपि लिङ् । तस्मात्समिचिन्तया न चैत स्वेद्विषय जयाधिना त्वया । अन्यथा तद्वसन्वादिति भाव ॥ ५२ ॥

दे पृषापुत्र । विजयार्थ प्रस्थान करने वाले थाप के उन दु खों का नाश देकर देव इन्द्र करें, जो प्रिय लोगों के विषय में विना किसी कारण के होते हुए भी चिन्तन किये जाते हैं, जिनसे चित्त व्यथित होता है ॥ ५२ ॥

मा गात्रिरायैकचर प्रमाद् वसन्नसम्बाधशिखेऽपि देशे ।

मात्सर्यरागोपहृत्तात्मना हि स्वलन्ति साधुष्वपि मानसानि ॥ ५३ ॥

मा गा इति । असबाधोऽसङ्कट । विजन इत्यर्थं । 'सकट ना तु सम्बाध' इत्यमर । शिखो निर्धाब । ह्योरन्यतरस्य विशेष्यत्वविपक्षाय विशेषणसमास । अस्मिन्सम्बाधशिवेऽपि देशे चिराय चिरमेकशास्त्री चरश्चेत्येकचर एकाकी वसतु

प्रमादं धैर्यस्य मा वा । इणो गा छुकि इति गाऽऽदेश । ननु निःस्पृहस्य प्रमा-
किञ्चित्करः प्रमाद इति वाच्यमित्यासङ्कबाह—मास्तर्येति । मस्तर एव मास्तर्यं द्वेषो
रागः स्नेहस्ताभ्यामुपहतमनसां रागद्वेषदूषितस्वभावानां मानसानि मनासि साशुभु
सञ्जनेष्वपि विषये स्थलजित् विदुर्धते हि । अत्र प्रमादजिपेक्षलक्ष्याप्रमादरूपकारणै-
नाथप्राप्तिरूपकायस्य ध्यातिरेककारणसमयताद्वैधर्म्येण कायकारणसमर्थात्तद्व्योऽर्था
स्तरन्यासः ॥ ५३ ॥

अनसम्पकरहित (यकान्त) और विचित्राया शय स्वाम में अधिक दिन तक अदेके
निवास करते हुए भी आप अनावधानी न करना अर्थात् सतक रहना क्योंकि राग-द्वेष
से आकृष्ट व्यक्तियों के विषय महात्मानों के विषय में भी विद्वत् हो आते हैं ॥ ५३ ॥

तदाशु कुर्वन्वचन महर्षेर्बनोरथान् सफलीकुरुष्व ।

प्रत्यागतं त्वाऽस्मि कृतार्थमेव स्तनोपपीठं परिरक्षुकामा ॥ ५४ ॥

सदिति । तत्तस्मात्कारणात् । आशु शीघ्रं महर्षेर्वचनं कृष्वम् । तपस्यचित्पर्या ।
नोऽस्मिन्महं मनोरथान्सफलीकुरुष्व । अरिनिर्वातनेनास्मात्प्रतिष्ठापयैत्यर्थः । प्राधान्यात्
खेट् । किञ्च कृताय कृतकृत्यं प्रत्यागतमेव स्वा त्वाम् । 'त्वामौ द्वितीयाया इति
त्वाऽऽदेश । स्तनयोऽपपीठय स्तनोपपीठम् । ससम्यां शोपपीठद्वयोः इति जमुक् ।
परिरक्षु कामो यस्य । सा परिरक्षुकामाऽस्मि । आकिञ्चिन्मुमिच्छामितीत्यर्थः । इ
काममनसोरपि' इति मकारलोपः । प्राक्कायसिद्धे' प्रमदाऽऽङ्किद्वयमपि न प्रीतिर
मिति भावः ॥ ५४ ॥

अ. ध्यान की के आदेश का पाकन करते हुए शीघ्र ही हम लोगों के मनोरथ को
सफल बनाइये । पार्वसिद्धि करके लौट जाने पर सुन्नें वाद आकिञ्चन करने की मैं
अभिलाषुक हूँ ॥ ५४ ॥

उदीरिता तामिति याज्ञसेया नधीकृतोव्प्राहितविप्रकाराम् ।

आसाद्य याच स भृश दिवीपे काष्ठासुदीचीमिव सिग्मररिम ॥ ५५ ॥

उदीरितामिति । सोऽर्शुन इतीत्य यज्ञसेनस्यापत्वेन शिवा याज्ञसेन्या द्वीपदो
दीरितासुकायम् । नधीकृतं पुनकदात्मेन तथा प्रत्यावितोऽत एवोव्प्राहितो मन्त्रि
निष्ठापितश्च विप्रकार' परिमको यथा सा ता याचमासाद्य आकम्बैत्यर्थः । उदीची
काष्ठां दिसम् । दिशास्तु ककुभ काष्ठा आशाश्च इरितश्च ता इत्यमरः । सिग्मररिम-
रिव । भृश दिवीपे अगदाक । सुकोपैत्यर्थः ॥ ५५ ॥

द्वीपदो के कहे हुये वाच्य को नवीन से होकर उद्धरण अथकार को अर्जुन के द्वारा
में असा सिद्धे से सुनकर अर्जुन उत्तर दिशा में प्राप्त सुन्नें की तरह प्रकाशित होने लगे ॥५५॥

अथाभिपरयन्निव विद्विष पुर. पुरोधसाऽऽरोपितहेतिसहति ।

बभार रम्योऽपि वपु स भीषण गत क्रिया मन्त्र इवाभिचारिकीम् ॥५६॥

अथेति । अथ विद्विष शत्रून्पुरोऽभिपरयन्निव स्थितस्तथा पुरोधसा धौम्येना-
रोपिता समन्त्रमाहिता हेतिसहतिरायुधकलापो यस्य स तथोक्त । 'हेतिर्ज्वाल-
ऽङ्कुरायुधे' इति वैजयन्ती । सोऽर्जुनो रम्य सौम्य सन्नपि । अभिचार परहिंसा प्रयो-
जन यस्या साऽऽभिचारिकी । 'प्रयोजनम्' इति छन्दः । ता क्रिया गत । अभिचास्-
कर्मणि नियुक्त इत्यर्थः । मन्त्र इव रम्य प्रकृत्या रमणीय । भीषयत इति भीषणम् ।
नन्याद्विश्वाद्ययुप्रत्यय । वपुर्बभार । शान्तो मन्त्र प्रयोगभेदादिव सोऽप्यवस्थाने
बान्नीषणो बभूवैत्यर्थः ॥ ५६ ॥

शत्रुओं को सम्मुख उपस्थित की भाँति देखते हुये अर्जुन के समीप पुरोधा (धौम्यने)
समन्त्र आदि शत्रुओं को स्थापित कर दिया । उस (अर्जुन) ने, स्वामयिक सौम्य मूर्ति होने
पर भी मारण क्रिया में प्रयुक्त सुरम्य मन्त्र की तरह भयङ्कर आकृति को धारण किया ॥५६॥

अविलङ्घ्यविकर्षण परैः प्रथितञ्चारवकर्म कार्मुकम् ।

अगतावरिदृष्टिगोचर शितनिस्त्रिशयुजौ महेषुधी ॥ ५७ ॥

अविलङ्घ्येति । परैः शत्रुभिरविलङ्घ्यमनतिक्रमणीयं विकर्षण यस्य तत् ।
'अमोघाकर्षणमित्यर्थः । किञ्च प्रथितो ज्यारवो गुणध्वनि कर्म घाणमोक्षणादिक च
यस्य सकारमुक चोद्बद्धस्त्रियन्वय । तथाऽरीणा दृष्टिगोचर दृष्टिपथमगतौ । आहवे-
ध्वनिर्घन्तिस्वादस्येति भावः । निर्गतस्त्रिगतोऽद्भुलिभ्यो निस्त्रिस्त' खट्वा । इत्यर्थे
सख्यायास्तत्पुरुषस्योपलक्ष्यानात्समासान्तः । तेन शितेन तीक्ष्णेन युद्धं इति
शितनिस्त्रिशयुजौ । 'सत्सृष्टिष-इत्यादिना क्विप् । महेषुधी महाविषहौ । इयवो
घीयन्तेऽनयोरिति विग्रहः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति क्विप्रत्ययः । 'तूणोपासङ्गूर्गीर-
निषह्ना इषुधिर्ह्यो' । तूण्यां खट्वो तु निस्त्रिस्तचन्द्रहासासिरिष्टय' इत्यमरः ॥ ५७ ॥

यशसेव तिरोदधन्मुहुर्महसा गात्रभिदायुधक्षती ।

क्वच च सरस्नमुद्बह्ज्ज्वलितज्योतिरिवान्तर दिवः ॥ ५८ ॥

यशसेति । किञ्च । गोत्रसिद्ध इन्द्रस्यायुधक्षतीर्ब्रह्मप्रहाररन्त्राणि । स्वाण्डवद्वाह-
सम्भवादिभिः भावः । महसा स्वकाम्या यशसेव मूर्त्तया कीर्त्यैव मुहुस्तिरोदधदा-
शब्दादयन् । सरस्न रत्नसहितमत एव ज्वलितज्योतिर्दोसवारकम् । 'ज्योतिस्तारा-
ऽग्निभाज्यालादकपुत्रात्मधरासु च' इति वैजयन्ती । दिवोऽन्तर नभो मध्यमिवाव
स्थिताम् । 'अन्तर परिघालीये बाह्ये स्वीयेऽन्तरात्मनि । छीये मध्ये प्रकाशे च' इति
वैजयन्ती । क्वच चोद्बह्नु ॥ ५८ ॥

जब अजुन ने माण्डवी घनुष, दो तरफत और कवच को (बचाएवान) धारण कर लिया तब समय में आकाशा-पराखवती प्रदीप्त नक्षत्र (तारा) की तरह प्रकाशित हो उठे । अजुनों के किये उल्लास घनुष अग्नेय था । उसको टह्यार दिग्बन्धित थी । उनके तरफत घनुष की दृष्टि में नहीं आते थे (अर्थात् पुत्र रूप से पीछे की तरफ धारण किये जाते थे जिससे उन पर अजुनों की नियाह नहीं पहुँच पाती थी) प्रत्येक निवृत्त में तीसरे अर्ध में रक्षा मया था । वे बाधों से कभी रिक्त होने वाले नहीं थे । कवच उमका रत्नों से बड़ा हुआ था । अजुन आम्हवदनदाह के समय राह के बन्न से होने वाले घत को धार र अपने तेन से आम्हवित नर रहे थे जैसे कोई अदनी कोर्ति से आम्हवदित कर देता हो ॥ ५७-५९

अलकाऽधिपसृत्यदर्शित शिवमुर्धोभरवरम संप्रयान् ।

इदयानि समाविवेश स स्याद्भद्राप्पदशा सपोसृताम् ॥ ५६ ॥

अहमेति । सोऽर्जुनोऽलकाऽधिपसृत्येव यथेन दर्शितमतः शिवं निर्वाचमुर्धोभर वरम हिमवन्मार्गं प्रति संप्रयान् गच्छन् कणमुद्राप्पदशां विद्योयदुःखारताजुनेत्राणां सपोसृतां द्वैतवननिवासिनां सपस्विनां इदयानि समाविवेश । सेवयामासेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

जुषेर के भूत (यक्ष) से दिखलाये हुये निष्कण्टक दिवालप के मार्ग का अवलम्बन करते हुए अर्जुन ने अन्नपूर्वनित्रवारी सपस्विनों (द्वैतवननिवासियों) के इन्द्र की उल्लास के किये हुए प्रवित कर दिया अर्थात् अजुन के विद्योय से वे सब दुःखी हुए ॥ ५६ ॥

अनुजगुरव विच्यं बुन्दुमिम्भानमाराः

सुरकुसुमनिपातैर्योमि स्रमीर्वितेने ।

प्रियमिव कथयिष्यलालिलिञ्ज स्फुरन्ती

मुषमनिभृवेलाधीचिबाहु पयोधि ॥ ६० ॥

इति भारविकृती महाकाये किराताजुनीये सृतीयं सर्गं ।

अनुजगुरिति । अथाथा दिशः । द्विवि अर्थ दिव्यम् । 'सुमागपागुहवस्रीषो यद्' । बुन्दुमिम्भानमनुजगुरनुदधनुः । पायतेर्छिट । योमि सुरकुसुमनिपातैर्योमिर्वितेने । पुष्यदृष्टिद्वान्निहेत्यर्थः । लिञ्ज । अमिभृताद्वल्लका वेलायां कूले या भीषयस्ता एष बाहवो यस्य स सपोसृताः । वेला कूलाविकारयो इति शाब्धतः । 'पयोधि' स्फुरन्ती दृष्टात्सन्मानां च मुखं प्रियमिव भारवतरणरूपं कथयिष्यन्निव । कथयितुमिहेत्यर्थः । 'भृट होये च' इति चकाराकियापौर्वा प्रियायां लृट् । आच्छिन्नम् । सब वेद शिवं देवकायप्रदृष्टाबाह्वेति भावः । अन्न विद्योयमात्रादाम्यत्प्रस्तुतस्य गम्यत्वात्समाप्तोक्तिरुद्धारः । तत्र चामस्तुसपोभूमिसमुद्रयोः प्रतिपद्याभ्यां नायकाम्यां

मेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिवशादालिङ्गनोक्तिरिति रहस्यम् । एवमतिशयोक्त्यनुप्राणिता समाप्तोक्तिः । श्रियकथनास्नेहमुज्जीवयति तदङ्गभाव भजत इत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर इति विवेचनीयम् ॥ ६० ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायश्लोकाचलमङ्गिनाथसूरिविरचिताया किराताशुनीय काव्यव्याख्याया षण्ठापथसमाप्त्याया तृतीय सर्ग समाप्त ॥

अर्जुन के प्रस्थानकाल में स्वर्ग में देवताओं ने दुदुभि बनायी, जिससे सम्पूर्ण दिशार्ग-गंज (भङ्गृत हो) चठीं । देवताओं ने पुष्पवृष्टि की, जिससे आकाशमवल अलङ्कृत हो उठा । समुद्र अपनी चक्रक तरङ्ग रूप मुखाओं से शुभ सन्देश सुनाते हुये की तरह उछास से भरी पृथ्वी का आलिङ्गन किया अर्थात् समुद्र में भी तूफान आगया ॥ ६० ॥

इस प्रकार 'प्रकाश' व्याख्या में तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

तत' स कूजत्कलहसमेखला सपाकसस्याहितपाण्डुतागुणाम् ।

उपाससावोपजन जनप्रिय. प्रियाभिवासादितयौवना भुव ॥ १ ॥

तत इति । तत' प्रस्थानानन्तर जनप्रिय सोर्जुन । कलहसा मेखला इवेत्युप-मित । अन्यत्र कलहसा इव मेखलेति विशेषणमास । कूजन्ती कलहसमे-खला यस्यास्ताम् । सह पाकेन वर्तन्त इति सपाकानि सस्यानि तै सत्यैराहित सपाकित' पाण्डुतैव गुणो यस्यास्तां भुवमासादितयौवनां प्राणयौवनां प्रियामिध । उपजन जनसमीपे । अन्यत्र सखीसमघम् । समीपार्थेऽभ्यधीमाघ । उपाससावोपज-तवान् । उपमाच्छकार ॥ १ ॥

प्रस्थान के बाद लोकप्रिय (अर्जुन) सखियों के समघ कलकूजन करते हुये राज-हस की तरह नित्वन(शब्द)कारिणी मेखला (करवनी) धारण की हुई, तथा (शुवा वस्था को प्राप्त) प्रौढ रमणी की भाँति, मेखला की तरह कलकूजन करने वाले राजहस नहीं निबर रहे थे, ऐसी और परिपक्व दशा को प्राप्त धन्वराशि के कारण गौरवर्षा भूमि के पास पहुँचे, जहाँ रूपक निवास करते थे ॥ १ ॥

विनम्रशालिप्रसवौधशालिनीरपेतपङ्का ससरोरुह्याम्भसः ।

नतन्द पश्यन्नुपसीम स स्थलीरुपायनीभूतशरद्गुणश्रियः ॥ २ ॥

विनम्रसि । सोऽर्जुनो विनम्रशाक्तिप्रसवौषशाक्तिनीरवमत्साक्षिकृष्टस्तोमशोभि
 शीरपेक्षयद्वा निष्पन्नाः ससरोरुहाण्यम्नासि यामु सास्तपोक्ता उपायनीमृता अर्जुनं
 प्रयुपहारीमृताः शरद्वगुणत्रियं पूर्वोक्ताः शरद्वमसंपदो यामु ता । उपसीम ग्रामसी
 मामु । विनम्रपर्वेऽप्यवीभावाः । समासान्तविधेरमित्यत्वात् अनम्र इति समासान्तो
 न भवति । केदिकु- अप्यन्वेषां कठिनवपुर्वां दुरामे ग्रामसीनिव इत्यादौ नपुंसकप्रयो
 गदान्तात् 'न सकादप्यन्तरस्याम् इति विकल्पात्साधुरित्याहुः । स्वकीरकृत्रिमा
 भुव । जानपद-हाद्यादिना अकृत्रिमायै हीय । परयजनम्ब अहय । अत्र शरद
 गुणेषु तावदभ्येनाशोप्यमाणस्योपयजनस्य प्रकृते नन्दनक्रियोपयोगित्वात्परिणामात्कृत्वात्

ग्राम की सीमा के समीप के भूमिखण्ड भुङ्गे हुए वान की बाहों से कुशोभिग हो रहे
 थे । वर्षा की वक मानमान को भी नहीं था । नहीं कहीं अक वा भी नहीं जन्में कमठ
 कुशोभिग हो रहे थे । अर्जुन इन सम्पूर्ण शरद अत्र की सम्पत्तियों को अपने प्रति उपहार
 को हुई के समान देखकर प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

निरीक्ष्यमाणा इव विस्मयाकुलैः पयोभिर्हन्मीलितपद्मलोचनैः ।

हृत्प्रियादृष्टिविलासविभ्रमा मनोऽस्या जह्म शफरीविहृतय ॥ ३ ॥

निरीक्ष्यमाणा इति । विस्मयाकुलैराभयरसाविष्टैरत पयोन्मीलितानि पद्यानीष
 लोचनानि येषां सा पयोभिरमोभिर्निरीक्ष्यमाणा इव स्थिता । हृत् प्रियादृष्टिवि
 लासानां विभ्रमः शोभा यामिस्तास्तयोक्ता इति मनोहरणे हेतुकिः । विभ्रमः संशये
 आन्तौ शोभायां च इति वैभ्रयन्ती । शफरीविहृतयो मत्स्यीस्फुरितान्यस्यार्जुनस्य
 मनो अहुः ॥ ३ ॥

की कहीं जलाशयों में मछलियों जिकर रहीं थीं । सरोवर आशय में पकड़
 निकलित कमठ कन नेत्रों से मानो छते देख रहा था । (मछलियों की चिलकें) बुवतियों
 के भविष्येदूर्वक दृष्टिगत के विनासक अपहरण कर रही थीं । ज्योंही अर्जुन के मन का
 भी अपहरण कर लिया ॥ ३ ॥

तुतोप परयः कलमस्य सोऽधिक सवारिजे वारिणि रामणीयकम् ।

मुदुर्लभे नाहति कोऽमिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसंगमे ॥ ४ ॥

तुतोपेति । सोऽनु सवारिजे साऽनुजे वारिणि कलमस्य शाक्तिविमोचस्य ।
 शाक्य कलमाद्याश्च पट्टिकाद्याश्च पुंस्यमी इत्यमरः । रामणीयस्य माषो रामणीय
 कम् । योपभाद्गुरुपोषमावुभम् । तत्परमत्रयिक तुतोप । अनुरूपसंगमादिति
 भावः । तथाहि । मुदुर्लभेऽनुरूपसंगमे योग्यसमागमे लभ्ये सतीति शेषः । प्रकष
 लक्ष्मीं योग्यसमागमननिमित्तानुत्कर्षसम्पदमिनन्दितुं स्तो तु को नाहति । सर्वो
 ऽप्यमिनन्दयेत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४ ॥

अर्जुन कमलपुत्र कल में धान की शोभा का अवलोकन करते हुये इतना प्रसन्न हुये
मिथवा हो सकते थे । दुःस्वप्न तथा योग्य सम्बन्ध प्राप्त होने पर कौन ऐसा मनुष्य होगा
जो वरुण सम्पत्ति का स्वागत न करे ? ॥ ४ ॥

नुनोद् तस्य स्थलपद्मिनीगत वितर्कमाविष्कृतफेनसतति ।

अवाप्तकिञ्चलकविभेदमुच्चकैर्विवृत्तपाठीनपराहृत पयः ॥ ५ ॥

नुनोदेति । आविष्कृता प्रकटीकृता फेनसन्ततिर्विण्डीरसमूहो यस्य तत्तथोक्तम् ।
'विण्डीरोऽविषकफ फेन' इत्यमर । अवाप्त किञ्चलकविभेद केसरोपगमो येन तत्त-
थोक्तम् । कृत । उच्चकैरुच्चक यथा तथा विवृत्तेन छुटितेन पाठीनेन मास्यविशेषेण
पराहृत ताडितम्, 'सहस्रवृष्टः पाठीन' इत्यमर । पयः कर्तुं तस्यार्जुनस्य स्थलपद्मि-
नीगतम् । तद्गोचरमाययं । वितर्कं सशय नुनोद् चिच्छेद् । पाठीनपराहृत्या किञ्च
वकापायेन जलदर्शनात्स्थलपद्मिनीशब्दा निवृत्तेत्यर्थः । अत्र निम्नोत्तरसदेहालङ्कार ॥

कही र सरोवरो के जल, जिसमें विकारविन्द (खिले हुए कमल) सुशोभित हो
रहे थे, फेन और कमलपराग से भाञ्छादित थे जिन्हें देख कर अर्जुन को पृथ्वी पर खिले
हुये गुलाब के पुष्प का भ्रम हो रहा था । ऊपर की ओर उल्लुण्ठन करते हुये पाठीन
(इमार दाँत वाली मढ़ली) से अभिनादित होकर दुःस्वपराग और फेनराशि के हट जाने
से जल दिखलाई पड़ने लगता था, जिससे अर्जुन का सशयविच्छेद हो गया ॥ ५ ॥

कृतोर्मिरेखं शिथिलत्वमायता शनै शनै शान्तरयेण वारिणा ।

निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोषिता तरङ्गितक्षौमविपाण्डुसैकतम् ॥ ६ ॥

कृतेति । सोऽर्जुन शिथिलत्वमायता गच्छता । द्विने द्विने क्षीयमाणेनेत्यर्थः ।
अतएव शनै शनै शान्तरयेण । अन्यथोर्मिरेखानुदवाविति भावः । वारिणा कृता
उत्तम्य पर्वाण्येव रेखा राजयो यस्य तत्तथोक्तम् । तरङ्गा अस्य सजातास्तरङ्गित भङ्गि-
तम् । 'तदस्य सजात-इतीतच् । यक्षौम दुकूल तद्द्विपाण्डु शुभ्रमित्युपमालङ्कार ।
समुद्रयोषिता नदीनाम् । सिक्तास्यास्तीति सैकत पुलिनम् । 'सिकताशर्कराभ्यां च'
दृष्यन्प्रत्ययः । 'सोयोषित तत्पुलिन सैकत सिकतामयम्' इत्यमरः । निरीक्ष्य
रेमे तुतोप ॥ ६ ॥

कमल क्षीणोन्मुक्त बेगरहित, जलने विहित तरङ्ग रेखाभियत और भङ्गिमायुक्त क्षौम
वल्गु के सहित शुभ्र, सिकताराशि (भालू का डेर) को देख अर्जुन बहुत प्रसन्न हुये ॥ ६ ॥

तत्तच्छिभि शाखिनोर्ध्नी वर्णयति—

मनोरम प्रापितमन्तर अबोरलकृत केसररेणुनाणुना ।

अलकताभ्राधरपल्लवत्रिधा समानयन्तीमिव बन्धुजीवकम् ॥ ७ ॥

६ कि०

मनोरममिति । अणुना सूक्ष्मेण केसरेषु किञ्चिद्वेदु । किञ्चिद्वेदु केसरोऽस्त्रियाम्
 इत्यमरः । यो रेणुः परागस्तेनाच्छ्रुतमत एव मनो रमयतीति मनोरमम् । कमण्डलु
 इत्यण । अघोरन्तर प्रापित भूमध्ये निवेशितं वायुजीवकं वायुपुण्ड्रम् । वायुजीवकं
 वायुजीवकं इत्यमरः । अलक्षताभ्रस्य काष्ठारागारकस्याधरपक्षस्य शिवा शोभा
 समानयन्तीं समीकृवतीमिव । साम्यपरीक्षां कृवतीमिवेत्यर्थः । उद्येसाकङ्कारः ॥ ७ ॥

(कवि प्रागे प्राये हुवे नीन उलोको से भान को रक्षा करने वाली शिवो का रच्यन परता
 है—) भान को रक्षा में लगी हुई शिवोने सूक्ष्म केसरकिण क (पराग) से वायुपुण्ड्र को
 विगूणित करके मौहो के मध्य में बिपका दिशे थे वे मनोभिराम दिखकारे पवते थे ।
 वसे वायु (महावर) की काष्ठमा से रक्षित अघर पक्ष को शोभा से मानो में प्रकटा
 कर रही है (येना मासूम पवता ॥) ॥ ७ ॥

नवातपालोहितमाहित मुहुमहानिवेशी परितः पयोधरौ ।

चक्रासयन्तीमरविन्दुर्ज रजः परिभ्रमाम्भःपुलकेन सपता ॥ ८ ॥

अवेति । महाग्निवेशः स्थानं अयोस्ती महानिवेशी । पीवरावित्यर्थः । पयोधरौ
 परितः । स्वयमो समन्तादित्यथा । अमितपरितःसमयागिकबाह्याप्रतियोगेति
 इति द्वितीया । मुहुःरहित नवातपालोहित नालातपताभ्रमरविन्दुर्ज रजः परागं सर्वत्र
 असरता परिभ्रमाम्भःपुलकेन रवेदोद्भेदेन चक्रासयन्तीं शोभयन्तीम् । चक्रास्तेष्वं
 न्वाच्छ्रुतरि जीप् । अलक्षरणं कृवतीम् । तत्रापि विद्वृततेति भावः ॥ ८ ॥

वे (शाश्वतोष्णी) शिवो अपने पीन पयोधरौ (स्वयं) में प्रायःकालेन भावप के समान
 किञ्चिन्नात्मिमा लिये कमलपुष्पपराग लगाये हुई थी । वे उस पुष्पवृत्ति को बहते हुवे
 श्वेदविन्दुषो से मुहोमित कर रही थीं ॥ ८ ॥

कपोलसरलेषु विलोचनत्रिषु विभूषयन्तीमजतसकोत्पलम् ।

सुतेन पाण्डो कलमय गोपिका निरीक्ष्य मेने शरदः कृताभयता ॥ ९ ॥

कपोलेति । पुनः कपोलसरलेषु अद्वयतसकोत्पलं कर्णोत्पलं तद्विलोचनत्रिषु वि-
 भूषयन्तीम् । आभरणस्याप्याभरणमिति भावः । कलमं गोपायतीति गोपिका शाशि-
 गोष्ठीम् । श्वुषयत्यय । निरीक्ष्य पाण्डो सुतेनाहुनेन । शरदः कृतार्थाया भावः कृता
 र्थता साफल्यम् । शरदः श्वगुणसम्पत्तिद्विभिवोगाळाभादिति भावः । स्वतच्छेर्गुणक-
 यनस्य पुवत्तावो वक्ष्य्याः । मेनेऽमानि । मन्वतेः कर्मणि क्ति ॥ ९ ॥

वे (अस्वपाण्डिसे) अपने नेत्र को कान्ति से कपोल (बाह) तक कटकते हुये कर्णों
 तक को घलकटन करती थीं (भूषण को भूषित करती थीं) शरद क्षेत्र को रक्षा करने वाली
 उन शिवो को देखकर पाण्डवने शरदः कृत को सफल माना ॥ ९ ॥

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादुपारयन्त पतितुजवेन गाम् ।

तमुसुकाश्चक्रुरवेक्ष्णोत्सुक गवा गणा' प्रस्तुतपीवरौघस ॥ १० ॥

उपारता इति । पश्चिमा चासौ रात्रिरचेति विशेषणसमास । अपररात्र इत्यर्थः ।
 "पूर्वा विष्वपश्चिम नभः । इत्यादिवदैकदेशशब्दस्यैकदेशशब्दसामानाधिकरण्यादेकदेशे
 पर्यवसानम्, नतु पश्चिम रात्रेरित्येकदेशसमास । तद्विधायके पूर्वापरादिसूत्रे पश्चिम
 शब्दाग्रहणात् । अत एव 'अह सर्वैकदेश-' इत्यादिना न समासान्तोऽपि । तस्यापि
 पूर्वापरादिसूत्रोक्तसमासविषयत्वादिति । प्रकाशवर्षस्तु एकदेशसमासमेवाश्रित्य
 समासान्तमाह, तन्मृग्यम् । गावश्चरन्त्यत्रेति गोचरो गवा जश्वस्थान वनम् । पश्चिम
 रात्रौ यो गोचरस्तस्मादुपारता सनिधुत्ता जवेन गामुवपतितु घाघितुमपारयन्तोऽश्वस्तु-
 वन्त प्रस्तुतपीवरौघतो वत्सस्मरणत्वेनरपीनापीना । 'ऊवस्तु छीवमापीनम्' इत्यमरः ।
 'ऊवसोऽनङ्' इति स्त्रीग्रहण कर्तव्यमिति नियमान्नामहादेशः । उस्तुका वरसेपूक्त
 ण्ठिता गवा गगास्तमर्जुनभवेक्ष्णोत्सुक दर्शनकाकस चक्रुः । 'स्वरोपपशुवाम्बद्भिद्भने-
 त्रचृगिभूजले । लक्ष्यदृष्टया क्षिप्या पुंसि गौ' इत्युभयत्राप्यमरः । अत्र स्वभावोक्तिरल
 क्षारः—'स्वभावोक्तिरलक्षारो यथावद्भस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ १० ॥

गायें रात के पिछले पहर में चरागाह से लौटते समय, वेग से पृथ्वी पर दौड़ नशें
 सकती थीं क्योंकि वे अपने २ वन्धों का स्मरण करके उत्कण्ठित हो गईं थीं जिसके कारण
 उनके पीछे पयोधरों से (कई २ वनों से) चीर वह रहे थे । वे अर्जुन को अपनी
 तरफ देखने में समुत्कण्ठन कर दीं (अर्थात् उन्हें देखने के लिये अर्जुन को प्रवृत्त
 काकसा हुईं) ॥ १० ॥

परीतमुच्चावजये जयश्रिया नदन्तमुच्चैः क्षतसिन्धुरौघसम् ।

ददर्श पुष्टिं दधत् स शारदीं सविग्रह दर्पमिवाधिप गवाम् ॥ ११ ॥

परीतमिति । सोऽर्जुन उच्चावजये उचान्तरमङ्ग सति जयश्रिया परीत वेहितमु-
 च्चैर्नदन् क्षतसिन्धुरौघस क्षणसरित्तट शरधि भवां शारदीं पुष्टिमवधपोषध दधत्
 गवामधिप महोक्ष सविग्रह मूर्तिमन्तम् । 'कायो देह क्लीवपुतो शरीर वर्ण विग्रह'
 इत्यमरः । दर्पमित्युत्प्रेक्षा । ददर्श ॥ ११ ॥

अर्जुन ने देखा—एक महान् वृषभ अन्य वृषभ के साथ युद्ध कर के उसे पराजित कर,
 विजय छाव कर सम्भीर गजन करता हुआ नदी के तट को छोड़ रहा था । वह गायों का
 राजा आपन दृष्टपुष्ट मानों साक्षात् दर्प हो महोक्ष के रूप में उपस्थित हुआ था ॥ ११ ॥

विमुच्यमानैरपि तस्य मन्यर गवा हिमानीविशदै कदम्बकैः ।

शरन्नदीना पुलिनैः क्षुत्तूहल गलदूदुकुलैर्जघनैरिवाधवे ॥ १२ ॥

मनोरममिति । अगुना सूष्मेज केसरेषु किञ्जल्लेषु । किञ्जल्लोकेसोऽधिवायु
 हृत्पमरः । यो रेणुः परागस्तेनालकृत्तमत एव मनो रमयतीति मनोरमम् । कम्प्यण
 हृत्पण । अन्तोरन्तर प्रापितं भूमध्ये निवेशितं बन्धुजीवकं बन्धूकपुत्रम् । 'बन्धूकी
 बन्धुजीवक हृत्पमरः । अलकृत्ताग्रस्य छाद्यारागरस्योत्सवाभरणस्य भिया शोभया
 समानयन्तीं समीकुचतीमिव । सात्प्रपरीक्षां कुर्वतीमिवेत्यथ । उग्रप्रसक्तद्वार' ॥ ७ ॥

(कवि आते आते हुवे तीन पल्लोको से वान की रक्षा करने वाली स्त्रियों का वन्य वस्त्र
 है—) वान की रक्षा में लगी हुई स्त्रियोंके सुपम केशरक्षिक क (पराग) से जपपुष्प से
 विमूषित करके भीरो के मध्य में निवेशा दिये थे वे मनाशिराम रिखडार पत्नी थे ।
 उसे यावक (महावर) की छात्रिणा से रजित मकर पठर की शोभा से मानो वे पुष्पा
 कर रही हैं (यैना मालुव पठता ७) ॥ ७ ॥

नवातपालोद्दितमाहितं मुहुमहानिवेशी परितः पयोधरी ।

चकासकन्वीमरविन्दज रजः परिश्रमान्भ पुलकेन सर्पता ॥ ८ ॥

नवेति । महाग्निवेशः स्थानं यपोत्तौ महानिवेशी । पीवराधित्वर्चः । पयोधरी
 परिता । शतमथो समन्तादित्यथा । अमितः परितःसमयाधिकवाहाप्रतियोरौर्गि
 इति द्वितीया । मुहुमहानिवेशी नवातपालोद्दितं बालातपताभ्रमरविन्दजं रजः परातं सर्पता
 प्रसरता परिश्रमान्भ पुलकेन श्वेदोद्भेदेन चकासकन्वीं शोभयन्तीम् । चकास्तेर्ण
 न्ताच्छतरि कीप् । अलङ्करणं कुर्वतीम् । सप्रापि विकृततेति भावः ॥ ८ ॥

ये (शक्तिगोप्त्री) स्त्रियाँ अपने पौत्र पयोधरी (स्वर्ग) में प्रातः कालेन भावर के समान
 किञ्चिन्नाकिमा लिये कमलपुष्पपराग लगावे हुई थीं । वे इस पुष्पवृत्ति को धरते हुये
 श्वेदमि हुन्ने से मुहोमित कर रही थीं ॥ ८ ॥

कपोलसंरलेषि विलोचनत्विथा विमूषयन्तीमवतसकोत्पलम् ।

सुतेन पाण्डो कलमत्य गोपिक्व निरीच्य मेने शरदः कृतायता ॥ ९ ॥

कपोलेति । पुनः कपोलसंरलेषि यदवतसकोत्पलं कपोत्पलं तद्विलोचनत्विथा वि
 मूषयन्तीम् । आभरणस्याभ्रमरमिति भावः । कलमं गोपापतीति गोपिकं शक्ति
 गोप्त्रीम् । प्लुवमत्यथाः । निरीच्य पाण्डोः सुतेनाल्लुनेन । शरदः कृतायताया भावः कृता
 यता साकश्यम् । शरदः स्वपुनसम्पत्तिद्विनिर्गोराडामाविति भावः । 'स्वतलोर्गुज
 चतस्य पुवज्ञावो वक्ष्यन्' । येनेप्रमाति । मन्वतेः कर्मणि क्तिट् ॥ ९ ॥

ये (हृत्पपाक्षिकर्षे) अपने नेत्र की शक्ति से कपोल (गोक) एक छटकते हुये कर्णो
 त्यक्तों से अलङ्करण करती थीं (मूष्य को मूषित करती थीं) शरद क्षेत्र की रक्षा करने वाली
 इन स्त्रियों को देखकर पाण्डवने शरदः खड्ग को सफल माया ॥ ९ ॥

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादुपरयन्त पतितु जवेन गाम् ।

तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणेः सुक गवां गणां प्रस्तुतपीवरौघसः ॥ १० ॥

उपारता इति । पश्चिमा चासौ रात्रिश्चेति विशेष्यसमासः । उपरारात्र इत्यर्थः ।
 'पूर्वा दिक्पश्चिमं नमः । इत्यादिबदेकदेशशब्दस्यैकदेशशब्दसामानाधिकरण्यादेकदेशो
 पर्यवसानम्, ननु पश्चिम रात्रेरित्येकदेशसमासः । तद्विधायके पूर्वापरादिसूत्रे पश्चिम
 शब्दाग्रहणात् । अत एव 'अहं सर्वैकदेशः' इत्यादिना न समासान्तोऽपि । तस्यापि
 पूर्वापरादिसूत्रोक्तसमासविपर्यव्यादिति । प्रकाशवर्षस्तु एकदेशसमासमेवाधित्य
 समासान्तमाह, तन्मृश्यम् । गावश्चरन्त्यश्रेति गोचरो गवां जन्निवस्वान् वनम् । पश्चिम
 रात्रौ यो गोचरस्तस्मादुपरता संनिधृत्ता जवेनया मुखपतितु घ्राचितुमपारयन्तोऽश्वानु-
 बन्त प्रस्तुतपीवरौघसो वासस्मरणास्त्रिवापीनापीना । 'ऊधस्तु छोवमापीनम्' इत्यमरः ।
 'कषसोऽनङ्' इति स्त्रीग्रहणं फलभूमिर्निमित्तं नियमान्नानङ्गदेशः । उत्सुका वरसेपूक्त
 षिट्ठा गवां गणास्तमर्तुं नमवेक्षणोत्सुकं दर्शनलाभसं चक्षुः । 'स्वर्गेऽपुपशुवाग्ब्रह्मविद्-
 त्रघृणिभुजले । लघ्यदृष्टया शिखा पुंसि गौः' इत्युभयप्राप्यमरः । अत्र स्वमाधोक्तिरु-
 क्तार — 'स्वमाधोक्तिरुक्तारो यथायद्दस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ १० ॥

गावो रात्र के पिछले पहर में चरागाह से लौटते समय, वेग से पृथ्वी पर दौड़ नहीं
 सकती थीं क्योंकि वे अपने २ बच्चों का स्मरण करके उत्काण्ठ हो गईं थी जिसके कारण
 उनके पौन पकोपरो से (बड़े २ बनों से) घोर धड़ रहे थे । वे भर्तुंन को अपनी
 ४ तरफ देखने में समुत्काण्ठ कर दीं (अर्थात् कोई देखने के लिये अञ्जन को प्रकत
 लाता हुईं) ॥ १० ॥

परीतमुच्चावजये जवश्रिया नदन्तमुच्चैः क्षतसिन्धुरोधसम् ।

ददर्शं पुष्टिं दधत स शारदीं सविग्रहं दर्पमिवाधिप गवाम् ॥ ११ ॥

परीतमिति । सोऽञ्जुन उच्चावजये उचान्तरमङ्ग सति जवश्रिया परीत वेदितमु-
 च्चैर्नदन्त क्षतसिन्धुरोधस हृणसन्निचत शरदि भवा शारदीं पुष्टिमवयवोपचय दधत
 गवामधिप महोच सविग्रहं मूर्तिमन्तम् । 'कायो देह क्लीवपुलो शरीर वर्धनं विग्रहः'
 इत्यमरः । दर्पमिवेशुभ्रेषां । ददर्शं ॥ ११ ॥

अञ्जुन ने देखा—एक महान् वृषभ जय वृषभ के साथ युद्ध कर के उसे पराजित कर,
 विजय लाभ कर गम्भीर गमन करता हुआ नदी के तट को उदा रहा था । यह गावों का
 राजा अपनी उष्टपुष्ट ननों साक्षात् दर्प ही महोक्ष के रूप में उपस्थित हुआ था ॥ ११ ॥

विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थर गवां हिमानीविशदैः कदम्बकैः ।

शरन्नदीनां पुक्तिनैः कुतूहल गलद्दुक्कलैर्जघनैरिवादधे ॥ १२ ॥

विमुष्यमानैरिति । हिमानीविशद्वैर्हिमसंघातश्चै । हिमानी हिमसंहति इव
 मर । इन्द्रवह्नि- इत्यादिषा ङीप् । सप्तनियोगादानुगागमश्च । गवां कदम्बै-
 कर्तुमि । कदम्बकं समूहे श्रोफले पुष्पविशेषके इत्यमरः । मन्थरं मन्द् विमुष्यमा
 नरपि किमुताविमुष्यमानैरिति भावः । शरन्नदीनां सम्बन्धमि । शरद्ग्रहणं प्रा-
 णिनसूत्यधम् सत्र पुष्टिमादृशनादिति भावः । पुष्टिनैः कर्तुमि गणददुष्टैश्चनरिव
 सस्याजुनस्य कुतूहल कौतुकमाद्य आहितम् ॥ १२ ॥

बर्फ की चट्टान के समान सफ द गायों के मुँह धीरे धीरे सरद काल की नदी के
 बालुकाभय डेर को छोड़ते हुने चले गारहे थे व हे देख कर भजुन को ऐसा कुतूहल उत्पन्न
 हुआ बीसा कि रमणों के बचन प्रदेश से सरकारी हुई सारी क समय किसी (कायुक) अ
 कि को होता है ॥ १२ ॥

गतापशूना सहजन्मवधुता गृहाश्रयं प्रेम धनेषु विभ्रतः ।

ददशा गोपानुपधेनु पाण्डव कृतानुकारानिव गोभिरान्वि ॥ १३ ॥

गतानिति । पाण्डवोऽर्जुनः पशूनां गवाम् । सह जन्म वेपां ते सहजन्मान-
 सोदरास्त एव वचवस्तेषां भावस्तप्ता तां गतान् । पशुषु सोदरामिमानवत्
 इत्ययम् । गृहाश्रय गृहविषयं प्रेम धनेषु विभ्रतः । धनेषु गृहाभिमानिन इत्ययम् ।
 आनवे विधेयत्वे गोभिः पशुभिः कृतानुकाराननुकृतानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । ततो
 विधेयानित्ययम् । गाः पान्तीति गोपा गोपालकाः । आतोऽनुपसर्गे कः इति कप्र
 त्ययः । तानुपधेनु धेनुसमीपे । समीपार्थेऽभ्यधीभावः । ददशा । अद्येऽप्येवानुपगिता ।
 स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १३ ॥

अर्जुनने गायों के पास अहोरो (गोपालकों) को देखा । वे साथ साथ जन्म लेने के
 कारण गायों के (उनके) कुटुम्बी वन गये थे । उन्हें दुःख कर से भी अधिक स्यादा था ।
 स्वभाव की कोमकता (ओक्षण) तो वे मानो गायों से सीख रहे थे ॥ १३ ॥

अथ अर्जुनिसहस्रवीनसकीसाम्येन घणयति—

परिभ्रमन्मूर्ध्वजपट्पदाकुलै स्मितोदयादर्शितवन्तकेसरैः ।

मुखैश्चलत्पुण्डररिभरश्चितैर्नवातपाशुष्टसरोजचारुमि ॥ १४ ॥

परिभ्रमदिति । मूर्ध्वजा चक्षुषा इवेत्युपमितसमासः । सरोजचारुमिर्हित्युपमा-
 सारात् । परिभ्रमन्निभ्रमन्मूर्ध्वजै- पटपत्राकुलाणि वै । दन्ता- केसरा इवेति पूर्वव
 स्तमास । स्मितोदयेनादक्षिता ईषत्प्रकाशिता दन्त-केसरा वेपां तैस्तयोक्तैः । चक्षु-
 ष्टरिभरश्चितैश्चकनककण्विहनप्रमानुकिन्तैरव एव नवातपाशुष्ट नाकातपसुष्ट
 य-सरोजं सहचारुमिर्मुखपर्यवृत्ताः ॥ १४ ॥

भजुन मुँह करती हुई बार वृष्टियों की भाँति गोपिकाओं को निर्जिमेव वृष्टि से देखने लगी ।

उम गोपियों के मुखमण्डलपर बिजरे (नियुरे) हुवे केश कटाव भ्रमरो को तरह दिख गई पडते थे । मन्व हास से पुष्प परान की तरह दशन पैक्तिर्षा दिखलाई पडती थीं, दिलते हुवे कानके कुराडकों की दीप्ति से उनका मुख मराडल चमक रहा था और प्रमास काल के सूर्य की किरणों से विकसित कमल की शोभा की प्राप्त हो रहा था। (इस श्लोक में मुख की उपमा कमल से दी गई है । दंत को कमल का केशर माना गया है । खालिनियों के केश को कमल पर झूमने वाले भ्रमर की उपमा दी गई है) ॥ १४ ॥

निबद्धनिश्वासविकम्पिताधरा लता इव प्रस्फुरितैकपल्लवा ।

व्यपोढपाशर्वैरपवतितत्रिका विकर्षणै पाणिविहारहारिभिः ॥ १५ ॥

निबद्धेति । निबद्धेनासुरद्धेन निश्वासेन विकम्पिता अधरा यत्ना तास्तथोक्ता । अतएव प्रस्फुरितैकपल्लवा । प्रच्छित्तैकपल्लवा इत्यर्थः । 'कश्चित्सख्याशब्दस्य घृत्ति विषये घीप्लाशर्वैव सप्तपर्णादिवत्' इति कैयट । लता इव स्थिता । देवादेकपल्लव स्फुरणस्यापि लोके सम्भवाद्युपमेवेव नोत्प्रेक्षा । किंच । व्यपोढानि विपरीतानि पार्श्वानि येषु तै पाणिविहारहारिभि पाणिविषेपमनोहरैः । 'अद्रहारोऽङ्गविषेपः । इत्यमरः । विकर्षणैर्मन्थगुणाकर्षणैरपवर्तितत्रिका सचलितनितम्बा । यद्यपि 'दृष्टवशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः, तथाप्यत्र नितम्बो लक्ष्यते तन्नैकत्वाच्चित्ति भावः ॥ १५ ॥

यदि मन्थन कार्य में लगी हुई उन खालिनियों के होठ (अधर) बचास के एक जाने से प्रकम्पित हो रहे थे, उससे वे, उस लता के सदृश मालूम पडती थीं जिसका एकही पत्ता किसी तरह दिख गया हो । हाथों से मन्थन के दण्ड के सजाकन से उनका पार्श्व प्रदेश विवृत दिखलाई पड रहा था । और उनके नितम्ब भी दुलक रहे थे ॥ १५ ॥

ब्रजाजिरेष्वम्बुदनादशङ्किनी शिखण्डिनामुन्मदयत्सु योषितः ।

मुहुः प्रणुन्नेषु मया विवर्तनैर्नदत्सु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम् ॥ १६ ॥

ब्रजेति । ब्रजाजिरेषु गोष्ठप्राङ्गणेषु । अचिच्छरणे सप्तमी । 'ब्रजो गोष्ठाश्वघृन्देषु' इति विश्वः । अम्बुदनादशङ्किनीर्गजितभ्रमवतीरिति भ्रान्तिमदलङ्कारः । शिखण्डिना योषितो मयूराः । योषिद्ग्रहण मौर्य्यातिशयार्थम् । उन्मदयत्सुन्मदा कुम्भेषु । 'तत्करोति' इति प्वन्ताच्छब्दप्रत्ययः । मया मन्थनदण्डानाम् । 'वदास्यमन्थमन्यामस न्यानो मन्थदण्डके' इत्यमरः । विवर्तनैः परिभ्रमणैर्मुहुः प्रणुन्नेषु कम्पितेष्विति स्वमा योक्तिः । कुम्भेषु कलशेषु मृदङ्गवन्मन्थर मन्द नदत्सु सस्त्विति चापसाम्योक्तिः । या चलच्छणे सप्तमीयम् ॥ १६ ॥

अधीर टोलियों में मन्थनदण्डों के घूमने से (वे घड़े, जिनमें यधि दिकोहन की जाती थी) यधि माण्ड मृदङ्ग के सदृश मधुर ध्वनि करते हुवे, मयूरियों को मेघ गर्जन का भ्रम उत्पन्न कर उन्मादित कर रहे थे ॥ १६ ॥

स मन्थरावलिगतपीथरस्तनी परिभ्रमकान्तविलोचनोत्पला ।
निरीक्षितु नोपरराम बलवीरभिप्रनृत्ता इष वारयोपित ॥ १७ ॥

स इति । मन्थरं मन्थरावलिगताश्चक्षुः पीथराः स्तना यासां तास्त्रयोक्ता ।
श्यामलोपसर्जनाः सद्योगोपधात् इति ङीष् । परिभ्रमेण बलान्तानि गठानि विलो-
चनोत्पलानि यासां तास्त्रयोक्ता बलवीर्योपी । गोपे गोपालगोसह्यगोपुगामोर
बलवा इत्यमरः । अभिप्रनृत्ता नृत्यन्ती । गद्यर्थाऽन्यथा- इत्यादिना कतरि कः ।
भक्तिबुद्धिपूर्वाभ्यर्थः इति चकाराहर्तमानार्थत्वम् । वारयोपितो वेरया इव । वारयो
गणिका वेरया इत्यमरः । सोऽर्जुनो निरीक्षितुम् । ईषतेस्तुमुन् । नोपरराम न विर-
मति स्म । उपपत्त्यः । विभाषाऽन्यथा इति परस्मैपदम् । अथ कर्तुरखोक्त्यामु-
पास्वभावोक्त्यो सप्तमिः ॥ १७ ॥

गोपिनामो के स्पृह स्तन (इषिमन्थन करते समय) बिरक रहे थे परिभ्रम से एक कर
उनकी भौंछे बलता रही थीं । (ऐसी गोपगठनामो को नृत्य किया मैं तीन वेरयामो की
पर इ देखने में अर्जुन का मन निवृत्त न हुआ ॥ १७ ॥

पपात पूर्वा जहती विजिह्वता वृधोपमुक्तान्तिकसस्यसम्पद ।
रथाङ्गसीमन्तितसा द्रुक्द्वा प्रसक्तसपातपृथक्कृतापथ ॥ १८ ॥

पपातेति । सोऽर्जुना पूर्वा प्रादुष्येयां विजिह्वतां चकृतां जहतस्यन्नतः । अरि-
विष्वङ्गत्वेन समरेणस्यैव युगमव्यावृत्ति भावः । जहातेः शतृप्रत्ययः । वृधोपमुक्तान्तिक-
कसस्यसंपदो वृधमर्थविभ्रमात्सस्यससृदीन् । सुदृष्टे वृधमे वृध इत्यमरः । सीमन्ता
इव सीमन्ताश्चक्रापद्वलयः सीमन्तवन्तः कृताः सीमन्तितः । मन्थन्तात् 'तत्करोति'
इति शिथि कः । पाविष्ठवद्भावाभ्यन्तुपो ह्रस्वः । रथाङ्गैश्चकैः सीमन्तितः साम्ना कथ-
मा अनीमूनाः पन्ना येषु तान्प्रसक्तसपातेन संततसंचारेण पृथक्कृतापथो मार्यान्पपात
अगामेति स्वभाषोक्तः ॥ १८ ॥

अर्जुन निज ९ मार्गो का अवलम्बन करके भारे थे थे सम्पूर्ण भाग जो धर्षा के कारण
उड़े भेड़े हो गये थे छींटे और हगम बन गये थे । उनके दोनों बगल के छेटी के बाणों को
बैठो ने मन्नन कर डाला था । गाड़ियों के पहियों के चपने से मार्ग में कहीं ९ कीचड़ भय
गये थे । लोगों के सतन आने जाने से सब मार्गें एवढ िसजाई पडे थे ॥ १८ ॥

जनैरुपग्रामनिन्धकर्मभिर्विचिक्तभावेद्भित्तमूपगैर्वृता ।
भूरा ददर्शाभ्रमण्डपोपमा सपुष्पहासा स निवेशवीरुध ॥ १९ ॥

जनैरिति । सोऽर्जुन उपग्रामं ग्रामेषु । विमलस्यैऽभ्ययीभावः । अविन्दकर्मभि-
रभिपिद्वृत्तिभिः । पृस्तभक्तं वृथ्यादिरन्वत्र शिखोन्वादि । विचिक्तान्येकाग्रानि भावो
अभिप्राय इन्द्रित चेष्टा मूषणमलङ्कारश्च येषां तैस्तथोक्तैर्जनैर्वृताः । अविहित्वा इत्यथा ।

अत एवाश्रमेषु मुनिस्थानेषु ये मण्डपास्तदुपमा । 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः ।
सपुष्पहासा पुष्पविकाससहितः । 'तेन सह-' इत्यादिना बहुव्रीहिः । निवेशवी-
रुषो गृहगुणिमनी । 'वीरुषौ वस्त्रिगुणिमन्वौ' इति वैजयन्ती । शृङ्ग सादर ददर्श ।
उपमाश्लङ्कार ॥ १९ ॥

जाते समय मार्ग में जो २ ग्राम पड़ते थे, अर्जुन ने स्वका निरीक्षण किया । गाँव के
प्रत्येक घरों के लता कुञ्ज, जिनमें पुष्प विकसित हो रहे थे और लता कुञ्ज प्रामनिवासियों से,
(भिनके, आचार, विचार, वैध भूषा तथा धात और भाव सब व्यक्त थे), अधिष्ठित होकर
मण्डप के समान सुन्दर प्रतीत होते थे ॥ १९ ॥

ग्राम निवासियों से अधिष्ठित वे, आश्रम में बने हुए महप की शोभा धारण कर रहे थे ।
वन (ग्राम निवासियों) के काम शुक थे । उनके माव, चेष्टा और आभरणदि उनके कर्म के
सोतक थे, उन्हें अर्जुन ने बार २ अवलोकन किया ॥ १९ ॥

ततः स सप्रोक्ष्य शरदूगुणश्रिय शरदूगुणालोकनलोलचक्षुषम् ।

उवाच यच्चतमचोदितोऽपि गा न हीङ्गितज्ञोऽवसरैवसीदति ॥ २० ॥

तत इति । तत स पूर्वोक्तो यच्च शरदूगुणश्रिय सप्रोक्ष्य । दर्शनीया वर्णनीया च
विचार्यैत्यर्थः । शरदूगुणालोकने लोलचक्षुष सत्पणादितिम् । 'लोलश्लसत्पणासोः' इत्य-
मरः । तमर्जुनमचोदितोऽप्यपृष्टोऽपि गा वाचमुवाच । तथाहि । इङ्गितज्ञो भावज्ञः ।
'इङ्गितं हृद्गतो भावः' इति विश्वः । अवसर उच्यतेऽप्ये काले भावसीदति च वाच
पश्यति । 'वागृष्ट कस्यश्चिद् भूषत्' इति निषेधसधनाकाङ्क्षितोक्तिविषय इति भावः ।
सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २० ॥

उस पचने शरदूगुण के गुणों की शोभा देख कर, शरदूगुण की शोभा देखने में सत्क
नेत्र, अर्जुन से बिना कुञ्ज पूछे ही बोला क्योंकि अभिप्राय का शाता व्यक्ति समय पर कमी
नहीं चूकता । अर्थात् यच्च अर्जुन के मद्योगत भाव को समझ वर उनसे बातलाप करने के
लिये कुञ्ज कहा ॥ २० ॥

इय शिष्याया नियतेरिवायति कृतार्थयन्ती जगतः फलै क्रियाः ।

जयश्रियं पार्थ ! पृथूकरोतु ते शरत्प्रसन्नाम्बुरनम्बुवारिदा ॥ २१ ॥

इयमिति । हे पार्थ, शिष्याया कल्याणकारिण्या नियते । 'द्वैव द्विष्टं मागधेव भा-
ग्य स्रो नियतिर्विधि' इत्यमरः । शुभावहवैवत्यायति फलदानकाल सेव जगत
क्रिया कृप्यादिकर्माणि फलेर्लाभे । 'लाभो निष्पत्तियोगेषु शीघ्रभावे बने फलम्' इति
वैजयन्ती । कृतार्थयन्ती सफलयन्ती प्रसन्नाम्बुगिर्मलोदकाऽनम्बुवारिदा निर्वाकमेधा ।
अनेन विशेषगद्दयेन शारदापृथिव्योरानुकाक्ष्य सूचयति । इय शरत्से जयश्रिय पृथूकरो-
तु । आसीर्ये लोटे ॥ २१ ॥

यह शरद्वृत्त मङ्गल मय माग्य के फलदान का काळ है । यह सप्तारके सम्पूर्ण क्रियाओं को फल प्रदान करके सफल बनाती है । इस ऋतु में जल निर्मल हो जाता है । बारक भी बह हीन हो जाती है । ऐश्यायुग ? यह शरत्काळ आप को ज्यमो से सुशीबित करे । इदानीं आप के विषय की अनुकूलता भी प्रतीत होती है ॥ २१ ॥

सपैति सस्यं परिणामरम्यता नदीरनौद्वत्यमपङ्कता मही ।

नवैगुणैः सप्रति सस्त्वस्थिरं तिरोहित प्रम घनागमभियं ॥ २० ॥

उपैतीति । सस्य षोडशदिक परिणामेन परिपाकेन वा रम्यता सोपैति । नदीर नौद्वत्यं रम्यरूपत्वमुपैति । मही चापङ्कता निष्पङ्कत्वमुपैति । तथाहि । संप्रति नवैगुणैः पूर्वोक्तैः शरदमे संरक्षणेन परिधवेन स्थिर इत्यपि घनागमभियः प्रसूदलभ्याः सवन्धि । तद्विषयमित्यर्थः । प्रम तिरोहितम् । निरःकं कृतमित्यथ । गुणतन्त्रा प्रमयो न परिष्पलन्त्रा इति भावः । वास्तवात्कृतः ॥ २१ ॥

(इस शरद्वृत्त में) पान्य परिपाक से सुरम्य प्रतीत होते हैं । नदी बनती बहारत का परिष्काग कर देती है अर्थात् वर्षा काळ में नदी प्रवला वेग के कारण महान अनर्थ कर डालती है कहीं पेटों को उखाट डालती है कहीं तटों को उखा देती है कहीं किसी को अपनो पारा में निखीन कर देती है वहाँ नदी का नौद्वत्य है समझा परिष्काग कर नगी शान्त वेग बाराग कर लेती है पृथ्वी पर कीचल नम माग्य को नहीं रह जाता है । वर्षा काळ के सुखों से परिषिन्न होने वालों का प्रेम जो परिष्का के कारण दूर रहता है उसे भी शरद्वृत्त अपने नवीन गुणों से आच्छादित कर देती है । ॥ २२ ॥

पतन्ति नास्मिन्विशदा पतत्रिगो धृतेन्द्रचापा न पयोषपङ्कय ।

तथापि पुष्पाति नमः भिय परा न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुथाम् ॥२३॥

पतन्तीति ॥ अस्मिन्मसि विजादा पत जगो बलाका न पतन्ति न प्रसरति । धृतेन्द्रचापाः पयोषपङ्कयश्च न पतन्ति । तथापि श्रीकारणामावेऽपि मम परी शिर्यं क्रोधां पुष्पाति । तथाहि । इत्थं स्वभावतुन्दरं वस्तुवाहायमारोप्यमाणं गुणं नापेक्षते । सत्र स्वभावस्यैव समथत्वाद्धिति भावः । अर्थान्तरम्यासः ॥ २३ ॥

वर्षा काळ में स्वच्छ (सफेद) नदों (बगुणों) की पश्चिमा और दक्षिणतुल्य ऋतु की घोषा बढ़ती है) इस शरद्वृत्त में जगो सफेद इच्छे ही भासमान में बहते हैं और न मैव मात्साव इत्यनुप से सुशीबित होती है तथापि नव (शरद्वृत्त आशास्य की सर्वोत्तमरम्यवीन एा को पुष्ट कर रही है जो स्वाभाविक सुन्दर वस्तु और वाक्यारिक सामग्रियों की अपेक्षा नहीं रखता ॥ २३ ॥

विपाद्युमिन्तानितया पयोधरैर्युताचिराभागुणहेमदामभि ।

इय कदम्बानितमसुरत्यये न दिग्बधूतां कुरता न राजते ॥ २४ ॥

विपाङ्गुभिरिति ॥ कर्मभानिलक्षणेन वर्णतुल्यलक्ष्यते । त एव भर्ता तस्यात्म्ये विरहे म्लानतया निर्जलतया दुर्बलतया च विपाङ्गुभिरश्रुतानि रहितान्यचिरामा- गुणा विच्युता एव हेमवामानि सुवर्णसूत्राभरणानि येन्यस्ते पयोधरैरम्भोदैः, अन्यत्र स्तनैः । उपलक्षितानाम् । 'स्तनान्भोदैः पयोधरैः' इति वैल्यन्ती । दिश एव बध्व- स्तासामिष कृष्यतान राजत इति न । किंतु राजत एव विद्युक्त्यात् । 'भर्तार्तिं मुद्विषे ह्यष्टा प्रोषिते मळिना कृष्या' इति स्मरणादिति भावः । सामान्यतः प्रसक्तमरा- जन कार्यास्यैकेन वधा क्षमाव्य द्वितीयेन निषेधति । यथाह वामन — 'समाव्यनिषेध- निषर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति । अत्र रूपकालङ्कार स्फुट एव ॥ २४ ॥

वर्णाकृत रूप पति के चले जाने पर, यह दिक् हृन्परियों की कृशता (दुर्बलता) निर्- जलता रूप क्षिप्रता से विद्युलता रूप धुवर्ण धूल विनिमित भूषणों से रहित होकर भी मेघ रूप स्तनमण्डलों से क्या नहीं सुशोभित होती है ? किंतु सुशोभित होती है । (इस पद्य में कवि वर्णाकृत को पति माना है, दिशाओं को स्त्री माना है और मेघ को स्तन माना है विज्जुरी को धुवर्ण का आभूषण माना है । अर्थात् पति के विरह में खिंचीं दुर्बल हो जाती हैं, वषभोग के कारण स्तन म्लान हो जाते हैं और वर्ण पयोधर मण्डल से, जिन पर स्वर्ण के आभूषण भी न हों, कियों की क्षिप्रता भी उनकी शोभा को ध्वि करती है

उसी तरह इस शरद्वृत्त में भी वर्णा कृत के वीर जाने पर निर्जल मेघ जो थोड़ी पीति या श्लेष बसल वर्ण के हैं और उनकी विजुलों की नमक अवशेष हो गई है अब उन से दिशायें सुशोभित नहीं होती है ऐसा नहीं उनकी शोभा और बढ गई है) ॥ २४ ॥

विहाय वाङ्मामुद्विषे मदात्यवाद्रक्तकण्ठस्य रुते शिखण्डिनः ।

श्रुति श्रयत्युन्मदहसनि स्वन्नं गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तव ॥ २५ ॥

विहायेति । मदात्यवाद्रक्तकण्ठस्याश्राभ्यस्वरस्य । कण्ठशब्देनात्र तद्- यत स्वरो लक्ष्यते । शिखण्डिनो मयूरस्य सधन्विन्न्युदित ऽपचैस्तरे रुते कृजिते वाङ्मत्र विहाय । श्रुति श्रोत्रम् । 'कर्णशब्दग्रहो आत्र श्रुति स्त्री अध्वण श्रवः हृद्यमरः । उन्म- दहसनि स्वन्नं मत्तमराण्यकृजित अवन्ति भजते । मन्वकाण्डे परिचितपरिहारेणापरिचिते कथं प्रीत्युदय इत्यासाङ्कवार्धान्तर न्यस्यति—गुणा इति । प्रीणातीति प्रिय । 'हृद्यु पधहाप्रीतिरि क' इति कप्रत्ययः । प्रियत्वे प्रीतिकरत्वे गुणा अधिकृता न्युक्ता । संस्तव परिषयो माधिकृतो न समर्थः । प्रेमाधाने गुणवच्च प्रयोषक न परिषय इत्यर्थः ॥

रसमें (शरद्वृत्त में) वर्णा काल के वीर जाने पर मयूरों (मोर) का मद चीन हो जाता है अतः उनकी वाणी कण कट्ट प्रतीत होती है अब कभी इस कृतुमें वे बोलते हैं तब कान वधसे निराह हो मन्वेन्मत्त इसी की ध्वनि प्रवण करते हैं । मन के प्यारे होने में गुण ही कारण है जिसमें अधिक गुण होगा वही प्रिय होगा निरपरिचित कोई वरदू नहीं है ॥ २५ ॥

अमी प्रयुस्तम्बमृत विराङ्गत्वा गदा विपाकेन फलस्य शालय ।

विकासि वप्राम्भसि गद्यसूचित नमति निघ्रातुमिवासितोत्पलम् ॥२६॥

अमी इति । अमी प्रयुस्तम्बमृतम्बमृतम् । सप्तमी
गुच्छस्तुत्पादिना इत्यमरः । फलस्य प्रसवस्य विपाकेन परिमाणेन विशङ्कतां गदा
शाक्यो श्रीदिविशेषः । वप्राम्भसि केदारोदके । पुनपुसक्योवदा केदारं देवस्य
इत्यमरः । विकस्यतीति विकसित विकसित गद्येन सूचितं ज्ञापितमभितोत्पलं निघ्रातु
मात्रातुमिव ममणितं । निघ्रातुमिव इति पाठे द्रष्टुमिच्छयाः । निवणयितुं च ।
निवर्णनं तु निघ्नानं दधानालोकनेच्छाम् इत्यमरः । अत्र फलमाराधनस्य निघ्नानं
फलकत्वमुच्येत इति फल्येच्छया ॥ २६ ॥

ये फल के परिपाक से पौष्टिमा प्राप्त करने वाले लच्छेदार वान के पौष्टि सबक देना
में मागे प्रकृतक इत्यम-गन्ध-उत्पन्न नील कमल को रंजने के लिये चुन रहे हैं । २६ ॥
अथ चतुर्भिः पलाशकामाह—

सृष्टालिनीनामनुरक्षित त्विषा विभिन्नमभोजपलाशरोमया ।

पथ स्फुरच्छालिशिखाविशङ्कित द्रुत धनुष्यलक्षमिवाहिविद्विप ॥ २७ ॥

सृष्टालिनीनामिति ॥ सृष्टालिनीनां पक्षिनीनां त्विषा हरिद्वर्णानुरक्षितम् ।
सङ्गलतामापादितमित्यर्थः । सधामभोजपलाशासोमया पञ्चदशकान्त्या । आरुण्येनैतर्थाः ।
विभिन्नमभिधत्तम् । तथा स्फुरच्छालिशिखाविशङ्कित स्फुरति कलमाद्यैः विङ्गली-
कृतमित्य नानावर्णत्वाद् द्रुतं पलाशितमहिविद्विषे वृक्षशत्रोरित्यस्य । सर्वे वृक्षासुरे-
ण्यदि इति वैजयन्ती । धनुष्यलक्षमित्य स्थितम् । निष्य समासेऽनुसरपदत्वत्वात् ।
इति विद्वन्वीक्ष्य करम् । यथो वप्राम्भोऽपदिस्य वपानीकृत्य भावतामित्यागा-
मिना संवन्धः । अथ धनुष्यलक्षस्य द्रुतस्य लोकेऽप्यसिद्धत्वादुत्पद्येयं नोपमा ॥ २७ ॥

एतत् कपडिनी तथा की कान्ति से (हरिद्वर्ण से) विद्योभिः तथा कमल दल की छाया
से विभिन्न और झूमते हुए वान की शक्ति से वीजे वगैरे की शक्ति करता है जिससे वृषाक्षर
के शत्रु (द्रुत) की शत्रु के शत्रु अनेक वर्ष द्रुत हो गया है (कपडिनी-कपड का रंग
हरा परन्तु वृष का रंग काल और धके हुए वान के पौष्टि का रंग धोला होता है इन सबकी
द्वारा पहले से जल में अनेक वर्ष मगीन होते हैं तथा जल रन्ध्र वृष की शत्रु शक्ति
करता है ॥ २७ ॥

विपाण्डु संन्यानमिषानिलोद्वर्त निरधती सप्तपलाशजं रज ।

अनाविलोन्मीलितबाद्यचक्षुष सपुष्पदासा वनराजियोपित ॥ २८ ॥

विपाण्डु इति । विपाण्डु इत्यमनिलोद्वर्तमविलोद्वर्तम् । सप्त सप्त पलाशानि

पत्राणि पर्वसु येषां ते वृक्षा सप्तपलाशा । 'कचित्सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीर्या
 र्थत्वं सप्तपर्णादिव' द्विशुक्लम् । तेषां पुष्पाणि सप्तपलाशानि । द्विहीन प्रसवे सर्वम्
 इत्यमरः । 'फले लुक्' इत्यणो लुक् । तेषु जात सप्तपलाशज रज पराग सग्याभमुत्त-
 रीयमिव । 'सव्यानमुत्तरीय च' इत्यमरः । निरुन्वतीनिवारयन्ती । प्रावृतवतीरिति
 यावत् । अनाविलान्यकलुषायुन्मीळितानि च वायानि नीलसैरेयकाणि चक्षुषीव
 यासां तास्तथोक्ता । 'नीलस्वर्यगळो दासी वाण ओदनवाक्पयि' इति घन्वन्तरि ।
 पुष्पाणि हाता इव तै सह वर्तन्त इति सपुष्पहाता । वनराजया थोषित इव वन-
 राजियोषित । ता अपदिश्येत्यन्वयः । अत्र सव्यानमित्युक्तमेवान्यत्रोपमितसमासे
 लिङ्गम् । यथा कचित्केनचित्कामुकेनापिष्ठ स्तनाशुक्ल निरुन्वते तद्वदिति भावः ॥ २८ ॥

वन राजिनो कामिनी रूप है । उनके विकसित पुष्प (कामिनीयो क) हाथ के समान
 हैं । इन वन राजिनो में शाय वृक्ष (फट सरैया) निर्मल सुखी हुई आँखों के सदृश हैं ।
 साव सात पर्चों से युक्त छितीन का पराग वाष्पु वर्ण के अन्नल के सदृश है । जब ये
 हवा के झोंके से उड़ने लगते हैं तो शिर्यों उन्हें सम्झलने लग जाती हैं । जिस प्रकार
 कामिनीयो मन्द हास करती हुई अपने निर्मल नेत्रों से अयलोकन करती हैं और उनका
 वसन्ती रंग का अन्नल हवा के झोंके से उबता रहता है । और वे उसे सम्झलने लग
 जाती हैं । उसी तरह ये वन पत्तियाँ फूलों के भार से लरी हुई हैं । इन में फूले हुये फट
 सरैया (शाय) के फूल और छितीन के मो वृक्ष हैं (छितीन के पेट के दर एक लण्डी
 में सात २ पर्चों होते हैं । द्वितीन के पराग हवा के झोंके से लड रहे हैं इस समय इन
 (वन राजिनो के) वृक्ष भी हवा के झोंके से लकोरें ले रहे हैं ॥ २८ ॥

अदीपित वैद्युतजातवेदसा सिताम्बुदच्छेदतिरोहितातपम् ।

ततान्तरं सान्तरवारिसीकरै शिव नभोवर्त्म सरोजवायुभिः ॥ २९ ॥

अदीपितमिति । वैद्युतजातवेदसा वैद्युताग्निनाऽदीपितमप्रकाशितम् । विद्युत्प-
 काशस्य दृष्टिवाचकत्वात्तद्वाहित्य गुण इति भावः । सिताम्बुदाना क्षेदे सण्ठैस्ति-
 रोहितातपम् । न दृष्टिवाचो नाप्यातपवाच इति भावः । सान्तरवारिसीकरैर्विरला
 म्बुक्षणैस्तत्तान्तर व्याप्तमध्य सरोजवायुभिः शिव रम्य नभोवर्त्म चापदिश्येति ।
 स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

आकाश मान विद्युताग्नि से जलाईसिव नहीं हो रहे हैं । और शुभ्र बादलों के लण्डों से
 सूर्य का आतप भी छिपा हुआ है । (जिससे आकाश भाग में चलने से नती आँखे चक्काचौक
 होती है और न धूप ही सताती है) आकाश का अन्तराल विरल २ ५ ल कणों से व्याप्त
 हो रहा है । कमलों की सुरमित गन्धि से आकाश पथ बहुत रमणीय हो गया है ॥ २९ ॥

चित्तच्छदानामपदिश्य घावतासुवैरमीषा प्रथिता पतत्रियाम् ।

प्रकृर्वते चारिदरोधनिर्गता, परस्परालापनिवामला दिशः ॥ ३० ॥

सितैति । अपदिरय धावतामिति पूरवडोकत्रवोक पय'प्रसूतिकमुद्दिरय' धावता ममीषां सितवद्धदानां पतत्रिणां हसानाम् । हसास्तु श्वेतगण्डवक्रकाङ्गा मानसौ कसाः इत्यमरः । रुतैः शक्यैः प्रथिता इत्या । प्रथितं गुम्फित इत्यमरः इत्यमरः । वारिहरोधमिगता मेघोपरोधमिमुक्ता अतएवामला प्रसङ्गा दिशः परस्परलाप प्रकुवत इव । विद्यया मेघोपरोधनिर्मुक्ताभिरादुष्कृत्यसिता इति हसकृजितम्याजेन परस्परमा-
 कपन्तीवेषुत्प्रेषा ॥ ३ ॥

रन सन हृदयर वस्तुषो का अपदेश कर दीवते हुए रन बनत पक्ष वाले हस पक्षियों के कक्ष कृन्तन से गुम्फित हो कर विज्ञाप्य मेघों के अवरोध से ह्रस्वकारा पाकर निर्मल हो गए हैं और वे मानो जन्मो-य सम्भाषण कर रही हैं ॥ ३ ॥

विहारभूमेरभिघोषमुत्सुका शरीरजेभ्यश्च्युतयूथपङ्क्तयः ।

असक्तमूधासि पय'चरन्त्यमूरुपायनानीव नयन्ति घेनव ॥ ३१ ॥

विहारैति । विहारभूमे । अपरराश्रगोचरादित्यय । आगच्छन्त्य इति शेषः । अभिघोषमुत्सुका अत्र प्रत्युत्कण्ठिता । वसप्रणोति भावः । घोष आभीरपक्षी शब्दात् इत्यमरः । प्युता शुद्धिता मूधानां कुलानां पङ्क्तयः अणीव-धो यासां तास्त शोकाः । 'सजातीयैः कुल यूथम् इत्यमरः । अमूर्धनवोऽसक्तमप्रतिबन्धं पय चीरं चरन्ति स्रवन्ति । वसस्मरणाप्यस्रवन्तीत्ययः । चरते अतृप्त्यय । ऊर्ध्वान्ति शरीर जेभ्योऽपत्येभ्य उपायनानीवात्तिलोषकारीणीवैर्युत्प्रेषा । नयन्ति प्रापयन्ति । यथा छोके ह्रस्वित्प्रवासादेत्य मातरः किञ्चित्प्राप्तमानयन्ति तद्गदिति भावः ॥ ३१ ॥

पञ्च न ने देखा—ये गार्थे विहार भूमि से (व स क प्रेम से) । नवास स्थान (घोष) के लिये एकठिन हो अपने झुग्घ से अलग हो गई हैं और वे (अपने बच्चों का स्मरण कर) लगातार चीर परि स्रवण कर रही हैं । अपने बच्चों को मानो वे अपने शरीर से उरत होने वाले (बच्चों) के लिये उपहार का रही हैं (अर्थात् जैसे माता अया कदां बाहर घूमने के लिये जाती है तो वह लौटते वक्त अपने बच्चों के लिये खाने की कुछ न कुछ सामान अवश्य लाती है वसी तरह गार्थे भी अपना बच्चे बच्चों के लिये का रही थी) ॥ ३१ ॥

जगत्प्रसूतिजगदेकपावनी प्रजोपकण्ठ तनयैरुपेयुषी ।

सुति सममा समितिगवामसालुपैति मन्त्रैरिव सहिताहुति ॥ ३२ ॥

अगदिति । जगत्प्रसूतिजगत्कारणम् । आम्बादिहविर्हारीणेति भावः । जगत्ताने कपावनी मुख्यतोषनी प्रजोपकण्ठ गोष्ठान्तिकम् । वृष्टान्तिकाद्येभ्यो द्वितीया च इति द्वितीया । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाम्यया' इत्यमरः । तनयैर्बलैरुपेयुषी सगता । उपेयिवावनाञ्जाननूचानस्य इति कङ्कुपत्यप्यन्तो निपाताः । उगितस्य इति ङीप् । असी

गथा समिति सहति । मन्त्रैर्ऋग्यजुषादिभिः । 'मन्त्रो ऋगादिगुह्योक्ति —' इति वैजयन्ती । सहिता योजिताहुतिरिव । समग्रो घृतिमुपैति । आहुतिरपि जगत्प्रसूति-
जगदैकपावनी च । 'अग्नी प्रास्ताहुति सम्प्रगाक्षिरमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते
वृष्टिर्वृष्टेरन्न तप्त प्रजाः ।' इति स्मरणादिति भावः ॥ ३२ ॥

सत्सार की रक्षा करने में समर्थ, दुनियाँ को अपवित्रता से शुद्ध करने वाली गायें
अपने बच्चों के सग गोष्ठ (गोशाखा) के समीप खड़ी थीं । उनका मुण्ड (अपनी
पूर्य शोभा के साथ) ऋक्, यजु, और सामादि मन्त्रों से युक्त द्रव्यादि प्रक्षेप कर आहुति
(जो सत्सार के रक्षा में समर्थ और सत्सार को पवित्र करने वाली है) की तरह, अपनी पूर्य
शोभा को प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

कृतावधान जितवर्हिणध्वनौ सुरक्तगोपीजनगीतनि.स्वने ।

इदं जिघत्सामपहाय भूयसीं न सस्यमभ्येति सृगीकदम्बकम् ॥ ३३ ॥

कृतेति । जितवर्हिणध्वनौ । केकालुकारिणीत्यर्थः । एतेन षड्जस्वरप्राय गाय-
न्तीति गम्यते । यथाह मातङ्ग — 'षड्ज मयूरो वदति' इति । या पान्तीति गोवा-
स्तेषां भार्या गोप्य । 'आतोऽनुपसर्गो क' इति कप्रत्ययः । 'पुयोषादाख्यायाम्' इति
लीच । ता एव जव । सुरुक्तो मधुरकण्ठो यो गोपीजनो धल्लवीजनस्तस्य गीतनि स्वने
गाने कृतावधानमेकाग्रचित्तमिदं पुरोवर्ति सृगीकदम्बक कर्तुं भूयसीमिति महतीं जिघ-
त्सामपुमिच्छाम् । अटे सन्नन्तादुपत्ययः । 'लुङ्सनोर्बस्व' एति धस्वादेशः । अप-
हाय हिंसा सस्य नाभ्येति नोपैति । गीतासवस्था शुभामपि न गणयतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अर्जुन ने देखा—हरिणियों का मुण्ड, मयूरो का षड्ज ध्वनि को धीवने वाली
(मधुर-कण्ठ-गोपियों के गान में दत्त चित्त होकर प्रबल खाने की इच्छा से विरत हो
घास चरना मूल गथा है (अर्थात् गीत में आसक्त हरिणियों भूय स्वात को जो
मूल गर्द है) ॥ ३३ ॥

असावनास्थापरयावधीरित सरोरुहिण्या शिरसा नमन्नपि ।

उपैति शुष्यन्कलम सहाम्भसा मनोमुवा तप्त इवाभिपाण्डुताम् ॥ ३४ ॥

असाविति । शिरसाऽप्येण मूर्ध्ना च नमन्प्रणमन्नप्यनास्था हरपरया सरो-
रुहिण्यावधीरितोऽवज्ञात । अम्भसा सह । शरभूतेनेति भावः । शुष्यन्नसौ कलम-
शाक्तिविशेषः । मनोमुवा तप्त इव कामार्तं इव । अभिपाण्डुतामुपैति । अघानास्था-
परपैति प्रकृतसरोरुहिणीविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतनायिकाप्रसीते समासोक्तिः । उल्लिख-
मावाया सरोरुहिण्या प्रसीयमानया नायिकया शुद्धमेदेऽप्यभेदलक्षणातिशयोक्तिम्
दिग्भायधीरणक्रियासम्बन्धाच्चिबन्ती मनोमुवा तप्त इवेत्युपेक्षानिर्वाहिकेत्यतिश-
योक्त्यनुप्राणितसमासोक्त्युपमयोरङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३४ ॥

अनाकारिणी कमण्डिनी से निरकृत हो कर यह शक्ति (मान) सब के साथ साथ स्वयं स्वयं कर कटि हो रहा है और काम से पीड़ित हो कर दिन दिन पीला पड़ता जा रहा है ॥ ३४ ॥

अमी समुद्रधृतसरोजरेणुना हृता हृतासारकण्येन वायुना ।

उपागमे दुश्चरिता इवापदा गतिं न निश्चेतुमत्त शिलीमुखा ॥ ३५ ॥

अमी इति । समुद्रतसरोजरेणुनेति सौरभ्यो ऋः । हृतासारकण्येनोपागामुक्तोनेति कैत्योक्तिः । 'आसत्त्वात् आसार' इत्यमरः । वायुना हृता आकृष्टा अमी शिलीमुखा अन्वयः । उपागमे दुश्चरिता राजादिमयागमे दुश्चरिता दुष्टकर्मणोराद्य इव । गम्यते इति गतिं गन्तव्यदेशम् । 'वेशोपागमे गतिः' इति वैजयन्ती । निरचर्तुं नाहं न समयाः । पृक्तं वायोः सार्वत्रिकत्वेनापादावादनिसंवादन्यत्र भयान्त्रत्यादिति भावः ॥ ३५ ॥

ये अमर उठते हुए कमल-पत्रों को पारण करते हुए तथा वर्षों के एक काल से कुछ (त्रिविध = जीवित मर दुःख-य वास्तु कमल पत्रों से दुःखी और उसके मार से मन्वया तथा एक कण से शैत्य का प्रद्वय करता है) शीतल मन्द दुःखन्व एवम के द्वारा आकृष्ट हो कर आपत्ति में पड़े हुए उरुको (चोर लपटों) की तरह 'रक्षार्थ' कहीं भाग कर भाग उस का निश्चय नहीं कर पाते हैं ॥ ३५ ॥

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गसोहितै शिखाः पिशाङ्गी कलमस्य विभ्रती ।

शुकावलिर्द्व्यंकरिरीपकोमला घनुभिर्यं गोत्रमिदोऽनुगच्छति ॥ ३६ ॥

मुखैरिति । विद्रुमभङ्गसोहितसुखैः पिशाङ्गी पिशाङ्गवर्णाः कलमस्य शिखाः शाख्य प्राणि विभ्रती अकस्मिन्निपकोमला विकसितशिरीषसपर्णासौ शुकावलिर्गोत्रमिदं अनुगच्छति घनुषः शिष्यमनुगच्छत्यनुकरोति । नावावर्णत्वादिद्रुमधनुरिवाभासीसुषुमाकङ्कारः ॥ ३६ ॥

धर (शुकावलि) (शुका = सोता । अवलि पत्त) अपने प्रवाल के ऊपर के समान प्रद्वय वर्षों के कम्बुओं से बड़े रंग की धान की फल समुक्त शिखा पारण करती हुई विकसिता शिरीष के पुत्र सपर्णा र-द्र के पशुप की शोभा का अनुभव कर रही है । उच्यते । अत्र घनुष वै विविध प्रकार के रङ्ग धारि जाते हैं इसी तरह इन लोगों के समूहों में विविध रङ्ग (शेष कण धान की धान पत्तों और उनके घटन का रंग हरा तथा धन के गलो में जो रखा पड़ी हुई होती है वह अनेक रंग की होती है) होनेसे अरुकी जो रङ्गधुषणी समानता से रही है ॥ ३६ ॥

इति कथयति यत्र नातिदूरादथ दृश्ये पिहितोऽप्यारश्मिभिः ।

विगलितजलमारशुक्लमासां निचय इवाभ्युमुखा नगाधिररजः ॥ ३७ ॥

इतीति । तत्र तस्मिन्पूर्वोक्ते यच्च इतीत्य कथयति सति नातिदूराद्वनतिदूरात् ।
इष्वदूर इत्यर्थं । नवार्थस्य नशब्दस्य सुप्तुपेति समाप्त । विहितोष्णरश्मिभिरिन्द्रस्ति-
रोहिताकंमण्डल इत्यीष्वोक्ति । नगाधिराजो हिमाद्रिविगलितो जलमारो येषां ते
तयोक्ता अतएव शुक्लमास । ह्योरन्यतरस्य विशेष्यस्वयिचय्या विशेषणसमाप्त ।
तेषां विगलितजलमारशुक्लमासा शुभ्राणामम्बुमुखा निचय इव मेघान्दमिव दृशे दृष्ट ॥

इस तरह बातों को आप करते हुये (यद्य) ने सप्तिकट से, भगवान् मास्कर के मण्डल
को तिरोहित करनेवाला पर्वत राज हिमालयको उन मेघों के समूह के सदृश देखा जिनके
जलमार परित्याग करने से वर्ष शुभ हो गये हैं ॥ ३७ ॥

समतनुवनराजिरयामितोपत्यकान्त नगमुपरि हिमानीगौरमासाद्य जिष्णु ।
अपगतमद्रागस्यानुस्मर लक्ष्मीसितमघरवासो विभ्रत सीरपाणे ॥

इति भारविर्कृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये चतुर्थं सर्गं ।

समिति । जिष्णुरर्जुनोऽस्तनुमिर्महतीमिर्वनराजिभि श्यामिता श्यामला उपत्य-
कान्तावासश्रमिप्रवेशा यस्य स तयोक्तम् । 'उपत्यकाद्वेरासञ्जा भूमिरुर्वमचित्यका'
इत्यमर । 'उपाधिभ्या ल्यकञ्जासञ्चारुटयो' इति ल्यकन्प्रत्यय । उपरि हिमानीभि-
र्विर्मसलञ्जातैर्गौर शुभ्र नग हिमाद्रिमासाद्य । अपगतो निवृत्तो मद्रागो यस्य तस्य ।
असित नीलमघर वास टक्षरीय विभ्रतो घृतवत । सीर हल पाणौ यस्य तस्य सीर-
पाणेहंलायुधस्य । 'हलायुध । नीलाम्बरो रौहिणेयस्तालाङ्को मुसली हली । सङ्घ-
र्षण सीरपाणि' इत्यमर । 'सप्तमीविशेषणे-' इति ज्ञापकाद्व्यधिकरणपक्षे बहुव्रीहि ।
'प्रहरणार्थेभ्य परे विद्यासप्तम्यौ स्तः' इति सप्तम्या परविपात् । लक्ष्मीं शोभामनुस-
स्मार स्मृतवान् अत्र सदृशदर्शनेन सदृशान्तरस्य स्मरणस्मरणालङ्कार 'सदृश सत्-
श्चानुमवाद्यत्र स्मर्येत तस्मरणम्' इति विद्याधर ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमण्डिकनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य-
व्याख्यायां-षण्ठापथसमाख्यायां चतुर्थं सर्गं समाप्तं ।

सुन्दर विस्तृत बनो को पक्षियों से नील वर्ण के उपत्यका (पहाड़के समीपकी नीची
भूमि) प्रदेश से घिरे हुये, वरुण के चट्टानों से ढके हुये शुभ्र हिमालय पर पहुँच कर, अर्जुन
को शला के राग से मुक्त, नीलाम्बरपारी, सीरपाणी दलभ्रजनी को शोभा का स्मरण
हो आया ॥ ३८ ॥

॥ चतुर्थं सर्गं समाप्तं ॥



पञ्चम सर्ग ।

अथ हिमवद्वर्षानमारभते । तत्र पञ्चदशभिः कुलकमाह—

अथ जयाय नु मेरुमहीभृतो रभसया नु दिगन्तविहङ्गया ।

अभिययौ स हिमाचलमुच्छ्रित समुदित नु बिलह्वयितु नभ ॥ १ ॥

अथेति । अथानन्तरं सोऽशुनो मेरुमहीभृतो हेमाञ्जयाय नु जयाय वा । नुषा
शब्दोऽत्र वितर्के । नु पृष्ठायां वितर्के च हृष्यमरः । रभसो वेगः । रभसो वेगहर्षयो
इति नैजयन्तीविरवप्रकाशौ । तद्वत्या रभसया । अतीवोत्कण्ठयेति यावत् । अथान्वि
त्वाद्यन्त्ययः । दिगन्तायां विहङ्गया नु प्रष्टुमिच्छया वा । नमोऽन्तरिषु बिलह्वयितु
न्वतिष्ठमित्यु वा । समुदितम् । समुत्पतितमिष स्थितमित्ययः । कुत । उच्छ्रितमुत्कर्त
हिमस्याचकृ हिमाचलमभिययौ । अत्र निर्धारितानेककुल औद्यत्यगुणनिमित्तोदितानि
क्रियोत्पन्ना । सा च व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रतीयमानेति सहचेषा । नुतबिलह्वयितु वृत्तम्—
'नुतबिलह्वयितुमाह नमो भरी इति लक्षणात् ॥ १ ॥

(सरहद्व की शोभा का अवलोकन करते हुये अर्जुन ने दूर से हिमालय को देखा) इतने
अनन्तर हिमालय की ओर प्रस्थान किया । हिमालय इतना ऊँचा है कि जिससे मालूम पड़ता
था कि वह समुद्र-पर्वत को नीचे के छिंदे इतना ऊँचा हो रहा है या वह मालूम पड़ रहा
था कि वह दिग्गजों का अवनतल देखने के लिये अत्युत्कण्ठित है । अथवा उसके मौजबूद से
यह भी प्रतीति होती थी कि वह आकाश छूँ कर भागे बढना चाहता है ॥ १ ॥

तपनमण्डलशीपितमेकत सततनैरासमोभृतमन्यत* ।

हसितमिभ्रतमिक्षचर्यं पुर शिवमिवानुगत गजचर्मणा ॥ २ ॥

तपनेति । पुनः एकत एकस्मिन्भागे । सार्धनिमज्जिक्तसति । तपनमण्डलेषु की
पितं प्रकाशितम् । अन्वतोऽन्यस्मिन्भागे सततेनाग्निबिन्देन नैवेन विक्षिम्बेस तमसा
वृत्तम् । एकप्राद्धा रान्या चान्यत्र सङ्गतमित्यर्थः । अत एव पुरोऽत्र हसितेनाह्लासे
न मिश्रतमिक्षचर्यं निरस्तोपमस्तोम तथा गजचर्मणापुगतं पश्चाद् ध्यासम् । 'पश्चात्सा
हरपथोरनु हृष्यमर । शिवमिव स्थितम् । तपनतेजःप्रसारोऽन्यस्य कथं नृव कुम्भचि
त्परिसमाप्यत इति महत्वातिहायोक्तिः ॥ २ ॥

इस की ऊँचाई के कारण सूर्य जिस तरफ रहता है उस तरफ प्रकाश रहता है और
दूसरी तरफ रात्रि की तरह बना या भरत में आच्छादित रहता है अर्थात् एक ओर दिन और
दूसरी ओर रात्रि रहती है इससे मालूम पड़ता है कि ये हाथी की पाऊँ छोड़े और अट्टहास
करते हुये आचार्य शिव की हैं क्योंकि शिवजी के सामने का माग उनके हाथ से प्रकाशित
रहता है और पीछे का भाग हाथी की पाऊँ से अन्धकाराच्छन्न रहता है ॥ २ ॥

क्षितिमम सुरलोकनिवासिभिः कृतनिकेतमदृष्टपरस्परैः ।

प्रथयितुं विभ्रुतामभिनिर्मितं प्रतिनिधिं जगतामिव शम्भुना ॥ ३ ।

क्षितिम् । परस्परेऽन्योन्ये । 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः' इति वक्तव्या परशब्दस्य द्विर्भावः । 'समासवच्च बहुलं यदा न समासवत्प्रथमै तदा पूर्वं पदस्य' इति वक्तव्याप्रथमैकवचनम् । सुट् । कस्कादिस्वाद्धिसर्जनीयस्य सत्व बहुवचन चान्योभ्यश्चद्वत् । यथा भाषे—'अन्योभ्येषां पुष्करैराभृशन्तः' इति । अदृष्टाः परस्परे यैस्तेऽदृष्टपरस्परास्तेस्तयोक्तैः । क्षितौ नभसि सुरलोके च निवसन्तीति तैस्तयोक्तैः । भूर्भुव स्वर्लोकवासिभिरित्यर्थः । कृतनिकेतं कृतास्पदम् । अतएव शम्भुना विभ्रुतां स्वसामर्थ्यं प्रथयितुमभिनिर्मितं जगतां प्रतिनिधिं प्रतिकृतिमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । 'प्रतिकृतिरर्चां पुंसि प्रतिनिधिरूपमोपमानस्यात्' इत्यमरः । त्रैलोक्यश्लाघ्योपममपरिच्छेद्यं चेति भावः ॥ ३ ॥

पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग लोक के निवासी एक दूसरे से अदृष्ट होकर इस विमलव पर निवास करते हैं । अथ भाद्रुम पदता है कि शङ्कर भगवान ने अपने यज्ञ के प्रचार के लिये ससार भर का प्रतिनिधि इसे (हिमालय को) बनाया है ॥ ३ ॥

भुजगराजसितेन नभः श्रिता कनकराजिविराजितसानुना ।

समुदित निचयेन तद्धित्वती लघयता शरदम्बुदसहस्रम् ॥ ४ ॥

भुजगैति । पुनश्च । भुजगराजसितेन शेषाहिधवल्लेन नभः श्रिता गगनस्पृक्षा कनकस्य राजिभी रेखाभिर्विराजिता सानुवो यस्य तेन तद्योक्तेन । अतएव तद्विरवती शरदम्बुदसहस्रं शरन्मेषचय लघयता लघुकुर्वता । तत्तुल्येनेत्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः । निचयेन शिखरसमुद्भूतं समुदितं समुच्चतम् । निचयेनेति । यद्यपि निचयशब्द शिखरस्यावाचकस्तथापि पर्वतवर्णनप्रकरणोक्तत्वात्पाषाणनिचयः शृङ्गवाची मन्वित्तमहति । यथा—'कृतोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इति धृत्शब्दसमूहापरपर्यायः । अतएव लक्षणाश्रयणीया । अतएवात्प्रायवचनं न दोषः ॥ ४ ॥

इसना (हिमालय का) गणधनुर्भी, शेषनाग के समान शुभ्र और सुवर्ण रेखाओं से सुशोभित शिखर समूह इतना उन्नेसे है कि वह विद्युत्कलासे युक्त शरद कालके मेघनादाजों को अपने औग्रस्य से टिरस्कृत कर रहा है ॥ ४ ॥

मणिमयूखचयाशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहा ।

दधतमुच्चशिलान्तरगोपुरा पुर इवोदितपुष्पवना मुव ॥ ५ ॥

मणीति । पुनः । मणिमयूखचया अशुकानीव पट्टकादीनीव तैर्मासुराः । सुरवधूमिः परिसुक्ता लता गृहा इव यास्तु तास्तयोक्ताः । उच्चानि शिलान्तराणि गोपुराः ७ कि०

शीघ्र शिकाम्तराणि शिकामध्यानि पुरद्वाराणि यासु ता । तद्वितान्मूर्च्छितानि पुण्या
वनानि यासु ता । अतएव पुर इव नगराणीव स्थिता । सुबो दधतम् ॥ ५ ॥

इस हिमाक्ष के भूभाग नगर के समान हैं वे नगर विविध रत्नों की निरखो से प्रका-
शित हैं । समराजुनामो से उपरुक्त छटावें इस नगर के भवन हैं । ऊषी २ शिकामो के
शीघ्र के शिक स्नान नगर के फाटक हैं । अच्छे २ फूलों के वन पुण्योदान हैं । (इस तरह
के नगर वाले मूल्यों को यह हिमाक्षन कारण करता है) ॥ ५ ॥

अखिरसोविभ्रतवारिविपायद्भुभिर्विरहितैरखिरद्युतितेजसा ।

अदितपद्भुभिर्धारतनि'स्वनै' पृथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदै' ॥ ६ ॥

अखिरतेति । पुनश्च । अखिरतमविभ्रतवारिविपायद्भुभिः । अदितमस्त इत्यथ ।
अतएव विपायद्भुभिः तैरखिरसोविभ्रतवारिविपायद्भुभिः । अतएव हिमवतपदात्त सम्भ-
वतीति भावः । अखिरद्युतितेजसा विरहितैर्विधुपजोरहितैः । भारतनि'स्वनैः प्रामाण्य-
यमितैश्च । अन्वया पदात्तद्वानि स्पर्शति भावः । पृथुनितम्बविलम्बिभिरमैर्हाकटक-
द्विभिः । 'कटक' इती मितम्बोऽग्र इत्यमरः । अम्बुदै' इति सपञ्च सजासपञ्चमिथ स्थ-
तम् । प्राक्किञ्चपञ्चर्यापि हिमाद्रर्धवलाम्बुदसम्बन्धात्पुनः पञ्चोत्थानमुपेक्ष्यते ॥ ६ ॥

इस हिमाक्ष के विपुल नित व के समान मध्यभाग पर मेघ भर सम्भित हैं । (इन से
मेघ काठे वन के नहीं हैं किन्तु) खूब गहरावर्षण कर निरूत हो जाने से भवत वनों के हो
गये हैं । अथ इन में विन्दुरी का प्रकाश विष्कुक नहीं रह गया है । वे (मेघ) समोर एक
न कर रहे हैं । इन बादलों से यह हिमवाण सपक दिखलाई पड़ता है । पहले तो परती
की एक दोहे में निरुते वे उरते थे । पहले २ नहीं बैठ जाते थे नहीं के वन इन को बल अथ
कर देते थे इस क्रिमे शब्द ने पर्वतों का पञ्च काठ काठा । यद्यपि यह पञ्च रहित है तो भी
इन नियों से पञ्चवाण व प्रेरित होता है ॥ ६ ॥

वधतमाकरिमि करिमि चतै' समवतारसमैरसमैस्तटै' ।

विधियकरमहिता महिताम्भस रुदसरोजवना जवना नदी ॥ ७ ॥

वधतमिति । पुनश्च । आकरः खनिरेषामस्ति धोमित्येतेत्याकरिमिराकरजैः । 'अ-
निः खियामाकर' स्यात् इत्यमरः । करिमिर्गमैः कतुमिः । चतै' इत्यै' समवतारैः
तीर्थेषु समैरखिरसमैरसमैरसटैः । अनुपमेरित्यर्थः । तटैरुपलक्षितास्तथा महिताम्भस
शलाघ्योक्ता अतएव विधियैश्च कामेभ्योऽथगाहनाद्यपयोधेभ्यो हिता अनुपुक्ताः ।
अनुप्यो' इत्य- इत्यादिना समासः । स्फुटानि विकसितानि शरीरवन्मात्रि यासु ता ।
अवना वेतवती । रुदसरोज्य- इत्यादिना पुण्य । नदीर्वचतम् । यमकवृत्तसुभासमे-
द्वयात्स्वयमेवालङ्कारः । अर्थालङ्कारस्वयमुपपन्नः । तरपतिदुष्करत्वात्प्रसयोऽपि ना-
द्वियते । तदुक्तम्—'प्रायशो यमके धिमे' इत्यदिर्न शक्यते इति ॥ ७ ॥

इस हिमालय पर बहुत सी नदियाँ हैं। उनके तट अनेक रक्षों की प्राप्ति हैं। वे हापियों के द्वारा क्षर कर के समस्थल बना दिये गये हैं, देखने में बहुत सुन्दर हैं। इसलिये स्नान मजिनादि अनेक विध काय्यों के लिये ये नदियाँ हितकारिणी हैं। इनका जल अत्यन्त पवित्र है। इनमें कमल विकसित हो रहे हैं। ऊँचे से नीचे की तरफ बहने के कारण इन नदियों का प्रवाह प्रक्षर (तीव्र) है। (इस तरह की नदियों को यह हिमालय धारण करता है) ॥७॥

नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषा द्युतिमता निकरेण महारमनाम् ।

विहितसान्ध्यमयखमिव कचिन्निचितकाञ्चनभित्तिषु सानुषु ॥ ८ ॥

नवेति । पुनश्च । नवानि विनिद्राणि विकसितानि च यानि जपाकुसुमानि तान्त्र-
पुष्पिकाकुसुमानि तेषां स्थिषु इव त्विषो येषां ते तेषाम् । 'ओष्ठपुष्प जपापुष्प रूपिका
तान्त्रपुष्पिका' इति वामदेव । द्युतिमता महाश्रमना मणीनाम् । पथरागाणामित्यर्थः ।
विशेषणसामर्थ्यात् । निकरेण समूहेन हेतुना कचिन्निचिता सद्वदितानां काञ्चनभि-
त्तयो येषु तेषु सानुषु विहिता सान्ध्या सन्ध्याया भवामयूखा यस्मिंस्तमिव स्थि-
तम् । काञ्चनभित्तिषु पथरागप्रभाप्रसराद्दुदितसन्ध्याराग इव भातीत्युपमेया ॥ ८ ॥

इस हिमालय पर अमिनव विकसित अष्टदुक पुष्प के समान (प्रकृत) कतिपय पुष्प
पथरागादि महामणियों विरान रक्षी हैं। प्रकाशित होते हुए इन महा मणियों के समूह
से सङ्घटित होकर दैमयुक्त शिखरों पर साय काल की किरणों के सङ्घ परिक्षुरण करती
हुई किरणों को यह हिमालय धारण करता है। (सूर्य की किरणें सायकाल को पीका और
छाल वर्षा विमिश्रित दिखलाई पड़ती हैं उसी तरह हिमालय सुवर्ण का पीका और पद्म राग
का अरुण प्रकाश दोनों के एकत्रित होने के कारण सायकालीन द्युति धारण करता है ॥ ८ ॥

पृथुकदम्बकदम्बकराजित प्रथितमालतमालवनाकुलम् ।

लघुतुपारतुधारजलश्च्युत धृतसदानसदाननदन्तिनम् ॥ ९ ॥

पृथ्विति । पुनश्च । पृथुभि कदम्बवृक्षैः कदम्बकर्नापकुसुमसमूहै राजितम् । 'कद-
म्बमाहु सिद्धार्थे नीपे च निकुरम्बके' इत्युभयत्रापि विश्व । प्रथितमालैर्बद्धपृच्छिमि-
स्तमालवनैस्तापिच्छवनैराकुलमाकीर्णम् । 'कालरकम्बस्तमाल स्यात्तापिच्छोऽपि'
उत्थमर । लघुतुपारमल्पशीकर यन्तुधारजल हिमोदक श्च्योतति वर्षति त तथोक्तम् ।
'तुषारी हिमसीकरा' इति शाश्वत । 'अन्येऽपि इत्येते' इति किप् । सदाना
समदा सदानता क्षोभनाननाश्च ये दन्तिनस्ते धृता येन त तथोक्तम् ॥ ९ ॥

यह हिमालय वने २ कदम्ब के पुष्पों से विशोभित हो रहा है। यह गुप्ते हुवे पुष्प माल्य
के सङ्घटित माल के वनों से व्याप्त हो रहा है। विन्दु विन्दु हिमजल इस परसे परिक्षुरण
कर रहा है। इस हिमालय पर मदझावी, और सुन्दर शुष्क, सुशुष्क वाले हापियाँ विच-
रख करते हैं ॥ ९ ॥

णीव शिलान्तराणि शिलामण्डपानि पुरद्वाराणि यासु ता । उदितान्पूर्वितानि पुष्पाणां
वनानि यासु ता । अतएव पुर इव नगराणीव स्थिताः । सुबो वधतम् ॥ ५ ॥

इस हिमालय के भूभाग नगर के समान है । ये नगर विविध रसों की विरहों से प्रका-
शित हैं । अमराह्वानाओं से उपरुक्त कलाय इस नगर के भवन हैं । ऊची २ शिलाओं के
बीच के रिक्त स्थान नगर के फाटक हैं । चण्डे २ कुलों के इन पुष्पोद्यान हैं । (इस तरह
के नगर वाले भूखण्डों को यह हिमाक्षय धारण करता है) ॥ ५ ॥

अविरतोऽग्नित्वा रिविपायस्तुभिर्विरहितैरचिरद्युतितेजसा ।

उदितपक्षमिवारत्ननि स्थनै प्रथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदै ॥ ६ ॥

अविरतेति । पुनश्च । अविरतमविच्छिन्नमुत्सितवारथ । अहृष्टिमन्त इत्यय ।
अतएव विपायवत्त्वं उदितोऽग्नित्वा रिविपायस्तुभि । अतएव हिमवत्पक्षत्वं सम-
पतीति भावः । अचिरद्युतितेजसा विरहितैर्विद्युत्तजोरहित । आरतमि-स्वमैः प्रशान्त
गर्जितैश्च । अन्वया पक्षत्वहानिः स्यादिति भावः । प्रथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदैकस
क्षिभिः । कटकौश्ली नितम्बोऽम्बु इत्यमर । अम्बुनैरुदितपक्ष सञ्जातपक्षमिथ रिय
तम् । प्राविश्वपक्षस्यापि हिमाद्रर्षवलाम्बुदसम्बन्धात्पुनः पक्षोरथानमुत्पन्न्यते ॥ ६ ॥

इस हिमाक्षय के विपुल नितम्ब के समान मध्यभाग पर मेघ भव लम्बित हैं । (जब ये
मेघ वाते वध के नहीं हैं किन्तु) श्वर असवर्षय कर निरुत्त हो जाने से पक्ष रग के हो
गये हैं । जब इन में विन्दुरी का प्रकाश विरक्त नहीं रह गया है । ये (मेघ) गम्भीर गज
व कर रहे हैं । इन वादकों से यह हिमवान् सपक्ष विखनार्द्र पट्टा है । पहले तो पक्षों
को पक्ष होते थे जिससे वे उड़ते थे । पहले २ यहाँ बैठ जाते थे यहाँ के भत जन को नष्ट भट
कर देते थे इस लिये इन्द्र ने पक्षों का पक्ष काट डाला । यद्यपि यह पक्ष रहित है तो भी
इन मेघों से पक्षवान् कावेक्षित होता है ॥ ६ ॥

वधतमाकरिभि करिभि क्षतै समवतारसमैरसमैस्तटै ।

विरिचक्षमहिता महिताम्भस रृष्टसरोजवना जवना नदी ॥ ७ ॥

वधतमिति । पुनश्च । आकरः अनिरेषामस्ति योनित्वेनेत्याकरिमिराकरजैः । अ-
निः श्रियामाकरः स्यात् इत्यमर । करिमिर्गलैः कर्तृभि । क्षतै रण्यैः समवतारेषु
तीर्थेषु समरविपमैरसमैरसक्षैः । अनुपमैरित्यथ । तटैरुपलक्षितास्तथा महिताम्भसः
रुकाभ्योदका अतएव विविधेभ्यः कामेभ्योऽश्वगाहनाद्यपमोगेभ्यो हिता अनुकूलः ।
'वधुर्षी उर्ध्वं- इत्यादिना समासः । स्फुटानि विकसितानि सरोजवनाणि यासु ता ।
जवना वेगवती । लुचदम्भ्य- इत्यादिना धुच । नदीर्ध्वतम् । यमकवृत्त्यनुपासने
इत्यादिभ्यमेवाकृष्टारः । अर्थोऽकारस्त्यम्बुभ्यः । तस्यातिपुष्करत्वाद्दसपोषोऽपि ना-
द्वियते । तदुक्तम्— प्रायसो यमके चित्रे रसवृद्धिषु मृग्यते इति ॥ ७ ॥

इस हिमालय पर बहुत सी नदियाँ हैं। उनके तट अनेक राजों की राजधानियाँ हैं। वे हाथियों के द्वारा क्षत कर के समतल बना लिये गये हैं, देखने में बहुत सुन्दर हैं। इसलिये रत्नानमिनादि अनेक विध काष्ठों के लिये ये नदियाँ दितकारिणी हैं। इनका जल अत्यन्त पवित्र है। इनमें कमल विकसित हो रहे हैं। ऊँचे से नीचे की तरफ बहने के कारण इन नदियों का प्रवाह प्रहर (तीर) है। (इस तरह की नदियों को यह हिमालय धारण करता है) ॥७॥

नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषा द्युतिमता निकरेण महाश्मनाम् ।

विहितसान्ध्यामयूखमिव क्वचिन्निचितकाञ्चनभित्तिषु सानुषु ॥ ८ ॥

नवेति । पुनश्च । नवानि विनिद्राणि विकसितानि च यानि जपाकुसुमानि ताम्र-पुष्पिकाकुसुमानि तेषां शिष्य इव त्विषो येषां ते तेषाम् । 'ओण्डपुष्प जपापुष्प रूपिका ताम्रपुष्पिका' इति चाश्रयः । द्युतिमता महाश्मना मणीनाम् । पद्मराताणामित्यर्थः । विशेषणसामर्थ्यात् । निकरेण समूहेन हेतुना षड्विचित्रिता सङ्घटिता काञ्चनभित्तयो येषु तेषु सानुषु विहिता सान्ध्या सन्ध्यायां भवामयूखा यस्मिन्स्तमिव स्थितम् । काञ्चनभित्तिषु पद्मरागप्रभाप्रसराद्भूवितसन्ध्याराग इव भातीत्युत्प्रेषा ॥ ८ ॥

इस हिमालय पर अमिनव निकसित अद्भुत पुष्प के समान (अरुण) काष्ठ युक्त पद्मरागादि महामणियों विराज रही हैं। प्रकाशित होते हुए इन महा नदियों के समूह से सङ्घटित दोहर हेमयुक्त शिखरों पर साय काल की किरणों के सङ्घ परिरक्षुण्य करती हुई किरणों को यह हिमालय धारण करता है। (सूर्य की किरणें सायकाल को पीछा और लाल बर्य विभिन्न दिशातः पड़ती हैं उसी तरह हिमालय सुवर्ण का पीछा और पद्म रत्न का अरुण प्रकाश दोनों के एकत्रित होने के कारण सायकालीन धृति धारण करता है ॥ ८ ॥

पृथुकदम्बकदम्बकराजित मथितमालतमालचनानुकुलम् ।

लघुतुषारतुषारजलश्च्युत धृतसदानसदानदन्तिनम् ॥ ९ ॥

पृथ्विति । पुनश्च । पृथुभि कदम्बघता कदम्बकेर्नापकुसुमसमूहै राजितम् । 'कदम्बमाहु सिद्धार्थे नीपे च निकरम्बके' इत्युभयप्राधि विश्व । मथितमालैर्वदपक्षिभिस्तमालधनैस्तापिञ्जनैराकुलमाकीर्णम् । 'कालरकम्बस्तमाल स्यात्तापिञ्छोऽपि' इत्यमरः । लघुतुषारमक्षपनीकर यत्तुषारजल हिमोदक श्च्योतति वर्षति त लथोक्तम् । 'तुषारी हिमलीकरी' इति शाश्वत । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप् । सदाना समदा सदानना शोभनाननाश्च ये दन्तिनस्ते घटा येन त लथोक्तम् ॥ ९ ॥

यह हिमालय धरे २ कदम्ब दो पुष्पों से विशेषित हो रहा है। यह शुभे हुवे पुष्प माल्य के सङ्घ रत्नमाल के बनो से रचा हो रहा है। विन्दु विन्दु हिमजल इस परसे परिचलण कर रहा है। इस हिमालय पर मदलावी, और सुन्दर शुण्ड, अशुण्ड वाले हाथियाँ विन्द-रथ करते हैं ॥ ९ ॥

रहितरजचयास शिलोच्चयानपल्लवाभवन्त न दरीभुव ।

विपुलिनाम्बुसहा न सरिद्रधूरकुसुमान्दधत् न महीरुह ॥ १० ॥

व्यतिरेति । पुनश्च । रहितरजचयान् रहित परित्यज्यो रजचयो वैस्तारजरागिर
हिताम्बुकोचयाम्बिसराणि च दधत्म् । अपल्लवानवना लतागृहरहिता वरीभुवो
गुहाभवेसाह दधत्म् । 'दरी तु कन्दरो वा की देवजातविले गुहा इत्यमरः' । विग
यानि पुष्टिनाम्बुसहाणि च वास्तो ताः । सरितो यच्च ह्य ता सरिद्रधूरं दधत्म् ।
अत्र सरितां दधौपम्यापुष्टिनामाप्रभुसहाणां च ददनमधमौगम्य गन्वते । अत्रुसुमा
ममहीरुहो वृषाक्ष दधत्म् किन्तु रणादिमप्यत्रानेव शिलोच्चयादीन् दधत्मित्यप्य ।
महाविभाषया मात्र मत्समासः ॥ १ ॥

इस हिमालय के त्रिकररुह राक्षसों से रक्षणीन्त्री है (अर्थात् अनेकविध रक्षों की जाति
इसके त्रिकर है) इस के ऊपर के मन्त्रेण लनागृहो से शून्य नहीं है । इस (हिमालय)
की नदियां नवविधाहिता रमणी की तरह हैं । ये नदियां सिततराणि और कमलों से रहित
नहीं हैं । इस पर के जियने वृक्ष हैं वे पुष्प और फलों को पारण न करते हैं सो भी नहीं
(अर्थात् सब रत्न उग्यत्र यह हिमालय है) ॥ १ ॥

व्यधितसिधुमनीरसानै शनैरमरलोकमधूजघनैर्धनै ।

फगसृतामभितो वितत ततं दयितरग्यसतामकुलै कुलै ॥ ११ ॥

व्यधितेति । पुनश्च । अनीरशनैरभिर्मल्लै । अरसानैरित्यर्थः । धनैर्विधिवैरमरलो
कमधूजघनै शनैर्न इ व्यधितसिधुं धोमितनधीकम् । अयमपरः स्वर्ग इति भावः ।
ये रम्भा लताश्च बहुला केसराण्य ते दयिताः प्रिया देवां तैस्तयोक्तैः । विशारदो
मघान्तो बहुकः स च वेसरः इति वीरके । फगसृतां सर्पाणां कुकरमितस्ततं ग्याहं
तथा वितत विस्तृतम् ॥ ११ ॥

इस हिमालय की नदियों का मवाह शरकन्दरिदो के फासी सहित भेटिमेटे चपनो से वीर र
शून्य होता रहता है (अर्थात् वे आकर नहीं नदियों में लक्ष्मीशा करती है जिससे प्रवाह
रुग्ण होता है) और यह (हिमालय) सर्पों के कुलों से मवाह होकर बिल्वु हो प्या है ।
नूनन बोमल बना और पुन पराग की बनकी प्रियनमावे है ॥ ११ ॥

ससुरचापमनेकमग्निभ्रमैरपपयोविरादं हिमपाण्डुभिः ।

अविचल शिशुरैरुपविभ्रतं भवनिवसूचितमम्बुमुखां चयम् ॥ १२ ॥

ससुरेति ॥ अनेका विचित्रा मग्निप्रभा येषां तैस्तयोक्तैः । हिमेन पाण्डुभिः शिशुरैः
कुत्वा ससुरचाप सेग्रचापम् । अपपथा मिर्जकोऽतद्युक् विरद्वद्य समवपयोविरादम् ।
अविचल वैवाचिब्रह्मम् । अतः शिशुरैरुपविभ्रतं भवनिवसूचितमम्बुमुखां चयमेव

सूचित ज्ञापितमञ्जुमुखा चयमधिरतमुपविभ्रतम् । अत्र किल कवि रथाच्छि-
खरमेघसन्देहो मेघनिश्चयान्तः सम्देहालङ्कार ॥ १२ ॥

हिमालय के शिखर अनेक मणियों का प्रभा से रञ्जित रहने के कारण तथा वर्ष से डके होने के कारण शुभ्र दिखलाई पड़ते हैं । उन पर मेघमण्डल मो धवल वर्ण तथा इन्द्र धनुष के संग होता हुआ न्यक्त नहीं हो पाया है अथ कभी वह गम्भीर गजनन करता है तब स्पष्ट हो जाता है कि हिमालय के शिखर पर मेघ भी है ॥ १२ ॥

विकचवारिरुह दधत सर सकलहसगण शुचि मानसम् ।

शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्या सकलह सगण शुचिमानसम् ॥ १३ ॥

विकचेति ॥ पुनश्च । विकचवारिरुहम् । निरपविकसितारविन्दमित्यर्थं । वृत्तिसा
मर्षात् । कलहसगणे सह वर्तत इति सकलहसगणम् । 'कादम्यः कलहस स्यात्'
इत्यमरः । यद्वा । सकला सर्वे हसगणा यस्मिस्तत्तथोक्तम् । शुचि निरयनिर्मलं
मानस मानसाख्य सरो दधतम् । किञ्च । कृतेर्षया । कुतश्चिन्मिन्तारकुपितयेत्यर्थं ।
अगात्मजया पार्ष्ण्या सकलह सविवाद्म् । सगण सप्रमथम् । 'गणा' प्रमथसम्बोधौवा ।
इति वैजयन्ती । शुचिमानसमविद्याविनिर्मुक्तचित्त शिव च दधतम् । पूतेन
लवैषण्यमस्योक्तम् ॥ १३ ॥

यह निर्मल अलानुक्त, एक 'मानसरोवर' (तालवा) को धारण करता है । जिसमें
कमल खिले हुए रहते हैं और इसमें कल इसी का निवास है या सम्पूर्ण काव्य के
हस्तों का निवास है । यही नहीं किन्तु किसी कारण से कुपित पार्वती के साथ, अपने प्रम-
थादि गणों के साथ, सम्पूर्ण अविद्याओं से विमुक्त भक्त एवं शुद्ध चित्त शंकर जी को भी धारण
करता है ॥ १३ ॥

ग्रहविमानगणानभितो दिव ज्वलयतौषधिजेन कुशानुना ।

मुहुरनुस्मरयन्तमनुत्तप त्रिपुरदाहमुमापतिसेविनः ॥ १४ ॥

ग्रहेति ॥ दिवमभितो दिवोऽभिमुखम् । 'अभित' परित - इत्यादिना द्वितीया ।
ग्रहाक्षन्द्रादयो विमानानि देवयानानि च । 'स्योमयान विमानोऽस्त्री' इत्यमरः । तेषां
गणान्ज्वलयता प्रदीपयता । 'मिता ह्रस्व' इति ह्रस्वः । औषधिजेन तृणविशेषजन्येन
कुशानुना वक्षिना कृत्वानुत्तप प्रतिषथम् । वीप्सायामन्ययीभावः । उमापतिसेविनः
प्रमथादीन् । 'गतिबुद्धि-' इत्यादिना द्विकर्मकारणम् । त्रयाणां पुराणां समाहारश्चि
पुरम् । 'सदिताय-' इत्यादिना समासः । 'पात्रादिभ्य प्रतिषेधो घक्तथ' इति
स्त्रीलिङ्गप्रतिषेधः । तस्य दाह त्रिपुरदाह मुहुरनुस्मरयन्तम् । ननु 'अधीगर्थ-'
इत्यादिना दाहमित्यत्र षष्ठी किं न स्यात् । तस्या शेषार्थे विधानाच्छेषवस्याविव-
क्षितत्वात् । अत्र 'कविसम्मतसाधरयास्मृति' इति स्मरणालङ्कारः ॥ १४ ॥

इस हिमालय पर स्वर्ग के चतुर्दिक (प्रति भाग) प्रदो (चन्द्राणि) और देवताओं के विमानों का प्रत्येक एक विशेष से चरपत्र अग्नि से उभावति (उभार) के देवकी (अर्थात् शङ्कर भगवान् के गर्वों) को त्रिपुरामुर के नगर के दाह का वाग्धर उमरय हो आता है तात्पर्य यह कि यह अनेक प्रकार की जीवजिन्नों का बहा भण्डार है ॥ १४ ॥

विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरङ्गुभिः ।

दधतमुन्नतसानुसमुद्धता घृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ॥ १५ ॥

विततैति ॥ विततशीकरराशिभिर्विस्तृतशीकरमुञ्जैरुच्छ्रितैरुपलतैः । कुत । उपलरोधेन विवर्तिभिरङ्गुभिर्द्वेषितसितव्यजनामिव घृहीतामलपामराभिव स्थिता मिथुष्येका । उन्नतसानुषु समुद्धता बहन्ती जाह्नवी गङ्गा दधतम् ॥ १५ ॥

इस हिमालय के अनेक शिखरों पर गङ्गा प्रवाहित होती है । पत्थरों के डेर के कारण कर उमका बल प्रवाह भवरुद्ध होजाता है । पुनः उस प्रपत्तों के डेरों पर से उबरने लगती है उस समय अस्फुट मल कण उत्सर्ज्य गति से कुम्भारोंको तरह घूटनेहै उस समय गङ्गा उन्नत पामर वारण की हुई की भाँति प्रतीत होती है ॥ १५ ॥

अनुषरेण घनाधिपतेरथो नगविलोकनविस्मितमानसः ।

स जगदे वचनं प्रियमाधुरान्मुखरताऽवसरे हि विराजते ॥ १६ ॥

अनुषरेणेति ॥ अथोऽनन्तरम् । अद्भुतानन्तरारम्भप्ररनकरुन्मैष्यो अथ इत्यन्तरम् । घनाधिपतेरनुषरेण वचनं नगविलोकनैव विस्मितमानसः । श्रोऽर्जुन । आधुरावृषिर्षं वचनं जगदे गदितम् । गदितैर्गोत्पर्यस्य बुद्धादिवाद्यध्याने कर्मणि लिट् । अपृष्टपरिमाणाक्षोपं परिहरति—मुखरतेति । मुखरता वाचाऽऽत्मम् । अपृष्टपरिमाणाक्षमिति वाचत् । अवसरे अतोराकाङ्क्षासमये विराजते हि । आकाङ्क्षितमपृष्टोपेति ब्रूयादिति भावः ॥ १६ ॥

इसके पश्चात् कुनेर के रूप में हिमालय के अनेको डेर से अत्यन्त शक्ति मनुष्य से आदर पूर्वक प्रचुर उम्हों में कहा क्योंकि यदि मनुष्य अवसर समय कर विना पूछे भी कुछ कहना है तो उसकी शोभा होती है ॥ १६ ॥

अस्रमेय विलोकित प्रजाना सहसा सहस्रिमहसा विहन्तुम् ।

घनवर्त्म सहस्रधैव कुवाहमगीरैरचलाधिप शिरोमि ॥ १७ ॥

अस्रमिति ॥ हिमेन गौरैः शुभ्रे शिरोमिः शिखरैर्बनवार्मं खं सहस्रधा कुर्वन्विषा रवाधिवेत्सुमहा । पृथोऽचलाधिपो हिमवान्विलोकितो दृष्टमात्र एव प्रजानामहसां सहस्रि पापसङ्घात सहसा विहन्तुमक समर्थः । पयसिपचनेऽलमर्थेऽप्यु इति सुमुम् ।

औपच्यन्दसिक वृत्तम्—'पर्यन्तेषां तथैव शेष चीपच्यन्दसिक सुधीभिरुक्तम्' इति स्मरणात् ॥ १७ ॥

यवने कथा—यह नगेन्द्र हिम धवल अपने शिखरों से मेव मार्ग अर्थात् आकाश मण्डल को मानों अस्वरूप भागों में विभक्त कर दिया है । दर्शन मात्र से ही यह लोगों के पाप पुण्य का नाश करने में समर्थ है । ॥ १७ ॥

इह दुरधिगमै किञ्चिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम् ।

अमुमतिविपिनं वेद दिग्ब्यापिनं पुरुषमिव पर पद्मयोनि परम् ॥ १८ ॥

इहेति ॥ इहास्मिन्पंचते । सुतर न भवतीत्यसुतरम् । दुस्तरमित्यर्थः । तरते एतद्व्यत्ययः । अन्तर मध्यभागम् । पुरुषे त्वन्तर तत्त्वम् । दुरधिगमैर्दुरारोहैरन्यत्र दुर्यहैरागमैर्बृहैरन्यत्र पुराणादिभिः । 'पुराणेऽप्यागमो वृत्ते' इति सूत्रः । किञ्चिदेव सतत वर्णयन्ति न तु कदाचिदस्मरन्त्येनापि नि शेष ज्ञातुमशक्यत्वादिति भावः । किञ्चित्तिविपिनमिति गहन दिग्ब्यापिनमुभयत्रापि समम् । अमु गिरिं पर पुरुष परमात्मानमिव पर केवलम् । 'परमव्ययमिच्छन्ति केवले' इति विश्वः । पद्मयोनिर्ब्रह्मैव वेद नान्य इत्यर्थः । 'विदो लटो वा' इति णछादेशः । अत्रोपमायमकयोः ससृष्टिः । उमा वृत्तम्—'तुरगवसयतिर्नो भरो रा अमा' इति लक्षणात् ॥ १८ ॥

इस (इमालय) के दुस्तर अन्वन्तर तत्त्व का वर्णन, दुर्बुद्ध पुराणों की सहायता से थोड़ा बहुत किया जाता है । दिग्ब्यापिणी, इस पर्वत को, जिसमें बहुत से घने २ जङ्गल हैं, और जो परम पुरुष मयवान के सदृश अश्वैव है, केवल अज्ञा हो जानते हैं । ॥ १८ ॥

रुचिरपल्लवपुष्पलतागृहैरुपलसज्जलजैर्जलराशिभिः ।

नयति सन्ततमुत्सुकतामयं धृतिमतीरुपकान्तमपि श्रियः ॥ १९ ॥

रुचिरपल्लवेषु ॥ अथ गिरिः । रुचिराणि पञ्चवानि पुष्पाणि च येषांते तथाभूता लतागृहा येषु तैस्त्वथोक्तैरुपलसज्जलजैः क्षोभितकमलैर्जलराशिभिः सरोभिः करणैः उपकान्त कान्तसमीपे धृतिमतीर्यैर्धृतिरपि समीपस्थानपि प्रियाङ्ग गणयन्ती । मानिनीरित्यर्थः । अथवा । उपकान्त धृतिमतीर्यैर्धृतिरपि सुरततृप्ता अपि पुनरप्युत्सुकता नयतीत्यर्थः । उभयत्राप्युद्बोधोपकृत्यादिति शयोक्तिः । वृत्तमुक्तम् ॥ १९ ॥

कोमल किशलय और पुष्पों से युक्त लताओं के कुम्बों से, तथा कमल पूर्ण सरोवरों से सुषोभित होता हुआ, यह (हिमवान्) प्रियतम के समीप, मानिनी भी स्त्रियों को चर्कणित कर देता है (अथवा रति मूल से तुल्य भी स्त्रियों को अपने २ पविसे रमण करने के लिये बार २ लालायित करता है) ॥ १९ ॥

सुलभैः सदा नयवताऽयवता निधिगुक्षकाधिपरमैः परमैः ।

अमुना धनैः क्षितिभृतातिभृता समतीत्य भाति जगती जगती ॥ २० ॥

सुखमिति ॥ अयवता भीतिमताऽयवता अयवता च सदा सुलभैः । नान्यैरि
त्यर्थः । अय- शुभावहो विधिः इत्यमरः । निधीर्ना महापद्यादीनाम् । अस्ती पशो
महापशुं शस्त्रो मकरकच्छपी । सुकु-दकु दनीकाश्च अयव निधयो नत्र ॥ इत्यमरः ।
गुह्यकार्ता चाधिप कुबेर रमयन्तीति तद्योक्तः । कमण्यण । परमैरुत्कृष्टधनैः करणैः ।
अमुना क्षितिभृता द्विमाद्रिणातिभृता पूर्णा सती जगती मही जगती स्वर्गाताल-
कोकी समतीत्यातिक्रम्य भाति । अमानुषैरपि दुर्लभा सम्पदोऽत्र सम्भवन्तीति भावः ।
अत्र अयवतिभृतेति पदायस्य विशेषणत्वात् जगदतिश्रमणहेतुत्वोक्त्या काम्यच्छिदम् ।
तस्य परमकेन ससृष्टिः । प्रमिताधरादुत्तमम्— प्रमिताधरा सबससैरुदिता इति
लक्षणम् ॥ २० ॥

इस भूकोक की भूमि भीतिमान तथा माण्यवान् पुरुषों से सुखन विधि और यज्ञों के
स्वामी (कुबेर) की सर्वोत्तम धन राशि सम्पन्न हिमवान् से पूर्ण हो कर अन्य लोकों की
भूमि पर विजय प्राप्त कर सुखोन्मिष हो रही है । अर्थात् प्रजुर सम्पत्ति सम्पन्न इस हिमवान्
से इस लोक की पृथ्वी सबसे बढ़कर है ॥ २० ॥

अखिलमिदममुष्य गौरीगुरोस्त्रिभुवनमपि नैति मन्ये सुलाम् ।

अधिबसति सदा यदेन जनैरर्वाद्दत्तमिभयो भवानीपति ॥ २१ ॥

अखिलमिति । अमुष्य गौरीगुरोर्हिमवत इदमखिलम् । त्रयाणां भुवनानां समा-
हारखिलभुवनमपि । तद्विनाश— इत्यादिना समाप्तः । पात्रादित्वास्त्रीत्वप्रतिषेधः ।
सुखी सायय नैतीति मन्ये । यद्यतो जनैरर्वाद्दत्तमिभयोऽज्ञातमहिमा भवानीपति
दिवः सदैव विदितमधिबसति । अस्तिम्वसतीत्यर्थः । उपान्वभ्याहवसा इति कम
त्वम् । अतोऽयं धमचेक्षमिति भावः । प्रभादुत्तमम्— स्वर्गशरविरतिर्नैव सती प्रभा
इति लक्षणम् ॥ २१ ॥

स-पुत्र यह त्रिभुवन (आकाश पाताल और वृत्तलोक) इस अयवर्ता (रावनी) के
विना हिमालय के समर्थ नहीं टिक सकता । क्योंकि क वस पर अयवर्ता काकर सर्वदा निवास
करते हैं जिनकी मरिमा साधारण पुत्रों को अविदित है ॥ २१ ॥

वीतज-मजरस पर शुचि प्रहारा पदमुपैतुमिच्छताम् ।

आगमादिव समोपहादित सम्मथन्ति मतयो भवच्छिद ॥ २२ ॥

वीतेति । विते निवृत्ते अ-मजरसी यस्य तद्गीतबन्धमजरसम् । अराया अरसम्-
तरस्याम् इति अरसादेशः । अत्र सहातद्विधेरेत्यत्वात्परत्वेन स्यादेशावाचकत्वाच्च ।

तथा हि—'टाडसिद्धसाभिनास्या' इति स्यादेशवाचनात् । परत्वाज्जरसादेशा यभाये
 माप्यहत्त्वयम् । सूत्रकारमते यत्त ज्ञापकारपरवाचनम् । भवेत्तदपि टाडस्योर्नपुमर्हसि
 समवि । भतद्वयेऽपि तत्तुष्य कसि यत्पूर्ववाचनम् । परत्वाज्जरसादेशस्तस्यास्यादे-
 वावाचनात् । ज्ञापक यत्त टाडस्योर्वावादेशाविनादिति । ईकारदीर्घयोस्तत्र त्रयर्थ्य
 तत्तु तौ विना । पूर्वैः सवर्णौ दीर्घौ च रूपसिद्धिर्भवेद्यत् । व्यर्थसूत्राद्वरत्यागाद्भवै-
 तदज्ञापक ऋणी । स्वातन्त्र्याज्जरसादेशा ऋणी पूर्वस्य वाचनात् । समर्थनप्रपञ्चस्तु भा-
 ष्यकैयटयोः स्फुटः ॥ एव च यदत्र जरस इति केषाचित्पाठान्तरकक्ष्ण तदज्ञानवि-
 जृम्भितमेव । ब्रह्मण परमात्मन सम्बन्धि परमुक्कृष्ट शुचि निःकृष्टम् । पचत इति
 पद स्थान तावाक्यलक्षणम् । मुक्तिमित्यर्थं । उपैतु प्राप्तिमिच्छता मुमुक्षूणामागमा
 षड्भाष्यविव । तमोपहन्तीति तमोपहादविधानिवर्तकम् । 'अपे क्लेशतमसो' इति
 शब्दस्य । इतोऽस्माद्धिरे । भव हिन्दन्तीति भवाच्चिद् ससारनिवर्तका । 'सत्सु-
 द्विष—' इत्यादिना किप् । मत्तयस्तत्त्वज्ञानाधि सम्भवन्नुत्पद्यन्ते । चेत्रविशेषस्यापि
 ज्ञानोपायत्वादित्याशय । न केवलमिय भोगभूमि किन्तु मुक्तिचैत्रमपीति तात्पर्या-
 थै । श्योद्धतावृत्तम् । तदलक्षणम्—'राजराचिह्न रथोद्धता क्मी' इति ॥ २२ ॥

जन्म और जा रहित, पवित्र, और सर्वोपम मद्य घाम के चाबने बाळो के लिये, अज्ञा-
 न-निपत्तक शाल की तरह इस हिमालय से ससार के बन्धन से मुक्त हो जाने की सरलुद्धि
 कथन होती है । अर्थात् यह मुमुक्षुओं के लिये शाल का नाम करता है । जैसे शाल के
 भण्डवन से बुद्धि का भुक्कान मोक्ष की तरफ हो जाता है वैसे ही इस पर निवास मात्र से
 बुद्धि सन्मार्ग का अवलम्बन करती है ॥ २२ ॥

दिव्यस्त्रीणा सचरणलाक्षारणा रागायाते निपतितपुष्पापीडा ।

पीडाभाज कुसुमविता साशस शसन्त्यस्मिन्सुरतविशेष शय्या. २३

दिव्येति । अस्मिन्निरी । चरणलाक्षारणौ सह वर्तन्ते तास्तयोक्ता । धेनुकपुत्र
 धामितादिवन्धेषु छिया पादतलस्याध स्पर्शात्तद्वागाङ्किता इत्यर्थं । निपतिता म्या
 नतकरणे स्त्रीणामधोमुखत्वाद्भ्रष्टा पुष्पापीडा कुसुमशेखरा यासु तास्तयोक्ता ।
 'शिक्षास्वापीडशेखरी' इत्यमर । पीडाभाजो विमर्दभाज । भङ्गिमथ इत्यर्थं । भ्रमर-
 प्रेङ्खोलितादी सवत् कटीपरिभ्रमणसम्भवादिति भाव । कुसुमैकिता कुसुमव्यासा ।
 इममार्गारादिकरणेषु स्तनमुजाद्यवयवाना शय्यातलस्यापिरवान्मर्दनयकुसुमाचिता
 इत्यर्थं । दिव्यस्त्रीणा सम्बन्धिन्य । शेरत आस्विति शय्यास्तत्त्वानि । 'सज्ञाया
 समसनिषद—' इत्यादिना क्यप । रागायाते रागोद्वेके सति य सत्वास सगुण
 सुरतविशेषस्तम् । जातावेकवचनम् । सुरतविशेषानित्यर्थं । शसन्ति सूचयन्ति ।
 विदुष्वन्तीत्यर्थं । अत्र लाक्षारणादिपदार्थाना सुरतविशेषासन प्रति विशेषणरथा
 हेतुबोधका काव्यलिङ्गमलङ्कारो यमकेन सघृण्यते । अलघ्वरमाकावृत्तम्—'गमो रमी

समाप्तोकिरलङ्कारः । स च यमकेन ससृज्यते । अलोद्धतगतिर्दृष्टम्—रसजसजसा
अलोद्धतगति इति लक्षणम् ॥ २७ ॥

इस हिमालय पर सुर रमणियों का निवास है । इस का मध्य भाग जो नितम्ब से ऊपर
मित होता है बहुत ही दर है । कनक बल बाद करते हुए बहुत से नद इस पर मवाहित होते
हैं । पाताल रक्षक वाहुको के लिये अत्यन्त प्रिय और समस्त स्वार्थों को फीका करने वाली
दुष्टा का इस पर वास है अर्थात् दुष्टा वहाँ मिनती है और कहीं नहीं ॥ २७ ॥

श्रीम लताभवनमोपघय प्रदीपाः शय्या नवानि हरिचन्दनपल्लवानि ।
अस्मिन्प्रतिभ्रमनुदरश्च सरोजघाता स्मर्तुं दिशन्ति न दिव सुरसुन्दरीभ्यः २८

श्रीमदिति । अस्मिन्नद्वौ श्रीमत्सकृद्विमलता एव भवनम् । ओषधयस्तुण्यो
सीष्येव प्रदीपाः । नवानि हरिचन्दनपल्लवानि सुरतर्ककसकथायेव शय्याः । हरि
चन्दनमाख्यात गोपीर्षे सुरपादप इति विश्वः । प्रतिभ्रमनुदरं सुरतभ्रमहारिणं सरोज-
घाताम् । सुरसुन्दरीभ्यः । क्रियाप्रहणाच्छतुर्थी । दिवो दिवम् । अर्थात्— इत्या
दिना कर्मणि पठ्यते । स्मर्तुं न दिशन्ति । विस्मारयन्तीत्यर्थः । स्वर्गादप्यतिरिष्यते
अस्त्विति भावः । अत्र पूर्वार्थे क्यकत्रय स्फुटमेव ॥ २८ ॥

इस पर अनेक शोभा सम्पन्न कथा कुञ्ज ही उत्तम भवन है । औषधियों हीप मालिकार्थ
है । कनक वृक्ष के नये २ पत्रव वर्य है । कनक वन का रस्य करने के कारण रवि जलित
शेद को दूर भगाने वाला वाहु भी इस पर सतत वर्तमान है । जिससे अमर लक्ष्मणों
अपने स्वर्ग को भी मूल बैठो हैं अर्थात् स्वर्ग में मोघ विलास की सम्पूर्ण सामग्री वर्तमान
पहती है । इन हिमालय पर जो किसी वस्तु की युक्त नहीं है । अतः वे स्वर्ग से इसे
अप्या समझती है ॥ २८ ॥

ईशार्थमभ्रमसि चिराय तपश्चरन्त्या
यादोविलह्नविलोलविलोचनायाः ।

भ्रालम्बताप्रकरमत्र भवो भवान्या

रथ्योत्तन्निदाघसलिलाङ्गुलिना करेण ॥ २९ ॥

ईशार्थमिति । ईशायेतीशार्थं भवा तमेति क्रियाविशेषणम् । अर्थेन सह नित्य
समाप्तः सर्वोद्धृता च वल्लभ्या । चिराय चिरमभ्रमसि तपश्चरन्त्या अतएव यादो
विलह्नविलोलविलोचनाया अलजम्बुविक्रितचक्रितचक्रायाः । तपसोऽप्यधिकं ह
एवैव विलोभयन्त्येति भावः । यादोसि अलजम्बु- इत्यमरः । भवान्या भवपत्न्या ।
प्रयोगकालापेक्षोऽर्थ निर्देशः । इन्द्रवह्णमभ- इत्यादिना स्त्रीप् । अलुगायामश्च ।
करैकदेशस्यापि करत्वाद्ग्रन्थस्य करश्चेति समानाधिकरणे समाप्तः । अतएव वामना-
हस्ताप्राग्रहस्तयोगुणुणुणिनीर्भेदादेर् इति । तमप्रकरं भवा शिव- रथ्योत्तन्निदाघस-

लिलाङ्गुलिना स्रवत्स्वेदाङ्गुलिनेति सारिवक्रोदयोकि । करेणात्र गिरावात्मवत् सृष्टी
सवान् । अत्राद्भुतातीतवृत्तान्तस्य प्रत्यक्षवदभिधानाद्भाविकालङ्कार — 'अतीतानागते
यत्र प्रत्यक्षवदलक्षिते । अत्यद्भुतार्थकार्यत्वाद्भाविक तदुदाहृतम् ॥' इति लक्षणात् ।
वसन्ततिलकावृत्तम् — 'उक्ता वसन्ततिलका तमजा जगौ ग' इति तल्लक्षणात् ॥ २९ ॥

रसी (हिमालय) पर शिव के लिये बहुत समय तक जल में भवनों ने तपस्साधन
किया था । उस समय जब कामी अलङ्घ्य शरिरपुरण करते थे तो उनके नेत्र सचकित हो
जाते थे । (आशुतोष) शकर ने भी अपने हाथ से इनके हाथ का अग्रभाग ग्रहण किया
था । भगवान् शकर के हाथ की अङ्गुलियों से शीतल काल के स्वेद बिन्दु टपक रहे थे ॥२९॥

येनापबिद्धसलिल. स्फुटभागसद्भा देवासुरैरमृतमन्वुनिधिर्ममन्थे ।
ध्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्गः ख व्याल्लिखन्निव विभाति स मन्दराद्रि ॥

येनेति । देवाश्चासुराश्च तैर्देवासुरैः । 'येषा च विरोध क्षाशक्तिक' इति नैकव
द्भाव । येषा यत् कार्यत एव विरोधो न गोभ्याम्रादिवच्छाशक्तिक इत्याहुः । येन
मन्दराद्रिणा । मन्थदण्डीकृतेनेति भावः । अपबिद्धसलिल क्षिप्तजलोऽस्त पृथ स्फुट
नागसदृश पाताळ यस्मिन्सोऽम्बुनिधिरमृत ममन्थे मयित । मन्थान्तेद्विकर्मकत्वा
द्देहाद्विधादप्रधाने कर्मणि लिट् । अहिपते मन्थगुणीकृतस्य वासुकेरित्यर्थः । 'मन्थान
मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्' इति भारतवचनात् । ध्यावर्तनैर्वेष्टनैराहिताङ्ग-
कृतचिह्नः सोऽयं मन्दराद्रिः खमाकाशं व्यालिखन्त्यापाटयन्निव विभाति । अत्रौल-
त्यानुपादानेनैव खलेखनोत्प्रेक्षणादनुपात्तगुणनिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ ३० ॥

जिस मन्दर गिरि से देवता और दैत्यों ने अमृत के लिये समुद्र का मन्थनकियाथा ।
(मन्थन करते समय) समुद्र से जल के छड़लने के कारण पाताळ लोक इष्टि गोचर हो रहा
था । और वह रज्जु भूत सर्पराज (वासुकि) के वारम्बार विवर्तन से अङ्कित होकर इस
प्रकार विशोभित हो रहा है मानों आकाश मण्डल का मैदान कर रहा है ॥ ३० ॥

नीतोच्छ्वाय मुहुरशिशिरश्मेरुस्रैरानीताभैर्विरचितपरभागारत्नैः ।
ज्योत्स्नाशङ्कामिह वितरति हसश्येनी मध्येऽप्यह्म. स्फटिकरजतभित्तिच्छायाः ।

नीतेति । इहाद्भावशिशिरश्मेरुस्रैरानीताभैर्विरचितपरभागात् । स्रक्तान्तैरित्यर्थः । नीतो
च्छ्वायमुच्छ्वाय भीता । विस्तारितैरित्यर्थः । तथाभीलानैरसितप्रभै रत्नैरिन्द्रनीलैर्विरचि-
तपरभागाः । सत्सनिधानात्कल्पोरुत्पत्त्यर्थः । हस इव श्येनी श्वेतवर्णा । 'विशदश्वे
तपाण्डराः' इत्यमरः । 'वर्णाद्दनुदात्तात्तोपघात्तो नः' इति श्येतशब्दाच्छीप । तस्मा-
रस्य च नकारः । स्फटिकानां रजतानां च भित्तयस्तासां छाया कान्तिः । अहो मध्ये ।
मध्याह्नेऽपीत्यर्थः । मुहुर्ध्यास्त्वनाशङ्का अपोस्त्वान्नान्ति वितरति जनयतीति आन्ति-
मदलङ्कारः ॥ ३१ ॥

इस जगत्पिताम पर एकदिक और रजन के दीवार की छाया सूर्य की किरणों से सम्पन्न होकर कचो हो गई है । नील जगत्पिताम की प्रभा प्रकृति से उन्हें उत्पन्न किया गया है और ये इस की शक्ति है । बिनासे उन्हें देख कर नन्दाह कल में ही चरका का मान होता है ॥ ३१ ॥

दधत् इव विलासराशि नृत्य मृदु पतता पवनेन कम्पितानि ।

इह क्षलितविलासिनीजनभ्रूतिकुटिलेषु पय सु पङ्कजानि ॥ ३२ ॥

वपुत् इति । इहाश्री मृदु पतता मन्दं बहता पवनेन कम्पितानि पङ्कजानि कलितविलासिनीजनस्य भ्रूतिकुटिलेषु । ईषत्तरङ्गितेष्विष्यथः । पयसु विलासराशि मूल्यं दधत् इव । सविलासं नृत्यन्तीवैशुष्मसा । पुष्पिताम्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

इस (हिमालय) पर ईश्वरों के शक्ति के समान कुटिल यत्न प्रकृति में मन्द मन्द चलते हुए वायु से कलित शक्ति हो रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है शक्ति के द्वारा मान पूर्वक नृत्य कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

अस्मिन्नगृह्यत पिनाकभृता सलीलमाधद्वेषथुरधौरविलोचनाया ।

विद्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वराया अस्तोरामप्रतिसरेया करेया पाणि ॥ ३३ ॥

अस्मिन्निति । अस्मिन्नगृह्यत पिनाकभृता शिवेनाधीरविलोचनायाः क्वचित्कल्पेः । उरगदशानादिति मानः । ईश्वराया गौर्या । स्पेशमस्त- इत्यादिनाः शरत् । पुनोय विषयाभावान्न हीष । आधद्वेषथु- धातुकम्प इति सार्विकोक्तिः । द्वितोऽधुच इत्यधुप्रत्ययः । विष्यस्त- मङ्गलमहौषधिर्नर्वाहुराधिर्विष्मन्स पाणिः । अस्तो मक्ति- त उरग एव प्रतिसरा कौटुकसूत्र यस्य तेन । आहु- प्रतिसरो हस्तसूत्रे मातृषे च मण्डने इति विश्वः । करेण सलीलमगृह्यतेति देवस्य पावतीपरिणयनवर्णनम् । ईषा- र्थमित्यत्र त्वनुग्रहमात्रोक्तिरिष्यपौनरस्यम् । आधिक्येवात्तकार ॥ ३३ ॥

इसी पक्ष पर पिनाक पाणि (शकर) ने अपने हाथ से विलोकनेवा पार्वती के यथा कुरादि सुख-रक्षण कल्पित तथा कम्प युक्त पाणि का दर्शन किया था । उस समय शकर मग वात् के हाथ से कौटुक सूत्र इस प्रकार खिन्नक पदा था जैसे सरक जाय ॥ ३३ ॥

कामक्षिप्रपदवीमनकसख्यैस्तेजोभि शुचिमणिजमभिर्विमिभ्र ।

सहाया व्यभिचरतीव सप्तसप्ते पर्यस्यन्निव निचय सहस्रसख्याम् ॥ ३४ ॥

कामक्षिरिति । क्षप्रपदवीमाकाश कामक्षिप्ररत्नवामैरनेकसख्यै । परासहस्रैरि- त्यर्थ । क्वचित् अनेकसख्यै इति पाठस्तु प्रामादिक एव । वैष्यार्थाद्व्याघाताच्चेति । शुचिमणिभ्यः स्फटिकेभ्यो जम्भ वेपो तैः । ज-मासुचरपदो बहुनीहिर्न्यधिचरयोऽ- धीष्यते इति धामनः । तेजोभिर्विमिभ्रो मिथोऽप्येव पयस्वाम्प्रार्थिहाश्री सप्तसप्तेः

सवितुरुद्भाणा किरणाना निवयो निकर । सहस्रमिति सख्या सहस्रसख्या ताम् ।
स्वनियतामिति शेषः । न्यभिचरत्यतिक्रामतीवेत्युध्देशः ॥ ३४ ॥

इस पर्वत पर स्फटिक मणि से परिक्षुरण कारिणी असख्य किरणें, जो आकाश पथ में सञ्चरण कर रही हैं, सामूहिक रूप से, सप्ताह्य (सूर्य) को किरणों के समूह की सङ्ग सख्या को अतिक्रमण करती हुई की तरह दृक्पथानु सरण कर रही हैं ॥ ३४ ॥

व्यघत्त यस्मिन्पुरमुच्चगोपुर पुरा विजेतुर्धृतये धनाधिप ।

स एष कैलास उपान्तसर्पिण्य करोत्यकालास्तमथ विवस्वत ॥ ३५ ॥

व्यघत्तेति । यस्मिन्कैलासे धनाधिप कुचेर पुरा विजेतु शिवस्य धृतये सन्तो-
षायोष्वगोपुरमुच्चतपुरद्वारम् । 'पुरद्वार तु गोपुरम्' इत्यमरः । पुरमलकाद्या पुरीं
वदधत्त निर्मितवान् । तत्सखित्वादिति भावः । स एष कैलास उपान्तसर्पिण्य प्रान्त
धारिणो विवस्वत सूर्यस्याकाले प्रविद्धेतरकालेऽस्तमथ करोतीवेत्युध्देशः । वस्तुत
स्तु तत्कारणभावात्सुखप्रयोगाद्गम्योध्देशः । साधोपान्तवर्तितयाऽस्तमथान्वे सम्य
न्वच्छरणान्तिहायोक्त्युत्थापितेति विवेकः । अस्तमिति मकारान्तमण्ययम् । तस्य पश्चा
द्यजन्तेनायथान्वेन पश्यिसमासः । धृतमुक्तम् ॥ ३५ ॥

जिस पर कुचेर ने त्रिपुर विजेता भगवान् शुक्री के सन्तोषार्थ बड़े २ फाटकों से युक्त
नगर निर्मित कराया था यह बड़ी कैलास है जो समीप में समाप्त दृष्य भगवान् को सनथ
के पहले ही अस्त की तरह बना देता है ॥ ३५ ॥

नानारत्नज्योतिषा सन्निपातैश्छन्नेष्वन्त सानु वप्रान्तरेपु ।

बद्धाबद्धा भित्तिशङ्काममुष्मिन्नावानानामातरिश्वा निहन्ति ॥ ३६ ॥

नानेति । अमुष्मिन्कैलासेऽन्तःसानु । सानुध्विरयर्थः । विनकथेऽन्ययीभावः ।
नानारत्नज्योतिषा अनेकमणिकाम्नीर्गा सन्निपातैर्व्यतिकरैरक्षन्नेषु छादितेषु । 'वा
दान्तधान्त-' इत्यादिषा निपातः । वप्रान्तरेषु कटकान्तरेषु बद्धाबद्धामभीषण
बद्धाम् । छन्दोपादित्तामित्यर्थः । 'नित्यवीप्सयो' इति निरयार्थे द्विर्भावः । नित्य-
मभीषणम्' इति काशिकाः । पुरुषत्वं चैतत् । भित्तिरिति सन्देहमावानावानभीषण-
भापयन् । धारुपूर्वाद्वाधातो शतृण्ययः । द्विर्भावादि पूर्वषत् । मातर्यन्तरिषे
पञ्चुतीति मातरिश्वा वायुः । कनिष्कण्ययः । 'तापुक्त्वे कृति बहुलम्' इत्यल्लुकः ।
निहन्ति निवर्तयति वायुसञ्चारान्नित्यभावोऽवधार्यत इत्यर्थः । अतो निह्वयान्त
सन्देहालङ्कारः । दाडिभीषुषम् ॥ ३६ ॥

इस कैलास के शिखर पर विविध रत्नों की प्रभा पुञ्ज से ढूँढ़ों के अन्तराक्ष आच्छादित
होनेपर मुट्टड़ दीवाल की शङ्का उत्पन्न करते हैं । आकाश सञ्चारी वायु गार २ सञ्चरित हो
भित्ति की शङ्का का निष्फेद कर देता है ॥ ३६ ॥

रम्या नवद्यतिरपैति न शाद्वल्लेभ्यः श्यामीभवन्त्यनुदिनं नलिनीवनानि ।
अस्मिन्विचित्रकुसुमस्तवकैराशितानां शास्त्राभृता परिणमन्ति न पल्लवानि ॥

रस्येति । अस्मिन्नादौ । शादां कण्ठाणि सन्नेष्विति शाद्वलास्तैभ्यः । शाद्वलाः
शाद्वल्लेभ्यः इत्यमरः । नदशादाद् डवळश्च । रम्या नवा द्यतिर्नापैति । किन्तु
निल्लेपेत्यर्थः । नलिनीवनानाम्यनुदिनं सवदा श्यामी भवन्ति । न कदाचित्पाण्डुरीभव
न्तीत्यर्थः । विचित्रकुसुमस्तवकैराशितानां व्याप्तानां शास्त्राभृतां तरुणां पल्ल
वानि न परिणमन्ति । न जीर्णानि भवन्तीत्यर्थः । सवदा नूतनमेव सर्थं धर्तत
इत्यर्थः । अत्र प्रस्तुतस्यैव तत्तद्भूतुगणकणितस्यैवरूपकार्यस्य कण्ठाप्रस्तुतस्यैव
कारणं कश्चिद्साधारणं केषासस्य महिमावागम्यत इति पर्यायोक्तिरलङ्कारः । तदु
क्तम्— कारणं नाम्बते यत्र प्रस्तुतं कायवर्णनात् । प्रस्तुतत्वेन सम्बन्धस्तस्यैवार्थो-
क्तमुच्यते ॥ इति ॥ ३७ ॥

इस कौशल्य पर घाहक (तुष) समूह अपने अभिनव रमणीयता का परित्याग नहीं
करता (सर्वदा इहा भया रहता है) नील कमल के रत्न अनुदिन अपनी नीलिमा का रङ्ग
करते रहते हैं (वे दिन गन होने के कारण सुख नहीं जाते) मीर रंग विरग के पुष्प समूह
से सम्बन्धित घड़ों के पक्षे भी जीण क्षीर्य हो कर शायी नही बनते (बुद्ध यहाँ हिमाचल पर
सग फल शाली होते हुए अपने पक्षों का त्याग नहीं करते) ॥ ३७ ॥

परिसरविषयेषु लीढमुक्ता हरिततृणोद्गमशाङ्क्या मृगीभिः ।

इह नवशुककोमला मणीनां रविकरसखलिता फलन्ति भासः ॥३८॥

परिसरेति । इहादौ परिसरविषयेषु पर्यन्तदेशेषु । विषयो येषो इति निपातः ।
मृगीभिर्हरिततृणोद्गमशाङ्क्या नीलतृणाद्गुरभ्रात्येति भ्रान्तिमवलङ्कारः । लीढाः
पूर्वमास्थादिताः पश्चाद्भुक्ताः लीढमुक्ताः । इन्धप्रकृत इत्यादिवत् पूर्वकाळ-
इत्यादिना समानाधिकरणसमासः । नवशुककोमलाः शुक्लसखणां मणीनां मरकत
मणीनां भासो रविकरैः संश्लिखिता मिथिता सत्यं चकन्ति सम्बुद्धन्ते । पर्यन्त
इति यावत् ॥ ३८ ॥

इस काल के पान प्राप्त की भूमि पर शुद्ध के रत्नों के समूह सन्तोस मरकत सखि
की किरण अभिनव हरित तृणाद्गुर की भी व्यक्त होती हैं । उन्हें हरिनिर्वा पान सममकर
खाने के लिये सुख में लेती हैं फिर छोड़ देती हैं । वे किरणों सूर्य की किरणों से सम्बन्धित
वेर अधिक प्रताप पारय कर लेती हैं ॥ ३८ ॥

उत्सुक्तास्यनलिनीवनादमुष्माद्बुद्धूत्, सरसिजसम्भव पराग ।

वात्यामिर्वियति विवर्तित समन्तादावत्ते कनकमयातपप्रलक्ष्मीम् ॥३९॥

उत्फुल्लेति । अस्मिन्नद्वौ वात्याभिर्वाचसमूहैः । 'वातादिभ्यो यत्' इति परागस्य । अमुष्माद्दृश्यमानाद्दुत्फुल्लस्यलनलिनीवनात् । जलपतितस्य परागस्यो-
 धानासम्भवात्स्यलग्रहणम् । उत्फुल्लसत्फुल्लयोरुपसख्यमानाभिष्ठानत्वम् । उद्धृत
 उत्थापितो विद्यति समन्ताद्विवर्तित परिमण्डलित । अन्तराले तु दण्डाद्यमान
 पृथेति भाव । सरसिजसम्भव पशोद्भव पराग । रूढयभिप्रायेणाग्र सरसिज-
 शब्दप्रयोगो द्रष्टव्य । कनकमयातपत्रलक्ष्मीमावसेऽनुकरोति । अत्र परागस्या-
 तपत्रलक्ष्मीसम्बन्धासम्भवात्सरसदृशी लक्ष्मीमिति प्रतिशिव्वेनाद्येपाद्सम्भविधर्म
 सम्बन्धेय निदर्शना । तदुक्तम्—'असम्भवद्धर्मयोगाहुपमानोपमेययोः । प्रतिवि
 म्बक्रिया गम्या यत्र सास्याग्निदर्शना ॥' इति ॥ ३९ ॥

(यज्ञने कहा) — यह जो स्थल कमलों का वन दृष्टिगोचर हो रहा है वहाँ से पराग के वात्या (वक्कर) के द्वारा उड़ाये जाने पर आकाश मण्डलाकार वन जाग है उस समग्र क्षेत्रमें ही निर्मित आतपत्र (झाता) की शोभा का अनुकरण करने लगता है ॥ ३९ ॥

इह सनियमयो सुरापगायामुपसि सयावकसव्यपादरेखा ।

कथयति शिवयोः शरीरयोग विषमपदा पदवी विवर्तनेषु ॥ ४० ॥

इहेति । इहात्राहुपसि प्रभाते सुरापगाया लक्षणया तत्कृते सयावका साल
 कका सव्यपादस्य रेखा वामचरणमुद्गा यस्यां सा । 'यावोऽलक्षो द्रुमामय' इत्य
 मर । तथा विषमणि महवृषपानि पदानि यस्या सा विवर्तनेषु प्रदक्षिणक्रियासु
 पदवी । शिवयोः प्रदक्षिणपदतिरिच्यर्थ । सनियमयो सम्भ्याया प्रणमतोरि-
 त्यर्थ । शिवा च शिवश्च तयो शिवयोरुमाशङ्करयो । 'पुमान्शिव्या' इत्येकशेष ।
 शरीरयोगमर्धाङ्गसदृष्टनारूप कथयति । सनियमयोरिति नियमविषयेऽपि विर-
 हासहाविह विहरत शिवाविति भाव । अत्र पदवीविशेषणपदार्थयो कथन प्रति
 हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कार ॥ ४० ॥

इस कैलास पर अत्यन्त प्रभात काल में (सुरनदी) सुष्ठुनी (गङ्गा) के तट पर सन्ध्या बन्दन कृत्याङ्गभूत प्रदक्षिण के कारण जो उमा और शंकर के पद चिन्ह स्पष्ट होते हैं उन में से वाम चरण रेखा महावर से रंगी हुई और विषमा है अर्थात् वाम पद चिन्ह रक्त वर्ण और छोटा है । दक्षिण पद चिन्ह बड़ा है । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिव और पार्वती अर्द्धाङ्गी स्वरूप हैं (शिव का वामाङ्ग पार्वती रूप है और दक्षिणाङ्ग शिव स्वरूप है) ॥ ४० ॥

सम्सृज्जता रजतभित्तिमयूखजालैरालोलपादपलवान्तरनिर्गतानाम् ।

धर्मद्युतेरिह मुहुः पटलानि धाम्नामादर्शमण्डलनिभानि समुल्लसन्ति ४१

सम्सृज्जतामिति । इहात्रौ रजतभित्तिमयूखजालैः सम्सृज्जतां बहुलीभवताना

कोजानां पादपङ्क्तानां तच्छासानामन्तरेषु रामेषु निर्गतायां प्रसूतानां यमयुते
 ह्यर्थाशोचानां शेषसाभादसम्पन्ननिमानि रूपविवशसहस्रानीरुपमाच्छ्रारः ।
 पटलानि मण्डलानि शुद्धांरन्वारं समुक्कसन्ति पुनःपुनः स्फुरन्ति न तु सातत्येन ।
 कृतानामाळोक्तवाचापाम् । तेष्व चान्यत्र सत्यापागादिपात्रे सम्भवतीति भावः ॥४१॥

इस कैलास शिखर पर रत्नमिति (चाँदी की बीवार) के किरणयुजों से उत्कर्ष
 वाली शूनै २ कल्पित होते हुए वृक्षों की शाखाओं के रत्न से इन १ वर निकले हुए
 सत्य की किरणों के समूह को दपगतकारी है अधिकधिक परिशोधित ही रहे है ॥ ४१ ॥

शुक्लैर्मयूखनिचयैः परिचीतमूर्तिप्रामिघातपरिमण्डलितोरुवेह ।

शृङ्गाययमुष्य भजते गणामतुरुक्षा कुबन्वधूपनमन सु शाराङ्गराङ्गाम् ४२

शुक्लरिति । शुक्लैर्मयूखनिचयैः शुभकिरणसमूहैः परिचीतमूर्तिप्रामिघातैः ।
 प्रामिघातेन यम्यीकया परिमण्डलितो यतुलीकृत उरुवेहो सुदृग्द्वीर यस्य तयोक्तो
 गणमर्तुः प्रमथनायस्योचा वृषभः । 'दधानतवाभृष्टीवर्षे ऋषसा वृषभो वृष' इत्य
 भवः । वृषजनममभू वाशाङ्गराङ्गां च द्रव्यान्ति कुबन् । तेषां मौम्यादिति भावः ।
 अमुष्यदेः शृङ्गाणि भजते सेवते । नत्र शृङ्गासदस्य सम्प्रेहार्यत्वे स-वेदाच्छ्रारः ।
 आन्तिपरत्वे आन्तिमदच्छ्रारः । यथेष्वसि तथास्तु । नवोचविशेषणोरथेन काभ्य
 किरानाङ्गाभिभावेन सङ्गीर्यते ॥ ४२ ॥

एक वर प्रमथानिध (वृष) का महोच (मन्थी) शुभ किरण युजों से यकनि होकर
 यम-श्रीटा-मसक्ति के कारण अपने श्रद्धा को सृष्टन करके इस कैलास के शिखरों का भागच
 कता है वत समग्र युक्ति जनों के मन में शरणाब्जन (चद्र) का मान होने लगा है ॥४२॥

सम्प्रति ह्यधजन्म शनकैः कथमपि लघुनि

शीघ्रापयस्युपेयुषि मिदा जलधरपटले ।

एदिहतविग्रह बलमिदो घनुरिह विविधा

प्रायितु भवति विभव शिखरमणिह्वय ॥ ४३ ॥

सम्प्रतीति । इहामै विविधा नागायणाः शिखरमणिरुच्य सम्प्रति सरदी
 त्यय । लघुन्ययुषिणि । कुत । शीघ्रपयस्यत एव मिदो भेदम् । मिदिदादिभ्यो-
 ष्टा इत्यकप्रत्ययः । उपेयुषि घते अक्षरपटले भेदमण्डले कथमपि शनकैर्लघु
 क्षम । उपेयुषित्यय । अत एव अदिहतविग्रहशुद्धस्वरूपं अक्षिद् इत्यस्य घनुर
 प्रायितु विभव समर्था भवन्ति । अत्रेभ्यस्तुषो मणिरुच्योनामसम्बन्धे सम्प्र-य-
 यनादतिशयोक्तिरच्छ्रारः । वधापत्रपतिव वृषम्—दिभ्युनि वधापत्रपतिव भवन
 भरदोः इति कथनात् ॥ ४३ ॥

इस प्रकारकाल में जब मेषमण्डल जलरहित हो कर शुष्क २ हो जाता है उस समय इन्द्र पशुप जो आकाश में प्रायः कम उड़ित होता है अत्यन्त सूदन और खण्डित सा दृष्टिगोचर होता है । इस कैलास शिखर के विविध रत्नों को कान्ति उस को पूर्ण कर देती है ॥

स्नपितनवलतातरुप्रवालैरमृतलवङ्गविशालिभिर्मयूखै ।

सततमसितयाभिनीषु शम्भोरमलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा ॥ ४४ ॥

स्नपितेति । इहाद्गौ शम्भोरिन्दुलेखा । स्नपितानि सिक्तानि नषानि छतानां तरुणा च प्रवाळानि चैस्ते अमृतलवङ्गुयामृतविन्दुनि.स्यन्देन शालन्ते ये तैर्मयूखै सतत सर्वकालमसितयाभिनीषु कृष्णपचरात्रिर्ष्वपि वनान्त ति धवलयति । अन्यत्र नैतदस्तीति व्यतिरेको व्यजयते ॥ ४४ ॥

इस कैलास पर भगवान् शंकर के शिर स्थित चन्द्र लेखा अपनी पीयूष विन्दु छावी किरणों से, जो छोटे २ बूट और नूतन छात्राओं का सिद्धन करती है, कृष्ण पत्रकी राशि में वनान्त प्रदेश को धवलित कर देती है ॥ ४४ ॥

क्षिपति योऽनुबन् वितता बृहद्बृहदिकामिव रौचनीकी रुचम् ।

अयमनेकहिरण्मयकन्दरस्तव पितुर्दयितो जगतीधरः ॥ ४५ ॥

क्षिपतीति । अथ योऽद्विरनुबन् वितता रौचनीकी रुचम् । सौवर्णा कान्तिमित्यर्थः । रोचनया रक्ता रौचनीकीम् । 'आशारोचनशकलकर्दमाठक' इति ठक् । 'द्विद्वान्-इत्यादिना लीप् । उभेचते-बृहती चासी बृहदिका च ता महोत्तरासङ्गमिव । द्वौ प्रावा रोचरासङ्गौ समौ बृहदिका तथा' इत्यमर । क्षिपति प्रसारयति । अनेका हिरण्मय कन्दरा यस्य स । हिरण्मयशब्दो 'दाण्डिनायन-' इत्यादिना निपातनात्साधु । अयम् पुरोधर्ता निरिहित्यर्थः । तव पितुरिन्द्रस्य दयित प्रिय । अगत्या धरो जगतीधर । यस्ते गन्तव्य इन्द्रकीलासय इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

यह (इन्द्रनील) नाना प्रकार की शुक्ल मयी कन्दरा शाली, धराधर, (पहाड धापके पिता इन्द्र का परम मित्र है जो अपनी सुनहली धीप्ति को रूप धौलकर लम्बी चौड़ी चादर (उत्तरीय) के समान प्रथैक बनों के ऊपर ढाक देता है ॥ ४५ ॥

सक्तिं जवाद्पनयत्यन्तिले लताना बैरोचनैर्द्विगुणिता सहसा मयूखै ।

रोधोमुषा मुहुर्मुत्र हिरण्मयीना भासस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति ॥

सक्तिमिति । अमुप्रामुष्मिषद्रावनि के जवाद्भट्टिति लताना सक्तिमन्थोन्यसङ्गमपनयति सक्ति । सहसा दृष्टाद्बैरोचनै साधित्रैर्मयूखैर्द्विगुणा द्विरावृत्ता कृता इति द्विगुणिता । 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दाविध्विन्द्रियामुषपतन्नुषु' इति वैजयन्ती । हिरण्मयीना हिरण्यधिकाराणाम् । 'दाण्डिनायन-' इत्यादिना निपातनात्साधु । रोधो-

सुवां तदसुवां भासो सुहृस्तद्विद्वित्तामि चिद्व्यवन्ति । अनुकृपन्तीत्यर्थ । उप-
मात्कार ॥ ४६ ॥

इस (ईदनीक गिरि) पर बाहु प्रकट वेग से चल कर छायाओं की परस्पर संतुष्टि को
दूर कर देता है अथवा सुवर्ण मयी तट भूमि बना एक दृश्य भगवान् को किरणों से दिग्गुणित
को विन्दुरी को हटा को माव करती है (अनुकृपण करती है) ॥ ४६ ॥

कथयामि कम्पनिरस्तमहाहिमि च्याविमत्तमतङ्गजवर्जितै ।

इह मदरनपितैरनुभीयते सुरगजस्य गतं हरिचन्दनै ॥ ४७ ॥

कथयामि । इहाही कथयामि कम्पयामेन यः कम्पस्तेव निरस्ता महाहयो महासर्प
वेग्यस्तैः । चणे विमत्तमतङ्गजवर्जितैमत्तमतङ्गजरहितै । कुतः । मदरनपितै । येरा
वतसुसिद्धैरित्यर्थ । मितं इत्थं इति इत्थं । हरिचन्दनैः नम्रैः सुरगजस्यैरा
वतस्य गतं प्राप्तिरनुभीयते । हरिचन्दनविशेषणै काव्यमिदंमुद्येयम् ॥ ४७ ॥

इस पर्वत पर चन्दनहृम येरावत के कम्पू पयः पयः स्पर्श से भीषण मुण्डानो
(महासर्प) से रहित हो गये है । छायमान के लिये मद्योमच शक्तिों की इनसे दूर हो
गये है । ये येरावत के सह से आगे है इनके देखने से अनुमान होता है कि इस माय से
देवताओं के शायी (येरावत) गमन निचा है ॥ ४७ ॥

जलदजाह्वयनैरसितारमनामुपहतप्रचयेह मरीचिमि ।

भवति दीप्तिरदीपितकन्दरा विभिरसवलितेव विवस्वत ॥ ४८ ॥

जलदेति । इहास्मिन्नश्री जलदजाह्वयनैर्मेघध्वस्तारमनामिदानीलानां
मरीचिमिदीपितिमि । 'भालु' करो मरीचि' स्त्रीपुसयोदीपिति' स्त्रियाश्च इत्यमरः ।
उपहतप्रचया विद्युत्तल्लभाता जलप्लादीपितकन्दरा जप्रकाशितगङ्गा विवस्वतो
दीपितिमिरः संवलितः सहसा व्यामिश्रितेव भवतीत्युपमा ॥ ४८ ॥

(इस ईदनीकपर) मेघ मका के सहज ईदनीक भावि की किरणों से सूर्य की किरणों
परस्पर संतुष्टि होकर कन्दराओं को प्रकाशित नहीं कर सकती है और इस तरह दीप
पङ्क्ति है भालो अन्वकार से मिथो हुई है ॥ ४८ ॥

भव्यो भवन्नपि मुनेरिह शासनेन

शात्रे स्थित पथि तपरय ह्यप्रमादः ।

प्रायेण सत्यपि हितार्थंकरे विधौ हि

श्रेयसि तद्व्युत्सुखानि विनान्तरायै ॥ ४९ ॥

भव्य इति । इहाही भव्यः शास्त्रो भवन्नपि मुनेर्व्यासस्य शासनेनेन्द्रावाचनकृतेण
शात्रे पथि कथियमाणं स्थितः । गृहीतवाक्यं यद्येत्यर्थः । ह्यप्रमादोऽप्रमत्तः सन् ।

सपत्न्य उपश्रयो ह्यह । तपस्येति 'कर्मणो रोमान्यतपोभ्यां वर्तिचरो' इति वषट् । तद-
न्ताश्रयोर्लोत् । अ च सर्वभूतहितकारिणो मे प्रसाद् किं करिष्यतीति विश्वसितन्य-
मिहयथांन्तरन्यासोदाह—हि महामात्रयायेण चाहुत्वेन । 'प्राणो ययस्यनशने सृती
बाहुत्पपुश्रयो' इति हेमचन्द्र । हितसर्वं करोतीति द्वितायं करो विधौ ध्यापने सति ।
अन्तरायैर्विधौर्विना अर्वांसि लक्ष्मणसुखाणि । अशक्तयानीत्यर्थः । अतएव 'शकृत्प-'
हत्यादिना समानकृत्येषु तुमुम् । अकारणवैरिण सर्वत्र सर्वैस्वयपि सन्तीति भावः ॥

(वचने अर्जुन से कहा)—भाप सम्पत्ता पारय करते हुए भी ध्याम मुनि के विदेह
से प्राप्तकर्ष का पालन करते हुए अर्थात् शक्तप्रदण करते हुए सावधान होकर उपश्रयो
करोनिवे । यद्यपि अनुकूल (कल्याणकारी) भाव होवे हुए भी विन् का भ्रात्रों के विना कदापि
प्राप्त करना कठिन है । अर्थात् कल्याण प्राप्त होने में अनेक प्रकार के विघ्न उपरिपत्र
होते हैं अथ विन् विचारणार्थ शक्त पारय करना आपके विदे अत्यायवदक है ॥ ४९ ॥

मा भूवन्नपयद्वस्तवेन्द्रियास्वा
सन्तापे दिशतु शिवा शिवा प्रसक्तिम् ।

रक्षन्तस्तपसि बल च लोकपालाः ।

कल्याणीमधिककला क्रिया क्रियासु ॥ ५० ॥

मा भूवन्नपि । तवेन्द्रियाश्चेवास्वास्ते । अपथेन इरन्तीत्यपयद्वतो मा भूवन् ।
व्यामप्य मा निर्गोषुदिरवर्ष । 'मास्ति लुक्' इत्याद्योरर्थे लुक् । सन्तापे तप कसेतो सति
शिव शिवा साचीयसौ प्रसक्तिं प्रकृतिभुक्साह विधातु । किञ्चेति चार्प लोकापाला
इन्द्रावपस्तपसि विषये बल शक्ति रक्षन्तो वर्धयन्तः सन्तः पक्षबाणी साधर्म्यं क्रिया
समुदायमधिककला क्रियासुः कुर्वन्तु । करोतेराश्रिपि लोट् ॥ ५० ॥

भाप के इन्द्रिय वर्ग दोषों से तपुष्ट वर्णमार्ग गमो नहीं है भाव की कलापस्था में अकर
भनवान् कार्यसाधन समर्थ बनाने प्रदान करें । लोकापाल भाव के तर साधन में शक्ति
को अभिवृद्धि करते हुए व्याप के शोभन कर्तव्याहुत्तान को सकल बनावें ॥ ५० ॥

इत्युक्त्वा सपदि हित प्रिय प्रियाहं

धाम स्व गतवति राजराजभूयसे ।

सोत्कण्ठ किमपि पृथासुत प्रद्वष्यी

सधत्ते भुरामरतिं हि सत्त्वियोग ॥ ५१ ॥

इतीति ॥ प्रियाहं राजराजभूय इति पूर्वोक्तम् । हित प्रिय वधनमिति शेषः ।
उक्त्या सपदि एव स्वकीय धाम स्थान गतवति सति । पृथासुतोऽर्थः सोत्कण्ठ
सोत्सुक्य किमपि प्रद्वष्यी चिन्तयामास । तथाहि । सत्त्वियोगं सुजनविद्योगो भुराम-
रतिं अर्थात् सम्प्रसे । करोतीत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार मिय और हिरकर गानव बहकर ब्रह्मपान पुत्रैराजुवर (यव) के चले जाने पर अजुन ने हाकण्टा पूवक छयावर के छिपे वध का आभ्यास किया क्योंकि अजुन वियोग दुःख कापी होता ही है ॥ ५१ ॥

तमनतिशयनीय सर्वत सारयोगा

वधिरहितमनेकेनाह्वभाजा फलेन ।

अकृशमकृशालस्मीरचेससाशसित स

स्वमिव पुरुषकार शैलमभ्याससाद ॥ ५२ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किराताजुनीये पञ्चमः सर्गः ।



तमिति । अह्वना पूर्णं लक्ष्म्यं शोभा धरत्य सोऽङ्गुवालक्ष्मीरिति बहुवचनश्रितो बहुव्रीहिः । एवं च 'उरःप्रभृतिभ्यः- इति कप्रत्ययानवकाशः । तत्र लक्ष्मीशब्दस्यै कवचनान्तस्यैव पाठात् । नापि अद्यतक इत्यस्यावकाशः । उरःप्रभृतिपाठसामर्थ्यां देव सौधिकस्तु वयाधिक इत्यविरोधः । सोऽङ्गुन' सवसः सवस्र सारयोगातुल्लुहबलप्रयोगात् । सारो वल्ले स्थिरासौ च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु इत्युभयप्राप्यमरः । अनति शयनीयमनतिक्रमणीयमनेकेन बहुनाह्वभाजा समीप गतेन । शीघ्रमाश्रितेति यावत् । फलेन कायसिद्धवाऽविरहितमशुभ्यम् । कार्यसिद्धत्वरथं साधकमित्ययम् । अकृशमतर्तुं चेतसाशसित प्राप्नुमिदं कौलमिद्रकील स्वमातमीयम् । पुरुषश्च कार' कम त पुरुष' कारतुल्लुविशेषमविक्षिप्तं दीरपमिवाभ्याससाद प्राप्तवान् । मालिनीवृत्तम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकौलाचलमहिलनाथसूरिविरचितायां किराताजुनीय

काव्यम्दाक्यायां षष्ठ्यापयसमाह्वयायां पञ्चम सर्ग समाप्तः ।



त्रिसप्तकार अजुन का पुत्रवार्थ सवसा अनतिक्रमणीय आशुपायी अनेक प्रकार के फल से युक्त और महादूषा वही प्रकार द्रवनीक पहाड नीचा सवसा बलप्रयोग सेठ से कोई भाग नहीं कर सकता था । उस पर रहकर साधन करने वाले पुरुष की अनेक-विध-फल-मिद्धि आशु मापिनी थी । बहुत दिनों से अजुन वल (पहाड) को चिन्त से आरुते थे । उसी द्रवनीक पवन वा आश्रव (अवस व) व-दोने (एवा न-दन) ने किया । उस क्षण थे भी पूर्ण वध अशोभित होरहे थे ॥ ५२ ॥

षष्ठः सर्गः ।

रुचिराकृतिः कनकसानुभवो परम पुमानिव पति पतताम् ।

धृतसत्यखिपथगाममित. स तमारोह पुरुहूतमुत् ॥ १ ॥

रुचिराकृतिरिति । अथो आसादनानन्तरं रुचिराकृति सौम्यविग्रहो एतस्यपयोऽ-
पलम्बितसम्भारं । आकारातुरूपगुणवानित्यर्थं । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'
इति साष्टिका । उपमानेऽपि समावमेतत् । स पुरुहूतसुतोऽर्जुन । कनकस्य विकारा
सानवो यस्य स कनकसानुम् । मरुत्सावर्णार्थं विशेषणमेतत् । 'समुदाये विकारप-
द्योश्च' इति बहुव्रीहिस्यप्रपदलोपश्च । तमिन्द्रकीलम् । परम पुमान्विष्णु पतता
परिष्णा पति मरुत्समिव । त्रिमि पथिभिर्गच्छतीति त्रिपथगा भागीरथी । 'अन्येष्वपि
दस्यते' इति लपस्यश्च । उपपद्यसमास इच्छरपदसमासश्च । तानमितोऽभिमुक्तमारोह ।
'समीपोमयत्.श्रीव्रजाकन्यामिसुलेऽभिज' इत्यमरः । प्रमिताधराहृतम्—'प्रमिताधरा
सज्जसैवदित' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

इन्द्रकील एतत् के समीप पहुँचने के बाद, सुन्दर शरीर पाती तथा 'सन्मानांजुवर्षी', इन्द्र
सुत (अर्जुन) ने मगधवी भागीरथी के सामने से छुटकारा—कितर से दुरु इन्द्रकील पर
मारोहण किया जिस तरह विश्वु भगवान् अपने परिश्रम मरुत् पर आरुह होते हैं ॥ १ ॥

अथास्य कार्यसिद्धिमिवादिनि चूषयन्मार्गं वर्णयति—

तमचिन्दिबन्दिन इयेन्द्रमुत् विहितालिनिकायजयन्वनय ।

पवनेरिताकुलविजिहाशिक्षा जगतीरुहोऽवचकरु कुमुभै १ २ ॥

तस्मिन्नि । विहिता अङ्गिनिकाया जयज्वनय दूध यैस्ते तपोक्ता पवनेन वायुनेरिता
मुक्ता अत एवाकुल लोका विजिहा वक्राश्च शिला सखाप्रामि येषां ते तयोक्ता ।
'मिक्षा स्वाद्या केकिमौष्यो शिषाभ्रासाप्रमौलिषु' इति वैदयन्वी । जगतीरुहो
मूक्य ऋषि । अचिन्दिना अतवद्या ये अचिन्दिन स्तुतिपाठकारत इय । तमिन्द्रमुत्तमर्जुन
कुमुभैरवचकरु । अचिन्दिनपुत्रित्यर्थं । 'श्रुत्वात्पुत्रताम्' इति गुण । अत्र किर०र्घुहयर्थ-
त्वात्कुमुमाना करणत्वम् । विद्येपार्थस्ये शु कर्मसमीव । यथा 'कटापान्वासा किरति'
इति । यद्यत्ते च धात्वात्मर्थमेवात्कारकस्यस्यश्च । यथा सिद्धते. चरणार्थीकरणयोर-
र्थयोर्तुपद्व्यस्य कर्मत्वकरणत्वे । यथा—'मेयोऽपृह सिद्धति यी पयश्च' सिद्धती
धात्वेर्बहु । इति च । अत्र वाक्ये समासगतयोस्यस्यो. साध्यसाधनमावादात्प्राप्तिभा-
वेन सङ्कर ॥ २ ॥

अथपनि को तरह जनर-पुष्कर-पुष्पिन, वृष्टों ने जिनके शिष्याय वायु से कम्पित हो
रहे थे अथवा धन्वी धनी की तरह अर्जुन को पुष्प के प्रदेव से आहत कर लिया ॥ २ ॥

अवधूतपङ्कजपरागकणास्तनुजाह्वीसलिलवीचिमिद् ।

परिरेभिरेऽभिमुखमेत्य सुखाः सुहृद् सखायमिव त महत ॥ ३ ॥

अवधूतेति । अवधूता पङ्कजपरागकणा वैस्ते तथोक्ता इति सौरभ्योक्ति । तनु जाह्वीया सलिलवीचीभिर्नन्दन्तीति तथोक्ता इति सैभ्योक्ति । सुखयन्तीति सुखाः । पचाद्यच् । सुखस्यर्था इति मान्योक्ति । महतो वातास्तमर्तुन सुहृद् सखायमिवाभिमुखमेत्यागाव्य परिरेभिरे अल्लिखितवन्तः ॥ ३ ॥

मित्र तरह एक मित्र अपने मित्र से मिलता है उसी तरह कमल के पुष्पपरमकणों को मिलते हुए अवधूत पङ्कज छोटी २ गहजिन तर्रिदों का संपर्क करते हुवे अवधूत वीचल सुखायो अत्यन्त मन्द पवनो ने सम्मुख परिभर होकर मञ्जुन का आतिहन किया । अर्थात् वरी शीतल मन्व और सुखा मञ्जु से मञ्जुन सुत हो गये ॥ ३ ॥

उदितोपलखितनसद्वलिता स्फुटहससारसविराषयुज ।

सुषमस्य माङ्गलिकतूयकृता ध्वनय प्रतेनुरनुषमपाम् ॥ ४ ॥

वाङ्मेति । उदितोपलखितपाषाणेषु स्फुटनेव प्रतिघतेन संवदितारभूर्गिताः । अलखितयोश्च इव सुमयुमायमाना इत्यर्थाः । स्फुटहसतानां सारसानां च विरावैमुख्यन्त इति तथोक्ताः । विप । अनुषमपाम् । अन्ताः पठन्तीभामिति शेषः । ध्वनयोऽस्या सुषमस्य मङ्गल प्रयोजनवर्षां से माङ्गलिका । प्रयोजनम् इति टन । तैर्द्वयै कृतौ सुषं हर्षं प्रतेषु । अत्रान्यस्यान्यकार्यकारणसम्भवात्पूर्वकृतमुत्सर्षां सुदमिति प्रिय विन्नेनाकेर्पाङ्गिदुषाबालद्वारा ॥ ४ ॥

जबे बड़े हुए अक्षरों से टकर खान्द चूर चूर की तरह होने वाली बल की कल २ ध्वनियों व्यक्त-हस और सारस की मञ्जुन से युक्त होकर मञ्जुन को मगल-सुखक सुखादि-बोध-वदित मसजना की इन्द्रि करते कगी ॥ ४ ॥

अथरुणतुङ्गसुरदाकृतौ निचये पुर सुरसरित्पयसाम् ।

स वदशै वेतसवनाधरितां प्रणति बलीयसि समृद्धिकरीम् ॥ ५ ॥

अचरन्ति । सोम्यु मा पुरोभ्येऽथरुणतुङ्गसुरदाकृतौ अन्वोषतवेद्यदाकृते बली यसि बलधत्तरे । मत्वन्तावीकसुभि मनुषो सुक । सुरसरित्पयसां निचये पूरे विषये वेतसवनेन धामीरवनेनाधरिताम् । अथ वेदसे । रयात्रपुण्यविदुषशीतवाणीवन्तुला इत्यमरः । समृद्धिकरीं अथरुणीम् । कोके यथादृष्टान्तितर्थाः । प्रणति वदशै । या सवलीकदृष्टान्तितर्थाः ॥ ५ ॥

अनुवये मरक (अथरु वेग युक्त) मागीरणी-कल-रादि के विषय में देखा कि श्लो २ १५ १थी से मरक में गोते कया रहे थे और कयो २ ऊपर उठ जाते थे पर उतकी दशा

दहसकसो के द्वारा भयकार की हुई विलम्बन की धी रोमी को विभवे (विनयना से)
 सर्वत्र वैश्वान्व को अनिष्टादि होती है ॥ ५ ॥

प्रथमूय जालमयलोकवितु परित सरोजरजसासखितम् ।
 सरिदुत्तरीयमिव सहसिमस तरङ्गरङ्गि कलाहसकुलम् ॥ ६ ॥

प्रथमूयैति । सोऽभ्युनं परिण सरोजजलसः कमलरोजुनासखित पाठयितम् । अच-
 रीय च कुसुमादिवसखित भवति । सखितमन्वीरुम् सखरङ्गि परितरङ्गलोमि सखि
 दुत्तरीय स्थानाङ्गमिव दिगत कलहसङ्ग कलाहसङ्गमयलोकवितुसुमासखयं च प्रथ-
 मूय च शशाक । सखौन्दर्योहेकलादिति भाव ॥ ६ ॥

अर्जुन ने सरो के ओर (एक सखक) पराग के रने हुए तथा भवित, जलतरङ्ग से
 खोमि, राम-ईश-कुल को जो मङ्गा के उत्तरीय पद के सहस्र से, अर खणिक देर तक
 गीरीयन करने में अपने को मलमये पाका ॥ ६ ॥

दृषति खर्वी, परिषत्तद्विरदे मुषितल्लियोपिति भद्रसूक्तिमि ।
 अचिका स रोपसि चयन्ध धृति महते रुचनपि गुणस्य महान् ॥ ७ ॥

दृक्वति । सोऽभ्युनं दृशी दृक्वति दृषति धारयति । ह्यत । परिषत्तद्विरदे-
 न्प्रमहागि विरदा यस्मिन्सतिन् । 'विष्यन्तप्रदास्तु मत्त । पनिकतो मत्त' इति
 सुकसुय । मत्सुविभिर्मुषितल्लियोपिति रोपस्यचिका एति प्रीति चयन्ध । निखटी-
 कृतमालिच्यं । स्यादि । महान्प्रमन्योचयसपि महते गुणयोःकर्मण्य भवति । महत्सु
 वा कीचपि शुभाभ्युपेयार्थं । उक्क यत्तकमस्यपि रोपसः प्रीतिकरत्वमिति भावः ॥७॥

अह्वन के लिये म्हा का इष्ट अथि मीति (वनक) इका । (वयपि) दर लट
 हासिले के विषयक द उपहार से कपक धर को धारय करता था । खोदि (इतिथो)
 के उपधारन से चर (इ) मुपि अमरिना से म्हास था । खोकि रहे रोप कष्ट सहन कर
 के को यशान् जहार के लिये वानकीज राते है ॥ ७ ॥

अनुद्देमचमरुने समता गतमूर्तिमि सहचर पुष्टुमि ।
 स रथाङ्गनामवनिचा करुणैरसुधधनहीमभिननन्द कते ॥ ८ ॥

अन्वयति । सोऽभ्युनं अनुद्देमचम कथकतागुप्त मीपे । समीपार्थेऽन्वयीत्यर्थः । अक्षौ ।
 कनकमनुपुपाकाकाविति भावः । पुष्टुमिर्कर्मिभि समतां गुणरूपतां गतम् । साह-
 रणानुपुपियेन्वयित्थं । सह भूत सहचर विपश्चः । सहसाभ्युत्थ पथाखननेन चर-
 कस्यैव समताः । अक्षौर्कैवे कते क्वितैरसुधधनतांमन्विष्यन्ती रथाङ्गनामवनिता । यत्र
 धनहीमभिननन्द । अक्षौमेवार्थनकत्वस्य नामभ्य इति भावः । अत्र तावकूर्मीणा स्व
 भावपथावीनामवस्वीकासकसुगुणाद्धार — 'सद्वृत्तयः स्वगुणपथागादप्योःकृष्टगुणा-

बहुन नै, चाल लहरियों से जाहूत मन्मथ का आवाप करके जल के ऊपरी सतह पर छेडे हुए हाथियों के आकृति सभ बळोयजन्तु जो प्रति निमी को तरह से सम्भुष युद्धार्थ आये हुवे हाथियों के ममान देता ॥ १४ ॥

स जगाम विस्मयमुदीच्य पुर सहसा समुत्पिपतिपो फणिन ।

प्रहित दिशि प्रनविभि श्रितितै शरदभ्रविभ्रममया पटलम् ॥ १५ ६

स इति । सोऽह्नुनः पुरोभ्ये सहसा समुत्पिपतिपो समुत्पिपतिवृत्तिः । पते सब भ्वाहुप्रत्यया । वनिपतिवृत्तिभ्य सन इडवा चरुष्य इति विक्रवादिङाग म । फणिन सपस्य प्रजविभिरतिषेवषङ्गि श्रितितै मृकारैदिष्याकाशे प्रहित प्ररित शरदभ्रस्य विभ्रम इव विभ्रम सौन्दर्य यस्य तत् । शुद्धमभ्रस्यापकं चेत्यर्थ । अयां पटल पुर उदीच्य विस्मय जगाम । अत्रोपमालुप्राणिता स्वभावो विस्तारकृता ॥ १५ ॥

अह्नुन सबसा समुत्पननामिकापो सर्व के वेगवाली प्रफुकार के दाप आकाश में प्रहित शरदभ्रकीन मेघ के सदृश रम्य नल विन्दुओं को देख कर निस्समानित हो गये ॥

स तत्पार सैश्वरतीरमित शकरीपरिरिकुरितचारुश ।

लक्षिता सखीरिव वृहद्व्यभना सुरनिभ्रगामुपयती सरित ॥ १६ ॥

स इति । सोऽह्नुनः सकतपती । पुलिनवतीरमित शकरीणां मत्स्यीनां परिरिकुरि सापेय चारुओ ह्यो वासां ताः । सुरनिभ्रगां गङ्गामुपयतीर्ध्रजती । इगाः शतुर्ध गिरवादीप । ततएव वृहद्व्यभना कलिता । सखीरिव रिचता सरितस्वताराति चक्रे ॥ १६ ॥

अह्नुन ने सरसरिवा (गङ्गा) से स उन्ध करने वाली उन नदियों को चार किया जिनमें चारों तरफ विकसती हुई मछलियाँ सुन्दर नेत्र से कामिन होती थीं और वे (सहायक नदियाँ) पुलिन मदेह चुक होने के कारण समूह कथमा परम सौन्दर्य गुणान्विता कथला की समानता कर रही थी ॥ १६ ॥

अधिकृत पुष्पभरनभ्रशिक्षै परित परिष्कृततलां सरमि ।

मनस प्रसत्तिमिव मूर्ध्नि गिरे शुचिमाससावस धनान्तभुयम् ॥ १७ ॥

अचिरकृति । सोऽह्नुनोऽपिच्छ । अर्थात्रिमिति शेष । पुष्पभरेण मङ्गलशैलता प्रैस्तथैव परित परिष्कृततलां भूषितस्वरुपात् । लघु स्वरुपवीरली तलम् इत्य म् । सगरिम्यां करोती भूषणे इति सुहायम् । शुचि शुद्धाम् । अतएव मनस प्रसत्तिमिव मूर्ध्नि मन्मथसाधुमिव रिचताम् । तल्लेखी तलावोद्यत् । गिरेमूर्ध्नि यवा न्तमुवमासतात् । अन्त सङ्घा स्वरुपचनः । अन्तोऽध्यवसिते सुखी स्वरुपे निभ्र वेऽन्तिके इति वैश्वन्ती ॥ १७ ॥

पाण्डुनन्दन ने पहाड़ पर चढ़कर, इन्द्रनील निरि के शिखर पर रम्य बनस्पती को साक्षात् मूर्ति धारिणी मनको प्रसन्नता के समान देखा जो (बनस्पती) पुष्प सम्भार से अब नव शिखा वाले पादपों (वृक्षों) से काष्ठ बोहार कर साफ सुपरा हो गई थी ॥ १७ ॥

अनुसानु पुष्पितलताविततिः फलितोरुभूरुहविविक्तमन ।

धृतिमासतान तनयस्य हरेस्तपसेऽधिवस्तुमचलामचलः ॥ १८ ॥

अनुसान्विति । अनुसानु प्रतिसानु । वीप्सार्थेऽप्ययोभाव । पुष्पिता सजात पुष्पा लताविततयो यस्मिन्स । फलिता उरयो मूढहा येषु तानि विविक्तानि विज-
नानि पूतानि वा वनानि यस्मिन्स तथोक्त । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमर । अचल इन्द्रकीर्णो हरेस्तनयस्यार्जुनस्य तपसे तपश्चर्यार्थमधिवस्तुमधिष्ठातुम् । तनिक्रियापे-
क्षया समानकर्तृकत्वाच्चमुच् । अचला धृतिमुःसाहमासतान । अत्राचलविशेषणपदार्थ-
स्य धृतिकरणहेतुत्वात्साहचर्यमलङ्कार ॥ १८ ॥

जिसके प्रत्येक चोटियों पर पुष्पित लताओं के बितान भूम रदे थे, और फलवार से ढके हुए विशाल वृक्षों से युक्त वाले पवित्र वनप्रदेश थे उस इन्द्रनील पर्वत ने इन्द्र तनय (अर्जुन) को तपश्चर्यासेऽनुष्ठान में अविचल उत्साह बढ़ाया ॥ १८ ॥

प्रणिधाय तत्र विधिनाथ धिय दधत पुरातनमुनेर्मुनिताम् ।

अमभादथावसुकर न तप किमिवावसादकरमात्मवताम् ॥ १९ ॥

प्रणिधायेति । अथ तत्रादौ विधिना योगशास्त्रानुसारेण धिय चित्तवृत्तिं प्रणिधाय
धैर्यविषये धिय नियम्य । 'नेर्वाद्-' इत्यादिवा णत्वम् । मुनिर्ता दधत । तपस्यत
इत्यर्थः । पुरातनमुने । अर्जुनस्येवार्थः । असुकर दुष्कर तप धम खेद नादौ न
पकार । तथाहि भारमवता मनस्विनामवसादकरमशान्तिजनक किमिव । न किञ्चिदि-
त्यर्थः । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे ॥ १९ ॥

उस (इन्द्रनील) पर्वत पर सब प्रथम योगशास्त्रानुसूल चित्त-वृत्ति का नियमन कर-
के, मुनियों की वृत्ति धारण करने हुए अर्जुन को दुष्कर तपश्चर्या से किञ्चिन्नात्र भी खेद
वहीं हुआ क्योंकि मनस्विदों के लिये कोई देरी बहुत नहीं है जो चित्त में उद्वेग उत्पन्न
करे ॥ १९ ॥

शमयन्धृतेन्द्रियशमैकमुख शुचिभिर्गुणैरथमथ स तमः ।

प्रतिवासर मुकुतिभिर्बहुषे विमलः कलाभिरिव शीतरुचिः ॥ २० ॥

शमयञ्छिति । धृतमिन्द्रियशमो विषयध्यावृत्तिरैक मुख्य मुख येन स तथोक्त ।
शात्माराम इत्यर्थः । अन्यत्र छत्र इन्द्रियाणां शमः सन्तापनिवर्तनमेकमद्वितीय मुख
साहाय्य येन स तथोक्त । शुचिभिर्विर्मलैर्युगैर्भैर्यादिभिः । अन्यत्र काम्यादिभिः ।

अधमयं पापरूपं तमोऽज्ञानम् । अन्यत्रान्धकारं च क्षमयद्विवर्तयम् । विमलोऽमलिनः
पापरहितः ह्यमोऽन्यत्र । सोऽभुनः प्रतिपासर सुहृतिमि सुहृते । तयोमिरेत्यर्थः ।
क्षिप्यां किन् । कलाभिः शीतरन्ध्रिभ्य इव । षष्ठे ॥ २ ॥

मिथ प्रार निर्मल चन्द्रमा इन्द्रिय सन्नाप निवारण कर अद्वितीय सुख उत्पन्न करता
हुमा, और अपने शुभ किरणों से अन्धकार का नाश करता हुमा अपनी सुन्दर कलामों से
प्रतिदिन बढता रहता है वसी तरह किरीटी (अर्जुन) इन्द्रियों को विषयों की ओर से
व्यावृत्त करना परम सुख समझने वाले अपने परम पवित्र मैत्र्याणि गुणों से पापरूप अज्ञान
का नाश करते हुए, सुहृदों से प्रति दिन वृद्धि को प्राप्त होने लगे ॥ २ ॥

अधरोचकार च विवेकगुणादगुणेषु तस्य धियमस्तवत ।

प्रतिघातिनी विषयसङ्गरति निरुपप्लव शमसुखानुभव ॥ २१ ॥

अधरोचकारेति । किञ्चेति शायः । विवेकस्तथावधारण स एव गुणस्तस्मात् ।
तेन हेतुनेत्यर्थः । विभाषा गुणेऽक्रियाम् इति पञ्चमी । अगुणेषु कामक्रोधादिदोषेषु
विषये । तद्विरोधेन मत्समासः । धिय चित्तवृत्तिमस्तवतो निवारितवतरतस्यार्जुनस्यनि
रुपप्लवो निर्घर्षः शमसुखानुभव आस्थानन्दानुभव प्रतिघातिनीं सोपप्लवां विषय
सङ्गरतिं शब्दाद्युपभोगश्चिमधरोचकार । विषयमिःस्पृहं चकारेत्यर्थः । उत्कृष्टसुख
काभक्ष्य प्रकृत्यैराभ्यहेतुत्वादिति भावः ॥ २१ ॥

विष्णुपट्टशान्ति ह्युपभोग ने पचीतो तलो का अन्वाराण रूप गुण के द्वारा अत
अर्जुन की वृद्धि को कामक्रोधादि दोषों से दूर करते हुए विविध विघ्नशक्तिनो विषय/
वासनाऽभिर्हति को जीया दिखला दिया ॥ २१ ॥

मनसा जपै प्रयातिमि प्रयतं समुपेयिवानधिपतिं स दिव ।

सहजेतरौ जयशमौ दधती विमरान्धभूव युगपन्महसी ॥ २२ ॥

मनसेति । प्रयतोऽर्हिसादिनिरतो मनसा ध्यानेन अपैर्बिहितमन्त्राग्यासैः प्रण-
तिमिभनस्कारैः । एव मनोवाञ्छाकमभिर्दिवोधिपतिमिद् समुपेयिवानुपलेशिवान्सो
ऽर्जुनः सहजेतरौ मैसर्गिकायमुक्ती । धीयतेऽनेनेति जयो वीररस । एरथ इत्यच् ।
शायतेऽनेनेति शम । जयशमौ धीरशान्तिरसौ दधती पुष्पती महसी तेजसी युगप
विमरान्धभूव चमार । 'सीद्दीनृहुवान् इति विकल्पादात्मस्थयाः । अथ युगपद्भीर
शान्ताधिकरणवाभिवागादस्य लोकाद्सुखमहिमाय व्यज्यते ॥ २२ ॥

एत (अर्जुन) ने स्वर्ग के अधिपति (इन्द्र) की प्राप्ति के लिये नौरहिसादिकों से फिर
ए होकर ध्यान पूर्वक मन्त्रों का जप और नमस्कारों के द्वारा स्वभाव सिद्ध धीर और शान्त
रस रूप तैज को उनके दोषक से धारण किया । जहाँ परस्पर विरुद्ध धीर और शान्त दोनों
रसों का पुट अर्जुन के देखने से मिलता था ॥ २२ ॥

शिरसा हरिन्मणिनिभं स वहन्कृतजन्मनोऽभिषवणेन जटा ।
उपमा ययाचरुणदीधितिभिः परिमृष्टमूर्धनि तमालतरौ ॥ २३ ॥

शिरसेति ॥ हरिन्मणिनिभो मरकतमणिश्यामोऽभिषवणेन स्नानेन कृतजन्मनो
कविता । अतः पिशाङ्गीरिति भावः । जटा शिरसा वहन्सोऽर्जुनोऽङ्गस्वानुरोर्दीधि
भिः परिमृष्टमूर्धनि व्याप्तशिरसि तमालतरानुपमा तमालतरौ सादरय ययाचित्वा
र्थायुपमा । तरोरौपम्याधिकरणत्वात्तदपेक्षया सप्तमी ॥ २३ ॥

मरकत मार्ग के जल्य अर्जुन के शरीर का रङ्ग था । नियमानुकूल अभिषेक करने से
पेङ्कळ वरुण की बरा बाराध करती हुए तमालवृक्ष से उपमित होते थे, जिसके शिखाप्र पर अशु
गाली (सूर्य) की किरणों से व्याप्त हो रही थीं ॥ २३ ॥

श्लोक — श्लोकार्क २५—२७ तक उपसिद्धि दिखलाई गई है । इन तीनों पद्यों में 'तपसा'
पदं एतीयान्त कर्ता है, इसका कर्म 'स' यह पद है जो अर्जुन के लिये आया है ॥ २३ ॥

धृतहेतिरप्यधृतजिह्वामतिश्चरितैर्मुनीनघरयश्चुचिभिः ।

रचयाञ्चकार विरजां स भृगान्कमिवेशते रमयितु न गुणा ॥ २४ ॥

धृतेति । धृतहेतिर्दृष्टायुधोऽप्यधृता जिह्वा मतिः कुष्ठिलमतिर्येन स । शुचिभिश्च
रितैर्मुनीनघरयस्तिरस्कुर्वन् । वेदेनैव भीषणो न तु कर्मणेति भावः । कुव । विरजा
रजोगुणरहित सोऽर्जुनो भृगान्कचयाञ्चकार रमयामास । 'रब्जेर्णो सुगरमणे नलोपो
बद्धव्य' इति मलोपः । तथाहि । गुणा व्यादय कमिव रमयितु नेशते । क वा वशी
कर्तुं न शक्नुवन्तीति भावः । शुद्धिरेव हि पर विश्वासबीज परस्य न येषो नापि
सस्तव इति भावः ॥ २४ ॥

यद्यपि अर्जुन ने शरुधारण किया था तथापि वे सरलस्वभाव थे । उन्होंने अपने शुद्ध
भावार्थों से कविधों को भी जीत लिया था तथा रजोगुणों से निर्मुक्त हो कर हरिणों को
रमण कराया क्योंकि दया-दाक्षिण्यादि गुण किसको अपने वश में नहीं ला सकते ॥ २४ ॥

अथास्य त्रिभिस्तप सिद्धिमाह—अनुकूलेस्वादिना ॥

अनुकूलपातिनमचपदगतिं किरता सुगन्धिसमितं पवनम् ।

अवधोरितार्तवगुण सुखता नयता रुचा निचयमशुमतः ॥ २५ ॥

अनुकूलेति । अनुकूलपातिन न तु प्रतिकूलपातिनमचपदगति मन्दगायित्रि सुग-
न्धिम् । मन्धस्येकत्वे तदेकान्तप्राप्तेऽपि कवीना निरङ्कुशत्वात्समासान्तः । अथवा
केचिदागन्तुकवेऽप्येकवचनेन समासान्तमिच्छन्ति । पवनममित किरता । प्रवर्त-
यतेत्यर्थः । अतुरस्य प्राप्त आर्तवः । 'अतोरण्' इत्यणप्रत्ययः । स चाक्षी गुणस्तिग्म-

स्वरूपा सोऽवधीरितस्तिरस्कृतो यस्य समंशुमतो दशो निचयं सुखतां सुखस्पशतां
नयता प्रापयता । नयतैर्द्विकमकृतवम् ॥ २२ ॥

तपश्चर्चा ने अशुद्ध म- सुखनिचयुक्त वायु को अशुद्ध के समीप निकीर्ण कर दिया
वपनींशु (चर्चा) की किरण राशि को जिसकी प्र- म कालीन प्रचरता विरस्कार हो गई
थी सुख कर दिया ॥ २५ ॥

नवपल्लवाञ्जलिमृतं प्रचये बृहत्तरु-गमयतावनतिम् ।

स्तृण्यता सृणै प्रतिनिशं सृडुभि शयनीयतामुपयतीं वसुधाम् ॥ २६ ॥

नवेति । प्रचये पुष्पावचयप्रसङ्ग नवपल्लवा एवाञ्जलिस्तान्बिभ्रतीति तपोऽन्य-
द्वत् उष्वास्तकनवमति नम्रतां गमयता । गतिकुम्भि- इत्यादिना हरुणा कमत्वम् ।
प्रतिनिशं निशं शयनीयतामुपयतीम् । शयनस्थानभूतामित्यर्थः । वसुधां सृडुभि
सृणै स्तृण्यताञ्छावयता ॥ २६ ॥

जिस (२५) ने अशुद्ध के पुष्प चयन काल में नूतन विश्वलयाजिभारी बड़े २ वृक्षों
को अवनत बना दिया था (जिससे अशुद्ध को पुष्प के लिये वृक्ष पर चढ़ना न पड) और
प्रतिरात्रि शयन स्थान की भूमि को सुगों से आच्छादित कर दिया था (चर्चाव शयन
के लिये विस्तर न होने पर भी कीमल सुग ही विस्तर का काम कर रहे थे ॥ २६ ॥

पतितैरपेतजलदानमसं पृथतैरपा शमयता च रज ।

स दयालुनेष परिगाढकृश परिचर्ययानुजगृहे तपसा ॥ २७ ॥

पतितैरिति । अपेतजलदानिरञ्जामसं पतितैरपा पृथतैर्जलवि-दुभी रज-
शमयता तपसा कर्त्ता दयालुनेषैरनुप्रक्षा । दयालुत्वे हेतुं सूचयति—परिचाढः
कृशोऽतिहीनः सोऽर्जुनं परिचर्ययोक्तविषया शुभ्रपयानुजगृहेऽनुगृहीतः । अनुप्रहोऽत्र
सहकारित्वमेव सत्रमृतानुजगृह्यलिङ्गात्पत्रेकिसं तपोऽस्येति भावः । अथ श्लोकत्रयं
स्याप्येकवाक्यत्वाद्दुष्यथैव प्रथमालङ्कारः ॥ २७ ॥

जिस (२५) ने निरञ्ज आकाश होते हुए भी एक विन्दुनो की वर्षा करके धूम्रि का
शमन कर दिया था इन प्रकार की शुश्रूषा से दयालु वक्ति की तरह अत्यन्त दुर्बल
अशुद्ध को सबसे अनुशील किया ॥ २७ ॥

महते फलाय त्ववेद्य शिव विकसन्निमित्तकुसुमं स पुर ।

न जगाम विस्मयवशा वशिनां न निहन्ति धैर्यमनुभावगुण ॥ २८ ॥

महत् इति ॥ सोऽशुनो महते फलाय अथेसे संस्थाय च विकसन्पूर्वोक्तं शिव सुखद
चिन्मिषमेव कुसुमं पुरोऽभ्येभ्य विस्मयवशा न अगाम । तथाहि । वक्षित्वामनुभाव

एव गुण स च धैर्यं न निहन्ति । विस्मयादिविकार न जनयतीत्यर्थ । जनने वा तप चीयेत् । 'तप क्षरति विस्मयात्' इति स्मरणादिति भाव ॥ २८ ॥

[कृपक वटे २ फल होने की आशा में पहाड़ुआ सुन्दर विकसित पुष्पको देख कर कभी २ आश्चर्य में पड़ जाता है] परन्तु अर्जुन वद्यपि महती सिद्धि रूप फल के लिये उद्यत थे तथापि विकसित होते हुए कार्य-सिद्धि-निमित्त कुसुम रूप जो लक्ष्य दिखलाई पड़ते थे उससे उनके मन में रज भी विस्मय न हुआ, क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों के अनुभाव रूप गुण उन्हें वैय्यं च्युत नहीं करते ॥ २८ ॥

तद्भूरिधासरकृत सुकृतैरुपलभ्य वैभवमनन्यभवम् ।

उपतस्थुरास्थितविपादधिय शतयज्वनो धनचरा वसतिम् ॥ २९ ॥

तदिति ॥ सुकृतैस्तपोभि कर्णै अभूरिभि कतिपर्यैरेव वासरै कृत तत्पूर्वोक्त वैभवमतोऽन्यस्य न भवतीत्यनन्यभवम् । अन्यस्यासम्भवतीत्यर्थ । पचाद्यजन्तोत्तर-पदेन नन्समास । उपलभ्य निश्चिन्त्यास्थितविपादा प्राप्तयेवा धियो येषा ते वनचरा । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति बहुलप्रदणाल्लुक् । शतेन शतस्य वा मखाना यज्वन शतक्रतो । अत्र सङ्ख्येयविशेषलाभो यजिसिद्धिधावाद्गन्तव्य । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमर । 'सुयजोर्द्वनिप्' । वसतिमुपतस्थु प्रापु ॥ २९ ॥

धनचरों ने देखा कि इन गिने समयों में ही सुकृतों के सहारे जो वैश्वर्य इन्हें (अर्जुनको) प्राप्त हुआ है वह किसी अन्य के लिये असम्भव है अत वे क्षिप्र होकर शतक्रतु इन्द्र के निवास स्थान (अमरावती) में पहुँचे ॥ २९ ॥

विदिता प्रविश्य विहितानतथ शिथिलीकृतेऽधिकृतकृत्यविधौ ।

अनपेतकालमभिरामकथा कथयाम्बभूवुरिति गोत्रभिदे ॥ ३० ॥

विदिता इति ॥ वनचरा इत्यनुवर्तनीयम् । विदिता ज्ञाता । अनुमतप्रवेशा सन्त इत्यर्थ । प्रविश्य विहितानतथ कृतप्रणामा अधिकृतकृत्यस्य नियुक्तकर्मण शैलरक्षणात्मकस्य विधावनुष्ठाने शिथिलीकृते सति । अनपेतकालमनतिक्रान्तकाल यथा तथा गोत्रभिदे शक्रायेति वक्ष्यमाणप्रकारेणभिरामकथा श्राव्यवाच । 'चिन्तिपूजिकथिकुम्बचर्चक्ष' इत्यङ्प्रत्यय । कथयाम्बभूवु ॥ ३० ॥

वन वनचरों ने अनुमति लेकर प्रवेश किया फिर हाथ जोड़ कर इन्द्र देवको नमस्कार किया । वे शैल-रक्षण रूप कार्य छोड़ कर आये हुए थे अत समय का अतिक्रम न करते हुए अथवा सुखद वचनों से इन्द्रको सूचित किया ॥ ३० ॥

शुचिवल्कलीततनुरन्यतमस्तिमिरच्छिदामिव गिरौ भवत् ।

महते जयाय मघवन्नघ पुरुपस्तपस्यति तपस्त्रगातीम् ॥ ३१ ॥

९ कि०

शुचीति ॥ शुचिना वस्त्रेण वस्त्रलेण धीताच्छादिता सतुर्यस्य स' । तिमिरच्छिवां
सूर्याधीनामन्वतम इव शिवत इत्युत्पत्ता । भगवत् पुरप । मध्वन्, भवतो गिरावि
म्बकीके जगतीं मुप तपस्तापयम्भहते तथाय तपस्यति तपश्चरति । कमणो रोमम्य
इत्यादिना वयसि कद् ॥ ३१ ॥

(वनवासियो न कदा) ये महाराज इन्द्र ! एक पुरप अणके पवत (रन्नाल) पर वसुधा
को तपाता हुआ महान् विजय लाभ के लिये तपस्तापन कर रहा है । वह सन्धा निष्पाप
है । उसका शरीर स्वच्छ मूर्ध पर से आच्छादित है । और मन्वार निवर्तन सब वेद-
धारियों में से एक वह भी मान्य पहना है ॥ ३१ ॥

जयाय तपस्यतीत्युक्तम् । तत्र हेतुमाहुः—

स विभर्ति भीषणमुजङ्गमुजं पृथु विद्विषा भयविधायि धनु' ।

अमलेन तस्य घृतसञ्चरिताञ्चरितेन चातिशयिता मुनय ॥ ३२ ॥

स इति ॥ भीषयेते इति भीषणौ । नग्धादित्वात्क्युप्रत्यय । तौ च तौ भुजङ्गौ
च ताविव भुजौ यस्य स तयोक्तः । पुरुषो विद्विषा भयविधायि पृथु धनुर्विभर्ति ।
अतो जयार्थीत्यय । अमलेन तस्य पुरुषस्य चरितेन एतानि सञ्चरिताणि यैस्ते
भुजङ्गोऽतिशयिता अतिक्रान्ता ॥ ३२ ॥

उक्त (तपस्वी) की मुनायें मयङ्कर सप के समान हैं । शत्रुओं को त्रास दायक एक
महान् पुरुष भी उसके पास है । उसके शूद्राचरण से सञ्चरितया-युक्त ऋषि भी भीष
लिये गये हैं ॥ ३२ ॥

अथास्य तप-सिद्धिं वर्णयति—

मरुत' शिवा नयतृणा जगती विमल नभो रजसि वृष्टिरयाम् ।

गुणसम्पदानुगुणता गमित कुरुतेऽस्य भक्तिमिव भूतगण ॥ ३३ ॥

मरुत इत्यादिना ॥ मरुतो वाता शिवा' मुखा । जगती पृथ्वी नयतृणा । ज्ञाना-
सनाद्यनुकूलेष्वर्थ । नभो विमलं नीहारविरहितम् । रजसि सत्त्वात् वृष्टिर्वर्षतीति
शेषः । किं बहुना । अस्य पुरुषस्य गुणसम्पदा मृतहिताविगुणसम्पदा अनुगुणताम-
नुकूलतां गमित' । वशीकृत इत्यर्थ । भूतगण प्रथिव्याविपन्नकं भक्ति सेवां कुरुत
इत्येत्युत्पेक्षा ॥ ३३ ॥

और वहाँ तब कोई पन्न महाभूत भी उसके पास बन गये हैं सुनिये —पवन देव
अनुकूल होकर सुककर हो गये हैं । भूमि इरे भरे तृण से आच्छादित हो गई है (जिससे
जने विस्तार को भी आवरकरना नहीं है) आशाश विना नादक के हाँ भूक्ति शान्त करने के
लिये वृष्टि कर देता है । वह पुरुष जीवों के ऊपर दयादर्शकृपादि रूप अपने गुण सम्पत्ति से
पृथ्वी अन्न देव वायु आकाश इन पन्न महा भूतों को अपने अनुकूल बना लिया है अत
ये उसके वश होकर उनकी सेवा करने हुए की तरह मान्य पड़े हैं ॥ ३३ ॥

इतरेतरानभिभवेन सृगास्तमुपासते गुरुमिवान्तसद् ।

विनमन्ति चास्य तरवः प्रचये परवान्स तेन भवतेव नग ॥ ३४ ॥

इतरेतरेति ॥ किं च । सृगा पशवस्तम् । अन्तेऽन्तिके सीदन्तीत्यन्तसदोऽन्तेवा-
सिन । 'सत्सूद्विष-^३' इति क्विप् । गुरुमिभेतरेतरपामनभिभवेनाद्रोहेणोपासते सेवन्ते ।
प्रचये पुष्पावचये तरवोऽस्य विनमन्ति । करप्रचयेऽ भवन्तीत्यर्थः । तस्येति सम्बन्ध-
सामान्ये पृष्टी । किं बहुना । स नग इन्द्रकीलो भवतेव तेन पुरपेण परवान्पराधीन ।
साखिकस्यापि तवेव स्यातिशयो वर्तत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

और क्या कहें महाराज ? परस्पर रोह बुद्धि रखने वाले वन्य पशु भी उसकी सेवा करते हैं —

परस्पर वेमनस्व का परित्याग करके पशु वर्ग उनकी सेवा करता है जैसे विद्यार्थी लोग अपने गुरु की सेवा करते हैं । जब उसे फूलों की आवश्यकता पड़ती है तब वहाँ के वृक्ष उसके सामने झुक जाते हैं । इन्द्रकील भाज तब आप के अधीन था अब वह उसके अधीन हो गया सा प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥

एह सत्त्वमाह विपरिश्रमता परम वपु प्रथयतीव जयम् ।

शमिनोऽपि तस्य नवसङ्गमने विमुतानुपङ्क्ति भयमेति जन ॥ ३५ ॥

उर्वेति ॥ किं च । विपरिश्रमतायासेऽपि श्रमराहित्यमुक्त महत्सत्त्वमन्त सारमाह ।
दुर्बलस्य श्रमजयासम्भवादिति भावः । परममुत्तम वपुर्जय प्रथयतीव । आकारेणैव
क्षिण्णत्व गम्यत इत्यर्थः । शमिन सान्तस्यापि तस्य नवसङ्गमनेऽपूर्वप्राप्तौ जनो
विमुताया प्रभावस्यानुपङ्क्ति व्यापकम् । न तु द्विंशकत्वानुपङ्क्तीति भावः । भयमेति ।
शान्तोद्भव प्रभाव गमयतीति भावः ॥ ३५ ॥

शेरा उसके बल परेश का भी अनुमान कर लीजिये — उसे परिश्रमके कार्य में
लेशमात्र भी थकावट नहीं आती इसीसे उसके बल का अनुमान किया जाता है । उसके
विशाल आकार के देखने से मालूम पड़ता है कि वह बड़ा विजयी पुरुष है । यद्यपि वह शम
का अवलम्बन करता है तथापि जब कभी किसी से उसका प्रथम मनागम होता है उस
समय उस व्यक्ति को उस के विमुता से भय उत्पन्न हो जाता है ॥ ३५ ॥

अथेदशोऽसौ क इति चेत्तन्न विन्न इत्याहु —

ऋषिवंशजः स यदि दैत्यकुले यदि वान्धवे महति भूमिभृताम् ।

चरतस्तपस्तव धनेषु सहा न वय निरूपयितुमस्य गतिम् ॥ ३६ ॥

अपीति ॥ स पुरुष । ऋषिवंशजो, धेति शेष । काकुर्वा । यदि वा दैत्यकुले ।
जात इति शेष । यदि वा महति भूमिभृतामन्धवे जात । तव धनेषु तपश्चरतोऽस्य
गतिं स्वरूप निरूपयितु वयम् । सहन्त इति सहा । पचायन् । न सहा स्म इति

शेष ॥ ३६ ॥

इस लोग यह भी अनुमान न कर सकने क यह देरना ह या देख है अथवा कोई राजा है—उमने ऋषि कुल में ज म लिया है अथवा विसा मृगपाल के उच वश मे ख-म लिया है ? आप क वन में यह तपस्साधन कर रहा ह इस लोग उसके मेद आनने में मयवा अममर्ष ह ॥ ३६ ॥

अष्टपदिभाष्यापराध परिहरन्ति—

विगण्य्य करणमनेकगुण निजयाथया कथितमल्पतया ।

असदप्यद् सहिसुमहसि न क धनेचरा क निपुणा यतय ॥ ३७ ॥

विगण्य्येति ॥ अनेकगुण बहुफलम् । इन्द्रत्वाद्यनेकफलसाधकत्वेन योग्यमित्यर्थ । कारण तपोरूप विगण्य्य विचार्य । अथवा निजया नैसर्गिक्याहृतया वाकिर्येनाज्ञानत्वेन वा कथितं शोक्त्माकमद् इदम् । यत्नमित्यर्थ । असदसाध्यपि सहितु सोढ्यम् । 'तीपसह— इत्यादिना विषयादिहागम । अर्हसि योग्योऽसि । तर्हि सदेव कि नोक्त तत्राहु धनेचरा क । निपुणा यतयो विवेकबुद्धय क । नोभय सङ्गपद्धत इत्यर्थ । अज्ञानं नापराध्यतीति भाव । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार ॥ ३७ ॥

एतने तत्पर्या करने का क्या प्रयोजन है ? इनका हम लोग ने अनेक प्रकार से अनुमान कर के अथवा धयना अहना से जो यह बात चारै अनुचित मले ही हो कहा है आप एने क्षमा करने के योग्य ह । जहली जातियों की बुद्धि कहाँ और कुशल मति तपस्वी कहाँ (दोनों में बहुत अन्तर है) ॥ ३७ ॥

अधिगम्य गुह्यकणाविति तन्मनस प्रिय प्रियसुतस्य तप ।

निजुगोप ह्यमुदित सधवा नयवर्त्मगा प्रभवता हि धिय ॥ ३८ ॥

अधिगम्येति ॥ सधवेद् इति पूर्वोक्त गुह्यकणाचन्मनस प्रिय प्रियसुतस्याह मस्य तपोऽधिगम्य ज्ञात्वा । गुह्यपेक्षया समानकर्तृकत्वात्स्वामिर्देशः । उदित तत्तपसो देवकर्मार्यात्वादुत्पन्न ह्यर्षं निजुगोप गोपयामास । तथा हि । प्रभवतां प्रभूनां धियो नयवर्त्मगा नीतिमार्गानुसारिण्यो हि । अथवा मन्त्रभेदे कायहानि स्वादिता भाष ॥ ३८ ॥

सुर - ने अपने प्रिय पुत्र अर्जुन के हृदयानन्दकर तपस्साधन की बात गुह्यको (धनेचरी) के मुख से सुनकर उत्पन्न होने वाले इर्ष्यातैके को द्विधा लिवा (किमी को विदिन होने न दिया) क्योंकि बड़े लोगों की बुद्धि सचवा नीतिभावलम्बिनी होती है ॥ ३ ॥

प्रणिधाय चित्तमथ भक्ततया धिवितेऽप्यपूष इव तत्र हरि ।

उपलब्धुमस्य नियमस्थिरता सुरसुन्दरीरिति सधोऽमिदथे ॥ ३९ ॥

प्रणिधायेति ॥ अथ हरिरिन्द्रश्चित्त प्रणिधाय विषयान्तरपरिहारेणात्मन्यवस्था-
प्य तत्र तस्मिन्नर्जुने भक्ततया विदिते सत्यपि । उपलक्षणे तृतीया । अपूर्वं इव ।
अविदित इवेत्यर्थ । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पाच्च स्मिन्नादेश । अस्या
सुप्तस्य नियमस्थिरता दाढ्यामुपलब्धुम् । परीक्षितुमित्यर्थ । लोकप्रतीत्यर्थमिति
भाव । सुरसुन्दरीरिति वच्यमाणप्रकार वचोऽभित्थे ॥ ३९ ॥

यद्यपि वन्दने समाभिस्थ हो कर देखा तो अर्जुन को अपना अनन्य भक्त पाया तथापि
अपरिचिन की भांति तपर्यामै दुःख सकल्प की परीक्षा के लिये अमराङ्गनामों से कहा—॥३९॥

सुकुमारमेकमणु मर्मभिदामतिदूरग युतममोघतया ।

अविपक्षमस्त्रमपर कतमद्विजयाय यूयमिव चित्तभुव ॥ ४० ॥

सुकुमारमिति ॥ मर्मभिदा मर्मच्छेदिनाम् । अस्त्रान्तराणा मध्य इत्यर्थ । 'यतश्च
निर्धारणम्' इति षष्ठी । अपरमन्यत्कतमत् । 'वा बहुना जातिपरिग्रहे ङतमच्' ।
यूयमिव सुकुमार कोमल न तु कठिनम् । अन्यत्तु कठिन भवति । तथेक न यद्दु ।
तत्त्वनेक भवात् । तथाणु सूत्रम न स्थूलम् । अलक्ष्यलक्ष्यप्रवेशित्वादिति भाव ।
यत्तु लक्ष्यलक्ष्यप्रवेशि । तत्तु समीपलक्ष्यभेदि । तथातिदूरग दूरलक्ष्यभेदि, तथाऽमो-
घतयाऽमोघत्वगुणेन युत युक्तम् । न कदाचिद्व्यभिचरतीति भाव । अन्यत्तु कदाचि-
दपि लक्ष्यादपराध्यति । तथाऽविपक्षमसत्प्रतीकारम् । अन्यत्तु विद्यमानप्रतीकारम् ।
चित्तभुव कामस्य । कर्तारि षष्ठी । विजयाय । एतद्विशेषणविशिष्टमस्त्रमस्तीति शेष ।
न किञ्चिदस्तीत्यर्थ । अग्नोपमालङ्कार । साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरालङ्कारश्च ।
तयोर्भयोरङ्गद्विभावेन सङ्कर ॥ ४० ॥

श्रीर अश्वों की अपेक्षा कामदेव के नाग की महत्ता बहुत अश्वों में बड़ी चढ़ी है क्यों
कि —सुर सुन्दरियो, मनोमव का अस्त्र आप लोगों की तरह सुकुमार है (और अखतो
प्रेसे कमी नहीं देखने में आये नवों कि वे सर्वथा कठिन होते हैं) मर्म स्पर्शा अश्वों में से
यह परु है । श्रीर अश्वों की तरह आकार में बहुत बड़ा नहीं है बिलकुल अणु है । श्रीर
प्रकार के अस्त्र तो लक्ष्य के दूर होने पर कदापि विफल भी हो सकते हैं, परन्तु यह तो
अमोघ है और अस्त्र से रक्षा के लिये बहुतसे साधन वर्तमान हैं, परन्तु इससे (कामदेव के
वाद्य से) बचने का कोई उपाय ही नहीं है । (ऊब आपही लोग बतलाइये कि) विजय
प्राप्ति के लिये इस से बढकर दूसरा और कौन अस्त्र हो ही सकता है ? ॥ ४० ॥

असामर्प्यशङ्का परिहरति—

भवतीतये हतवृहत्तमसामवबोधवारि रजस. शमनम् ।

परिपीचमाणमिव वोऽसकलैरवसादमेति नयनाञ्जलिभिः ॥ ४१ ॥

अवेति ॥ अक्षयितये संसारनिवृत्तये इतद्वृत्तमसां निरस्तमहामोहानां योगिनां
संन्यसिष्व रजो गुणः । रजो धूलिविति विच्छेदरूपकम् । तस्य क्षमन निवर्तकमवबोध
स्तत्त्वज्ञानमेव धारि तद्वो युष्माकमसकलैरसमग्रनन्दमान्येवाञ्जलयस्ते परिपीचमाच-
मिवेत्युद्येष्वा । अथसादं अयमेति । मुक्तानपि बन्धन्तीनां च कथमसामर्थ्यमिति
भावः । अत्रोद्येष्वा रूपकयो सङ्घः ॥ ४१ ॥

आप लोग सन-वा इस बात को भूल जाय कि आप लोग तपस्वियों के समग्र कुक्ष नहीं
कर सकते क्योंकि—

जम गरब से छुटकारा पाने के लिये काम कोष मोह मशानि महामोह से परलभुत
मुनिया का लब्धवान को कि रजो गुण का विनाशक है तथा जल रूपदि (जल से रज = धूलि
शान्त हो जाती है) उसे आप लोग अपने सम्पूय नेत्र रूपो अजलियों से भानो पान कर
पुकी और वह आपु क्षीय होलायवा ॥ ४२ ॥

बहुधा गता जराति भूतसृजा कमनीयता समभिद्वत्य पुरा ।

उपपादिता निदधता भवती सुरसद्यथानसुमुखी जनता ॥ ४२ ॥

बहुधेति ॥ कि च । पुरा अयति बहुधा गतां नामानुलेन विप्रकीर्णं कमनीयतां
चन्द्रायुपमानद्वयगतलावण्य समभिद्वत्य सगृह्य भवतीर्बिदधता सृजता भूतधजा
प्रक्षणा जनता जनसमुहा । ग्रामजन- इत्यादिना लल । सुरसद्यथानसुमुखी स्वर्लो
क्यात्रामवगोपवादिता कृता । स्वर्स्थानि यथासादात्सर्वलोकरलाव्यत्वम्, तासां च
कथमसामर्थ्यमिति भावः । अत्रान्तरलां प्रक्षीणलावण्यसंग्रहासम्बन्धेऽपि तस्मिन्
न्धर्माभियानादतिशयोक्ति ॥ ४२ ॥

आप लोग यह कह सकते हैं कि जिस पथ मक्ष भूत से आर शर्षों की रचना होती
है उसी से हम लोगों की जो रचना हुई है फिर हम लोग कोमल और छन्दर जैसे हो गए ।
परन्तु यह न व नहीं है वय में कारण दूसरा है —

अब मक्ष वेच आप लोगों का निमाय करने के लिये वक्ष इण तर लहोनि समार भरकी
कमनीयता (कोमलता) जो भर उभर विरती हुई कहीं चन्देवा में भी कक्ष कमलों में
थी कम्पा जैसे ही बहुत ही जगहा में थी उसे पहले प्रकृत करके आप लोगों की रचना
का है महा कारण है कि जनता स्वर्लोक की प्राप्ति के लिये लालायित रहती है ॥ ४२ ॥

अप कार्याग्रमाह—

तदुपेत्य विप्रयत तस्य तपः कृतिभिः कक्षासु सद्द्विता सचिदैः ।

इतदीतरागमनसा ननु व सुखसङ्गिन प्रति सुखावज्ञिवि ॥ ४३ ॥

वदिति ॥ अत्रान्तरमर्षत्वात्कक्षासु गीतवाचापिपु कृतिभिः कृषाकै साचदैर्बै-

न्धर्वै सहिता उपेत्य गत्वा तस्य तपो विघ्नयत विघ्नवत्कुन्त । विहृतेत्यर्थः । विघ्नव-
च्छब्दान्भवन्तात् 'तत्करोति-' इति णिचि लोट् । णाविष्टवद्भाषान्मतुषो लुक् । न
चात्रासामर्थ्यशङ्का कार्यैर्यथान्तरन्यासेनाह—इतेति । ननु सम्बोधने । हे अप्सरस ,
इतानि वसीकृतानि धीतरागाणां नि स्पृहाणां सुमुक्षुणां मनासि चित्तानि याभिस्तासां
यो धुम्भाकमन्सरसा सुखसद्भिर्न पुरुष प्रति सुखाभिलाषिण प्रत्यवजितिर्बिजय
सुखा सुखसाध्या न तु हुम्करा खलु । एतेनाय सखार्थो न रित्युक्तम् । अर्था-
न्तरन्यास ॥ ४३ ॥

क्या आप लोग इन बात को समझ गई कि आप लोगों की इतनी प्रशंसा क्यों की गई
कदाचित् आप लोग अपने २ विचारों से अनेक प्रकार के कार्यों का अनुमान करेंगी इस
लिये मैं आप लोगों को स्वयं बतलावै देता हूँ मुनिये —आप लोग वादन कलाओं में कुशल
गन्धर्वों को साथ लेकर इन्द्रकील गिरि पर जाँव (जहाँ एक पुरुष तपश्चर्वा कर रहा है)
और उस पुरुष की तपश्चर्वा को ब्रष्ट करें । आप लोग तो सुमुक्षुओं के चित्त को भी आकर्षित
कर लेती हैं अब सुखाभिलाषी पुरुष तो भासानी से वश में आसकता है ॥ ४३ ॥

अथ सुखसङ्गित्वलिङ्गमाह—

अविमृष्यमेतदभिलष्यति स द्विषतां वधेन विषयाभिरतिम् ।

भववीतये न हि तथा स विधि क शरासन क च विमुक्तिपथ ॥४४॥

अविमृष्यमिति ॥ हे अप्सरस , स पुरुषो द्विषतां शत्रूणां वधेन शत्रुहननद्वारा वि-
षयाभिरतिं विषयसुखमभिलष्यति वाञ्छति । 'वा श्राश-' इत्यादिना श्यन्प्रत्ययः ।
एतद्विषयासक्तत्वमविमृष्यमविचार्यम् । अविमृष्यमसद्विगधव्यमिति । 'ऋद्रुपधाञ्चा-
वृत्पिचृते' इति क्यप् । भवतीभिर्न सद्विगधव्यमित्यर्थः । हि यस्मात्स विधि 'स
विभर्ति भीषणमुजङ्गमुज' इत्यादिश्लोकोक्तोऽनुष्ठानप्रकारो भववीतये ससारमुक्तये न
भवति । कुत इत्याह—शरासन धनु क, विमुक्ते पन्थाश्च क । द्वय परस्पर विरुद्ध-
मित्यर्थः । न खलु हिंसासाध्या मुक्तिरिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥४४॥

आप लोग यह भी नहीं कह सकती कि यह सुखार्थो नहीं है यदि है तो आपने (इन्द्रने)
कैसे जाना ? मैं इसे भी आप लोगों से बतला रहा हूँ थोड़ा ध्यान दीजिये —वह तपस्वी
शत्रुणा विच्छेद कर के विषय सुख की अभिलाषा करता है । यह 'विषयासक्त नहीं है'
इसकी शङ्का ही दूर रखना चाहिये क्योंकि मुक्ति की कामना करने वालों के लिये इस तरह
का तपस्साधन किस लिये हो सकता है । धनुष धरा और मुक्ति का मार्ग कदा (अर्थात् वह
सशस्त्र तपश्चरणा कर रहा है और मुक्ति मार्गमें शत्रु की आवश्यकता नहीं है) इससे निश्चित
होता है कि वह सुमुक्षु नहीं ॥ ४४ ॥

न च शापभयमपि सम्भाव्यमस्मादित्याह—

पृथुधाम्नि तत्र परिबोधि च मा भवतीभिरयमुनिवद्विकृति ।

स्वयशासि विक्रमवतामवता न वधूष्वघानि विमृषन्ति धियः ॥४५॥

पृथिवि ॥ पृथुधाम्नि महातेजसि तत्र तस्मिन्पुरुषविषयेऽन्यमुनिवदन्यस्मिन्मु
नाविव । तत्र तस्येव इति वतिप्रत्ययः । विकृति कोपविकारश्च भवतीभिर्मा परिबोधि
मा विज्ञाचि । मा शङ्कीति यावत् । बुध्यते कमणि लुङ् । माहयोगादाशौर्येऽद्याप
माभावश्च । तथा हि—स्वयशास्त्रवतां रक्षताम् । यशोधनानामित्यथ । विक्रमवतां
धियश्चित्तानि वधूपु खीविषयेष्वघानि न्यसनानि । दुःसैनोव्यसनेष्वघन् इति
वैजयन्ती । न विमृषन्ति । अर्थान्तरन्यास । खीहिंसायां शूराणां यशोहानिकरत्वाच्च
सर्वथा वो हिनस्ति स इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

सम्भव है भाप लोग शाप से डरती हो किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि —वर्षा
वह महा तेजस्वी है तथापि मय श्रद्धियों की तरह सभे कोप विरार का भी भाप लोग
प्याल न कर न्योकि जा परानम शाली पुरुष हैं और अपने यश का रक्षा करते है
खियों के प्रति हिंसा बुद्धि नहा रहते ॥ ४५ ॥

आशसितापचित्तिचारु पुरः सुराणामादेशमित्यभिमुख समवाप्य भतु ।

लेभे पर शुक्तिममत्यवधूसमूह सम्भावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः ॥४६॥

आशसितेति ॥ अमर्त्यवधूसमूहोऽप्सरसां गणः सुराणां पुरोऽग्र आशसितापचि
त्तिभिरपेक्षितसम्भावनाभिन्नाह यथा तथा । 'शयाश्चोरपचित्ति' इत्यमरः । अभि
मुखं समग्रं भर्तुः स्वामित इति पूर्वोक्तमादेश निबोग समवाप्य परां शुक्तिं लेभे ।
तथा हि । अधिकृतस्य क्वचिदधिकारे नियुक्तस्य सम्भावना स्वामिकृता पूजा तेज
कान्तिं तनोति ॥ ४६ ॥

अमर छलनाभों का समूह स्वामी के आदेश को मान कर देवताओं के समस्त पूर्वोक्त
प्रकार की प्रकृता से अधिक सुन्दर कान्ति को प्राप्त हुआ क्योंकि किसी अभिचार में उगाने
गये पुरुष को यदि प्रशन्ना की जाय तो उसने तेज की अभिवृद्धि होती है ॥ ४६ ॥

प्रणतिमथ विधाय प्रस्थिता सद्मनस्ता स्तनभरनमिताङ्गीरङ्गना प्रीतिमाला ।

अथत्तनत्तिनलक्ष्मीहारि नाल बभूव स्तिमितमभरभतुष्टुमक्षणा सहस्रम् ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किराताजुनीये पष्ठ सर्गः ।



प्रणतिमिति ॥ अथ प्रणतिं विधाय सद्मन इन्द्रभवनात्प्रस्थिता प्रचलिता
स्तनभरैर्मितान्यङ्गानि यासां ताः । अङ्गरात्रकण्ठेभ्यो वत्तत्रयम् इति ङीष् ।

प्रीतिमान् स्वामिसम्भावनया समनुष्टास्ता भङ्गना अचलनलिनाना स्थिरकमलाना
लक्ष्मीर्हरतीति तच्चयोक्तम् । तद्वन्मनोहरमित्यर्थः । कुत । स्तिमित विस्मयनिश्च-
लसमरभर्तुरण्णा सहस्रं कर्तुं द्रष्टुमल समर्थं न बभूव । तासा सौन्दर्यसागरस्योद्वेग-
खादिति भावः । अत्रोपमात्कृत्वा ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्दामहोपाध्यायकोलाचलमहिनाथसुरविरचिताया किराताजुनीय-
काव्यव्याख्याया षष्ठाप्यसमाख्याया षष्ठः सर्गः समाप्तः ।



वे अम्पराये इन्द्र को प्रस्थान कर पर से चली । वे (वीर) स्वर्ग के भार से कुकी
हुई थीं । स्वर्ग की स भावना से वे खूब एत हो चुकी थी । उनके सौन्दर्य को अविचल
कमल की शोभा अफहरण करने वाले सुरराज के सहस्रों नेत्र मो टकड़ी वीष कर देखने से
समर्थ न हो सके अथात् हजार आँखों मो उन ललनाओं के सौन्दर्य देखने के लिये कहा
कही पटती, वे वही की शोभा देखने से तप्त नहीं होती थीं ॥ ४७ ॥

इति षष्ठः सर्गः ।



स : सर्गः ।

श्रीमद्भिः सरथगजैः सुराङ्गनाना गुप्त्रानामथ सचिवैस्त्रिलोकमर्तुः ।
ससूर्च्छंभलशुविमानरन्ध्रभिन्न प्रस्थान समभिदधेमृदङ्गनाद् ॥१॥

श्रीमद्भिरिति ॥ अथ प्रस्थानानन्तर श्रीमद्भिः शोभावद्भिः । सह रथगजेन
सरथगजास्तैः । 'तेन सहैति तुल्ययोगे' इति बहुमीहि । प्रयाणा लोकाना भर्तृस्त्रिलो-
कभर्तुरिन्द्रस्य । 'सद्वित्तार्थे-' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । सचिवैर्गन्धर्वैर्गुप्ताना सुरा-
ङ्गनाना प्रस्थान गमनमलक्षुषु मदसु विमानरन्ध्रेषु विमानाना कुक्षिकुहरेषु भिन्न
प्रतिध्वानैरनेकीभूतोऽत एव ससूर्च्छंभ्यान्नुषन्सृष्टङ्गनाद् समाभिदधे आचक्ष्यौ ।
पौरुषेभ्य इति शेषः । अस्मिन्सर्गे प्रहर्षिणीवृत्तम्—'ग्नौ ज्ञौ गच्छिदशयति प्रहर्षि-
णीयम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

त्रिलोकेश (इन्द्र) की अम्परायें, इन्द्र २ रथ और हाथियों के साथ गम्बों से
अरक्षित होकर प्रस्थान कीं । उस का वचन मृदङ्ग घोष से दिया जो (मृदङ्ग घोष) विमानों
के बड़े २ भरोसों से प्रतिध्वनित होनेके कारण अनेक होकर सर्वत्र प्यास हो गया था ॥१॥

सोत्कण्ठैरभरगणैरनुप्रकीर्णान्निर्याय ज्वलितरुचः पुरान्मघौनः ।

रामाण्यमुपरि विवस्वत स्थिताना नासेदे चरितगुणत्वमातपत्रैः ॥२॥

सोऽकण्ठैरिति ॥ सोऽकण्ठे । अवेद्यणोऽस्तु कैरित्यर्थं । अमरागणैरनुप्रकीर्णावाकीर्णाञ्ज्वलितरुचो दीप्तप्रमान्मद्योन इन्द्रस्य पुरावमरावत्या निर्व्याय नियत्यः । चाते कस्यो ह्यपू । विवस्वत उपरि स्थितानां रामाणाम् । आतपाल्प्रायन्त इत्यातपत्रैः । सुपि— इति योगविभागात्कप्रत्ययः । चरितगुणत्वं सायकरव मासेदे न प्राप । तासां सूर्यापरिस्थितत्वादातपासम्भवादिति भावः ॥ ९ ॥

उनके प्रस्थान की सूचना पाते हैं अमरावती में इधर उधर देवता लोग उन्कण्ठित हो घूमने लगे । उस समय इन्द्र पुरी का प्रभाव बप्त गया था । वहा से मुर बनिताय चल् कर जब सूर्य मण्डल के ऊपर पहुँच गई तब वहा उनके आतपत्र (छाते) बन्ध हो गये कारण यह है कि सूर्य की किरणों से सीधे पृथ्वी की ओर पड़ती है अतः सूर्य मण्डल के ऊपर उन के चन जाने के कारण उनपर किरणें नहीं पड़ती थी अतः जिनका अर्थ है—आतप=धूप त्र=रक्षा करना, धूप से रक्षा करती वे उन के छाते बन्धे हा हो रहे थे क्योंकि भित्त से रक्षा करना उस वस्तु का अभाव ही था तो फिर रक्षा किससे ? ॥ २ ॥

धूतानामभिमुखपातिभिः समीरैरायासादविश्वदलोचनोत्पलानाम् ।

आनिन्ये मदजनिता श्रियः धधूनामुष्णाशुद्युतिजनितः कपोलरागः ॥३॥

धूतानामिति ॥ अभिमुखपातिभिः समीरैः प्रतिफूलवायुभिर्धूतानामिति दुर्निमित्तसूचनम् । आयासात्प्रतिप्रयासादविश्वदलोचनोत्पलानां धधूनामुष्णांशुद्युतिजनित आतपकृत कपोलानां रागः पाटलत्वम् । मद्येन जनितां श्रियम् । सत्सदृशीं श्रियमित्यर्थः । अतः पूष भिक्षानालङ्कारः । आनिन्य आनीतवान् । धधूरिति शेषः । आळपूर्वाश्रयतोः कर्तरि क्तिट् । अकारानुबन्धत्वादात्मनेपदम् ॥ ३ ॥

(भाग में) प्रतिफूल वायु के कारण उन के (मुर लक्ष्मणों) के अत्र स्थित हो गये । मार्ग जनिता श्रमके कारण उनके नेत्र कमल भी मुरकाये हुये थे । (परिमम के कारण जो उन के कपोल की अश्रुगिमा मष्ट हो गई थी) वह कपोल की लक्ष्मि जो सूर्य के किरणों से फिर लौट आई थी उन अमर लक्ष्मणों का मदों से उत्पन्न शोभा को पहले की भाँति कर दिया ॥ ३ ॥

तिष्ठद्भिः कथमपि देवतानुभावादाकृष्टैः प्रजविभिरायत तुरङ्गैः ।

नेमीनामसति विवतने रथीधैरासेदे वियति विमानवत्प्रवृत्तिः ॥४॥

तिष्ठद्भिरिति ॥ कथमपि बाहम् । कथमादि तथाप्यन्ते यत्ने शौरववाद्यो इति वैजयन्ती । देवतानामनुभावात्तिष्ठद्भिः । अपस्तद्भिरित्यर्थः । रथविशेषणमेतत् । प्रजविभिर्वैगवद्भिस्तुरैरायतं तुरमाकृष्टै रथीधैर्वियत्याकाशे नेमीनां चक्रधाराणाम् । 'चक्रधारा प्रधिर्नेमि' इति यावत् । विवर्तने अमणेऽसति विमानवद्भिः

मानानामिवेत्युपमा । 'तत्र तस्येव' इति च । प्रवृत्तिर्गतिरासेदे प्राप्ता ।
सदे कर्मणि लिट् ॥ ४ ॥

दूर बालकों के रथ समूह देवताओं के प्रभाव से आकाश मण्डल में टिके हुए थे ।
अत्यन्त वेग शाली अर्थात् उनका सञ्चालन करते थे । निराधार होने के कारण उन के चक्र
को भ्रान्ति एक गई थी जिस से वे अन्तरिक्ष में जाते हुए साक्षात् विमान बन गये थे ॥४॥

कान्ताना कृतपुलक स्तनाङ्गरागे वक्त्रेषु च्युततिलकेषु मौक्तिकाभः ।
सम्पेदे श्रमसलिलोद्गमो विभूषा रम्याणा विकृतिरपि श्रिय तनोति ॥

कान्तानामिति ॥ कान्ताना स्तनानामङ्गरागे कृतपुलको जनितोद्भेद । कृत-
रोमाञ्च इत्यर्थः । च्युता प्रमृष्टास्तिलका येषां तेषु वक्त्रेषु मौक्तिकाभः श्रमसलिलोद्गम-
स्वेवोद्भेदो विभूषा भूषण सम्पेदे सम्पन्न । कर्तरि लिट् । तथाहि । रम्याणा
स्यभावसुन्दराणा विकृतिरपि श्रिय तनोति । अतः स्वेदस्यापि विभूषणत्वमुपपद्यत
इति भावः ॥ ५ ॥

वेव वपुटियों का श्रम बल कण उन के स्तनों को रोगाकित कर दिया था । वसतै उनके
माल के तिलक भी भिट रहे थे । वे मोती की तरह फलक रहे थे । उस समय वे (श्रम कण)
उन के अलङ्कार का कार्य कर रहे थे । क्योंकि स्वाभाविक मनोरम वस्तुओं में यदि कोई
विक्षिप्ति उत्पन्न हो जाय तो वसतै उनकी शोभा ही होती है ॥ ५ ॥

राजद्वि पथि मरुतामभिन्नरूपैरुल्कार्चि स्फुटगतिभिर्ध्वजाशुकानाम्
तेजोभिः कनकनिकाषराजिगौरैरायाम क्रियत इव स्म सातिरेकः ॥६॥

राजद्विरिति ॥ मरुता पथ्याकाशे राजद्विर्दीप्यमानैरभिन्नरूपैरविच्छिन्नाकारैरुल्-
कार्चिस्फुटगतीनि दीप्तमार्गाणि येषां तैः । कनकस्य निकाष कण
स्य राजी - रेखा तद्गौरैरुल्गैः । 'गौर पीतेऽरण्ये श्वेते' इति विश्वः । ध्वजाशुकाना
तेजोभिः पताकाकान्तिभिरायामस्तेषामेव ध्वजैः सातिरेक सातिशय क्रियते स्मेव
कृत इव । दीर्घा ध्वजपटा स्वतेजः प्रसारेण दीर्घतमा इव लक्ष्यन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । सा
चौल्काद्युपमानुप्राप्तिता ॥ ६ ॥

विमानस्थ पताकाओं के वक्षों की दीप्तिमा नील नम में विशोभित हो रही थीं । सर्वों
के आकार एक ही थे । तारों की गति सदृश उनका भी गति व्यक्त थी । वे कसीटी पर घिसी
हुई ध्वज पताका के सदृश अरुण वक्ष की थीं । वे (पताकाओं की कान्तिवर्ण) उन पताकाओं
के वक्षों की लम्बान और चौडान की अधिक विस्तृत की तरह बना रही थीं ॥ ६ ॥

रामाणामवजितमाल्यसौकुमार्ये सम्प्राप्ते वपुषि सहृद्वत्पत्तपस्य ।

गन्धर्वैराधिगतविस्मये प्रतीये कल्याणी विधिषु विचित्रता विधातुः ॥७॥

रामाणामिति ॥ मालैव माह्व तस्य सौकुमायमवजितं यम तस्मिन् । कुसुमादपि सुकुमार इत्यर्थः । रामाणां घुष्यातपस्य । वृष्टोते कर्मणि षष्ठी । सहत इति सह चम पचाद्यच् । तस्य भाव सहत्वम् । तत्सम्प्राप्ते सत्यधिगतविस्मयै सम्प्राप्ताभ्यर्च गन्धर्वविधातुर्विधियु सृष्टिषु कस्यापी साधीयसी । उपकारकत्वादिति भाव । विधिप्रता नानाविधार्थं प्रतीयेऽवगता ज्ञाता । प्रतिपूर्वादिण कर्मणि लिट् ॥ ७ ॥

गर्वा ने देखा कि कियों की शरीर ने सुकुमारता ने फूलों को भी जान लिया है तथापि धूप सहने की शक्ति इनमें काफ़ी वर्तमान है । इससे उठे वन आश्रय हुआ और उन्हें यह प्रताति हुई कि मन्ना को सृष्टि-रचना-दुःखरता बड़ी ही क्लृप्ता प्रसविना है ॥ ७ ॥

सिन्दूरै कृतरचय सहमकक्ष्या स्रोतोभिस्त्रिदशगता मद् चरन्त ॥ सादरय ययुरक्याशुरागभिर्भवपत्रि स्फुरितशतहृदे पयोदै ॥ ८ ॥

सिन्दूरैरिति ॥ सिन्दूरैर्नागसंभवारयै रागाद्रन्यै । सिन्दूर नागसम्भवम् इत्य मर । कृतरचय । अलङ्कृता इत्यथ । सह हेमन कक्ष्याभिर्मध्येभवन्धनै सहम-कक्ष्या । तेन सहेति तुल्ययोगे इति बहुधीति । कक्ष्या प्रकोष्ठ हृद्यादि काम्बुर्वा मध्येभवन्धने इत्यमरः । स्रोतोभि सहभिमवनादीभि । करात्कृष्टाभ्यां मेवाच्च नेत्राभ्यां च मद्च्युति इति पाठकाप्ये । करात्सासारग्राभ्यामित्यर्थः । मद् चरन्तो वर्षन्तस्त्रिदशगता अरणस्यार्कस्यांशुनां रागेणारण्येन भिन्नै संसृष्टैर्वर्षिज्ञै स्फुरित शतहृदै स्फुरिततद्विरक्तै पयोदै सादरय ययुरित्युपमालङ्कार ॥ ८ ॥

(उन देवताओं के बांधी जो सिन्दूर से सुशोभित किये गये व और स्वर्ण की शृङ्खला से बिनसों पैटी बंधी हुई थी वे अपने भद्रों से मन्ना स्वयं करते हुए उन मयमण्टलों के सृष्ट शिखरों पर गते थे जिन पर स्वर्ण की किरणें पड़ रही हों और वह रहकर चण्डा (विजली) चमक जाती हो तथा जो बारि धारा बरक कर रहे हों तात्पर्य यह है कि दावी वाले २ बाहु के समान थे उनका सिन्दूर रत्न अलङ्कार स्वर्ण के किरणों की समानता कर रहा था और स्वर्ण शृङ्खला विजली के समान थी और मन्नाचरण जट्टृष्टि सृष्ट था ॥ ॥

अत्यथ वुरुपसदादुपेत्य वूर पयन्तादहिममयूखमण्डलस्य ।

आशानामुपरचितार्मवैकवेर्णी रन्वोमि त्रिदशानदी ययुबलानि ॥ ९ ॥

अत्यर्थमिति ॥ बलानि सैन्यान्वत्यर्थं वुरुपसदावद्दुःसाहादहिममयूखमण्डलस्य सूय विम्बस्य पर्यन्तात्समीपाद्दूरमुपेत्यागत्याशानामुपरचितार्मुक्तामैकवेर्णीमिव स्थि ताभिरेयुखत्ता । रन्वा उमयस्तरज्ञा भङ्गयश्च यस्यास्तां त्रिदशानदीं मन्दाकिनीं ययु-प्रायु ॥ ९ ॥

वह सुरवालाओं की सेना अतिस खर्बमण्डल के समीप से दूर जाकर देव सरिता (गङ्गा) के पास पहुँची जिसमें मनोहर तरङ्ग उठ रहा था । आकाश गङ्गा का जल स्वच्छ

नील वर्षा दिलाई पड़ता था जिससे वह (आकाश गङ्गा) दिशा रूपी सुन्दरी को उप-
रचिन एक बेणों की भांति प्रतीत होती थी ॥ ९ ॥

आमत्तभ्रमरकुलाकुलानि धुन्वन्तुद्धूतप्रथितरजासि पङ्कजानि ।

कान्ताना गगननदीतरङ्गशीत सन्ताप विरमयति स्म मातरिश्वा ॥

आमत्तेति ॥ आमत्तैर्भ्रमरकुलैराकुलान्युद्धूतान्युत्थापितानि प्रथितान्यन्योन्य-
सम्बद्धावि च रजासि येषु तानि पङ्कजानि धुन्वन्कम्पयन् । सुरभिरित्यर्थ । गगननदी-
तरङ्गै शीतो मातरिश्वा वायु । कान्ताना सन्ताप विरमयति स्म शमयामास । मात-
र्यन्तरिश्वे श्वयतीति मातर्या श्वयतीति वेति नैरुक्ता ॥ १० ॥

उसके (आकाश गङ्गा के) लहरों से शीतल वायु, जिस पर भतवाये भ्रमरों के समूह से
न्यास कमलों के जमे हुए पराग उडिन्न हो गये थे, उबता हुआ अबलाजों के सन्ताप
को शान्त कर दिया ॥ १० ॥

सम्मिन्नैरिभतुरगावगाहनेन प्राप्योर्वीरनु पदवीं विमानपङ्क्ती ।

तत्पूर्वं प्रतिविदधे सुरापगाया वप्रान्तस्खलितविवर्तन पयोभि ॥११॥

सम्मिन्नैरिति ॥ इभतुरगावगाहनेन हस्त्यश्याबलोहनेन सम्भिन्नै संक्षुभितै सुरा-
पगाया पयोभि कर्षुभि । पद्मवीमनु । पदव्यामित्यर्थ । 'लक्षणोत्वभूत-' इत्यादिना
कर्मप्रवचनीयत्वाद्द्वितीया । उर्वीर्विपुला विमानपङ्क्ती प्राप्य । तदेव पूर्वं तत्पूर्वमिद
प्रथम यथा तथाकाशगङ्गायास्तटाभाषादिति भाव । वप्रान्तेषु रोधोभूमिषु खलितानि
सैर्विवर्तन प्रत्यावृत्तिर्वप्रान्तस्खलितविवर्तन तदान्तर तिवर्तनम् । 'वप्र पितरि
केदारे वप्र प्राकाररोधसो' इति वैजयन्ती । प्रतिविदधे चक्र इत्यतिशयोक्ति ॥ ११ ॥

सुरनदी (आकाश गङ्गा) के बल, हाथों और घोड़ों के जल कीटा से छुब्य होकर रथों
को पकियों से, जो तट पर अवस्थित थी, टकरा कर छोट आये, वह तट से जाकर टकराना
और फिर छोट आना उनके लिये बिल्कुल नया था (क्योंकि आकाश गङ्गा को आकाश में
प्रवाहित होती है । आकाश में तट कहाँ ? उन देव वपुषियों के रथ पकितबद्ध होकर खड़े थे
वेही तट के समान बन गये जिससे गङ्गा के जल छुब्य होकर टकराये) ॥ ११ ॥

क्रान्ताना प्रहचरितात्पथो रथानामक्षाप्रक्षतसुरवेदमवेदिकानाम् ।

नि'सङ्ग प्रधिभिरुपादृढे विवृत्ति सपीड्युमितजलेषु तोषदेषु ॥१२॥

क्रान्तानामिति ॥ ग्रहे सूर्यादिभिश्चरिताद्यधितात् । कर्मणि क । पथो मार्गा-
न्क्रान्ताना निष्क्रान्तानामक्षाप्रकाधारा दारुवशेषास्तेषामग्रै च्छता दारिता
सुरवेदमवेदिका यैस्तेषा रथाना प्रधिभिर्नेमिभिश्चक्रान्तै । 'अक्र रथाङ्ग तस्थान्ते
नेमि स्त्री स्यात्प्रधि पुमान्' इत्यमर । सपीडेन नोदनेन क्षुभितानि जलानि, वेपा

तेषु तोषदेषु गित्साहमप्रतिघात यथा तथा विवृत्ति परिभ्रमणमुपाददे स्वीकृतेत्यति
श्रयोक्ति स्वभाषोक्त्या सद्युच्यते ॥ १२ ॥

सूर्यादि ग्रह जिस भाग से धूमते हैं उसे पार करके रथों ने अपने पुरियों से उभय
पार्श्व के देवताओं के मन्नों के चरुणों को भट भट कर दिया। उनको नेमिशाराओं ने
(पदियों ने) बादलों को रगड़कर उनके जल को चुम्ब कर बड़े वेग से आगे बढ़ना शुरू
कर दिया ॥ १२ ॥

तप्तानामुपदधिरे विपाणभिन्ना प्रह्लाद सुरकरिणा घना चरन्त ।

युक्ताना खलु महता परोपकारे कल्याणी भवति रुजस्त्वपि प्रवृत्ति १३

तप्तानामिति ॥ विपाणभिन्ना गणदन्तवृता । विपाणं दन्तश्चक्रव्यो इति
हृद्यमुष । अतएव चरन्त स्रवन्तो घनास्तप्तानां सुरकरिणा प्रह्लादमुपदधिरे चक्रिरे ।
तथाहि । परोपकारे युक्तानामामघाना महतां सतां रुजस्त्वपि पीडयस्त्वपि विषये
कल्याणी हितकारिणी खलु प्रवृत्तिर्व्यापारो भवतीत्यर्थान्तरव्यासोऽलङ्कारः । ततो
युक्तं मेघानां गणदन्तघतानामपि तदाह्लादस्त्वमिति भावः ॥ १३ ॥

रथ की पदियों ने जो उड़ें केवल रगड़ कर छोड़ ही दिया परन्तु देव-दाशिया ने
गण्डों को बत महार से बत भर दिया जिससे जल च्यवन करने लगा (चूने लगा) वे
हाथी खूर तपे हुए थे अतः उसी जल से शान्त होकर अतीम प्रमत्ता को मात हुए। सत्य है
जो लोग दूसरों के उपकार करने के लिये नवित्त रहते हैं वे महानुभाव कह दिये जानेपर
भी अपने जिनार में परिवर्तन नहीं करते ॥ १३ ॥

संवाता मुहुरनिलेन नीयमाने दिव्यस्त्रीजघनवराशुके विवृत्तिम् ।

पयस्यत्पृथुमण्डिमेष्वलाशुजाब सक्षिण्युतकमिथान्तरीयमूर्धो ॥ १४ ॥

संवातेति ॥ संवाता स्रवहता । वातेर्गल्पार्थान्तरप्रत्ययः । अनिलेन । कामिबेवेति
भावः । दिव्यस्त्रीणां जघनेषु वरं ओष्ठं यवदंशकं तस्मिन्विवृत्तिमपसारं मुहुरनीयमाने सति
पयस्यत्पृथुमण्डिमेष्वलाशुजाबमूर्धोयुतकं चक्ष्णान्त्वमिथ । युतकं संश्रये
शुभे यौतके चक्ष्णेशपि च इति विश्वः । अन्तरे भवमन्तरीयमर्धोशुकम् । 'गाहादि
म्यञ्च इति छप्रत्ययः । अन्तरीयोपसंभ्यागपरिधानाम्यर्धोशुके इत्यमरः । सजाते सजा-
तम् । अमिघातोः कर्त्तरि लिट् । उपेक्षालङ्कारः ॥ १४ ॥

पविशील पवन ने कामी पुरुष की तरह जंगल सुर रमिषियों के जघनान्जादी बलों को
बार २ जघनकर दूर हटा दिया फिर जो रत्न गठित मेखला से चकुरण करता हुआ महान्
अशुसमूह उनके जघन प्रदेश को छागे (साया) की तरह डक लिया (जिससे वे जघन न
होने पारें) ॥ १४ ॥

प्रत्यार्शीकृततिलकास्तुषारपातैः प्रह्लादं शमितपरिश्रमा दिशन्त ।
कान्तानां बहुमतिमाययुः पयोदा नाल्पीयान्बहुः सुकृतं हिनस्ति दोष ॥

प्रतीति ॥ तुषारपाति शीकरवर्षे । 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति विश्व । प्रत्या-
र्शीकृततिलका मर्जितविशेषका अपि शमितपरिश्रमा प्रह्लादमानन्द दिशन्त पयोदा
कान्ताणाम् । कर्तारि पट्टी । बहुमतिं सम्मानमाययुः । तथाहि । अल्पीयान्बहो दोषो
बहुः प्रभूत सुकृतमुपकार न हिनस्ति न हन्ति । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार ॥ १५ ॥

वारिदो (वादलो) ने वृष्टि करके मुर वर्षाओ के तिलक को मिटा दिया था (यह तो
उन्हीं ने अपराध किया) और उनके शत्रुपदों को दूर कर आनन्द पहुँचाया इससे ने उनके
शक्तिशाल सम्मान के पात्र बन गये भयो कि अल्प अपराध प्रभूत उपकार को नष्ट नहीं
करता ॥ १५ ॥

यातस्य प्रथिततरङ्गसैक्यतामे विच्छेद विषयसि वारिवाहजाले ।

आतेतुश्रिदशवधूजनाङ्गभाजा सधान सुरधनुष प्रमा मखीनाम् ॥१६॥

यावस्येति ॥ प्रथिततरङ्ग बहुभिर्निः कलैकत तस्याभेवाभा यस्य तस्मिन्विगतानि
पयसि यस्मात्तस्मिन्विषयसि निर्जले । 'शेषाद्विभाषा' इत्यादिना विकलरात्र समा-
सान्त । उर प्रभृतिपाठस्तु पयः शब्दस्यैकवचनान्तस्यैवेति न कश्चिद्द्विरोधः । वारिवा-
हजाले मेघघृन्दे विच्छेदं श्रुतिं यातस्य सुरधनुष इन्द्रचापस्य त्रिदशवधूजनाङ्गभाजा
{ मखीनाम् । तरङ्गसङ्घिविभूषामणीनामित्यर्थः । प्रमा कान्तव्य सन्धानमातेनुश्रुः ।
अत्राभरणप्रभागामिन्द्रधनुः सन्धानासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानात्पितृस्योक्तिरलङ्कारः ।

निर्जल मेघ मण्डलो पर जो छहरियो के धार २ टकराने से छहरी के चिह्न से सजित
शुक्ति प्रदेश के सृष्ट शब्द २ हो गये थे, उनपर इन्द्रधनुष सजित की तरह हो गया था ।
जैसे देवताओ को रमणियो के शरीर पर धारण की हुई रमणियो की प्रभाओ ने पूरा
कर दिया ॥ १६ ॥

ससिद्धावितिकरणीयसनिबद्धैरात्तापैः पिपतिपता विलङ्घय चीथीम् ।

आसेदे दशशतलोचनध्वजिन्या जीमूतैरपिहितसानुरिन्द्रकीलः ॥१७॥

ससिद्धाविति ॥ ससिद्धौ कार्यसिद्धिविषय इतीत्यग्माकिना प्रकारेण । कर्तव्य-
मिति करणीय तेन सनिबद्धैः सयोजितैरित्यर्थः । आत्तापैराभाष्यैरुपलक्षितया ।
'स्वादाभाषणमाकाप' इत्यमरः । दशशतानि सख्या येषु तानि लोचनानि यस्य
सः । सहस्रलोचन इत्यर्थः । तस्य ध्वजिन्या सेनया पिपतिपता पक्षिणा चीथीं मार्गम् ।
'पित्तन्तो नभसङ्गमा' इत्यमरः । 'तनिपति-' इत्यादिना विकल्पादिवागमनः ।
विलङ्घय जीमूतैर्जीवस्योदकस्य मूत पटवन्वो वेपा सैः । शृपोदरादित्वात्साधुः ।

अपिद्वितसानुराष्ट्रादिततटः । उन्नत इत्यथ । इन्द्रकील भासेदे प्राप्तः । सीवते कर्मणि लिट् ॥ १० ॥

मदलाह (१२३) की सेना चार्म सिद्धि के लिये—वैते १ आर क्या १ करना चाहिये ? इस तरह का परस्पर नाशाप करती हुई पक्षियों के मार्ग को पार करके इन्द्रकील पहाड़ पर पहुँची जिसके शिखर बादलों से आच्छादित थे ॥ १० ॥

आकीर्णा मुखनलिनैर्विलासिनीनामुद्धूतस्फुटविशदातपत्रफेना ।

सा स्यूधनिसगभारमापवन्ती भूमतु शिरसि नमोनधीव रेजे ॥११॥

आकीर्णोति ॥ विलासिनीनां मुखनलिनैः । उपमितसमासः । आकीर्णां ध्यात्वा उद्धूतान्पुष्पमुत्पिष्टानि स्फुटान्पसङ्कुचितानि विशदातपत्राणि श्वेतच्छत्राणि फेना इव यस्यास्तयोका स्यूधनिसर्वाद्यथोपैगभीर यथा स्वात् तथा भूमतुरिन्द्रकीलस्य शिरस्यापवन्ती सा सेना नमोनधीव रेजे ॥ ११ ॥

इन्द्रकील के शिखर पर लड़ी हुई यह (अम्पराओ का सेना) आकाश गद्गा की तरह गुञ्जीवित होने लगी । यह सेना युवतियों के मुकामल से न्यास करने हुए शुभ्र मापव (सफेद छाते) रूप फेन से युक्त और कनेक प्रकारके सृंगारि वजाओं की गम्भीर ध्वनि से गुञ्जती हुई सी थी ॥ ११ ॥

सेतुत्व दधति पयोमुचा विताने सरम्भादभिपततो रथाश्रवेन ।

आनिन्युर्नियमितररिमभुमघोणा कृच्छ्रेण क्षितिमवनामिनस्तुरङ्गा ॥१२॥

सेतुत्वमिति ॥ पयोमुचा विताने सेतुत्व दधति सति सरम्भादाद्येपाश्रवेनाभिपतत । मेघवृन्दमघरीकृत्य धावत इत्यथ । तथाभूताम्प्राक्रियमितैराकृष्टै ररिमभिः प्रपदैभु मा आकृष्टिता घोणा घोषा वेपां से । कृष्टित नतम् । आनिन्युः कृष्टिल मुष्ट वेक्षित यक्रम इत्यमरः । किन्नाप्रपहौ ररमी इत्यमरः । घोणा तु योषमस्त्रियाम् इत्यमरः । अवमन्तीत्यवनामिणोऽनन्तपूर्वकायास्तुरङ्गा कृच्छ्रेण महता प्रपलेन चित्तिमानिन्युरिति स्वभावोक्तिः ॥ १२ ॥

वे (रथ में जुते हुए) घोड़े बादलों के फूल पर से जो प्रकटा अन्तरिक्ष से इन्द्रकील तक विस्तृत था आछवा होने के कारण अन्तः ग से उतरते हुए रथों को दबी कठिनार्थ से भूमि पर पहुँचाये । रात के अधिक संचार के कारण उन घोड़ों के नासिका का अग्रभाग टेवा हो रहा था और वे अपने सम्पूर्ण अर्धों का एक अग्रभाग के अर्धों पर मढ़ाले हुए थे ॥ १२ ॥

माहेन्द्र नगममित करेणुवर्षा पयन्तस्थितजलदा दिव पतन्तः ।

सादस्य निक्षयननिष्प्रकम्पपक्षैराजगुर्जलमिधिशायिभिर्नगेन्द्रैः ॥२०॥

माहेन्द्रमिति ॥ माहेन्द्रं नगममित इन्द्रकीलामिसुपम् । अमित परितः इत्या-

दिना द्वितीया । विद्योऽन्तरिक्षात्पतन्तोऽवतरन्त पर्यन्तस्थिता पार्श्वस्था जलदा
येषा ते करेणुवर्या करेणुषु वर्या । श्रेष्ठा इत्यर्थ । 'न निर्धारणे' इति पष्ठीसमासनि-
पेधात् 'सप्तमी' इति योगविभागात्सप्तमीसमास । निलयने स्थाने निष्पकम्पपत्तैर्नि-
श्रुतपद्मैर्जलनिधिषाधिभिर्नगैर्नद्वैर्मेनाकादिभि सादृश्यमाजगमुदित्युपमा ॥ २० ॥

इन्द्र कौल (गिरि) का तरफ नमोमार्ग से अवतरण करते हुए मतवाले हाथी,
जिनके अग्न बगल में बादलों के डुकडे चिपक रहे थे, समुद्र में शयन करने वाले सपक्ष
पर्वतों की तरह दिखनाद पटत थे । जिन (पर्वतों) के पक्ष आश्रय स्थान में निश्चल रहते हैं
अथात् आकाश से उतरत हुए हाथी बादलों के पटलों को तोडफोड कर आ रहे थे ऐसा
अवस्था में कुछ डुकडे उनके दोनों तरफ चिपके हुए थे जो सपक्ष मैनाक पहाड के सदृश
मालूम पटत थे ॥ २० ॥

उत्सङ्गे' सनधिषमे सम महाद्रे क्रान्ताना वियदभिपातलाघवेन ।

आमूलादुपनदि सैकतेषु लेभे सामग्रीं खुरपदवी तुरङ्गमाणाम् ॥ २१ ॥

उत्सङ्ग इति ॥ महाद्रेस्तसङ्गे भूर्धन यत्समधिषम सम च धिषम च निम्नोन्नत
तस्मिन् । द्रुन्द्वैकवज्राव । वियदभिपातलाघवेन गगनसञ्चारपाटवेन सममेकरूपम् ।
आरोहायरोहरद्वितमित्यर्थ । क्रान्ताना गच्छता तुरङ्गमाणा खुरपदवी खुरपद्विक्कहपनदि
नदीसमीपे । 'अध्वयीभाषक' इति नपुसकत्वाद्ध्यस्यत्वम् । सैकतेष्वामूलान्मूलमा-
रभ्य । आदित आरभ्येति यावत् । समग्रस्य भाव सामग्री साकल्पम् । भावे प्यञ् ।
डीप् । लेभे । सैकतादन्यत्र निम्नेषु गगनचारेण समखुरस्पशाभावाद्द्विच्छिन्ना खुरस-
रणि । सैकतेषु तु सर्वत्र समत्वाद्बिच्छिन्नेत्यर्थ ॥ २१ ॥

उम महान् पर्वत (इन्द्रकौल) के ऊबड टामड (ऊँचे नीचे) शिखर पर पहुँच कर
आकाश मार्ग से चलने में सुविधा के कारण चढाव उतराव से रहित आकाश पथ से पारकर
वे बोटे सुरजदी के सट पर पहुँचे वहाँ बाहुला प्रदेश में उनके सुरों के चिह्न प्रारम्भ से
लेकर अन्त तक दिखलाने लगे और उन्नत अचनत भूमि पर उनके सुरों की द्वाप नहीं पटवी
थी क्योंकि वे उस मार्ग को त्याग कर आकाश मार्गानुसरण करते थे ॥ २१ ॥

सध्वान निपतितनिर्भरासु मन्द्रै सन्मूर्च्छन्प्रतिनिनदैरधित्यकासु ।

उद्ग्रीवैर्धनरवशङ्क्या मयूरै सोत्कण्ठ ध्वनिरुपशुश्रुवे रथानाम् ॥ २२ ॥

सध्वानमिति ॥ सध्वान सशब्द निपतिता निर्भरा प्रवाहा यासु तासु । 'प्रवाहो
निर्भरो हार' इत्यमर । अधित्यकासु नगोर्ध्वभूमिषु । 'भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्य-
मर । 'उपाधिभ्या-' इत्यादिना त्यकन्प्रत्यय । मन्द्रैर्गम्भीरै । 'मन्द्रस्तु गम्भीर'
इत्यमर । प्रतिनिनदै प्रतिध्वानै सन्मूर्च्छन्वर्धमानो रथाना ध्वनिर्धनरवशङ्क्या मेघ-
गर्जितत्रमेणेति आग्निमदलङ्कार । उद्ग्रीवैर्मयूरै सोत्कण्ठमुपशुश्रुवे उपश्रुत । शृणो-
ते कर्मणि लिट् ॥ २२ ॥

१० कि०

उस महान पर्वत की चोटियों पर शब्द करते हुए मरने प्रवाहित हो रहे थे उनके गन्धोर प्रतिध्वनियों से सज्जित रघो की ग गन्हाट को मन्सूरी ने देव गर्वन के भ्रम में पत्कर अपनी गर्दन ठपर उठाकर वी उलक्या से छुना ॥ २२ ॥

सभिन्नामविररूपातिभिर्मयूखैर्नीलाना भृशमुपमेखल मणीनाम् ।
विच्छिन्नाभिष वनिता नमोन्तराले वप्राम्भस्रुतिमवलोकयावभूहु ॥ ३॥

संभिन्नामिति ॥ अविररूपातिभिर्निर्न्तरमगारिभिरुपमेखलम् । तटेष्वित्यथ ।
अथ मेखला । शोणिस्यानेऽद्रिकटक कटिवधेऽसिक्वधने इति यादव । नीलाना म-
णीनां मयूखैर्भृश सभिन्नामेकीभृतामृत पृथ नमोन्तराले विच्छिन्नाभिष स्थितामिच्छु-
त्येषा । वप्राम्भस्रुति वप्रोदकधारां वनितां अवलोकयावभूहु । वप्राम्भस्रुते
स्वधवल्लिमत्वागेने प्रनीलानां नीलिमस्वीकाररूपतद्गुणोत्थापिता विच्छेदोत्पत्तेति
तयोरङ्गाभिभावेन सद्भर । तेन च नैक्यविच्छेदभ्रमरूपो भ्रान्तिमान्भव्यते ॥ २३ ॥

देव वपुषो नै ऊपर से नीचे के गन्टे में गिरते हुए निर्भरों के प्रवाह को आकाश के
अन्तराल में देना कि वे बीच से गुप्त हो गये हैं क्योंकि उस इन्द्रकील के निचले भाग में
नील मणियों की किरणें लगातार निकल रही थी उससे प्रवाह भी नीचे रग का हो गया
था (जिससे उ हे यह भ्रम हुआ । वस्तुतः प्रवाह कहीं से खण्डित नहीं था) ॥ २३ ॥

आसन्नद्विपपदधीमदानिलाय कुभ्यसो धियमवमत्य घृगतानाम् ।
सन्वाज निजकरिणीभिरात्तचित्ता प्रस्थान सुरकरिण कथञ्चिदीपु ॥२४ ॥

आसन्नोति ॥ धुरं गतास्तेषां भृगवानां निवतृणां धियमवमत्यावशावासाचार्या
द्विपपदध्यां वमगजमार्यो यो मदानिलस्तस्मै कुभ्यन्तस्तं प्रति कुप्यन्त । 'कुभ्यद्गुह-
हृत्पादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्था । सम्प्राप्तं सकपटं निजकरिणीभिरात्तचित्ता आङ्-
ष्टचित्ता सुरकरिणो देवनागा प्रस्थान गमन कथञ्चित्कल्पनेपुरमिलेपु ॥ २४ ॥

(उन अन्तरालों को सेना के) मन्वाले हाथा समीप के जहलीहाथियों के मार्ग के
मदों के प्रति क्रुद्ध होकर जाने महावतों की आज्ञा का अरुद्धा कर अपनी हथिनियों के
द्वारा कपट किये जाने पर आसक्ति से आकर्षित होकर नहीं बठिनार्य से आगे बढ़ने के लिये
तैयार हुए (अर्थात् माग में जहलीहाथियों के मद गिरे हुए थे उन्हें स्तरर व दाभी
मलवाले होकर अपने महावत की बात पर यान नहीं देते थे । जब उनके महावत
(दलकपट ने) हथिनियों को उनके आगे कर देते थे और वे अपने इन्द्रिय दस से उनके
चित्त को अपनी तरफ खींच लेती थीं फिर उनकी लापच में पड़ कर वे किसी तरह आगे
बढ़ने के लिये तैयार होते थे ॥ २४ ॥

नीरन्ध्र पथिषु रजो रथाङ्गनुन्न पयस्यन्नसलिलारुणं बहन्ती ।

आतेने वनगाहनानि धाहिनी सा धर्मान्तद्भुभितजलेव जह्नुकन्या ॥२५॥

नीरन्ध्रमिति ॥ नीरन्ध्र सान्द्र पथिषु रथाङ्गैश्चकैर्बुधैः प्रेरितम् । 'सुत्तनुचास्त-
निष्ठयताविद्वक्षित्पेरिता समा' इत्यमर । पर्यस्यत्प्रसर्पन्नवसलिलमिवाकृण रजो
चहन्ती सा बाहिनी सेना । धर्मान्ते प्रावृषि शुभितजला । कलुषोदकेत्यर्थ । जहकन्या
गङ्गेव । वनानि फलकुसुमप्रधानानि, गहनानि जीर्णारण्यानि च तानि वनगहनान्या
मेने व्मानक्षे । अत्र समासगतवाक्यगतोपमयो सजातीययोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर ॥२५॥

वह देवसेना मार्ग मे रथों के पहियों से उड़ी धूल से छूट ब्याप्त होकर प्रवहणशाल
नूतन बल के सदृश प्राण्य बल की हो गई थी । यह ग्रीष्मावमान ऋतु मे कलुषितजला
जाङ्घवी की तरह फलफूल से भरे हुए तथा बहुत प्राचीन बने अङ्गलों में चारों तरफ
फैल गई ॥ २५ ॥

सम्भोगक्षमगहनामथोपगङ्ग विभ्राणा ज्वलितमणीनि सैकतानि ।

अभ्यूधुदक्युतकुसुमाचिता सहाया वृत्रारेरधिरत्नशाद्वता धरित्रीम् ॥२६॥

सम्भोगेति ॥ अथ वृत्रारे शक्रस्य सहाया सखिषा गन्धर्वा उपगङ्ग गङ्गासमीपे ।
अव्ययीभावस्य नपुंसकत्वाद्भ्रस्वत्वम् । सम्भोगक्षमगहनानुपभोगयोग्यवना ज्वलिता
मणयो येषु तानि सैकतानि विभ्राणाम् । पृत्र कर्तारि छट शानच् । क्युतै स्वय
पतितै कुसुमैराचिता व्याप्तमविरला सान्द्रा शाद्वलाः शाद्वलायप्रदेशा यस्या सा
ता धरित्रीमभ्यूधुरधितस्थु । वसतेर्यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । अत्र धरित्रीविक्षेपणा
र्थानामधिसहितत्वाद्नेकपदार्थहेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कार ॥ २६ ॥

इमाष्टर के गडु (इन्द्र) के सचिवों ने गङ्गा के समीप एक जगह, जहाँ की भूमि
अपमोक्ष्य बनों से युक्त थी क्षितिज बनाया उस भूमि में बहुत से बालकामय प्रदेश थे चित्तमें
अनकदार बहुत से रत्न पड़े हुए थे । स्वयं वृत्रों से गिरे हुए फूल उसपर बिखर रहे थे
उस पर खूब बने हुए भी उगे हुए थे ॥ २६ ॥

भूमर्तु समधिकमादध तदोन्व्या श्रीभक्ता हरिसखबाहिनीनिवेश ।

ससक्तौ किमसुलभम मद्दोदयानामुच्छ्राय नयति यदृच्छयापि योग ॥२७॥

भूमर्तुरिति ॥ तदा हरिसखबाहिनीनिवेशो गन्धर्वसैनाधिरम् । 'निवेश क्षि-
रोह्राहविन्यासेषु प्रकीर्तित' इति शारदत । भूमर्तु पर्वतरथो 'र्था समधिष्व पूर्वस्मा
इत्यधिक यथा तथा श्रीभक्तम् । अियमित्वर्थ । भाव्ये जनयामास । तथा हि
मद्दोदयाना महात्मना ससक्तौ सम्यक्सम्बन्धे । 'सम्भक्तौ' इति पाठे तु सम्यक्सं-
वायाम् । किमसुलभम् । न किञ्चिदुल्लभमित्यर्थ । यत् — यदृच्छया दैवाधोगोऽन्यु-
च्छ्रायमुत्कर्षं नयति । अत्र प्रकृतवदृच्छया योगस्योत्कर्षाभिधानात्प्रकृतशक्तियोग-
स्योत्कर्षाभायकत्वे कैमुतिकन्यायेनार्थापत्तिरिति प्राकरणिकादप्राकरणीकरूपार्थापत्तिर-
लङ्कार । लघुत्वम्—'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्तुन्यथा पतेत् । कैमुत्येन यत् सा
स्यादर्थापत्तिरलङ्किया ॥' इति ॥ २७ ॥

उस समय इन्द्र के मित्रों का सनावा शिविर इन्द्रकील पवत की भूमि की शोभा को पहले से भी अधिक मनोरम बना दिया। क्योंकि महातुषारों के ससग होनेपर हीन रानी वस्तु है जो दुर्लभ है। आकस्मिक सम्पर्क भी उन्मत्त की वृद्धि करता है ॥ २७ ॥

सामोदा कुसुमतकृश्रियो विविक्ता सम्पत्ति किसलयशास्त्रिणीलतानाम् ।
साफल्य यथुरमराङ्गनोपभुक्ता सा लक्ष्मीरुपकुर्वते यथा परेषाम् ॥२८॥

सामोदा इति ॥ सामोदा ससीरभा कुसुमप्रधानास्तरव । शाक्यार्थिवादिषु वृष्टव्य । तेषां श्रियः समृद्धयो विविक्ता विजनप्रदेशाः । विविक्ताः वजनच्छ्रमि शलाकास्तथा रह इत्यमरः । किसलयशास्त्रिणीलतानां मन्वपल्लवयुतवल्लीनां सम्पत्तिरेता भ्रमः शङ्गनोपभुक्ता सत्य साफल्य यथु । तथा हि । यथा लक्ष्म्या करणेन परेषामुप कुर्वते । लक्ष्मीवाचिति शेषः । सा लक्ष्मीर्नान्वेति भावः । परेषामित्यत्र 'अनुकरोति । भगवतो नारायणस्य' इत्यादिवत्किष्क्यायोगे हि सम्बन्धसामान्यं पृष्टी ॥ २८ ॥

सौरमन्मन्त्र पुष्पप्रधान वृक्षों की शोभा तथा निम्न प्रदेश और नूतनपर्वों में वृष्टी त होने कारण लताओं की सम्पत्ति ये सब सुरमणियों के उपभोग से उकल हो गई (नहीं तो जल में इन्हे कौन पूछता ? और ये योंही अपनी शोभा और संपत्ति को जो बैठी) वही सम्पत्ति सम्पत्ति है जो औरों का उपकार करे ॥ २८ ॥

कलान्तोऽपि त्रिदशवधूजन पुरस्तात्त नाहिन्धसितयिलोत्तपल्लवानाम् ।
सेव्याना हतविनयैरिवावृताना सम्पर्क परिहरति स्म चन्दनानाम् ॥२९॥

कलान्त इति ॥ कलान्तोऽपि त्रिदशवधूजन पुरस्तादग्रे लीनानां संभितानामहीनां रवसितैर्निरवासैर्विलोला पल्लवा तेषां तेषां चन्दनानां सम्पर्क हतविनयैर्दुर्जनैर्वलैरावृतानां सवृतानां सेव्यानां प्रसूणां सम्पर्कमिव परिहरति स्म । बुष्टवद्वुष्टसप्तष्टा गुणाख्या अपि त्वाज्या इति भावः ॥ २९ ॥

धिन तरह दुष्टों के साथ २ रवणों के कारण सज्जनों का भी लोग परि याग कर देते हैं चाहे वे लोग क्यों न हों उसी तरह अमरुतजनार्थ मार्ग के अमरत क्षिप्रधीं तो भी आश्रय के योग्य च दन वृक्षों का सम्पर्क छोड़ दी क्योंकि उसपर क्षिपे हुए सर्पों के प्रफनार स उसके पल्लव चमल हो रहे थे । (इस बात को सभी लोग जाना है कि चन्दन के पेड़ पर सर्पों का वास रहता है) ॥ २९ ॥

उत्सृष्टवधूजकुथककूटा धरित्रीमानीता विदितनयै भ्रमं विनेतुम् ।

आक्षिप्तद्रुमगाहना युगान्तवासे पयस्ता गिरय इव द्विपा विरेजु ॥ ३० ॥

उत्सृष्टेति ॥ उत्सृष्टा आक्षिप्ता ध्वजा कुथा आस्तरणानि कूटास्तनुत्राणानि च वेद्यन्ते । प्रवेष्ट्यास्तरण धर्मं परित्योक्तं कुथो द्वयो इत्यमरः । विदितनयै शिवाभिज्ञैश्चन्द्रभि भ्रम विनेतुं ह्यममपनेतु धरित्रीमानीता । निवेरयमाना इत्ययः ।

द्विपा युगान्तवत्तराणितान्युद्घतानि दुमाणा गहनानि वनानि येम्यस्ते पर्यस्ता वि-
पर्व्यासिता गिरय इव विरेह्यु शुशुभिरे ॥ ३० ॥

गज शाल वृक्षा महावृक्षों ने हाथियों की भकावट दूर करने के लिये उन पर से श्वजा, मूल, कवचादि सामग्रियों को उगार कर पृथ्वी पर रज दिया। उस क्षण वे उन पर्वतों की तरह इस उपर पड़े रहे जिनके धनेर वृक्षों के वन प्रलय कालीन मन्कावात से उत्पाद कर फेंक दिये जाते हैं और पर्वत भी उठाकर जहा कहीं भी फेंक दिये जाते हैं ॥ ३० ॥

प्रस्थानश्रमजनिता विहाय निद्रामामुक्ते गजपतिना सदानपङ्के ।

शश्यान्ते कुलमलिना क्षण विलीन सरम्भच्युतमिव शृङ्खल चकारो ॥ ३१ ॥

प्रस्थानेति ॥ गजपतिना प्रस्थानश्रमेण गमनश्लेशेन जनिता निद्रा विहायामुक्तेस्त
एव सदानपङ्के गजमदयुक्ते शश्यान्ते शयनीयप्रदेशे क्षण विलीन लज्जमलिना कुल
सरम्भेणोत्थानसम्भ्रमेण च्युत भ्रष्ट शृङ्खल निगडमिवोत्प्लेषा । 'अथ शृङ्खले ।
अन्तुको निगडोऽस्त्री स्यात्' इत्यमर । चकारो शुशुभे ॥ ३१ ॥

(सोना के पन्का) गजराज को मार्ग का भकावट स निद्रा आगई। निद्रा मद्र के मद उसने शयन प्रदेश का परित्यग किया। वहाँ पर मद्र के बहने से क्रीचड हो गया था। उसपर अमर टूट पड़े थे। उस क्षण अमरों को पाँक इस प्रकार सुशोभित होने लगा मानों गजराज क वेग से उठने के कारण उनके पग भी शृङ्खला टूट कर पड़ी हुई हो ॥ ३१ ॥

आयस्त सुरसरिदोषरुद्धवर्त्मा सम्प्राप्तु वनगजदानगन्धि रोध ।

मूर्धानं निहितशिताङ्कुश विधुन्वन् यन्तारं न विगणयाञ्चकार नाग ॥ ३२ ॥

आयस्त इति ॥ वनगजदानस्य गन्धोऽस्यास्तीति तथोक्त रोध । परकूलमि-
त्यर्थ । सम्प्राप्तु गन्तुमायस्त उत्सुक । प्रथम कुर्वाण इत्यर्थ । 'यसु प्रथमे' इति
घातो ऋत्ति च । किन्तु सुरसरिदोषेन गजप्रवाहेण रुद्ध वर्त्म यस्य स । नागो गजो
निहितो दत्त शितस्तीक्ष्णोऽङ्कुशो यस्मिन् । 'अङ्कुशोऽस्त्री सृणि क्षियाम्' इत्यमर ।
स मूर्धानं विधुन्वन् । रोषादिति भाव । यन्तारं न विगणयाञ्चकार न विगणया-
मासः ॥ ३२ ॥

दूसरा हाथी गज के अपर तट की जो जड़ली हाथी के मद से सुरभित था पाकर (उमठे
हटने के लिये) उस तट पर पहुँचने के लिये परमात्सुक हो गया फिर गज के प्रवाह से
उमका मार्ग रक्षा हुआ था (अत उस पार न जा सका) उसके शिर पर (महावत के
दारा) तीक्ष्ण अङ्कुश प्रहार होते समय वह (केरल) शिर हिलाना हुमा महावत को
उध नहीं ममन् ॥ ३२ ॥

आरोढु समवनतस्य पीतरोपे साशङ्क पथसि समीरिते करेण ।

समालत्रहणमदञ्जुती कपोलौ सस्थन्दे मद इव शीकर करेणो ॥ ३३ ॥

आरोद्धरिते ॥ समवनतस्य जलपानायमानतद्रूपकायस्य करेणोर्गत्रस्य । करेणु
रिभ्या स्त्री मेमे इत्यमर । करेण पीतस्य शेषे पयस्तारोद्धृष्टिपकात्साशङ्क समन्य
समीरिते । चित्ते सतीत्यर्थ । क्षीकरोऽम्बुक्षण । अहो मद्भ्रुती मद्भारे यथोत्ती ।
कपोली संमार्जनं प्रमृगन् ॥ 'सृजेरजादी सङ्क्रमे विभापावृद्धिर्वकम्या इति वृद्धि' ।
मद् इव सस्यन्दे सुखाय । मद्संभृतस्य मद्सादरयान्मदोपमा ॥ ३१ ॥

जल्पानाथ भुके हुए तीनरे हाथी ने अपने शुक से जल पान किया । फिर जब जलो
महापत से टरके हुए उसने ऊपरको उठा दिया । उस जल के क्षण अल्प-म-साथी
कपोलों को धोने हुए मद् के सृष्ट व्यक्तने लगे ॥ ३१ ॥

आधाय क्षणमतिवृष्यतापि रोपादुत्तीर निहितविवृत्तलोचनेन ।

सम्पृक्त वनकरिणा मदाम्बुसेकैर्नाचिमे हिममपि धारि धारणेन ॥३४॥

आधायेति ॥ अतिवृष्यताभ्यतिपिपासतापि क्षणमाधाय रोपादुत्तीर परतीरि ।
विभक्तधर्षेऽभ्यपीभाक् । निहिते विभुत्ते धूर्णिते लोचने यस्य तेन । प्रतिगन्निदृष्टयेति
माय । धारणेन हिम पीतलमपि वनकरिणा मदाम्बुसेर्वाभ्यभारि सम्पृक्त धारि
नाचिमे न पीतम् । 'चमु अवने' इति धातो कर्मणि शिट् ॥ ३४ ॥

('स सेना ना कोई और) हाथी जो अत्यन्त पृथक् था तो जो बहली हाथिया के म
से निमित्त जन्ने हुए कर (सुर सरिण के) दूसरे त की एक कोष पूर्ण इति से धूरने
लगा । उसने हीतल जल दोरे हुए भी उसे न पिया ॥ ३४ ॥

प्रश्च्योत्तन्मदसुरभीणि निम्नगायाः क्रीडन्तो गजपतयः पथासि कृत्वा ।

किञ्चलकन्यवहितसाभ्रदानलेखैरुत्तेरु सरसिजगन्धिभि कपोलैः ॥३५॥

प्रश्च्योत्तन्ति ॥ क्रीडन्तो विहरन्तो गजपतयो निम्नगाया मद्रायाः पथासि
प्रश्च्योत्तन्नि चरन्निमद सुरभीणि कृत्वा किञ्चलैः केसरैर्व्यवहितास्तिरोहितास्ता
भ्रास्ताभ्रवर्णा दानलेखा मद्राजयो येषु तैरथ एव सरसिजगन्धिभि कपोलैरुपलक्षिता
सम्त उत्तरनिम्नगु । अत्र मद्रसरसिजगन्धयो समयोर्विनिमयोक्त्या सम्परिवृत्तिर
उद्धार । तेन च गजानां निम्नगायाश्च परिमलभ्यन्त्ययात्तरसरम्भो व्यज्यते ॥ ३५ ॥

(कुछ) हाथियों के रात्राओं ने मग ती भागीरथी के बहने अपने शरण करते हुए
म से सुगन्ध पूरा बनाते हुए जल से बाहर भा गये उनके कपोलों की मरख मद्र रेखा
कमल-केसर से आच्छादित हो गई और उन कपोलों से कमल की गव माने लगी ॥ ३५ ॥

आकीण बलरजसा घनारुणेन प्रक्षोभै सपदि तरङ्गित तटेपु ।

मातङ्गोन्मथितसरोजरेणुपिङ्ग माञ्जिष्ठ घसनमिनाम्बु निर्वभासे ॥३६॥

आकीर्णमिति ॥ घनारुणेन साम्प्रलोलितेन । विशेषणसमासा । बलरजसा सेना
परानेगाकीर्णै सपदि प्रक्षोभैरालोकनैस्तटेषु तीरेषु तरङ्गित सजाततरङ्गम् । तमप-

दिव्यादितम् । यद्वा । तरङ्गवक्रतम् । मत्स्यन्तात् 'तत्करोति -' इति णिचि कर्मणि क । णविष्ठवद्भावान्मत्स्यो लुक् । तथा मातङ्गैरुन्मधिताना लुलिताना सरोजाना रेणुभि पिङ्ग पिङ्गमग्धु माक्षिष्ठेन महारजनैनारक्त माक्षिष्ठ वसन्मिव निर्वभासे 'तेन रक्त—' इत्यण् । 'कौशेयम्' इति वा पाठे 'कोशाङ्कम्' । 'कौशेय कृमिकोशो-
न्थम्' इत्यमर ॥ ३६ ॥

हाथी का जल, जो अत्यन्त अल्प वर्षों की सेनासम्बन्धिनी धूल से भर गया था, और कुम्भ होने से तट पर हिलोरे ले रहा था, जल वर्ष हो गया फिर हाथियों की क्रीडा से उन्मिक्त कमल के पीने पराग से मिश्रित होकर वह मजीठ के रङ्ग में रगे हुए वस्त्र की तरह दिखलाई पढ़ने लगा ॥ ३६ ॥

श्रीमद्भिर्नियमितकन्धरापरान्तै संसक्तैरगुरुवनेषु साङ्गहारम् ।

सम्प्रापे निसृतमदान्भुभिर्गजेन्द्रै प्रस्यन्दिप्रचलितगण्डशैलशोभा ॥ ३७ ॥

श्रीमद्भिरिति ॥ श्रीमद्भि शोभावद्भिर्नियमिता कन्धरा अपरान्ताश्चरमपदाप्राणि च येषां तै । 'अपर पश्चिम पाद' इति ज्ञेयन्ती । अगुरुवनेषु साङ्गहार साङ्गविशेष यथा तथा ससक्तैर्निसृतानि प्रसृतानि मदान्भूनि येषां तैर्गजेन्द्रै प्रस्यन्दिनो जलस्वा-
पिण प्रचलिता ये गण्डशैलाश्च्युतोपलास्तेषां शोभा सम्प्रापे प्राप्ता । कर्मणि लिट् । 'गण्डशैलास्तु च्युता स्पृहोपला गिरे' इत्यमर । अत्रान्यशोभाप्राप्त्यसम्भवात्-
स्वदृशी शोभेति प्रतिबिम्बस्वाप्तेषांश्चिदर्शनाच्छङ्कर ॥ ३७ ॥

(सेना के) व गजराज, जो पिङ्गले पैर और कन्धे में जजीर लगाकर चन्दन के धूलों में बांध दिये गये थे (किसी तरह झुटकारा पाने के लिये) प्रयत्न कर रहे थे । उनसे मद का धारा बह रही थी । उस समय उनकी शोभा उन पर्वतों के समान हो रही थी जिनसे बड़े २ पत्थर की शिला टूट कर गिरती हो और साथ ही साथ भरते भी भरते ही

निःशेष प्रशमितरेणु धारणाना स्रोतोभिर्मदजलमुष्मतामजस्रम् ।

आमोद व्यवहितभूरिपुष्पगन्धो भिन्नैलासुरभिमुवाह गन्धवाह ॥ ३८ ॥

निःशेषमिति ॥ गन्ध वहतीति गन्धवाहो वायु । कर्मण्यण् । विशेष यथा तथा प्रशमितो रेणुर्गणं तन्मदजल स्रोतोभिर्मदनाडीभिरवस्रमुष्मता वर्षता धारणाना सम्बन्धिष्व व्यवहितस्तिरस्कृतो भूरिर्वहुल पुष्पगन्धो येष स । भिन्ना फुल्ला फुल्ला लवाविशेषा । 'पृथ्वीका चन्द्रवालेला' इत्यमर । तस्युप्याणि शैला । 'पुष्पेजातीप्रभृ-
तय स्त्रलिङ्गा मीहय फले' इत्यमर । भिन्नैलावसुरभिं श्राणेन्द्रियतर्पणमित्युपमा । आमोद परिमलमुवाह वहति स्म ॥ ३८ ॥

उस दृक्छेनाके हाथी निरन्तर अपने सातों नादियों के द्वारा मदस्तरण कर रहे थे जिससे सम्पूर्ण धूलि धान्य हो गयी । उस नदगणि से उलझती भी फूलों की सुगन्धि छिप गई थी और वह रसायनी के गन्ध से मिलती जुलती थी । उसे गन्ध के बोझ (देने वाले) परनदेव ने त्रहस्य किया ॥ ३८ ॥

सादरय दधति गभीरमेघघोषैरुन्निद्रक्षुभितमृगाधिपश्रुतानि ।

आतेनुश्रुतचकोरनीलकण्ठान्कच्छान्तानमरमहेमश्रु हितानि ॥ ३६ ॥

सादरयमिति ॥ गभीरमेघघोषे साद्गर्जित सादरय दधतीत्युपमा । दधते शत्रुप्रत्ययः । वा नपुमकस्य इति विकल्पान्मुमभाव । उन्निद्रा वृद्धितथेव्यादेव प्रवृद्धा शुभिता संरब्धाश्च ये मृगाधिपादैः श्रुतान्यावर्कितानि । न तु प्रतिशुद्धानीति भावः । अमरमहेमश्रुहितानि सुरगजगर्जितानि कच्छान्ताननूपप्रदशान् । 'जलप्राचमनूप स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविध' इत्यमरः । शक्तिता गर्जितशब्दाया सम्भ्रान्ताश्चकोरा पक्षिविशेषा भीलकण्ठा मयूराश्च येषु तास्तथाभूतानातेषु । भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ३६ ॥

देवनागों के विशाल हाथियों की चिंग्या के जिन्हे निगा का परित्याग करके भार दुष्प्र होकर सिधों ने शुना गम्भीर मेघ गजन के स्पृष्ट थी । उन्हे सुरसरिण के कण्ड में निवास करने वाले चकोर और मयूराणि पक्षियों को भी आश्चर्य चकित कर दिया ॥ ३६ ॥

शास्त्रावसक्तकर्मनीयपरिच्छदानामध्वत्थमातुरवभूजनसेवितानाम् ।

जज्ञे निवेशनविभागपरिष्कृताना लक्ष्मी पुरोपवनजा वनपादपानाम् ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किराताजुनीये सप्तमः सर्गः ।

शास्त्रेति ॥ परिच्छदान्तेऽनेति परिच्छद् परिकरो वसनाभरणादि । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण इति घप्रत्ययः । आदेर्वेऽनुश्रुपसगत्य इति इत्यत्वम् । शास्त्रास्ववसक्ता कर्मनीया परिच्छदा येषां तेषामभनि धमस्तेनातुरे पीडितवधूनां सेवितानां निवेशनविभागरावसतिकावच्छेदैः परिष्कृतानामलक्ष्मणानाम् । 'सपुपेभ्य इत्यादिना घुट । वनपादपानामरण्यावृत्तानां पुरे षट्पुपुष्वर्णं कृत्रिमवर्णं तत्र जाता पुरोपवनजा लक्ष्मी शोभा अज्ञे जाता । अत्रान्योन्यलक्ष्मीसम्बन्धासम्भवान्तस्तदस्तीति सादरयाद्येपादसंभवे तद्वस्तुसम्बन्धेय निवृत्तता । वसन्ततिलकावृत्तम् — उद्या वसन्ततिलका समजा जगौ ग' इति लक्षणात् ॥ ४ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमहोपाध्यायसूरिबिरचितयां किराताजुनीय
काव्यव्याख्यायां षष्ठापधसमाख्यायां सप्तमः सर्गः समाप्तः ॥

वनवृक्षों की कालियों में (सुराजनागों के) श्रुत् २ परिधान लब्ध रहे थे । सर्गों की वक्रावट से चूर-चूर होकर सुरवशुर्वे व ० वृक्षा के नीचे निवास कर रही थी । वृक्षों के नीचे की भूमि का भाग जिन्हे में वे लोग नाम चला सप्तती थीं भाव भीदार कर साक पर दिये गये थे । अतः उनकी शोभा नवर के उपवनो के सदृश हो गई ॥ ४ ॥

सातवां सर्ग समाप्तः ।

अ : सर्गः ।

अथ स्वमायाकृतमन्दिरोज्ज्वल ज्वलन्मणि व्योमसदा सनातनम् ।

सुराङ्गना गोपतिचापगोपुर पुर वनाना विजिहीर्षया जहु ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ निवेशनानन्तर सुराङ्गना अप्सरस स्वमायया स्वेच्छाविशेषेण कृतैर्मिर्मितैर्मन्दिरैरुज्ज्वल दीप्तम् । ज्वलन्तो मणयो यस्मिन्सद्बुधोनसदा गन्धर्वाणा सनातन सदातनम् । 'सायचिर-' इत्यादिना भावार्थे व्यप्रत्यय । गौर्वञ्ज तत्पतिरिन्द्रस्तथापवर्णानि गोपुराणि यस्य तत्तयोक्तमित्युपमा । पुर नगर वनाना विजिहीर्षया वनानि विहर्तुमिच्छया । कर्मणि षष्ठी । जहुस्तत्पञ्च ॥ जहातेर्लिट् । अत्र ज्वलज्वलदिति पुरपुरमिति चात्सकृद्व्यञ्जनद्वयावृत्त्या छेकानुप्रास । अन्वत्र तद्वैपरीत्यादृष्ट्यनुप्रास इति तयोपभावाच्च सप्तष्टि । अस्मिन्सर्गे वक्षस्थ वृत्तम्--'जतौ तु यद्यस्थमुदोरित जतौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

पृथ्वी शी द्वाधा मे निवास करुने के अनन्तर मुरकामिनियो ने वन में विहार करने की कामना से अपने नगर का परिव्राग किया था । उनका नगर वनको माया से निर्मित भवनों से दीप्त था । उसमें चमकते हुए रत्न था य । यह गन्धर्वों का सनातनी नगर था । वसते फाटक शूद्रपुरुष के समान विविध रत्नों से विभूषित थे ॥ १ ॥

यथायथ ता सहिता नभश्चरै प्रभाभिरुद्भासितशैलवीरुध ।

वन विशान्त्यो वनजायतेक्षणा क्षणद्युतीना वृधुरेकरूपताम् ॥ २ ॥

यथायथमिति ॥ यथायथ यथास्वम् । स्वकीयमनतिक्रम्येत्यर्थः । 'यथास्व तु यथायथम्' इत्यमर । नपुंसकनिपातन तु इत्यर्थम् । नभश्चरैर्गन्धर्वैर्मैत्रीञ्च सहिता प्रभाभि स्वदीप्तिभिरुद्भासिता शैलवीरुधो यामिस्ता पूर्वोक्ता वनजायतेक्षणा पद्म लोचना श्रियो वन विशान्त्य । क्षण द्युतिर्वासा तासा क्षणद्युतीना विद्युत्तामेकरूपता समावस्वता ददु । मुहुर्दुर्मान्तराले तासा स्तुनगस्य क्षणिकश्वादिति भाव । श्लेषालुप्राणितेयमुपमा । श्लेषत्वमिति कंचित् । उभयथाप्यनुप्रासेन ससर्ग ॥ २ ॥ कमल के सदृश विशाल नेत्रा ने सरसुन्दरिया अपने अपने (त्रिय) गन्धर्वों के साथ अपनी कान्तियों से परवस और वृक्ष-लताओं को उद्भासित करती हुई वन में जित समय (विहारार्थ) प्रवेश कर रही थीं उस समय विद्युत्कला की सी शोभा बहन करती थी ॥२॥

निवृत्तवृत्तोरुपयोधरवत्तम प्रवृत्तनिर्हार्दिविभूषणारव ।

नितम्बिनीना भूरासादवे धूर्ति नभ प्रयाणादवनौ परिक्रम ॥ ३ ॥

निवृत्तेति ॥ निवृत्तो गतो वृत्तस्य वर्तुलस्योरुपयोधरस्य कुमो यस्मिन्स । पादप्रक्षेपेषु विश्रान्तिसम्भावदिति भाव । किञ्च । प्रवृत्तो जातो निर्हार्दिविभूषणाना नूपुरादीनामारवो यस्मिन्स । अवनौ पृथिव्या परिक्रम सञ्चारो नितम्बिनोना नभ प्रया-

गादृशमधिकम् । पञ्चमी विभक्ते इति पञ्चमी । घृति सन्तोषमादधे । अत्र विशि
 एष रश्मस्य घृत्यादानहेतुत्वात् काव्यकिङ्करात्कार ॥ ३ ॥

नित वना सुरनाम्नो को आकाश म । से यात्रा करने की अपेक्षा भूमि पर परि
 भय करना अधिक दुःखदायक हुआ । रम पृष्ठी की परिष्कृत स उनके गोल गोल आँसू और
 लानो की धाराएँ दूर हो गई थी । उनमें उनके नूपुरों की मञ्जल प्यनि हो रही थी ॥३॥

घनानि काम कुसुमानि विभ्रत करप्रचेयान्यपहाय शास्त्रिन ।

पुरोऽभिसन्ने सुरसुन्दरीजनैययोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिन ॥ ४ ॥

घनानीत ॥ अनामि साम्राणि । न तु विरलानि । करप्रचेयानि हस्तमाहात्म्य
 गुणानि । 'कृत्यैरधिकार्थवचने' इति तृतीयासमास काम कुसुमावि विभ्रतो नव
 कुसुमिताञ्छास्त्रिनस्तरुनपहाय सुरसुन्दरीजनै पुरोऽभेऽभिसन्नमिसुतम् । भावे
 क्लिष्ट । तथा हि । कामिनो गुणेष्वतिशयपु विषय उत्तरमुत्तरम् । बोधार्थेऽभ्ययीभाव ।
 यथोत्तमिच्छा येषां ते यथोत्तरेच्छा उत्तरोत्तराभिलाषुषा हि । अत्र परिक्रोश्या
 पितोऽर्धान्तरम्यासोऽलङ्कारः ॥ ४ ॥

उन शैलके वन पथ के वृक्ष मयुर परिमाय मे पुष्प धारण कर रहे थे । उनके पुष्प हाथ
 स उपलब्ध हो सकते थे । तथापि सुगुन्दरी जना ने उन पृष्ठो का परिष्कार कर जाने
 करने के लिये दो बल श्रिया कारण यह है कि धामी जन सर्वदा शुभो की अपेक्षा की
 लीज म लग रहते ह (उपस्थित शुभों से उन्हें सन्तोष नहीं होता) ॥ ४ ॥

तनूरलकारुणपाणिपल्लवा स्फुरत्प्रभाशूकरमञ्जरीसूतः ।

विलासिनीबाहुलता घनालयो विलेपनामोदहृता सिपेविरे ॥ ५ ॥

तन्दुरित ॥ विलेपनामोदहृता आकृष्टा घनालयो घनमृदास्तम् कृशा अलक्षै
 र्णा पाणय एव पल्लवा वासां ता स्फुरन्तो नलांशुनामुत्तरा पुला एव मञ्जरीस्ता
 विभ्रतीति तयोका । शिप् । विलासिनीनां बाहुव एव कृतास्ता सिपेविरे । अत्र
 समस्तवस्तुविषयरूपकालङ्कारः । बाहुवयवामां कृतामयवामां पल्लवादीनामपि
 निरूपणादिति ॥ ५ ॥

वनके भ्रमरों ने सुगन्धिपूर्वक मृदागों से मुख होकर उन सुराङ्गनाम्नो की पुनल
 भुञ्जताम्नो का स्वन किया । जिसमें मूँह वर के लैप स अरुण वर्ण के पल्लव के समान
 र्थेनिर्यां थी । जिनके नखों ने विरल मञ्जरी को तरह निकल रही थीं ॥ ५ ॥

निपीयमानस्तवका शिलीमुखैरशोक्यष्टिरचलबालपल्लवा ।

विदम्बयन्ती ददशे वधूजनैरमन्ददृष्टौप्रकरावधूननम् ॥ ६ ॥

निपीयमानेति ॥ शिलीमुखैरभिः । अलिवाणी शिलीमुखी इत्यमरः । निपी
 यमान स्तवको गुच्छो यस्या सा । चला बालपल्लवा यस्या सा । अतएवामन्द
 दर्श दृष्ट ओष्ठो परिमस्तवकरावधूननं करकम्पनं तद्विदम्बयती । स्तवकरागैर्नौष्ठदर्शनं

पल्लवचलनेन करावधुन चालु कुर्वतीत्यर्थं । धूपो गगन्तात्कथुद् । विधिं धूपीबोनु-
 र्वक्तव्यं । अशोकपत्रि अशोकशास्त्रेऽप्यर्थं । धूपजनैर्दृष्टो दृष्टा । अत्र विद्वान्मयन्तीति
 प्रस्तुताशोकशास्त्रविशेषणभूतोपमानमिदं । प्रस्तुतानाधिकारप्रतीतिं समासोक्तिरितिष्ट-
 मानत्वैवोपमयाङ्गनिभावेन सकीर्यते ॥ ६ ॥

अमरों ने अशोकफला के पुष्प गुच्छों का मकरन्द पान कर लिया था । उस (अशोक
 फला के फोमल अथवा निरुक्तव्य इस तरह हिल रहे थे जैसे लोचन भोष्ट-दण्ड के कारण
 (अमरों को दूर भगाने के लिये) का मनियों के द्वारा दण्ड-उत्तर सञ्चालित होते हैं । (६८
 दृश्य सुन्दरवर्षे के लिये दण्ड ही मनोरम था) ॥ ६ ॥

अथ कश्चिन्ननुकराक्रान्ता कश्चिद्विद्वद्—

करो धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा मानिनि मा परिभ्रमम् ।

अपेयुधी कल्पलतामिश्राङ्ग्या कथं न्वितस्त्रस्यति पट्पदावलि ॥ ७ ॥

कराविति ॥ मानपरिभ्रमेण मधुपाश्रयणे तु न कश्चिद्वाच इत्याशयेन सर्वोपपत्ति-
 हे मानिनीति । नवपल्लवस्याङ्गतिरियाङ्गतिर्ययोरित्युपमा । तौ करो धुनाना । धूप
 कैवदिकालस्मरि कट् शान्त् । वृथा व्यर्थं परिभ्रम मा कृथा मा कुम्ब्य । करोतेरा-
 चीर्ये मांति लुब्ध । वृथात्वे हेतुमाह—कल्पलतामिश्राङ्ग्या कल्पनविक्रममेणेति अस्मिन्-
 मवलङ्कार । अपेयुधुपगता पट्पदावलि कथं न्वितस्त्रस्यति विवेति । न प्रसवत्येवे-
 त्यर्थं । 'वा आशा— इत्यादिना विकल्पेन स्यन्त्येव । अत्र कान्तापरिभ्रमवैयर्थ्यं-
 पकार्थस्य पट्पदावले कल्पवत्सर्जितमनिरन्वन्वन्वित्रासरूपकाणसमर्थतात्कारणेन का-
 र्यसमर्थनरूप्यं शान्तरम्यग्लो अस्मिन्मताङ्गनिभावेन सकीर्णं । स धूपमया ससृज्यते ॥
 किसी सुवर्षी को अमर पत्ति घेरें हुई है इस पर कोई व्यक्ति कह रहा है—

ये मानशालिनि, अपने धार्यों को नये नये पल्लवों के समान शरारत सञ्चालन करने
 व्यर्थ ना कष्ट मत उठाओ । यह अमर पत्ति कल्पलता के अम में रहकर तुम्हारे समीप
 कार्यें कर रहे हैं । नवीं धूम बरती हो ॥ ७ ॥

अथ काचित्सखी काञ्चिःश्रणयलुपितामाह—

जहीदि कोप दयितोऽनुगम्यता पुरानुशेते तव धञ्जल मन ।

इति श्रियं कश्चिदुपेतुमिच्छती पुरोऽनुनिन्द्ये निपुण सखीजनः ॥८॥

जहीदीति ॥ श्रियमुपेतुं स्वयमेवानुसृतुं मिच्छतीम् । 'धाक्कीनचोनु'म् इति विक-
 ल्पान्मुसभाके । काञ्चिनाश्रिया निपुणश्रियञ्च सखीजन । कोप जहीदि त्यञ्ज । 'वा
 च ही' इति विकल्पादीकारादेश । दयितोऽनुगम्यतामनुस्त्रिपताम् । उभयथापि प्रार्थ-
 नाया कोद् । धन्यया वञ्जलमस्तिधर तव मन पुरानुशेतेऽप्रेतुशायिप्यते । अनुतप्स्यत
 इत्यर्थं । 'धाक्पुरानिपाशयोर्कट्' इति कट् । इत्यनेन प्रकारेण पुर पूर्वमेवानुनिन्द्ये
 प्रसाद्यामास ॥ ८ ॥

एक रमणी अपने प्रिय में ब्रुद्ध हो गई है हम पर एक सखी कह रही है —

मान छोड़ो : प्रिय का अनुसरण करो । तुम्हारा मन तो एक पहलू पर नहा रह
सगता आगे चल कर मालुम होगा रस प्रकार ने एक चतुर सखी ने अपनी सखी को
जो अपने प्रियके पास जाना ही चाही थी ममता गुमाकर पहिल ही से प्रसन्न कर
दिया ॥ ८ ॥

अथ चतुर्थिं रत्नोक्तैः कलापकमाह—

समुन्नतै कारादुकूलशालिभिः परिकल्पितसारसपक्षिमेखलैः ।

प्रतीरदेशैः स्वकलत्राकारभिर्यिभूपिता कुञ्जसमुद्रयोपित ॥ ९ ॥

समुन्नतैरिति ॥ समुन्नतः काशान्यरववालकुसुमानि तामि हुकूलानीव तैः शालम्ब
इति तथोक्तैः । सारसपक्षयो मेखला इव ता परिकल्पन्व्यो येषु ते तैः स्वेषां कल
त्राणि शोभ्यास्तद्वृत्तारवत्यै । कलत्र शोभिभावयो इत्यमरः । प्रतीरदेशैर्विभूषिता-
स्तदप्रदेशैर्भूषिता । कुञ्जसमुद्रयोपितः । वननद्य इत्यर्थः । अत्र तीरादीनां कलत्रादी-
पम्योपमेयत्वाद्योपिच्छब्दसामर्थ्याच्च नदीनां योपिदीपम्य गम्यते ॥ ९ ॥

कल सरित में अपने रत्न २ तटप्रदेश से दृशोभित हुईं । वे त विरसितकाश से जो
कल्प के समान या सुशोभित हो रहे थे । उस तट पर कलवृत्तन करती हुई सारसों की पक्षि
करपनी के समान शोभित हो रही थी । वे त निगन्विनी के जिन व के समान
सुशोभित हो रहे थे ॥ ९ ॥

विदूरपातेन मिदामुपेयुषश्च्युता प्रवाहादभित प्रसारिणः ।

प्रियाङ्गुशीला शुचिभौक्तकत्वयो वनप्रहासा इव वारिबिन्दवः ॥ १० ॥

विकूरेति ॥ विदूरपातेन मिदां भेदश्च । पिङ्गिदादिभ्योऽङ् । उपेयुष उपगतत्वात्
वाहाश्च्युता अतएवामित प्रसारिणः प्रसर्पन्त इति मिथाया अङ् उत्सङ्ग इव शीला
शीतला शुचीनां भौक्तिकानां स्थिप इव स्थिपो येषां ते किञ्च वनस्य प्रहासा इव
स्थिता इत्युत्पत्ता । वारिबिन्दवश्च । अत्रोपमेयोक्तमयोरप्येवायाश्च ससृष्टिः ॥ १० ॥

उपत प्रदेश से गिरने के कारण मरिचा-प्रवाह दृष्ट दृष्ट हो रहे थे । उन प्रवाहों से
च्युत होकर चलकण इतस्त एक रहे थे । वे मनोरमा प्रिया के अङ्ग के समान शीतल थे ।
उनमें शुभ्र मोगी की कान्ति के सदृश कान्ति थी जिससे वे वना के प्रहास के तद्वत् रूप
लक्षित हो रहे थे ॥ १० ॥

सखीजन प्रेम गुरुकृतादर निरीक्षमाण इव नम्रमूर्त्यः ।

स्थिरद्विरेफञ्जनशारितोदरैर्विसारिभिः पुष्पनिक्षोषनैस्तता ॥ ११ ॥

सखीति ॥ ह्यौ रेफी कर्णविशेषी येषां ते द्विरेफा । अमरशब्देन तदर्थो लक्ष्यते ।
'द्वपचर भासमिति विदधाति इति भाष्यकारः । स्थिरा निश्चला द्विरेफा पुष्पाञ्जनानि
सैः शारितानि शबलीकृतान्युदराणि येषां तैः । 'शार शबलीकृतयो' इति विश्वः ।

विसारिभिर्विस्तृतै पुष्पाभ्येव विलोचनामि तै प्रेम्णा गुरुकृत आदरो यस्मिन्कर्मणि
तत्तथा सखीजन निरीक्षमाणा पश्यन्त्य इव स्थिता । कुत । नत्रमूर्तयोऽननताङ्गयो
लताश्च । अत्र रूपकोपेक्षयो सकर ॥ ११ ॥

लतायें फूली हुई थीं । ये पुष्पों से लड़ी हुई थीं । पुष्पों पर मधुकर मुग्ध होकर अवि-
चल भाव से मकरन्द पान कर रहे थे । २म दृश्य के देखने से यह मात्स्य पटता था कि मानों
लतायें, निश्चल अमराक्षि रूप अजन से अजित, विशाल, पुष्प रूप नेत्रों के द्वारा प्रेमाधिक
होने के कारण अतिशय आदर के पात्रमूल सखी वर्ग को देख रही हैं ॥ ११ ॥

उपेयुषीणा बृहतीरधित्यक्ता मनासि जह्नु सुरराजयोपिताम् ।

कपोलकायै करिणा मदारुणैरुपाहितस्यामरुचश्च चन्दना ॥ १२ ॥

उपेयुषीणामिति ॥ मदेनारुणैरुष्करामै । 'अव्यक्तारागस्वरुग्' इत्यमर ।
करिणा कपोलाना कायै कपणैरुपाहितस्यामरुचो जनितकृष्णवर्णा इति तदभूपणा-
ङ्कार । चन्दना मलयजा । 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽखियान्' इत्यमर ।
बृहतीरधित्यक्ता ऊर्ध्वमूर्तीरुपेयुषीणा सुरराजयोपिता मनासि जह्नु । अत्र चतुश्लो-
क्या मथादीना विशिष्टानामेवाप्सरामनोहरणहेतुत्वोक्त्या काव्यच्छिद्रमुद्येयम् ॥ १२ ॥

१ द्रकोल पर्वत की विस्तीर्ण चोटी पर पहुँचकर सुरराजनाओं का मन वृक्षों की कान्ति
को देखकर आकृष्ट हो गया मद् से अव्यय कपोलों के कण्डूयन से शशियों ने उच च दनों
की कान्ति को श्यामवर्ण कर दिया था ॥ १२ ॥

स्वगोचरे सत्यपि चित्तहारिणा विलोभ्यमाना प्रसवेन शाखिन्ताम् ।

नभश्चराणामुपकर्तुमिच्छता प्रियार्थेण चक्रु प्रणयेन योषित ॥ १३ ॥

स्वगोचर इति ॥ चित्तहारिणा मनोहरेण शाखिना प्रसवेन पुष्पजातेन विलोभ्य-
माना आकृष्यमाणा योषित स्वगोचरे स्वविषये । स्वकरप्रचये सत्यपीत्यर्थ । प्रसव
इति शेष । उपकर्तुं परिचरितुमिच्छता नभश्चराणा गन्धर्वाणा प्रणयेन सहायहेतुना
प्रियाणि चक्रु । स्वकरप्राप्त्यापि प्रसव स्वकान्तप्रियार्थं तद्वैयमानमेवाग्रहीषुरित्यर्थ ॥

उक्त इन्द्रकील की अपित्यक्ता पर वृक्षों में सुन्दर सुन्दर फूल खिले हुए थे सुरराजनायें
वृक्षों के मनोहर पुष्पों से मोहित हो गई थीं । उनके कर्तों द्वारा वे पुष्प सुलभ्य थे तथापि
वे (अन्तर्पयें) परिचर्यानिलापो गन्धर्वों को सहायता स्वीकृति द्वारा उन्हें (गन्धर्वों को)
प्रसन्न की अथात् स्वयं पुष्प चपन न करके अपने प्रिय सक्षरों के द्वारा खुद पुष्पों को
ही प्रदण करता थी ॥ १३ ॥

प्रयच्छतोच्चै कुसुमानि मानिनी विपत्तगोत्र दयितेन लम्बिता ।

न किञ्चिदूचे चरणेन केवल लिलेख बाष्पाकुललोचना सुवम् ॥ १४ ॥

प्रयच्छतेति ॥ कुसुमानि प्रयच्छता ददता दमितेनोच्चैरुच्चैस्तारा विपत्तगोत्र सप-

नीनामपेयं छिन्मिता प्रापिता । तन्नाम्नाहृतेत्यर्थः । 'नाम गोत्रं कुल गोत्रम् इति शारवतः' । मानिन्म्यत एव न किञ्चिदूचे । कतरि छिद् । किन्तु केवल बाष्पाकुललोचना सती चरणेन भुव लिलेत् । गोत्रस्तल्लनजनितेभ्यानिमित्तनिर्वेदादिति भावः । मानिन्म्यत एव न किञ्चिदूच इत्युक्तम् । तदुक्त इत्युक्तम्— तत्राज्ञानापनीर्ष्यादनिर्वेदः स्वावमानना । तत्र चिन्ताद्युत रवासवैवर्ण्योच्छासदीनता । इति ॥ १४ ॥

एक भस्त्रा विस समय उसका प्रमो तन्व भ्रम से उसकी सतनी के नाम से उसे शर स्वर से उम्ब धित कर पुष्पो का शुद्धा प्रमान कर रहा था मानकर कुछ भी नहीं बोली और आसों से भाव भरकर केरु पर से मृगि रोने लगी ॥ १४ ॥

प्रियेऽपरा यच्छति वाचमु-मुखी नियद्वदष्टिः शिथिलाकुलोचया ।

समादधे नाशुकमाहित वृथा विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम् ॥ १५ ॥

प्रिय इति ॥ वाच यच्छति ददाति । समाह्वयतीत्यर्थः । वाज सत्वप्रत्यय ।

पात्रा— इत्यादिना यच्छादेशः । प्रिये निवद्वदष्टिरत एवोन्मुखी । शिथिल रलय जानुलम्बलितश्च तावदा उच्यते मीवीवन्धो यस्या सा । 'नारीकव्यशुकग्रन्थौ मीवी स्वादुच्छयोऽप्यथ इति मातण्ड । अपरान्या रन्यशुक न समादधे न वचः । राम-पारवश्यादिति भावः । पुष्पेषु वृथा व्यर्थमाहितमारोपितम् । अस्थाने प्रसारितमित्यर्थः । पाणिपल्लवः च न विवेद । प्रियासक्तचित्तत्वादिति भावः । एषा च प्रगल्भा नायिका । पाणिपल्लवम् इत्यत्रान्यतरसाधकसाधकप्रमाणाभावाद्दुपमा रूपकयो सम्बन्धसङ्कर ॥ १५ ॥

कोई दूसरी अपनी प्रिय के बातलाप में तन्मनस्क होकर धक्का देकर लगी और उसकी तरफ मुँह निते हुई राबी हो गई । उसकी नीवी (ली के कमर में दी हुई बज की प्रस्थि) शिथिल गई । वह उसे सम्हालना मूल नहीं फूलों की तरफ पल्लव के सदृश उसका हाथ ठीक नहीं पक रहा था वह भी उसे न मालूम हो सका भर्षाद इतना वह उसके प्रमा लाप में आसक्त थी कि अपने शरीर को तथा कर्म को भी धुवि उसे न रही ॥ १५ ॥

सलीलभासकलतान्तभूषण समासजन्त्या कुसुमावतसकम् ।

स्तनोपपीड नुनुदे नितम्बिना घनेन कश्चिज्जघनेन कान्तया ॥ १६ ॥

सलीलमिति ॥ भासका लतान्ता पल्लवा भूषण वरय तत् । पल्लवः सह अधित

मित्यर्थः । कुसुमावतसक पुष्पशेपरम् । कान्तवृत्तमिति भावः । सलीलं सविहास समासजन्त्या शिरसि प्रतिदधत्या । 'दशसज्जघां शपि' इति नलोपः । कान्तया कश्चिस्तनूभासुपपीडयेति रतनोपपीडम् । 'सप्तम्यां च— इत्यादिना गनुस्प्रत्ययः । नितम्बिना । प्रशासायामिति । घनेन निधिडेन जघनेन । पश्चाद्विभक्त्यः स्त्रीकटया स्त्रीवे तु जघन पुरः इत्यमरः । नुनुदे नुनु । अंशुकातिरेकादिति भावः । एषा च प्रगल्भैव ॥ १६ ॥

किसी और छुराहना ने प्रियतम के हाथ समर्पित अस्त्र कोमल पत्तों में युक्त पुष्पा-
भरण को शिर पर धारण करती हुई वक्षस्वल की शोभा में न्यूना दैव अपने मनोरम स्थूल
बदनो को दिखाकर प्रियतम को अपनी ओर आकृष्ट कर (खाच) लिया ॥ १६ ॥

अथ शुभमेतद्—

कलत्रभारेण विलोलीनिधिना गलद्दुक्कलस्तनशास्त्रिनोरसा ।
बलिव्यपाचस्फुटरोमराजिना निरायतत्वादुदरेण ताम्यता ॥ १७ ॥
विलम्बमानाकुलकेशपाशाया कयाचिदाविष्कृतबाहुमूलया ।
तरुप्रसूनान्यपद्विश्य सादर मनोधिनाधस्य मन समादद् ॥ १८ ॥

कलत्रेति ॥ विलोलीनिधिना गात्रोश्मनाह्विलिधस्यप्रमथिना कलत्रभारेण शोषि-
भारेण । 'कलत्र शोभिभार्ययो' इत्यमर । तथा गलत्तसमान दुक्कल याम्या ताम्या
स्तनाभ्या शाकत इति तथोक्तेनोरसा तथा बलिव्यपायेन भक्तिनिवृत्त्या स्फुटा रोम-
राजिर्वास्मिन्नेन निरायतत्वाद्भ्रमरारितत्वात्तान्यता तनुभवतोदरेण चोपलङ्घिता ।
स्वभावोक्तिरलङ्कार ॥ १७ ॥

विलम्बमानेति ॥ विलम्बमानो विलसमान आकुलो विवृलितश्च केशपाशो
यस्यास्तवाचिष्कृतत्वादुमूलयादर्शितकक्षप्रदेशया कयाचित्कान्तया तरुप्रसूनान्य-
पद्विश्य । प्रसूनग्रहण व्याजीकृत्येत्यर्थ । 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्य च' इत्यमर । सादर
साभिलाष मनोधिनाधस्य प्रियस्य मन समादद् आचकृपे । कर्मणि क्तिप् । सर्वाङ्गसौ-
ष्ठवदर्शनास्तथो छम्न प्रियमनस्तत्रैति भाव । अत्र प्रियमनोहरणहेतुमि कान्तावि-
शेषणपदार्थे कान्तलिङ्गगुणित्तुमात्र स्वभावोक्त्या सहङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ॥ १८ ॥

अन्य किसी और अमराहना ने, नितम्ब के भार से जितकी गोपी (वक्षप्रथि) डीली
पद गई थी, जिसके स्तन निवृत्त होकर वक्षस्वल की शोभा हुई में लगे हुए थे, और
जिसके कक्ष सदर पर प्रिवली के न रहने से रोमराजि स्पष्ट इष्टिबानुवर्तिनी हो रही
थी, अपने प्रियतम के मन को मूल ग्रहण करने के वशसे आकृष्ट कर लिया उसने, (इन्हीं
बातों से नहीं किन्तु) पीठ पर कटि पर्यन्त लटकते हुए हुँडुराळे केशों से तथा कक्षप्रदेश को
खोल रखने के कारण भी अपने प्रियतम के मन को आकृष्ट कर लिया ॥ १७ ॥ १८ ॥

व्यपोहितु' लोचनतो मुखानिलौरपारयन्त किल पुष्पज रज ।

पयोधरेणोरसि काचिदुन्मना प्रिय अधानोन्नतपीवरस्तनी ॥ १९ ॥

व्यपोहितुमिति ॥ उन्नतौ च पीवरौ च स्तनी यस्या सोन्नतपीवरस्तनी ।

'स्वाङ्गाय—' इत्यादिना षीप् । काचिन्नोषमत् स्वनेत्रापुष्पज रज पराग मुखानिलौ
पूष्कारमास्तैर्व्यपोहितुमपनेतुमपारयन्त किलत्वाच्चुवन्त । किलेत्यलौके । वस्तुतस्त-
दात्पर्यपशौभादपारयन्तमित्यर्थ । प्रियसुन्मुना उत्सुका सत्यत एव पयोधरेणोरसि

जधान । तत्कपटपरिह्वानजम्बादीत्सुनयादिति भाव । हननस्थानत्वात्पुरसीति सप्तमी ।
इय च प्रगल्भैव ॥ १९ ॥

वही एक रूपसराभार्क श्री सागर नदी हो जाना किन्तु वही विरहस्थ श्री दे
दिति, आपन व मा पैसा देया न होगा —

और एक सुरवाला जिसके स्तन उठे हुए और नदी के अपने प्रिय को जो नेत्रों में
पड़े हुए पुष्पवराग को मुद्र के कृष्ण से निरालने में असमर्थता प्रगट करते हुए की भाँति थे
उनके प्राण उत्कण्ठित होकर अपने पयोधर से हृदय टाक कर भारी ॥ १९ ॥

इमान्यमूनीत्यपवर्जिते शनैयथाभिराम कुसुमाप्रपल्लव ।

विहाय नि सारतयेव मूरुहापद वनश्रीवनितासु सन्दधे ॥ २० ॥

इमानीति ॥ यथाभिरामम् । वीप्सायामव्ययीभावः । कुसुमान्यप्रपल्लवानि च
कुसुमाप्रपल्लव तस्मिन् । जातिरप्राग्निनाम् इत्यकवज्ञानात्तुसंकरवम् । इमान्यमूनी
तीत्यम् । निर्देशपूर्वकमित्यथ । इदमदक्षी सनिकृष्टविप्रकृष्टार्थे । शनैरपवर्जितेऽपचिते
सति वनश्रीनिःसारतयेवेति हेतुत्पन्ना । मूरुहास्तस्मिन्विहाय वनितासु पद सन्दधे ।
अत्र वनितागताया पुष्पप्रसाधनसम्भवाया लक्ष्म्या विषयभूताया निगर्णेन विषय्य
वन्निधयो वनितागामत्वोक्त्याऽसम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽभेदे भेदरूपा वातिशयोक्तिरल
ङ्कार । विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबन्ध्यते । यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढो
क्तिर्जीविता ॥ इति लक्षणानुप्रेक्षाङ्गवमस्या ॥ १ ॥

ये (फूल मुझे दो) उन्हे (मुझे दो) इस प्रकार स वन वृक्षों के फूल और पत्ते के
तो- लिये जाने पर उनकी मनोभिरामता नष्ट हो गई फिर वह वनवा तत्परचित होने के
कारण वृक्षों का परि याग कर उन्हीं सुरवालाओं का आश्रय ली (अर्थात् उन फूल पत्तों
को जिनको सुरनारियों ने छोड़ा था उन्हें यथा स्थान अपने वृक्षों पर धारण किया था इससे
व पूरा शोभा सम्पन्न दिखवाई करने लगी ॥ २ ॥

प्रवालमङ्गारुपाणिपल्लव परागपाण्डुकृतपीथरस्तन ।

महीरुह पुष्पसुगाधिरादद् वपुगुणोच्छ्रायमिवाङ्गनाजिन ॥ २१ ॥

प्रवालैति ॥ प्रवालमङ्गेन पल्लववलयधारण पाणिपल्लवो यस्य । सप्रसरजनान्दि
त्यथ । परागेण पुष्परजसा पाण्डुकृती पीथरी स्तनी यस्य सः । पुष्पै सुगांधि- सुर
भिरङ्गनाजिनो महीरुहो वृक्षजाताद्गुणस्य स्वदेहगुणस्योच्छ्रायः पाणिपल्लवारण्यादेर्ध
उत्कृष्टस्तमाददे लक्ष्म्यानिषेत्सुप्रेक्षा । वस्तुतस्तु स्वाभाविक एव प्रवालमङ्गादिभि
रभिव्यज्यत इति भाव । उत्कृष्टः श्राय उच्छ्राय इति घञ्श्लेषेण प्रादिसमास । न तुप
सृष्टाद्गम्यत्यथ । शिणीसुबोऽनुपसर्गे इति प्रतिषेधात् ॥ २१ ॥

सुराङ्गना लोगा का क किशलय नये नये पत्तों के तोड़ने में रग कर मस्य वर्ष हो
गा । । पुष्पा के पराग से उठने स्थूल पयोधर पाण्डुरवण के शिराण पत्ते थे । फूलों

के धारण करने से उनके अङ्ग सुरक्षित हो रहे थे । मालूम पड़ता था कि शरीर के गुणों की उत्कृष्टता वृद्धों से ही उन्हें प्राप्त हुई थी ॥ २१ ॥

पद्मभिः कुलकमाह—

बरोहभिर्वारणहस्तपीवरैश्चिराय खिन्नान्नवपल्लवश्रिय ।

समेऽपि यातु चरणाननीश्वरान्मदादिव प्रस्खलत पदे पदे ॥ २२ ॥

बरोहभिरिति ॥ अनुयातु साजुषु यद्दार्म्यं तत सकाशाद्गुरुणा सेवेन मन्धरमलसं विनिर्यतीना निर्गच्छन्तीना सुराङ्गनामा सवन्निर्वाणहस्तपीवरै करिकरस्थुलै । वराश्च त उरवरचेति तै । चिराय खिन्नान् । किञ्च नवपल्लवाना श्रीरिव श्रीर्येषां तान् । तद्गन्मृदूनिष्यर्थ । अत एव समे समस्यलेऽपि । किं पुनर्विषम इति भाव । यातु गन्तुमचीश्वरानशक्तानत एव मदादिव पदे पदे । वीप्साया द्विर्भाव । प्रस्खलत-शरणान् । मदादिवेत्युपमा ॥ २२ ॥

इन्द्रनील के शरीरों पर वे मार्गों का अनुसरण करती हुई सुराङ्गनाओं के नूतन किस-लव के ममान कोमल चरण, सुघर जंघाओं से जो हाथी के सूँड के सदृश मांसल थे खिन्न होकर वस शिखर के समतल भूमि पर भी चलने में असमर्थ हो गये और पग पग पर इस प्रकार लड़खड़ाते लगे जैसे मदपान करनेसे पैर अपने आप में नर्हा रहत ॥ २२ ॥

विसारिकाञ्छ्वीमणिरश्मिलब्धया मनोहरोच्छ्रायनितम्बशोभया ।

स्थितानि जित्वा नवसैकतद्युतिं श्रमातिरिक्तैर्जघनानि गौरवै ॥ २३ ॥

विसारीति ॥ विसारिभिः काञ्छ्वीमणिरश्मिलब्धया । तज्जनितयेत्यर्थ । मनो-हृत् उच्छ्राय उत्सेधो येषा तेषा नितम्बाना शोभया करणेन नवसैकताना युतिं शोभा जित्वा स्थितानि । तत्पुण्यानीत्यर्थ । अत एवोपमालङ्कार । श्रमेणातिरिक्तैरतिशयि-सैर्गौरवैर्गुणैरुपलक्षितानि । नितरा भारायमाणानीत्यर्थ । जघनानि च । उच्छ्रायो प्यास्वात् ॥ २३ ॥

सुराङ्गना १ के जगम करवनी में लटे हुये रत्नों से निकलनेवाली तथा मनोहर और विशाल निभों की शोभा से गङ्गा के किनारे २ कगारों की जिम पर नवीन बालुकार्थे चमक रही थी, जोग लिया । मार्ग जनिन श्रम से तो वे और पथरा गये थे ॥ २३ ॥

समुच्छ्रसत्पङ्कजकोशकोमलैरुपाहितश्रीयुपनीचि नाभिभिः ।

दधन्ति मध्येषु वलीविभङ्गिषु स्तनातिभारादुदराणि तन्नताम् ॥ २४ ॥

समुच्छ्रसदिति ॥ समुच्छ्रसत्पङ्कजकोशकोमलैर्वल्लकमलमुकुलमुनधैरिस्त्युपमा । नाभिभिः प्रतारिकाश्चै । 'अथ नाभिस्तु जन्वङ्गे यस्य सज्ञा प्रतारिका' इति केशव । पुल्लिङ्गताया तु कविरेव प्रमाणम् । उपनीचि नीचीसमीपे । उपाहितश्रीणि जनि-शोभानि तथा वलीविभङ्गिर्गुर्मिमस्तु मध्येषु जघनस्थलेषु स्तनातिभारात्प्रता दधन्ति विभ्राणानि । 'वा नपुंसकस्य' इति विकल्पाच्छ्रुतुर्भागम । उदराणि च ॥२४॥

उन सुररमणियों के उदर जिसमें ईश्वर विरूपाक्ष कमल-कुण्डल के समान कोमल नाभि ने नीची के समीप (ब्रह्मरथि के पास) सम्पूर्ण शोभा स्थापित कर दिया था पीन पयोधरों के माग से नजता धारण कर लिये थे । उनके उदर के मध्य भाग विशालियों से विशोमित हो रहे थे ॥ २ ॥

समानकान्तीनि तुपारभूपथै सरोरुहैरस्फुटपत्रपङ्क्तिभिः ।

चितानि घर्मांशुकणैः समन्ततो मुखान्यनुत्फुल्लविलोचनानि च ॥२५॥

समाभेति ॥ किंच घर्मांशुकणैः स्वैदोदकविन्दुभिः समन्ततश्चितानि व्याप्तानि । अनुत्फुल्लविलोचनान्पविकसद्दृष्टीप्यस्य पृथु गुणारसूकणैः शीकरपरिवृष्टैः । 'गुणार' हिमशंकरौ इति धारयत । अस्फुटपत्रपङ्क्तिभिरविकचवृत्तावलिभिः । 'व्याकोश-विकचस्फुटा इत्यमरः । सरोरुहैः' समानकान्तीनीत्युपमा । मुखानि च ॥ २५ ॥

(वन विहार के समय) सुराङ्गनाभों के नेत्र और मुख स्वेद-जल-भिन्ड से व्याप्त होकर उन कमलों की काँच की समानता करते थे । जिनकी पण्डिया कलियों में सम्पुटित रत्नों और उनके चारों तरफ नीहार कण विमूषित कर रहे थे ॥ २५ ॥

विनिर्यतीना गुरुखेदमन्थर सुराङ्गनानामनुसानु घत्सन ।

सविस्मय रूपयतो नमश्चरान् विवेश तत्पूरैमिवेक्षणादर ॥ २६ ॥

विनिर्यतीनामि स ॥ सविस्मय रूपयत पूर्वोक्तचरणादीनि घर्णयतो नमश्चरान् नमश्चरान् तत्पूर्वमिदं तदेष प्रथम यथा तथैत्युच्यते । ईक्षणादर आलोकनकौतुकं विवेश । पूर्वार्थं व्याख्यातम् । अत्र कुलके स्वभावोक्तिरुच्यते ॥ २६ ॥

इन्द्रनील पर्वत के शिरों के वनपथ पर विचरण करती हुए सुरलक्ष्माओं के बक जाने से उनकी गति मन्द पटगई थी । श्लोक - ५ तक में अप्सराओं के जिन २ भक्तों का बर्चन किया गया है उसे गंधर्वों ने स्वयं बर्णन किया । उन भक्तों को देख कर वे इनने मुग्ध हो गये जैसे उ होने जमे प्रथम ही बार देखा हो । अतः उन भक्तों को देखने की उत्कट अभिलाषा ने गंधर्वों के रूप अपना अधिकार जमा लिया ॥ २६ ॥

सप्रति सलिलश्रीवाचर्षणमारभते—

अथ स्फुरन्मीनविधूतपङ्कजा विपङ्कतीरस्त्रलितोर्मिसहति ।

पयोऽधगाद्दु फलहसनादिनी समाजुहावेध वधू सुरापगा ॥ २७ ॥

अथेति ॥ अथ पुष्पावचयामन्तरं स्फुरन्मिषलत्रिर्मैर्विधूतपङ्कजेति । सरस्वतुल-वीक्षणोक्तिः । विपङ्कं पङ्कहितम् । विहारयोर्ममिति यावत् । तत्र तीरे स्त्रलिता विचलिता उर्मिसंहतिर्यस्यां सेति हस्तसञ्ज्ञोक्तिः । फलहसनादिनी कादम्बशाब्दवृत्तीति धाम्ब्यापारोक्तिः । अथ पृथु सुरापगा यद्वा वधूरप्सरसं पयोऽधगाद्दुमवगादितुम् ।

गाहेरुदित्वादिद्विकल्प । समालुहावेवाकारवामानेवेत्युद्येच्छा । 'इतिराकारणा-
 क्लानम्' इत्यमर । द्रुयतेर्लिट् 'अभ्यस्तस्य च' इति सप्रसारणम् ॥ २७ ॥

यह तो अप्सराओं का बन निहार था अब जल निहार की बारी आई—

सुरनदी (गङ्गा) में मछलियों को किलक से कमल खिल रहे थे । उनमें कीचड़ नाम
 मत्स्य को भी न था, एक के बाद एक लहरों का दौटा लगा हुआ था, फलहस्त कल कूलन
 कर रहे थे । इन सब बातों से यह मानस पटला धा मानो गङ्गा उन सुरभूटियों को जल में
 स्नान करने के लिये डुला रही थी ॥ २७ ॥

प्रशान्तधर्माभिभव शनैर्विधान् विलासिनीभ्यः परिमृष्टपङ्कज ।

ददौ भुजालम्बमिव्यात्तशीकरस्तरङ्गमालान्तरगोचरोऽनिल ॥ २८ ॥

प्रशान्तेति ॥ प्रशान्तधर्माभिभव प्रशान्तोष्णाबाध । 'वा दान्तशान्तः' इत्या-
 दिना निपातवात्साधु । शनैर्विधान् मन्द बहन् । याते शतृपत्यय । परिमृष्टपङ्कज ।
 पङ्कगन्धीत्यर्थ । व्यात्तशीकर । कुत । तरङ्गमालानामन्तरे गोचर स्थान यस्य सोऽ-
 निलोविलासिनीभ्यो भुजालम्ब वदाविवेत्युद्येच्छा । विशिष्टवायुसपर्कात्तयोच्छ्रुतुरित्यर्थ ॥

(जल विहारार्थ प्रस्थान करते समय) शत्रु देवता ने घूम के उपर में कमी कर दिया,
 मन्दर गति धारण कर लिया, और कमलों का स्पर्श कर गुणधि भी अपने साथ ले लिया ।
 वे नदी के तराई के बीच बीच में डेरा ठाक रखे थे यही कारण था कि वे जलकण भी
 बर्धन करते थे । यही पवन देव का स्वरूप था मानस पट २४ था कि उन सुराङ्गनाओं को तट
 पर उतरने के लिये वे अपने हाथों का अबलम्बन दे रहे थे ॥ २८ ॥

गतै सहावै कलहसविक्रम कलत्रभारै पुलिन नितम्बिभि ।

मुखै सरोजानि च दीर्घलोचनै सुरस्त्रिय साम्यगुणाक्षिरासिरे ॥ २९ ॥

गतैरिति ॥ सुरस्त्रियोऽप्सरस सहावै सखिलासैर्गतैरिति । नपुसके भावे क ।
 कलहसाना विक्रम गतिम् । विलासविधुरमिति शेष । तथा नितम्बिभि प्रसस्तनि-
 तम्बै कलत्रभारै जघनभारै पुलिनम् । नितम्बभारशून्यमित्यर्थ । तथा दीर्घलोचनै-
 मुखै सरोजानि च । आलोचनानीति शेष । साम्यगुणाद् समानगुणात्वाक्षिरासिरे
 निरस्तवत्य । गुणवद्गुणयो कुत साम्यमिति भाव । नस्पते कर्तारि लिट् । 'उप-
 सर्वाद्स्वत्व्यूद्योर्वा' इति विकल्पाद्वात्मनेपदम् ॥ २९ ॥

अमराङ्गनाओं ने अपने सखिलास मन्दर गमनसे राजहस्तों के गति को, नितम्बवाले
 जघनों के भार से (नदी के) सैक प्रदक्ष को, विशाल वननों से युक्त सुप्तों से कमलों को
 उठों की समानता होने के कारण जीत लिया । तत्पर्य्य यह कि कलहस तो केवल मन्द
 गमन के लिये प्रसिद्ध है सुराङ्गनाओं में हाव अधिक था । नदी के पुलिनों को जो उन्होंने
 जीता उसमें भी कारण यह था कि पुलिन तो केवल ऊँचाई के लिये प्रसिद्ध है नितम्ब तो
 उनकी बराबरी करवा था जघन भार विशेष बल जाता था । उनके मुख से कमलों की

समानता भी ठीक ही है परन्तु कमलों को तो भाँस नहीं होगी भाजों के कारण वे उनसे कई गुना बड़ा हुई थी ॥ २९ ॥

त्रिभिन्नपर्यन्तगमीनपङ्क्तय पुरो विगाढा सखिभिर्महत्त्वत ।

कथञ्चिदाप सुरसुन्दरीजनै समीतिभिस्तत्प्रथम प्रपेदिरे ॥ ३० ॥

विभिन्नति ॥ विभिन्ना विष्णुतसखाता पञ्च-तगा प्रान्तगता मीनानां पङ्क्तयो यसां ता । कुत । महत्त्वतः सखिभिर्महत्त्वस्य सखिवैर्गर्घ्वै पुर पूर्वं विगाढा प्रविष्टा । तासां विरवासायर्ष गर्तप्राहादिपरीचार्यं चेति भावः । समीतिभिरप्रविष्टविषयत्वात् समयै । विषादिभि इति पाठेऽप्ययमेवार्थः । सुरसुन्दरी-जनैस्तदेवावगाहन प्रथमं यथा उच्यते एव कथञ्चिन्नयात् कृच्छ्रेण । आप-प्रपेदिरे अग्राहिरे ॥ ३० ॥

(उस सुरसुन्दरी के तट पर पहुँच कर) इन्द्र के मित्र / गन्धर्वों ने सबसे पहले जल में प्रवेश किया जिसे यह पता चल जाय कि कहीं जल के भीतर छिपा भयवा कोई द्विस्तम्भ अस्तु तो नहीं है । फिर डरते डरते भस्मराओं ने भी पानी में किसी तरह डेर रखा । मन्त्रालय का समूह पक्ति बनाकर तैर रहा था । उनका ताता दूट गया और वे जलमय प्राय में चली गए ॥ ३० ॥

विगाढभात्रे रमणीभिरम्मसि प्रयत्नसवाहितपीपरोरुभि ।

विभिद्यमाना विससार सारसानुवस्य वीरेषु तरङ्गसहति ॥ ३१ ॥

विगाढति ॥ प्रयत्नेन सवाहिता संचरिता पीपरा स्फुटा करके याभिस्तामी रमणीभिरम्मसि विगाढभात्रे प्रविष्ट एव सति । सुष्णुपेति समासः । मात्र कारत्वेऽप्युच्यते इत्यमरः । विभिद्यमाना स्वयं विनीयमाना । कमकर्तरं ज्ञानम् । सत्तं सहतिस्तीरेषु सारसान् पश्चिषिषेपान् । सारसो मैथुनी कामी गोनर्दं पुष्कराह्वय इति यावत् । यद्वा - सारसान् हसान् । चक्राह सारसो हस इति शब्दाण्ये । उदस्योत्सार्थं विससार वितस्तार ॥ ३१ ॥

सुरन रिव। ने प्य। ७। वने परिश्रम से अपनी मोठी मोठी बद्धाओं को जल में खड़ा यों ही तरङ्गबालानार्थे मित्र मित्र होकर तट प्रवेष्ट म जाकर वहाँ सारसों (इस चक्रा सारस इ यदि) को दूर हटा कर विस्तृत हो गई ॥ ३१ ॥

शिलाघनैनाकसदामुरस्थलैर्बृहन्निवेशैश्च वधूपयोधरे ।

तटामिनीतेन विभिन्नवीचिना रूपेण भेजे क्लृपत्यमम्भसा ॥ ३२ ॥

विभेति ॥ शिलाबद्धनै कठिनैः । नाकसदां गन्धर्वाणामुरस्थलैर्बृहन्निवेशैर्महा-संस्थानैः । अतिस्थलैरित्यर्थः । वधूपयोधरेण तटममितो नीतेन प्रापतेनात् एव विभिन्नवीचिना अज्ञोमिणाभसा कर्त्ता । एवेति हेतुत्वेण । क्लृपत्यमम्भसा अम-

शोभश्च ध्वन्यते । भेजे । कर्मणि छिद् । यथा कश्चिन्मृदुस्वभाव केनचित्कठिनादिना साहजभङ्ग तावदित्वा निष्कासित क्षुम्पति सद्बुद्धिर्भावात् । 'कलुषत्वम्' इत्यत्र चाध्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसाय । अन्यथा शुद्ध्याप्यस्याविलम्बस्य रोषहेतुकत्वा नुत्येकानुविधानादिति ॥ ३२ ॥

उन क्षणभ्रित्तियों (गन्धर्वों) के पापों की शिला के समान कठोर बद्ध स्थिति तथा रमणियों के धीन पनोचों से लहरें खण्ड खण्ड होकर तट प्रदेश में पहुँच जाती थीं वहाँ मृच्छिन्न के समान से कलुषित होकर जन को भी कलुष कर देती थीं उस समय विदित होता था कि गङ्गा उनके कर्तव्यों से बह हो गई है ॥ ३२ ॥

विधूतकेशा परिलोहितस्रज सुराङ्गनाना प्रविलुप्तचन्दना ।

अतिप्रसङ्गाद्विहितागसो मुहुः प्रकम्पमीयुः समया ह्योर्मय ॥ ३३ ॥

विधूतेति ॥ विधूता विचिता केशा धैर्ये परिलोहिता विलोहिता स्रजो वैस्ते प्रविलुप्तचन्दना प्रसृष्टाङ्गरागा अतिप्रसङ्गाद्विच्छेदात् सुराङ्गनाना विहितागस कृतमण्डलखण्डनरूपापराधा अत एव कर्मवस्तरङ्ग समया इव स्त्रीभ्यो भीता इव मुहुः प्रकम्पमीयुः । एवमाविकल्प कल्पस्य भवहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते—यद्वा,—सुराङ्गनाना विधूतकेशा हृष्टादियोजना । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समास । सौप्तप्रहणसाहसमपराध । भय तु राजादिभ्य इति ॥ ३३ ॥

सुरनिगमा (भागोऽर्थे) को लहरों ने अमररमणियों के केशनों इतर उतर विच्छिन्न कर डाला, उनको पुष्पमालाओं को चञ्चल कर दिया, और उनके अङ्गराग तथा चन्दनों को गिरा डाला । इस प्रकार उनकी मण्डलसमग्री को नष्ट बट करके वे लहरें अपराधिनी बन गईं इसी से वे डर कर काँपती हुईं सी मालूम पड़ने लगीं ॥ ३३ ॥

विपक्षचित्तोन्मथना नखत्रणास्तिरोहिता विभ्रममण्डनेन ये ।

हृतस्य शेषानिव कुङ्कुमस्य तान् विकल्पनीयान्दधुरन्यथा स्त्रिय ॥ ३४ ॥

विपक्षेति ॥ विपक्षस्य सपत्नीजनस्य चित्तानामुन्मथना । व्यधका इत्यर्थः । बहुलप्रहणात्कर्तारि स्तुद् । ये नखत्रणा नखस्तानि । 'अणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । विभ्रमस्य सौन्दर्यस्य मण्डनम् । तावर्थेऽप्यश्वघासादिवत् पक्षीसमासः । न तु चतुर्थसमासो श्रृपदावाऽप्यव प्रकृतिविकाराभाषादिति । तेन कुङ्कुमलेपादिना तिरोहितारवृक्षा इतस्य शालितस्य कुङ्कुमस्य व्यञ्जकत्वेन शेषानिवावशिष्टलेशानिव स्थितानिस्तुत्येव । विकल्पनीयान् भर्तृत्वाद्भ्रमस्य व्यञ्जकत्वेन श्लाघनीयान् । तान् नखत्रणान् । स्त्रियोऽन्यथा वृधुः । प्रकाश दधुरित्यर्थः ॥ ३४ ॥

समन करते समय सुरचन्द्ररिवों के शरार के नरखड, जो सपत्नियों को कूटि के लड़खल करने वाले थे कुङ्कुम केशादि शोभानामयियों से तिरोहित कर दिये गये थे । वे जल से धूल कर चक्क हो रद थे तथापि श्लाघित कुङ्कुम रत्न के नृक्ष थे । अतः उन्होंने उन्हें

प्रकाशित हो रक्खा । वे (नट व्रथ) उनके प्राणाधार पतियों के द्वारा किये गये थे तब
भिये वे उनके आ रक्षीय थे ॥ ३४ ॥

अथ युग्मेनाह—सरोजैत्यादिना—

सरोजपत्रे नु विलीनपद्पदे विम्लोददृष्टे खिवमू विलोचने ।

शिरोरुहा खिन्नतपदमसततेर्द्विरेफ्युन्द नु निरा दनिअलम् ॥ ३५ ॥

अगुहहासरमुददन्तकेसर मुख खिदेतद्विकसन्नु पङ्कजम् ।

इति प्रलीना नलिनीपने सखी विदाबभूदु सुचिरेण योषित ॥ ३६ ॥

सरोजैति ॥ अम् पुरोवर्तिनी विलीनपद्पदे ससप्तसञ्ज्ञे । सकनीनिकत्वम
अणोरथसिद्धमित्युपमान विशिष्यते । सरोजपत्रे नु । यद्वा—विलोक्येच्छेच्छलापया
विलोचने शिवा । नु शिवा' कन्दौ वितर्के । किञ्च नरपद्मसततेष्वञ्जलापया
शिरोरुहा' शिवाशब्द नीरथ च तच्चिअल च तद्विरेफ्युन्द नु ॥ ३५ ॥

आहूतेति ॥ किञ्च अगुहहासो व्यक्तस्मित सेन स्फुटा इन्ता' केसरा ह्य दन्त
केसरा यस्य त'मुख शिवा । यद्वा विकसत्पङ्कज नु । इतिशयम् । लहायेनेति शेष ।
नलिनीवने प्रलीना' निगूडा' सखी' योषित सुचिरेणातिविलम्ब्य । विकरुपादमप्रत्यय' ।
अत्र युग्मे निश्चयान्तसदहालङ्कार' ॥ ३६ ॥

एक सखी कमलिनियो मैं जिपी हुई थी और शय सखिया उस बेलती से नकर थी परन्तु
उनकी निम्न्य नहीं हो पात था.—

सुराजनाय (अपनी सखी की आँखों को देखकर ठहरे करती थीं कि) ये चञ्चलपात्री,
मेरी सखी के नेत्र ही हैं ! अथवा कमल के पत्र पर बैठे हुए तो अमर ! वे उसके चिह्न
पाशों काने वालों को देखकर कहती थीं—ये उस विलोचनेत्रा के केशपाश हैं ? अथवा
अमरों के वृन्द हैं जो स्थिर होकर मौन धारण किये हुये हैं ? फिर उसी मन्दहास को
देख वे सब सखियाँ अम में पड जाती थीं और कहती थीं कि—यह मुख है जिसमें दशनों की
ज्योति निकल रही है ? अथवा विकसित कमल है जिससे किञ्चल उड रहे हैं ? इस प्रकार
से सरोजिना वन के बीच शिहरती हुई सखी के शङ्कासमाधान करती हुई सखियों को कुछ
देर के बाद निश्चय हो पाया कि वह उनकी सखी ही है कमल नहीं ॥ ३५-३६ ॥

प्रियेण समग्र्य विपक्षसंनिधावुपाहिता यद्वास पीवरस्तने ।

स्र्ण न काचिद्विजहौ जलाविला वसन्ति हि प्रेमिणि गुणा न वस्तुनि ॥

प्रियेणोत् ॥ काचित् प्रियेण समग्र्य स्वयमथ रचयित्वा विपक्षस नथौ सपक्षाजन्त-
समञ्च पीवरस्तने यद्यस्तुपाहिता' स्रज माला' ललाविलाम् । स्वादतामपीत्यर्थ । तां न
विजहौ न सत्याज । न च निर्गुणार्था' तत्र का प्रीतिरिति वाच्यमित्यर्थान्तरन्यासेनाह
गुणा' प्रमिणि वसन्ति वस्तुनि न वसन्ति हि । वत् प्रेमास्पद तदेव गुणवत् । अन्यत्
गुणवदपि निर्गुणमेव । प्रम तु न वस्तुपरीक्षामपेक्षत इति भाव ॥ ३७ ॥

कितो सखी के उरस्थल पर, जो उन्नत हृदयों से मनोरम था, प्रिय ने स्वयं मास्यशुभ्रिक्त करके लसकी सौत के सामने ही पतनाया था। यद्यपि वह (मास्य, जल्के कारण मसल गया था, तथापि उस सखी ने उसका परिव्वाग नहीं किया क्योंकि गुण तो प्रेम में निवास करते हैं किन्हीं वस्तु में नहीं (किसी कवि का कथन है,—प्रेम सधित मरियो मखे जो दिष देस युळाव,) ॥ ३७ ॥

असशय न्यस्तमुपान्तरकृता यदेव रोदूधु रमणीभिरञ्जनम् ।

हृतेऽपि तस्मिन्सलिलेन शुक्लता निरास रागो नयनेषु न श्रियम् ॥३८॥

असशयमिर्त ॥ श्लोका नेत्रशोभार्थमञ्जनवारणमम्बुविहारोपगमाद्भ्रुकवर्णस्व चाचणा तत शुक्लत्वविरोधाव ष निमित्तमित्युत्प्रेष्यते—रमणीभिरञ्जन न्यस्तम् । तदिति शेष । यत्तद्वैर्नित्यसवन्धात् । तदञ्जनमुपान्तयो रकृता रोदूधु प्रतिबद्धुमेव न्यस्तम् । ननु शोभार्थमित्यर्थ । अन्यथा रागाभिव्याप्त्या शुक्लत्वविरोधाव स्यादित्यर्थ । असशयमित्युत्प्रेष्याव्यञ्जकम् । सशयस्याप्यभाव । नात्र सशयोऽस्तीत्यर्थ । अर्थाभावेऽप्ययीभाव । कुत एतदिति चैतत्तस्मिन्सञ्जने सलिलेन हृते च्छाकिते सत्यपि राग पूर्वोक्त पदोपान्तरकृतता किंतु प्रतिबन्धाभावादभितो व्याप्त्येस्वाशय । नयनेषु शुक्लता निरास निरस्तत्वात् । अस्त्यतेर्छिद् । श्रिय शोभा तु न निरास । अत शुक्लत्वविरोधिरागनिरोधार्थमेवेदमञ्जन स्यात् न तु शोभार्थम् । तस्यास्तद्भावेऽपि सद्भावादित्यर्थ । अञ्जनापनमेऽपि तज्जयाना राग प्वालङ्कारोऽभूदिति भाव । अत्राञ्जन्यासमनूय तस्य शोभार्थत्वमिषेधेन रागरोधार्थ-स्योत्प्रेषणमुदितम् । उत्तरार्धे तस्यैव समर्थत्वात् । एवमुपान्तरकृतता रोदू यदञ्जनं न्यस्तमित्येकान्वये विष्यनुवादविरोध स्यात् ॥ ३८ ॥

जब विहार के पहि न सखियों ने अपने अपने नेत्रों में जो कल्लल लगा रखा था वह नेत्र प्रान्त के समीप का अर्धनिमा की गति को रोकने के लिये ही था इसमें सन्देह का नाम नहीं क्योंकि जल से उस कल्लल के धो जाने पर उपान्त प्रान्त की अर्धनिमा की गति ने नेत्रों का शुक्ला पर पानी के दिया, किन्तु उनकी रमणीयता को अद्भुत रखा इससे बक बात तन्व पूर्ण है ॥ ३८ ॥

शुतिं वहन्तो वनितावतसका हृता प्रलोभादिव वेगिभिर्जलैः ।

उपप्लुतास्तत्सापशोचनीयता च्युताधिकारा सचिवा इवाययु ॥ ३९ ॥

शुतिमिति ॥ शुतिं शोभा तेजश्च वहन्तो वेगिभिर्जलैर्जलैश्चैव । जलधोरनेवात् । 'जल गोकनले नीरे हीरेरे च जलेऽन्ययत्' इति विश्व । प्रलोभाग्नेहात् । हृता पृथिता-उपप्लुता मृदिता । यद्वा,—कर्तारि वत । पुष्यमाना इत्यर्थ । अन्यत्र,—धनप्र-हणसन्धनादिना पीडिता वनितावतसकारच्युताधिकारा भ्रष्टाधिकारा साचिवा इव तत्क्षण शोचनीयतामाययु प्रापु ॥ ३९ ॥

सुराजनाथे जिन गम्बों को अपने २ शिरों पर लगा रखते भी । वे गम्बों परम सुन्दर दिखलाई पन्ते थे । बैंगवान जल से दूर फेंक लिये जाने पर वे उस क्षण उसी खवनीया शक्त को पहुँच गये जिस दशा को एक रागमत्री मोह के कारण जनों के द्वारा स्थान अट गिने जाने पर प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

विपत्रलेखा निरलक्षकधरा निरखुनाक्षीरपि विभ्रती म्रियम् ।

निरीक्ष्य रामा बुबुधे नभश्चरैरलक्ष्य तद्वपुषैव मण्डनम् ॥ ४० ॥

विपत्रेति ॥ विगता पत्रलेखास्तिलकविशेषा यासां ता विपत्रलेखा । निरलक्षका चालितरागा अधरा यासां ता । निरखुनाम्बुजाणि यासां ता निरखुनाक्षीरपि । बुबुधीही सन्ध्यक्षो स्वाङ्गात्पृष् । चिद्गौरादिभ्यश्च इति ङीप् । तथापि द्विब विभ्रती शोभाकारणाभावेऽपि शोभमाना इति विभावना लङ्कार । रामा निरीक्ष्य नभश्चरैर्घर्वेस्तासां वपुषैव मण्डनमलक्ष्यम् । न तु मण्डनेन तद्वपुस्त्वियधराय । इति बुबुधे ज्ञातम् । कर्मणि छिड् । स्वभावसमणीयानां छिडलङ्कारैरिति भावः ॥ ४० ॥

गम्बों ने देखा—सुवतियों का तिरुङ्ग कुछ गवा है । उनके ऊपर पर से महावर छूट गई है । उनके आँकों में कम्बल भी नहीं रह गया है तथापि उनकी शोभा उनमें वर्तमान है । इससे गम्बों को मालूम हो गया कि भूषण सुवतियों को नहीं विभूषित करते मन्त्रुण ने ही भूषणों को भूषित करती है ॥ ४ ॥

तथा न पूष कृतभूषणाद् न म्रियानुरागेण विलासिनीजन ।

यथा जलाद्रो नलमण्डनम्रिया द्वाह दृष्टीश्च विपक्षयोपिताम् ॥ ४१ ॥

तथेति ॥ विलासिनीजनं पूर्वं जलविद्वारात्पाक् म्रियानुरागेण कृतो भूषणेष्वाद् न आसन्नितर्वेन स । अनुरक्तप्रियत्वात्सम्यक्प्रसाधितं सन्नपीत्यथ । प्रियत्वानुरागेण च विपक्षयोपितां सपत्नीनां दृष्टीश्चैपि तथा न द्वाह न दुःखीचकार । यथा जलाद्द्रो सन् । 'सन्न'शब्देन सन्नचतानि लक्ष्यन्ते । साम्येव मण्डन तस्य म्रिया । सकृत्सोमयेत्यर्थः । विपक्षयोपितां सपत्नीनां दृष्टीश्चैपि यथा द्वाह तापयामास । मण्डनान्तरादपि नलमण्डनानुरागादपि तदनुभाव एव सपत्नीनां दुःखहेतुरिति भावः । जलाद्रो द्वाहादेति विरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः । विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्ब्रान्णव्यस्य वा भवेत् । विरुद्धमटना वा स्याद्विषमालङ्कारविधिषा ॥ इति लक्षणात् ॥ ४१ ॥

प्रियानुराग के कारण रमणी वर्ग के विभूषणों को जनके प्रिय सद्वर्तों ने जो सुधार दिवा था वह पहल (सुधारते समय) सपत्नियों की आँकों में बतना न पका जितना कि वह रमणीयता का जलक्षतरूप विभूषण वे विभूषित हो जल से भीग जाना खण ॥ ४१ ॥

शुभानना साम्बुरुदेषु भीरयो विलोलहाराञ्जलफेनपङ्क्तिषु ।

नितान्तगौर्यो हृत्कुङ्कुमेव्वल न लेभिरे ता परभागमूर्तिषु ॥ ४२ ॥

शुभेति ॥ शुभानना विलोलहारा नितान्तगौर्योऽङ्गाद्वय । 'गौर्योऽङ्गे सिते पीते' इति वैलघन्ती । भीरयस्ता स्त्रिय साम्बुरुदेषु चला फेनपङ्क्तयो येषु तेषु हृतानि कुसुमानि वैस्तेषु । कुङ्कुमसक्रमाङ्गेष्वित्यर्थ । कुर्मिदु लघ्वेषु । अलमत्यर्थ परभाग गुणोऽर्च्यं न लेभिरे । 'परभागो गुणोऽर्च्यः' इति यादव । तासामूर्त्तौणा चारुणत्वाविगुणसाम्भान्न कश्चिद्विशेषो लक्ष्यत इत्यर्थ । अत एव सामान्यालङ्कार, - 'सामान्य गुणसाम्येन यत्र नस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । शुभाननत्वसाम्बुरुदेषु हृत्वाङ्गुमयविशेषणाना क्रमेणोभयस्मिन् समन्वयाद्यथासत्त्वालङ्कारश्च । 'यथासत्त्व क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयात्' इति काव्यप्रकाशे लक्षणात् । अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सकर ॥ ४२ ॥

ये सुरसुर, रिवा, जिवन्ते सुर कमल के लक्ष रम्य थे, जिन्होंने मुक्ताओं का तरल धार धारण किया था, और जो अत्यन्त गौरवर्णा था, उन सहर्षों में जिनमें कमल छिद्र रहे थे, जिस पर चञ्चल फेनों की रेखा पड़ी हुई थी, और जो अराजकताओं के कुङ्कुमलेप को प्रसूचित कर स्वयं अरुण हो रहीं थीं, अपने दर्शनें उनमें कुछ भी गुणोत्पन्न न पाई ॥ ४२ ॥

हृदाम्भसि व्यस्तवधूकराहृते रव मृदङ्गध्वनिधीरमुच्छ्रति ।

मुहु स्तनैस्तालसम समाददे मनोरम नृत्यमिव प्रवेपितम् ॥ ४३ ॥

हृदेति ॥ व्यस्ताभ्या विषर्षासिताभ्या वधूकराभ्यामाहृते । एकेन करेणोत्सार्थान्येन ताडित इत्यर्थ । हृदाम्भसि मृदङ्गध्वनिवद्भीर गम्भीर रवमुच्छ्रति सति । तथा ध्वनति सतीत्यर्थ । मुहु स्तनैस्तालो गीतवाद्यमुत्पन्ना कालपरिच्छेद । 'ताल कालनियामाद्यम्' इत्यमर । तस्य सममनुरूप मनोरम नृत्यमिव प्रवेपित प्रकम्प । भावे क्त । समाददे स्वीकृतम् । उपमालङ्कार ॥ ४३ ॥

जलविहा करती हुई सुरवनितायें गङ्गा क सह-जल में अपने व्यस्त कर्तों से (अर्थात् इषेली नीच की तरफ करके) अभिवादन करती थीं । उस रूप मृदङ्ग के सङ्घ गम्भीर शीघ्र निकल रहा था । उनके कुच ताल कमानुसङ्घ श्रव्यधारी नृत्य के समान बार बार प्रकम्पित हो रहे थे ॥ ४३ ॥

श्रिया हसद्भिः कमलानि सस्मितैरलङ्कृतान्यु प्रतिभागतैर्मुखैः ।

कृतानुकूल्या सुरराजयोपिता प्रसादसाफल्यमवाप जाह्नवी ॥ ४४ ॥

श्रियेति ॥ श्रिया क्षोभ्या कमलानि हसद्भिः । कमलसदृशैरित्यर्थ । 'हसती-र्ष्यत्यस्यति' इति दण्डिना सदृशपर्यायपरा उक्ता । सस्मिते प्रतिभागतैः । प्रतिभिव्यगतैरित्यर्थ । 'प्रतिमान प्रतिविम्ब प्रतिमा' इत्यमर । मुखैरलङ्कृतान्यमूनि यस्या सा । किंच, सुरराजयोपिता कृतमानुकूल्य विहारार्थुपकारी यथा सर । इत्थ

घोषिन्निरूपकृता स्वयं च सासामुपधिकीयुर्भाङ्गवी गङ्गा प्रसादस्य स्वच्छत्वस्य साफल्यम् । अर्थगौरववचष्टीसमासनिर्वाहः । अवापः । अग्रसन्नाम्भसि विहारविश्वः अष्टणयोरसंभवादित्यम् । स्वच्छा एव परैरुपक्रियन्ते स्वयं चोपकुर्वते तेषामिति भावः । कृताजुकारा इति पाठेऽजुकारोऽजुकूलकरणमुपकार इत्येव व्यञ्जयेत्यम् । सप्र जाङ्गवीविशेषणपदामस्य साफल्यं प्रति हेतुत्वात्काम्यच्छिन्नमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

जो सुरवालाओं के मुल अपनी दानि से कमल को भी हसते थे वो मन् २ मुखुरा रहे थे और जिनका प्रतिबिम्ब जल में पक रहा था वनते गङ्गा का जल विशोभित हो रहा था । देवनारियो के विशापदुकूल ही गङ्गा बनी हुई थीं । इससे उनका (गङ्गा) स्वच्छकरा मफल हो गया ॥ ४४ ॥

परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरव सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः ।

उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवा सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥ ४५ ॥

परीति ॥ परितः स्फुरन्निर्विषतमानैर्मातैर्विघटिता ऊरवो चासां ता जत एव त्रासविलोलदृष्टयो भयविकल-नेत्राः कम्पितपाणिपल्लवाश्च सुराङ्गना सखीजनस्यापि विलोकनीयतामुपाययुः । किमुत प्रियजनस्येति भावः । स्वभावोकिरलङ्कारः ॥ ४५ ॥

जल निहार करती हुई सुराङ्गनाओं के जास जल के मोतर तैरती हुई मङ्गलियों से जब डेस रग जाता था तब वे ललनाय टर कर और चकपका कर देखने लगती थीं और अपने कर विसलयों को भन्मोरने रग जाती थीं । यह दृश्य उनकी सखियों के लिये भी मनोरम हो जाता था । उनका प्रमियों के विषय में तो कहना ही क्या ॥ ४५ ॥

मयादिधारिलष्य मयाहतेऽम्भसि प्रिय मुदान दयति स्म मानिनी ।

अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामा कृतकैरपीहितैः ॥ ४६ ॥

अयादिति ॥ मानिनी । दुर्लभस्वयंप्रहणेति भावः । अम्भसि जले इषेण मस्येनाहते सति । 'पृथुरोमा इषो मस्य' इत्यमरः । मयादिधः । वस्तुतस्तु न तथेति भावः । किन्तु मुदोस्तुष्येनैवारिलष्य प्रियमानन्दयति स्म । तथा हि—रामा' किचोऽकृत्रिमोऽणारोपितो च प्रमरसस्तेनाहितैर्जनितैः कृतकैः कृत्रिमैरपीत्यर्थः । इहितैः अहितैर्मनो हरन्ति । आरोपितमपि अथ प्रेममूलत्वान्मनोहरं बभूवेत्यर्थः । अत्रादवानुभावेन मयन सहजरागनिगूहनाम्भीलनालङ्कारः मीलन वस्तुना अत्र वस्त्वन्तरनिगूहवम् इति लक्षणान्तरसंभवाद्वर्णान्तरम्यासेन ससृज्यते ॥ ४६ ॥

एक मानिनी एक मस्य के द्वारा जल के जाहत होने पर त्रास का अभिनय करती हुई अपने प्रिय का आच्छिन्न थी । अतः उमक प्रिय को आनन्द की सीमा न रही । रामणिवी अपने कृत्रिम चैष्टाओं से मन मोह लेता है परन्तु जब उसमें नैर्गमिक प्रेम की मात्रा विद्यमान हो ॥ ४६ ॥

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपा विगाहादलकै प्रसारिभि ।

ययुर्बधूना वदनानि तुल्यता द्विरेफवृन्दान्तरितै सरोरुहै ॥ ४७ ॥

तिरोहितेति ॥ अपा विगाहाद्विगतान्तमाकुलैर्विकीर्णै प्रसारिभिरायतै । अलकैः
केसै । तिरोहितान्तानि छत्रप्रान्तानि बधूना वदनानि द्विरेफवृन्दैरन्तरितानि छत्रानि
सरोरुहाणि तै सरोरुहैस्तुल्यता ययुरित्युपमालङ्कार ॥ ४७ ॥

नल विहार करते समय युवतियों के केशजाल, जो श्वर ऊपर छिटक कर चारों तरफ
फैले हुये थे, मुख कमलों को ढक दिया, उस समय उन युवतियों के मुख कमलों से व्याप्त
कमलों की समानता करने लगे ॥ ४७ ॥

करौ ध्रुताना नवपल्लवाकृती पयस्वगाधे किल जातसभ्रमा ।

सखीषु निर्वाच्यमधाष्टर्धूपित प्रिथाङ्गसरलोपमवाप मानिनी ॥ ४८ ॥

कराविति ॥ मानिनी पयस्वगाधे सति । किलेत्यलीके । मञ्जनभयादिवेत्यर्थ ।
जातसभ्रमा उत्पन्नभया । अत एव नवपल्लवाकृती करौ ध्रुताना कम्पयन्ती ।
ध्रुते कथाविकास्कर्तारि लट धानच् । सखीषु विषये निर्वाच्यमवाच्यम् ।
अनिन्द्यमित्यर्थ । धाष्टर्धूपितश्च न भवतीति अधाष्टर्धूपितस्तम् । वस्तुतो
रागमूलमपि भयमूलत्वारोपादिति भाव । प्रिथाङ्गसरलोपमवाप । अत्रापि
तुल्याङ्गेन भयेनागन्तुकेन सहजानुरागनिगूहान्मीलनालङ्कार । तदुक्तं काव्यप्रकाशे-
'समाबलक्ष्य वस्तु वस्तुना यन्निगूहते । निजेनागन्तुना चापि तन्मीलनमुदा-
हृतम् ॥' इति ॥ ४८ ॥

एक दूसरा मानवदो ने अगाध जल में जाकर डूब जाने के भय से नूतन किसलय-
नुभारी हाथों को भटकती पक्की अपने प्रिय भाँ आलिंगन किया । सखियों ने उत्पन्न
पृथ्वा का दोषरोप नहीं किया ॥ ४८ ॥

प्रियै सलील करवारिवारित प्रवृद्धनि श्वासदिकम्पितस्तन ।

सविभ्रमाधूतकरामपल्लवो यथार्थतामाप विलासिनीजन ॥ ४९ ॥

प्रियैरिति ॥ प्रियै कामिभि सलील करवारिभिरलज्जलैर्वारितोऽवसृष्ट । सिक
इत्यर्थ । प्रवृद्धै सततैर्निश्वासैर्विकम्पितौ स्तनौ यस्य स । सविभ्रम सविलासमा
भूतानि करामपल्लवानि पाणिपल्लवानि येन स । विलासवस्रीका विलासिनी । 'यौ
कपलक्षकत्यग्रम्भ' इति चिनुषप्रत्यय । सैव जन । जातायेकवचनम् । यथार्थता-
माप । उक्तीत्यानेकविलासवस्तया यथार्थनामकत्वमवापेत्यर्थ । 'कश्चिद्भवमानाय
स्याप्रयोग' इति नाम्नो न प्रयोग । यथा भाषे—'विराम यागार्थ्यमल म्भ दिग्गजै'
इति । कश्चिज्युज्यते च, यथा रघुवशे—'परतपो नाम यथार्थनाम' इति ।

नैपथेऽपि— स ज्वत्परिसार्थसायकीकृतनामा किल भीममूपति इति । स्वमा
शोक्तिरकङ्कार ॥ ४९ ॥

ह विलासिनीग अपने प्रियों के द्वारा श्रीवापूवक भञ्जलि के झींटी से रोक लिया
गया था (अर्थात् उनके मुख पर उनके प्रती झींटी उझाल रहे थे) जिससे उनके श्वास का
वेग बंद जाने के कारण उन सुरवालाओं के स्तन प्रकम्पित हो रहे थे । और वे हाव भाव
प्रदर्शन पूवक उन्हें मना करने के लिये हाथ हिलाने लगी उस समय विलासिनी शब्द
अथ समभा गया (नहीं वो यही कहा जाता था कि कियो को विलासिनी
शब्द सहा है) ॥ ४९ ॥

उदस्य धैर्यं दयितेन सादर प्रसादिताया करधारिधारितम् ।

मुख निमीलन्नयन नतभ्रुव श्रिय सपत्नीवदनादिवाद्द ॥ ५० ॥

उदस्पति ॥ दयितेन धैर्यं काठिभ्यम् । उदस्वापनीय । अनुभीवेत्यर्थः । सादरं
यथा तथा प्रसादिताया सौमनस्वं गमिताया नतभ्रुव श्रिय सर्वाधिकारधारिभि-
धारितमवस्त्वमत पूव निमीलती मयने यस्य तन्मुख सपत्नीवदनादिव श्रियमाद्दे
अप्राह । तदानीं तद्वदनस्य निःश्रीकल्पात्तदीयर्त्रीप्रदणमुषोक्ष्यते ॥ ५ ॥

एक प्रती गन्धर्व न जो औरों को झींटी मारते देख रहे न गया अपनी प्रियता के मान
शांति बड़ी कठिनार्थ से किया था तथापि धैर्य्य होठ कर उसके ऊपर जलके झींटी उझालने
लगा उस वामनवना ने अपने नेत्र निमीलन कर लिया उस समय उसका मुख
ऐसी शोभा को धारण किया जैसे उसने अपनी साँत के मुख को उबार लिया हो
(अर्थात् साँत के समान ही मुद्र बनाने लगी) ॥ ५ ॥

विहस्य पाणौ विधृते घृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनाद्दचेतस ।

सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोक्षयवधमंशुकम् ॥ ५१ ॥

विहस्यति ॥ घृताम्भसि प्रियसेवनाथं गृहीतजले पाणौ । अजलावित्पय ।
प्रियेण विहस्य विधृतेऽवलम्बिते सति । अत एव मदनाद्दचेतसो मदनपरवश्याया
वध्वा संबन्धि वीनोक्षयवधं मुक्तनीविमन्धि । संसमानमित्थर्थः । अष्टकं पयसा
घनीकृता काञ्ची सखी बभार जप्राह । इणिणो किल स्त्रीव्येवावत्त उज्ज्वारवण
मिति भावः ॥ ५१ ॥

एक जम्परा ने अपने प्रिय पर झींटी उझालना चाहा और ज्यों ही उसने अर्जुन से
जल उठाया त्योंही—

उसके प्रिय गन्धर्व ने ईंस कर जम्परा हाथ पकड़ लिया अत एव वामनासक्त विष्णु
होने के कारण उस नाविका की परिधान वसनमन्दि (नीवी) डीपी पड़ गईं उसे उसनी
करवना ने जो जल से छिन्न गईं थी व्यों को त्वां रस दिया (अर्थात् वसन मन्दि के

ढीली पहने से वह विवश नहीं होने पाई) । उस कल्पनी ने उस समय वही वस्त्र किया जो एक सखी अपना सखी की लाज रखने के लिये करती है ॥ ५१ ॥

निरञ्जने साचिविलोकित दृशावयावक वेपथुरोष्ठपल्लवम् ।

नतभ्रुवो मण्डयति स्म विप्रहे वलिक्रिया चातिलक तदास्पदम् ॥५२॥

निरञ्जन इति ॥ नतभ्रुवोऽङ्गनाथा विप्रहे वपुषि निरञ्जने निर्घोतकञ्जले दृशौ विलोचने कर्म साचिविलोकित तिर्यगीक्षण कर्तुं मण्डयति स्म । 'तिर्यगर्थे साचि तिर' इत्यमर । अयावक चालितलाभारागमोष्ठपल्लव वेपथु कम्पो मण्डयति स्म । 'द्वितोऽधुबू' इत्यधुबुत्वय । अतिलक तिलकरहित तदास्पद तिलकस्थान ललाटम् । 'आस्पद प्रतिष्ठायाम्' इति निपात । वलिक्रिया रेखाबन्धश्च मण्डयति स्म । तदा निरलङ्कारस्थाङ्गनाशरीरस्य तण्डुरीरविकारैरेवालङ्कार समजनोत्थर्य ॥५२॥

सुर बहूदियों ने अपने २ अंग विशेषों की शोभा के लिये कहीं अञ्जन, कहीं महावर, और कहीं तिलक लगा रक्ता था जल विहार करने से ये सब धुल कर साफ हो गये ---

सुराङ्गना के शरीर में अञ्जन विहीन आदों को उसकी ठेठी चित्रवन ने सुशोभित कर दिया मोष्ठपल्लव के महावर धुलकर साफ हो गये थे तो भी कम्पने उसे सुशोभित किया । उसके ललाट का चन्दन प्रकाशित हो गया था, तो भी ललाट की रेखा ने ललाट की शोभा को यथावत् बनाये रखा ॥ ५२ ॥

निमीलदाकेकरलोलचक्षुषा प्रियोपकण्ठ कृतगात्रवेपथु ।

निमज्जतीना श्वसितोद्धतस्तन श्रमो नु तासा मदनो नु पप्रथे ॥५३॥

निमीलदिति ॥ प्रियोपकण्ठ प्रियसमीपे । अत्यन्तसयोगे द्वितीया । निमज्जतीना विगाहमानानामत एव निमीलन्ति निमित्तव्याकेकराणि आकेकरवन्ति लोलानि चक्षुषि यासा तासाम् । आकेकरलक्षणं तु नृत्यविलासे—'दृष्टिराकेकरा किञ्चित्कुटापाङ्गे प्रसारिता । मीलिताधंपुटा लोके ताराभ्यावर्तनोत्तरा ॥' इति । तासा स्त्रीणाम् । कृतो गात्राणां वेपथु कम्पो येन स । श्वसितैर्नि श्वासैरुद्धताद्युत्पतितौ स्तनौ येन स । श्रम खेदो नु मदनो नु पप्रथे प्रादुर्बभूव । निमज्जनप्रियसनिधानरूपोभयकारण-सभवात्नेत्रमीलनगात्रकम्पनि श्वासधारणाच्च सदेह । स एवालङ्कार ॥ ५३ ॥

अवने २ प्रिय के समीप जल विहार वरती हुई सुराङ्गनाओं के, जिनकी अर्द्धनिमीलित और आकेकर (१) हुए लोक आते थीं, शरीर में कम्प हो रहा था । तथा श्वास प्रथास से उनका हृदय धटक रहा था । उस समय यह नहीं निश्चय किया जा सकता था कि इन सब बातों का कारण क्या है ? धम अथवा कामदेव ॥ ५३ ॥

(१) आकेकर नृत्य के समय क्षेत्र के कटास पात का दृक् विशेष है 'नृत्यविलास' में रसका वर्णन है ।

नवम सर्ग ।

वीक्ष्य रन्तुमनसं सुरनारीराक्षचित्रपरिधानविभूषा ।

तत्प्रियाथमिव चातुमथास्त भानुमानुपपयोधि ललम्बे ॥ १ ॥

वीक्ष्येति ॥ अथ ब्रह्मकीडानन्तर भानुमानुपपयोधि ललम्बे ॥ १ ॥
स्वीकृतविधिघवस्त्राभरणा । सुरतसनाहवतीरित्यर्थः । अत एव रन्तुमनसः । 'समा
नकर्तृकेषु तुमुन् । सुप्तेदवश्यम् कृत्ये तु काममनसोरपि' इति मकारलोपः ।
सुरमती वीक्ष्य तासां प्रियार्थं तत्प्रियार्थमिव । अवसरदानरूपं प्रियं कर्तुमशेषेत्पथः ।
फलोन्मेषेयम् । अस्तमदशनम् । मकारात्तमभ्ययमेत्त्वं । चातु प्राप्नुम् । उपपयोधि
पयोधिसमीपे ललम्बे सस्र से । अस्मिन्सर्गे स्वागतावृत्तम्—'स्वागतेति रनभाद्गुरुमु
ग्मम् इति लक्षणात् ॥ १ ॥

मयशान् मशुमाळी सूर्य) ने देखा—जल कीवा क के सुरनारिकों अनेक तरह के
चित्र विचित्र वस्त्राभूषणों को धारण कर रमणामिलाषिणी ह अत मानो उनके अभिलषित
मनोरथ सिद्धि में अवसर प्रदानार्थं अस्त होने के लिये पश्चिम समुद्र की ओर खिपकने लगे ॥

मध्यमोपलनिभे लसदशवेकतरच्युतिमुपैयुधि भानौ ।

शौरुवाद् परिवृत्तिविलोला हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम् । २ ॥

मध्यमेति ॥ मध्यमोपलनिभे नायकमणिसदृशे । निभसकाशानीकाशप्रतीकाशोप
मादयः इत्यमरः । शक्रार्थां स्त्रियां प्रोक्तः पुंस्यरमभ्युपल्लवे मणौ इति वैजयन्ती ।
लसदशी प्रसरद्भ्रमौ भानौ । एकत एकस्मिन्भागे च्युतिं लसततामुपैयुधि प्राप्त सति
शौ परिवृत्त्या मध्याह्नातिममेण विलोला गत्वरीम् । अन्यत्र मात्रस्य तिर्यगावृत्त्या
मुद्गुल्लक्ष्मीम् । वासरलक्ष्मीं हारयष्टिं मुक्तावलीमिबोवाह वदति स्म ॥ २ ॥

हारारली के मध्यमणि सदृश दिग्ग शोभो भगवाद् मास्कर के एक विद्या के परिव्याण
कर देने पर शौरुपी बाण ने (आकाश) मध्याह्न कालातिरुमण करने से गननशीला
दिनत्री को हारावली की तरह धारण किया ॥ २ ॥

अंगुपाणिभिरतीव पिपासु पद्मज मधु शृशं रसयित्वा ।

क्षीबतामिन गत चित्तिभेष्यल्लोहित वपुरुवाह पतङ्ग ॥ ३ ॥

अंगुपाणिभिरिति ॥ पतङ्ग सूर्य । पतङ्ग पक्षिसूर्ययोः इत्यमरः । अतीव
विभरम् । अत्यतीव च निर्भरे इत्यमरः । पातुमिच्छुः पिपासुस्तृपित सन् । पिबते
सन्नन्ताहुप्रत्ययः । अंशव एव पाणयस्ते पद्मजु आत पद्मजं मधु मध्वेव । मध्विति
सिद्ध रूपकम् । मकरन्दमधमित्यर्थः । 'मधु मधे पुष्परसे' इत्यमरः । शृशंमत्स्यन्तं
रसयित्वात्वाद्य क्षीबतां मत्तव गत इवेत्युत्प्रेषा । 'मधे क्षीणोत्कटक्षीबा इत्यमरः ।
चित्तिभेष्यन् यमिष्यन् । छोडितं रक्तं वपुरुवाह । यथा मत्तं क्षीबतया चित्ती सुठति

रञ्जते च तद्दृष्टिं भाव । सूर्यस्य चित्तिविलयनमस्तामय इत्यागम । अत्र रूपको-
प्लेक्षयो सापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन सकर ॥ ३ ॥

मरीचिमाही (धूर्य) ने अत्यन्त तृषार्ण होकर अपने किरणरूप अशक्तियों से कमलों
के मकरन्द रूप मणको खूब झक कर मत्त रूप की भाँति पृथ्वी पर टूटते हुये (अस्त होते
हुये) अरुण वर्ण का शरीर धारण किया ॥ ३

गम्यतामुपगते नयनाना लोहितायति सहस्रमरीचौ ।

आससाद् विरहस्य धरित्री चक्रवाकहृदयान्यभिताप ॥ ४ ॥

गम्यतामिति ॥ सहस्रमरीचौ सूर्ये । लोहितो भवतीति लोहितायति । 'लोहिता-
दिबाल्य क्यप्' इति क्यप् । 'वा क्यप्' इति परस्मैपदे शतृप्रत्यय । अत एव नय-
नाना गम्यतामुपगते दर्शनीयता प्राप्ते सति । अभितापो धरित्रीं विरहस्य विहाय ।
'स्पयि लघुपूर्वाद्' इत्यवादेश । चक्रवाकहृदयान्याससाद् प्राप । अत्र धरिण्या
यादृशस्तीमार्ककरकृतसतापस्तादृक्चक्रवाकहृदयेषु विरहसताप सजात इति परमार्थ ।
परतु तदुपकामान्तरमेतस्याविर्भावात् न एवात्र सक्रान्त इत्यभेदाध्यवसायेनोप-
देश । अत एव भेदेऽभेदरूपातिशयोक्तिरलङ्कार ॥ ४ ॥

अर सदृशाशु (धूर्य) लोहित वण (रक्त) होकर बेनी के छिमे अवलोकनीय ही
गया, तब सन्ताप ने पृथ्वी को छोड़ कर चक्रवाक पक्षियों के हृदय में सम्पवेश किया ।
तात्पर्य यह कि दिन भर तो धूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी को तपता रहा, अर चक्रवाकों
के हृदय को विदग्ध करेगा, पर्योकि हुना जाता है कि चक्रवाक पक्षिया रात्रि के समय अपने
अग्नि से अलग हो जाते हैं ॥ ४ ॥

मुक्तमूललघुहृन्मिक्तपूर्वं पश्चिमे नभसि सभृतसान्द्र ।

सामिमज्जति रवौ न विरेजे खिन्नजिह्व इव रश्मिसमूह ॥ ५ ॥

मुचेति ॥ रवौ सामिमज्जति अर्धास्तमिते सति । 'सामि त्वर्धे ङुगुप्सायाम्'
इत्यमर । मुक्त त्यक्तप्राय मूलमाश्रयभूतो रवि । अन्यत्र,—स्वामी, वेन सोऽत एव
लघुरवपक्ष्म मुक्तमूललघुहृन्मिक्तपूर्वस्त्वक्तपूर्वादिङ् । अन्यत्र,—त्यक्तपूर्वजन । पश्चिमे
नभसि नभोभागश्च । अन्यत्र,—आधिष्ठीयस्थले । सभृत सहत सन् । अत एव
सान्द्रश्च रश्मिसमूह । साभ्रितजनश्च भ्रान्त्यते । खिन्नध्यासौ जिह्वश्च, खिन्नेन दु खेन
जिह्वो वा, दीन इव न विरेजे । अत्र मुक्तमूलत्वादिप्रस्तुतविशेषणसाभ्याद्वप्रस्तुताभि-
तजनप्रतीते समासोक्तिः । तत्र वाच्यस्य रश्मिसमूहस्याचेतनस्यापि प्रतीयमानेन
चेतनेनाभेदाभिधानाहु क्लित्वाद्युपप्लेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सकर ॥ ५ ॥

जिस तरह आश्रित व्यक्ति अपने आश्रय का परित्याग कर देता है, उसका गौरव म्यून
हो जाता है, और वह खिन्न होकर किसी नीच स्थान में पहुँच कर मलिन और बदस्त
रहता है वही तरह सूर्य विन्धके अर्द्धभाग के अस्त हो जाने पर, धूर्य का किरणपुञ्ज, जो

सूर्य का आश्रय परिव्याग करने के कारण रुद्ध हो जात है तथा पूर्वदिशा का परिव्याग कर चुका है पश्चिम दिशा में सञ्चल होकर निष्प्रभ हो रहा है ॥ ५ ॥

कान्तदूत्य इव कुङ्कुमताम्रा सायमण्डलमभित्वरयन्त्य ॥

सादर दृष्टशिर धनिताभि सौधनालपतिता रविभास ॥ ६ ॥

कान्तेति ॥ कुङ्कुमवत् कुङ्कुमेन वा ताम्रा । सायस्य सायकालस्य । सायं साये प्रगे प्रात इत्यमर । धन्मण्डलं तत् अभि सद्गुहिरय स्वरयन्त्यस्वरां कारयन्त्य सौधानां आलैर्गंधाद्यैः पतिता प्रविष्टा । 'जालं गवाक्ष आभावे' इति वैजयन्ती । रविभास सूर्यरमब' कान्तानां प्रेयसां दूत्य इव धनिताभि सादर यथा तथा दृढशिर दृष्टा । सायतनार्कभासां प्रियसमागमसूचकत्वादेव तासु स्त्रीणामादरोऽभवदित्यर्थ ॥ ६ ॥

इस वधुदिवों ने कुङ्कुम के सङ्घट्ट भरण रूप की किरणों को जो सूर्य मण्डल की तरफ निर्देश करके उन्हें शीघ्रता करने के लिये भरित कर रही थी और जो छिद्रकी के राह से भीतर प्रवेश कर रही थी अपने प्रेमी के द्वारा प्रथित सपनों की तरह आरंभ पूर्वक देखा ॥

अप्रसानुपु नितान्तपिशङ्गैर्भूकृहान्मृदुकरैरवलाम्ब्य ।

अस्तशैलगहनं नु विषस्त्रानाभिवेश जलधिं नु महीं नु ॥ ७ ॥

अप्रेति ॥ पिबस्वान् सूर्योऽप्रेस्तशैलशिकरे ये सानवस्तेषु ये मूरहास्ताश्चितान्त पिशङ्गैरप्यन्तादगैर्मृदुभिः करैरिव करैरदृष्टैरिति स्थिररूपकम् । 'बलिहस्तांशव' करा इत्यमर । यद्वा - करैर्भूषु क्लमबलम्ब्य । अस्त इति शैलोऽस्तशैल । अस्तस्तु, धरमकमाभृत्' इत्यमर । तस्य गहनं काननं नु जलधिं नु महीं न्वाभिवेश । तपनस्य पतनसंदेह पूर्व दृष्ट । पतनं नु छ चास्य तत्र ज्ञायते । शीघ्रभावाविति भाव । अत्र तपने पतनस्यारोप्यमाणस्य गहनाद्यनेकविषयत्वेन संदेहात्संदेहालम्बार ॥ ७ ॥

सूर्य भगवान् अपने प्रत्यन्त विह्वल करने से अस्ताचल के शिखरों के शृङ्खों का सहारा लेकर उस पहाड़ के वन अङ्गल में प्रविष्ट हो गया अथवा पृथ्वी में डुस गया अथवा समुद्र में डूब गया क्या ? (पना नहां उहा (दूथ्य) 'या इभा नहा चला गया ?) ॥

आकुञ्जश्चलपतत्रिकुलानामारभैरनुदितौपसराग ।

आययाथहरिदश्वधिपायङ्गुस्तुत्यथा दिनमुखेन दिनान्त ॥ ८ ॥

आकुञ्ज इति ॥ चलानां कुलायम्य कुलान्प्रति चलतां पतत्रिकुलानां पत्तिसमूहा नामारभै शब्देराकुञ्जी न्यास । अनुदित शब्देनाभावमाद्यम् 'उप शब्देन संध्या' मात्र च विवक्ष्यते । उपसि भव औपस । संधिवेला इत्यादिना योगविभागादप्यत्यय । अन्यथा कालादुन्स्यात् । तथा च अनुदितौपसरागोऽविद्यमानसंध्याराग इत्यर्थः । एकत्रानुदयात् अन्यत्रास्तमयावति भाव । अहारदरकोऽविद्यमानसूर्यः । एकत्रानुदयात् अन्यत्रास्तमयावति भाव । अत एव विपाण्डु । तिमिरानुदयादिति

शेष । दिनान्त सायकालो दिनमुखेन प्रातः कालेन तुल्यतामाययौ । तद्बद्धमूलेत्यर्थः ।
अत एवोपमालङ्कारः ॥ ८ ॥

वस अब क्या था भटपट नायकालने अपना प्रभुत्व बनाया उसकी बराबर शून्य तो देखिये -
दिवसावसान प्रभात की समानता करता हुआ उपस्थित हो गया, दोनों समय एक
काल में भाहारार्थ और दूसरेकाल (सायकाल) में नींद निवातार्थ प्रस्थित विद्वान्
समूहों से व्याप्त रहते हैं । दोनों समयों में किसी भी राग का पता नहीं रहता वही दया
सर्व भगवान् की रहती है (उनका भी पता नहीं रहता) अन्वकार भी दोनों कालों में नहीं
रहता । (दोनों कालों के लक्षण एक से दिखलाई पड़ते हैं) ॥ ८ ॥

आस्थित स्थगितवारिदपक्त्वा सध्यथा गगनपश्चिमभाग ।

सोमिविद्रुमवितानविभासा रञ्जितस्य जलधे श्रियमूहे ॥ ९ ॥

आस्थित इति । स्थगितवारिदपक्त्वा पिहितमेघवृन्दया सध्यथास्थित आक्रान्तो
व्याप्तो रागपश्चिमभाग । सोमि । अर्मिसक्रान्त इत्यर्थः । तथा चिद्रुमवितानविभासा
प्रवालप्रकरकान्तया रञ्जितस्य स्वसाधर्ष्यमावादितस्य जलधे श्रियमूहे । सध्याया
रक्षत्र्यत्वादिति भावः । चहते कर्तरि क्तिच् । तत्तदर्थां श्रियमुवाहेत्यर्थः । अत एव
निवर्तनालङ्कारः ॥ ९ ॥

आकाश का पश्चिमीय भाग जो मेघमालाओं से आच्छादित था, सन्ध्याकाल से
आक्रान्त हो कर लहरों से मक्का त प्रवालपुञ्ज की किरणों से रञ्जित जलनिधि (समुद्र)
की तरह शोभित हुआ ॥ ९ ॥

प्राञ्जलावपि जने नतमूर्ध्नि प्रेम तत्प्रवणचेतसि हित्वा ।

सध्ययानुविद्धे विरमन्त्या चापलेन सुजनेतरमैत्री ॥ १० ॥

प्राञ्जलाविति ॥ प्रचदोऽञ्जलेयै न तस्मिन् प्राञ्जलौ यद्वाञ्जलौ । 'तौ युतावञ्जलि
पुमान्' इत्यमरः । प्रादिभ्यो घाङ्गस्य बहुव्रीहिर्वाच्यो घोत्तरपदलोपश्च । नतमूर्ध्नि
नमस्कुवाणे तत्प्रवण तत्र सध्यायामेवाहित चेतो यस्य तस्मिन्नेवविधेऽपि जने विषये
प्रेम हित्वा चिदाव विरमन्त्या निवर्तमानया । 'व्याङ्परिभ्यो रम्' इति परस्मैपदम् ।
सध्याया चापलेनास्थैर्वेण । युवादिस्वाद्यन्प्रत्ययः । सुजनादितरो दुर्जनस्तस्य मैत्री
सध्यायानुविद्धेऽनुचक्रे । कर्मणि क्तिच् । यथा दुर्जनेमैत्री स्निह्यन्तमपि जहाति तद्वत्
सध्यापि सेवमान जनमहासीदित्यर्थः । मित्रस्य कर्म मैत्री । अणान्ताण्डीप् । अत्र
सध्यादुर्जनमैत्र्योश्चापल समानधर्मोऽनुविधानम् । अत एवार्थरूपेणोपसुपमा ॥ १० ॥

जिस व्यक्ति ने हाथ जोड़ कर प्रणाम करने के लिये फिर झुका लिया है तथा उनमें
अपनी आस्था भी रहता है ऐसे व्यक्ति विषयक प्रेम का परित्याग कर, उससे अपना
पिण्ड छुटानी हुए सन्ध्या अपनी मैत्री अधिक काल तक एक साथ में स्थिर न रख कर
दुर्जन के साथ मैत्री की ॥ अर्थात् सन्ध्या के लिये लोग प्रेम करते रहते हैं तथापि वह स्वयं

तदस्य होरर दुर्गन्तो के साथ अपनी नयी मित्रता जोड़ लेतो है पुराने मित्रों का कुछ भी स्थान नहीं करती । तात्पर्य यह कि सन्ध्या बहुत शीघ्र हो जाती गई ॥ १ ॥

औपसातपभयावपलीन धासरच्छविरामपटीय ।

सनिपत्य शनकैरथ निम्नाद् घकारमुदवाप समानि ॥ ११ ॥

औपसेति ॥ औपसात् प्रामाणिकादात्तपात्रय तस्मादिवेद्युत्पत्त्या । अपलीर्ष कश्चिद्गूढ धासरच्छवेहातपस्य विरामाद्देशो पटीय प्रभविष्णुतरम् । अन्ध करोतील-
न्धकार ध्वान्तम् । अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम् इत्यमरः । अथ सन्ध्यापगमनानन्तर शनकैर्मन्दमन्व निष्ठाद् सनिपत्यागत्य समानि समस्थलानि । उदवाप ध्वान्तो । अथ प्रस्तुता घकारविशेषणसाम्बन्धमस्तुतार्थप्रतीति समालोकितलङ्कारः । उध्मेचा स्वङ्गुत् स्यात् ॥ ११ ॥

सन्ध्या के हटते ही अंधकार आँक झूक करने लगा । अन्धकार मिलते ही सामने उपस्थित हुआ—

उस (अंधकार) ने प्रमात ज्वाल के आतप के मय से लुकते छिपते धीरे से नीचे की ओर से आकर सबस्थलों पर अधिकार जमा लिया । और इ दिनत्री के अस्तान होने से क्रमशः प्रबल होता गया ॥ ११ ॥

एकतामिव गतस्य विवक्तं कस्यचिन्न महतोऽप्युपलेभे ।

भास्वता निदधिरे भुवनानामात्मनीष पतितेन विरोपा ॥ १२ ॥

एकतामिति ॥ एकतामभेदं गतस्येव । तमोव्याप्त्या तथा प्रतीतेरियमुत्पत्त्या । महत शौकादेरपि कस्यचिद् कस्यापि पदार्थस्य विवेको भेदो नोपलेभे न गृहीतः । अत एवोद्येचते—पतितेनास्तमितेन भास्वता सूर्येण । 'भास्वद्विषत्ससप्तमव इत्यमरः । भुवनानाम् । भुवनस्थपदार्थानामित्यथ । विरोपा मूषराहिभेदा आत्मनि स्वस्मिन्नेव निदधिरे इव मिहिता इव । अथमन्यथा नोपलभ्येरस्त्रित्यर्थः । अत्रोद्येचनो-
ल्लगातीत्ययो सापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन सकरः ॥ १२ ॥

किती छोटे बड़े का विचार न रहा अन्धकार के राज्य में दोरे विरोधता चली रही । विदित होता है कि सूर्य भगवान् विवेक को अपने साथ लेकर बने गये । निम्नके आतप समार के सम्पूष वस्तुओं में भेद नहीं मालूम पड़ता ॥ १२ ॥

इच्छता सह वधुभिरभेद् यामिनीविरहिणा विहगानाम् ।

आपुरेय मिथुनानि वियोग लङ्घयते न शल्लु कालनियोग ॥ १३ ॥

इच्छतामिति ॥ वधुभिः स्वकामिनीभिः सह । अभेदमवियोगमिच्छताम् । तथा संकल्पवत्तामपीत्यर्थः । यामिनीषु विरहिणाम् । निवृत्तवियोगावामित्यर्थः । कृतेराव द्यकेऽर्थे निनिः । यद्वा—निन्दायामितिः । तेषां विहगानां चक्रवाकानां मिथुनानि

वियोगमापुरेव । न तु नापुरित्ययोगव्यवच्छेद । तथा हि — कालनियोगो दैवाज्ञा न
 चक्षते खलु । दुर्वार इत्यर्थ ॥ १३ ॥

रात्रिकाल में जिन पक्षियों के दम्पति स्वभावतः पृथक् हो जाते हैं, वे चाहते भी रहते
 हैं कि हम लोग विद्युक्त न हों तथापि वे विद्युक्त हो ही जाते हैं । दैव की आशा कौन भङ्ग
 कर सकता है ॥ १३ ॥

यच्छ्रुति प्रतिमुख दयितायै वाचमन्तिकगतेऽपि शकुन्तौ ।

नीयते स्म नतिमुल्बितहर्षं पङ्कज मुखमिवान्वुरुहिया ॥ १४ ॥

यच्छ्रुतीति ॥ शकुन्तौ चक्रवाकपक्षिणी । सामान्यस्य प्राकरणिकविशेषपदवसा
 नात् । 'शकुन्तिपक्षिपाकुनिपाकुन्तशकुनद्विजा' इत्यमर । अन्तिकगते समीपस्थेऽपि
 दयितायै चक्रवाक्यै प्रतिमुखमभिमुख यथा तथा वाच यच्छ्रुति वाचमेव ददाने ।
 न तु समाच्छ्रुमाने सतीत्यर्थ । 'प्राज्ञाप्मा-' इत्यादिना दाणे यच्छ्रुतादेश । अम्बुरुहिन्या
 च्छिन्या । उल्बितहर्षं चक्रवाकदुर्दशादर्शनादिव त्यक्तविकास पङ्कज मुखमिव नति
 नद्यत्व नीयते स्म नीतम् । 'प्रधानकर्मण्यथाशये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति नयतेर्द्वि-
 कर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि क्तिट् । प्रायेण तु सदर्शनात्स्त्रिय स्त्रियन्ते । विशेषेण निरहद-
 र्शनादिति भाव । अत्र पङ्कजावपतेश्चक्रवाकचिकोशानन्तर्यात्तत्रेणुक्त्वमुपप्रेषयते । तच्च
 मुखोपमेयमम्बुरुहिन्या कामिनीसाम्य गमयन्त्या निरुद्धत इत्युपमोत्प्रेषयोरङ्गद्विभावेन
 प्रकर । व्यञ्जकाप्रयोगालम्बनीयमानोत्प्रेषा ॥ १४ ॥

उस काल चक्रवाकपक्षी अपनी बहूमा के समीप ही था और सामने से उससे देवक
 वातालाप कर सकता था (न कि उसका स्पर्श कर सकता था), उसकी रस दयनीय दशा
 को देख सरोरुहिया का दुष्प, जो मुख के सदृश होता है, अपनी पखवियों को सञ्चित कर
 मनोवेदना प्रगट करने लगा ॥ १४ ॥

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामित नु गगन स्थगित नु ।

पूरिता नु विषमेषु धरित्री सहता नु ककुभस्तिमिरेण ॥ १५ ॥

रञ्जिता इति ॥ तिमिरेणान्धकारेण विविधास्तरव शैलाश्च रञ्जिता स्वसावर्ण्य-
 मापादिता नु । अन्यथा कथमेवा नीलाद्यत्वमिति भाव । गगन नामित नु । आभू-
 तलादिति शेष । 'मिता इस्व' इत्यत्र वाशब्दानुबुत्त्या व्यवस्थितविभाषाश्रयणात्
 इत्स्व । यद्वा, -गगन स्थगितमाच्छादित नु । उभयत्रापि तमसावृतत्वात् इत्यत इति
 भाव । तथा धरित्री विषमेषु निम्नोच्चतेषु पूरिता समीकृता नु । अन्यथा तद्विवेक
 कथं न स्यादिति भाव । ककुभो दिग्धश्च सहता नु लुप्ता किम् । 'दिग्धस्तु ककुभ
 काष्ठा आशाश्च हरितश्च ता' इत्यमर । कथमन्यथा न इत्यन्त इति भाव । अत्र
 तिमिरे तरुशैलाधनेकविषपरञ्जकत्वादिक्मारोप्य सदिग्ध इति सदैहालङ्कार । अनेन
 'नु' शब्दस्य सभावनापोतकत्वमत्रोत्प्रेषाप्रकारमित्यलङ्कारसर्वस्वकार ॥ १५ ॥

अन्वहार एक बिलक्षण जादूगर भी मालूम होगा है, उसका जादू तो देखा जाय। वह कामरु दैत्य से सीख कर अभी खींचा है—

अनेक प्रकार के वृक्ष और पर्वतों को अपने सरीखे वाले रत्न में रंग बनाया क्या? आनाश को भोने की तरफ झुका ले नहीं दिया? (वह जो) आकाश पर काल परवा तो नहीं बाल दिया? सब निशाओं को चुग कर अपने भोने में तो नहीं टांक लिया? (देखिये इसकी तलाशा किया जाय) पृथ्वी के ऊंचे भीषे स्थानों को समतल बना दिया क्या? ॥ १५ ॥

रात्रिरागमलिनानि विकास पङ्कजानि रहयन्ति विहाय ।

स्पष्टतारकमियाय नभ श्रीर्वस्तुमिच्छति निरापदि सव ॥ १६ ॥

रात्रीति ॥ श्री-शोभा कर्त्री रात्रे सन्याया रागेण स्वध्यायोपरत्ननेन मलिनानि, अत एव विकास रहयन्ति त्यजन्ति । रहतेस्यागार्थाङ्कसुप्रशयः । पङ्कजानि विहाय स्ववत्वा स्पष्टतारकं नभ स्मत् । इयाय प्राप । तथा हि—सर्वो जनो निरापदि निर्वा-धस्थले वस्तु स्यादुम् । एकाच उपदेशोऽनुदात्तात् इतीदृशतियेष । वसिष्ठ साम्येषु वसिष्ठं प्रसारिणि इति वचनात् । इच्छति ॥ १६ ॥

जब तक कमलों का अङ्ग समय का तब तक शोभा उनके साथ रहो जब वह भी मारे कर के दूसरी जगह चली गई। यान दीजिये देखिये कहा जाती है।—

पङ्कजानी रात्रि के राग से बर्णास होकर प्रफुल्लता का का त्याग करते हुए कमलों की झोडकर आकाश मण्डल में चले गईं जहाँ पर तारे चमकना रहे थे। सब लोग सुरक्षित स्थान में निवास करने के आगोषण करते हैं (सुखीयत में कौन किसकी मदत करता है?) ॥

अस्ताद्विसंध्यास्तं वर्णापत्वा चन्द्रोदयवर्णममारभते—

व्यानशे राशधरेण विमुक्त केतकीकुसुमकेसरपाण्डु ।

चूर्णमुष्टिरिव लम्बितकान्तिर्यासस्य दिशमशुसमूह ॥ १७ ॥

व्यानश इति ॥ राशधरेण चन्द्रेण विमुक्त केतकीकुसुमकेसर इव पाण्डुरं म्बिता प्रापिता कान्तिर्यस्य सौशुसमूहो रश्मिसमूहः । चूर्णस्य सर्पूरसोदस्य मुष्टि-रिव । मुष्टि शब्दस्य त्रिक्लिप्तश्लेष्यत्र पुष्टिर्ज्ञैव धाद्याः । उपमेयानुसारात् । वासक-स्येवस्य दिश प्रार्थी व्यानसो व्याप । अनेन दिशानशाकरयोर्माथिकानायकौयम् गम्यते ॥ १७ ॥

अ-१ । र ने ५ । उपद्रव मन्वाका । अपने शामन के समय में जो म में आया वर बाला । समकाल में कि मेरा थोड़ा कुछ नष्ट कर सकता । किन्तु सब दिन एक समान ही जाता जो बहुत उपना है परमेस्वर उसका नाश करके जोड़ता है। यह खर जोश नो लिये हुए चन्द्रदेव ने अन्वहार की होनी जगदी। अब वे हाव ने अतीरतुका लेकर होली खेलने की तयारी करने लगे—

चन्द्रमा ने केनकी पुष्प के पराग के सङ्घश पाण्डुर वर्ण की किरणों को हाथ में लेकर रूपुर के चूर्ण (पाण्डुर) की तरह उटा दिया । वसते प्रकाश आगया । जब किरणों का समूह (ङट) इन्द्र की दिशा (पूर्व) को व्याप्त कर लिया ॥ १७ ॥

उज्जती शुचमिवाशु तमिस्रामन्तिक ब्रजति तारकराजे ।

दिक्प्रसाद्गुणमण्डनमूहे रश्मिहासविशद मुखमैन्द्री ॥ १८ ॥

उज्जतीति ॥ इन्द्रस्त्रेयमैन्द्री दिक् प्राची तारकराजे नक्षत्रमाथे । 'कवीनिकाया नक्षत्रे तारक तारकापि च इति विश्व । अन्तिक समीप ब्रजति सति । आशु तमिस्रामन्धतमसम् । 'तमिस्रा स्त्री ध्वान्तमिश्रि निश्चयन्धतमसे न ना' इति वैजयन्ती । शुचमिव । विरहदुःखमिवेत्यर्थ । उज्जती विजहती । प्रसादो नैर्मल्यमेव गुण स एव मण्डन यस्य तत् । रश्मयो हास इव तेन विशद मुखमिव मुखमप्रभागम् । श्लिष्टोपमेयम् । ऊहे वहति स्म । अत्र दिक्चन्द्रयोर्नायिकानायकौपम्य गम्यते ॥ १८ ॥

प्राची दिशाये चन्द्रमा की समीप जात हुए देख अन्धकार को दूर भगा कर निर्मलता रूप गुण से युक्त तथा हास के समान किरणों से विशद मुख धारण किया अर्थात् जिसपरह किसी प्रोषितपतिको रमणी का मुख मण्डल उसके पति देव के समीप जाने पर किरणोत्पन्न शोक आ परित्याग करके हास युक्त होकर प्रसन्न हो जाता है उसी तरह प्राची दिशा का मुख अर्थात् अग्रभाग चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार को दूर भगा कर प्रकाशित हो ॥ १८ ॥

नीलनीरजनिभे हिमगौर शैलरुद्धवपुष सितरश्मे ।

खे रराज निपतत्करजाल वारिधेः पयसि गाङ्गमिवान्भ ॥ १९ ॥

नीलेति ॥ शैलरुद्धवपुष उदयगिरिरोहितमण्डलस्य सितरश्मेरिन्दो स्वन्धि नीलनीरजनिभे श्यामकमलमुक्ते ख आकाशे निपतत् प्रसरत् । हिमवद्गौर शुभ्र करजालमद्युसमूहो वारिधे पयसि निपतद्गाङ्गसम्भ इव रराज । उपमानेऽपि विशेषणानि योज्यानि ॥ १९ ॥

हिमाशु (चन्द्र) की, जिसका मण्डल उदयाचल के भीत में था, तुयार के सङ्घश शुभ्र किरणों का पुञ्ज नील कमल सङ्घश नील तम में प्रसरण करता हुआ उस प्रकार शीतल दूध जिस प्रकार (नीच) समुद्र में गिरता हुआ जाडनी का (शुभ्र) जल विशोभित होता है ॥ १९ ॥

या निरुन्धदतिनीलघनाम ध्वान्तमुद्यतकरेण पुरस्तात् ।

क्षिप्रमागमसितेतरभासा शमुनेव करिचर्म चकासे ॥ २० ॥

धामिति ॥ या निरुन्धत् आकाशमावृण्वत् । अतिनीलघनाम मेघकम् । उद्यन्त करा भक्षन्ते इत्याश्रयस्य तेन । अमितान्य इतरा शुभ्रा भासो यस्य तेन चन्द्रेण

पुरस्तात् प्राच्यामम च दिप्यमाणं नुद्यमानं भवान्तं शंभुना त्रिप्यमाणं करिष्ये
एकस्यै । उपमानेऽपि विशेषणानि योज्यानि ॥ २ ॥

गुप्त कान्तिधारी चन्द्रदेव के द्वारा भिन्नकी किरणें उनीयमान थीं कान्ति के लिये
और अन्तरिक्ष आनी अन्धकार दूर भगा लिया गया । उस समय का वह दृश्य ऐशानुशावना
मालूम पड़ना था मानो शङ्कर भगवान् का गन्धर्व ताण्डव नृत्य के पश्चात् वर
(अलग) फेंक लिया गया हो और हुन्दर मालूम पड़ रहा हो ॥ २ ॥

अन्तिकान्तिकगतैन्दुविसृष्टे जिह्वता जहति दीधितिजाले ।

निःसृतस्तिमिरमारनिरोधादुच्छ्वसन्निव रराज दिगन्त ॥ २१ ॥

अन्तिकेति ॥ अन्तिकान्तिकेऽतिसमीपे । प्रकारे गुणवचनत्वात् इति द्विर्भाव ।
कर्मधारयपद्मात्सुपो लुक् । अन्तिकान्तिकगतैन्दुना विसृष्टे मुके दीधितिजाले
किरणसमूहे जिह्वतां सकोचं जहति त्यजति सति तिमिरमारैस्तमःस्तोत्रैर्निरोधादुप
शेषात् । निःसृतो निर्गतो दिगन्त उच्छ्वसन् प्राणन् इव रराजेत्युत्प्रेषाच्छब्दः ॥ २१ ॥

जिस समय अगुगाल चन्द्रमा से लुत्कारा पाकर फैला हुआ "यो यो छित्तव के
संघिकट पहुँच रहा था उस समय निरि" अन्धकार के अन्तरीय से लुत्कारा पाकर विलिन
जहानित हो उठा ॥ २१ ॥

लेखया विमलविद्गुमभासा संततं तिमिरभिन्दुकरासे ।

दृष्ट्या कनकटकुपिराङ्गथा मण्डलं मुच इवाविवराह ॥ २२ ॥

लेखयेति ॥ इन्दुनिर्मलविद्गुमभासा स्वच्छप्रवालसवर्णया लेखया कलया संततं
साद् तिमिरसाविवराह कनकरय टङ्कं शिलाभेदकं सखम् । टङ्कं पापागदरण
इत्यमर । सद्दत् पिशङ्कया लोहितवर्णया । पिसङ्गादुपसव्याचम् इति शेषः । दृष्ट्या
सुबो मण्डलमिष । उद्गास उच्चिषिषे । अस्वते क्वरि क्ति । सोपसर्गादस्वतेरात्मनेपद
विकल्पत् ॥ २२ ॥

चन्द्रदेव ने अपनी स्वच्छ प्रवाल सहस्र कन्या से निर्विघ्न अन्धकार को इन तरह दूर
फक लिया जिस तरह शङ्करावतार विष्णु भगवान् ने अपने हृत्पर्य कोदण्डी के सहस्र अस्त्र
के दल से पृथ्वी मण्डल को उठाकर फक लिया था ॥ २२ ॥

दीपयन्त्रय नभ किरणार्थैः कुहुमारागपयोधरगौरः ।

हेमकुम्भ इव पवपयोधेरुन्ममज्जं शनकैस्तुहिनाशु ॥ २३ ॥

दीपयन्त्रिति ॥ अथ उदयावन्तर । किरणार्थैर्नभो दीपयन् प्रकाशयन् कुहुमेदारुको
य पयोधर कुचस्तद्वत् गौरोऽञ्ज । उदरागादिति भावः । तुहिनाशुर्निन्दु शनर
पूर्वपयोधे पूर्वसागरात् । इन्द्र कुम्भ इव । उन्ममज्ज उज्जगामेत्युत्प्रेषा ॥ २३ ॥
, इन्द्र के समान अरण पयोधर ने हुन्व अरुण हृषाराशु (चन्द्र) अपने किरण प्रकी

से गगन मण्डल को उन्नामित करते हुए घेरे घेरे पृथिवी समुद्र से सुवर्ण कलश के समान ऊपर उठ जावे ॥ २३ ॥

उद्गततेन्दुमविभिन्नतमिस्रा पश्यति स्म रजनीमवितृप्त ।

व्यशुकस्फुटमुखीमतिजिह्वा व्रीडया नववधूमिव लोक ॥ २४ ॥

उद्गततेन्दुमिति ॥ लोको जन । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमर । उद्गततेन्दुमुदित-
चन्द्राम् । अविभिन्नतमिस्रामनि शेषितध्वान्ता रजनीं व्यशुकमपनीतावगुण्ठनमत
एव स्फुट दृश्यमान मुख यस्या सा ता तथापि व्रीडयातिजिह्वा वक्रा नववधू
भवोदाम् । 'वधूर्नवोदयोपाया क्षुधाभार्याङ्गनासु च' इति धरणि । स्त्रियमिवावितृप्त
सन् पश्यति स्म ॥ २४ ॥

चन्द्रोदय हो जाने पर भी जब तक अन्यकार भली भाँति नष्ट नहीं हो गया था तब
तक निशा (रात्रि) को जनता ने एक (नूतन परिणीता) नव विवाहिता वधू की तरह,
जिह्वे मुख का धँसट हँट गया हो तथा वह लज्जा के भाव सी दबी जाती हो, सतृष्ण
दृष्टि से देखा ॥ २४ ॥

न प्रसादमुचित गमिता द्यौर्नोद्धृत तिमिरमद्रिवनेभ्य ।

दिङ्मुखेषु न च धाम विकीर्णं भूषतैव रजनी हिमभासा ॥ २५ ॥

मेति ॥ हिमभासा चन्द्रेण घौराकाशम् । उचित योग्य प्रसाद न गमिता ।
अद्रयो वनानि च तेभ्य । तिमिर नोद्धृत नोत्सारितम् । दिशा मुखेषु धाम तेजश्च
न विकीर्णं न पर्यस्तम् । तथापि रजनी भूषितैव । उक्तगुणासन्नपत्ताविति भाव । अत्र
प्रसाधनकारणाभावेऽपि सत्कार्यभूषणोक्त्या विभावनालङ्कार ॥ २५ ॥

वर्षादि चन्द्र देव के द्वारा अन्तरिक्ष पृथ्वी तथा विभासित न हो चुका था । पर्वतों तथा
जङ्गलों से अन्यकार भी दूर नहीं किया जा चुका था । और दिगन्तों में प्रकाश भी न पहुँच
पाया था तथापि रजनी (रात्रि) देवी अलङ्कृता सी दिव्यलक्ष्मी पदनी थी ॥ २५ ॥

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णावाष्पकलुषान् प्रतिगृह्णन् ।

मन्दमन्दमुदित प्रययौ स भीतभीत इव शीतमयूख ॥ २६ ॥

मानिनीति ॥ उचित शीतमयूख उप्येन विरहतप्तेन चाप्येष कलुषानाविलान् ।
मानिनीजनस्य कलहान्तरितनायिकाजनस्य विलोचनपातान् । मानभङ्गजनितरोपेण
भीषणानिति भाव । 'कोषात्कान्त पराणुष पश्चात्तापसमन्वितता । कलहान्तरिता' इति
दशरूपके । प्रतिगृह्णन् स्वीकुर्वन् । अपरिहार्यत्वादिति भाव । अत एव भीतभीतो
भीषणप्रकार इवेत्युपेक्षा । मन्दमन्द मन्दप्रकारम् । उभयत्रापि 'प्रकारे शुणवचनस्य'
इति द्विभावे कर्मधारयवद्भावात्सुलोप । समाकाश प्रययौ ॥ २६ ॥

मानवतो युषतियों के कटाक्ष पाती को, जो वियोग के कारण गरम गरम आँसु के

निकलने से कञ्चुगित हो रहे थे सहन करते हुए द्विगर्भिन (चन्द्रमा) गदित होकर भी बरते बरते हुए भी भौंते धीरे धीरे आकाश में पहुँच गये ॥ २६ ॥

रिख्यत प्रियवधूरुपकण्ठ तारकास्ततकरस्य हिमाशो ।

वदमञ्जभिरराज समन्तादङ्गराग इय लोहितराग ॥ २७ ॥

स्निग्धत इति ॥ सता प्रसन्निता करा पृथ करा अशुहस्ता येन तस्य ततकरस्य तारका पृथ प्रियवधूरुपकण्ठमन्तिके कण्ठे वा । अत्यन्तसयोगे द्वितीया । विभक्त्यर्थे अन्यभीभाव । रिख्यत प्रत्यासीदत आलिङ्गितञ्च हिमाशो सम्बन्धी समन्तादुदमन् उत्सर्पन् । अर्धान्तस्थादकमकत्वम् । घातोरधान्तरे वृत्ते इति वचनात् । लोहित रागोऽङ्गप्रभ । अङ्गराग इयाभिरराज । आलिङ्गपादाद्यो गच्छतीति प्रसिद्धि । अत्र रूपकोपमयोरङ्गभिभावेन सङ्कर ॥ २७ ॥

चन्द्रमा ने अपने किरण रूपी हाथों को फटा कर अपनी तारका रूपिणी नाथिना का कण्ठस्थले पृथक् अलिङ्गन किया उस समय उसके किरणों की लालिमा सत्र पेशी हुई अङ्गराग (उदयन) को तरह विद्योभित होने लगी । तात्पर्य यह कि चन्द्रमा को किरणों निकल कर ताराओं से मिलने लगी और सत्र लालिमा प्रागर्ष । इसी दृश्यको एक नावक के द्वारा नाथिका के आलिङ्गन से उपमिष्ठ किया है ॥ २७ ॥

प्रेरित शशधरेण करीष सहतान्यपि मुनोद तमासि ।

क्षीरसिधुरिव मन्दरमिञ्ज काननान्यविरलोकितरुण्यि ॥ २८ ॥

प्रेरित इति ॥ शशधरेण चन्द्रेण प्रेरितो विमृष्ट करीष सहतानि साम्प्रानि अपि तमासि मन्दरेण मन्दराखण्डेन मिञ्जो मुञ्ज क्षीरसिधुरिविरला साद्रा उवा उन्नताञ्च तरवो येषु तानि काननानीव मुनोददूरीचकार ॥ २८ ॥

चन्द्रमा से प्रेरित होकर किरण समूह ने ढेर के ढेर भा अन्वकार को बक लिया जैसे (समुद्र मन्थन के समय) मन्दराखण्ड से मिञ्ज होकर क्षीर सागर ने (समीप के) सब बद्रवों को बिनमें घने पने और ऊँचे २ वृक्ष थे (अपने स्वच्छ क्षीर रूप जल से) बक लिया ॥ २८ ॥

शरता गमितया शशिपादैश्चायमा रिटपिना प्रतिपेदे ।

न्यस्तशुक्लबलिचित्रतलाभिस्तुल्यता वसतिवेरममहीभि ॥ २९ ॥

शारता शरलता गमितया । शार शरलपीतयो इति विश्व । रिटपिना तस्पर्णा चायया न्यस्तनिष्ठैश्च शुद्धबलि म श्वेतपुण्य पुण्डरीकेभिर्नाणि तलानि उपरिभागा यासा साभ । करोषहारवो पुस्त बलि प्राण्यङ्गजे विनाम् हत्वमर । वसति वेरममहीभिर्निवास्तगृहम्भिभि । तुल्यता साम्य प्रतिपेद प्राप्ता । कमणि लिङ् । आर्षाद्युपमा ॥ २९ ॥

चन्द्रमा की किरणों से वृक्षों को छाया शक्ति होकर (वृक्षों के पत्तों और शाखाओं के अन्तराल से चन्द्रमा की किरणें छन छन कर उसका छाया पर पड़ती हैं उस समय वह कहीं २ मकेद और कहीं २ काली रहती हैं) उन निवाम के घर को भूमि की समानता करती है जहाँ पर देवताओं की पूजा की गई हो और पूजनोत्तर भी कहीं २ मूल शहर ज्जर बिखरे हुए चित्र कारी की हुई की भांति दिग्दर्शक पड़ते हों ॥ २९ ॥

आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन ।

सेहिरे न किरणा हिमरमेर्दु खिते मनसि सर्वमसह्यम् ॥ ३० ॥

आतप इति ॥ आतपे । दुःखकरेऽपीति भाव । वध्वा चक्रवाक्या सह । अत एव धृतिमता सतोपवता यामिनीषु विरहिणा नियतविरहेणात एव विहगेन चक्रवाकेण हिमरश्मेश्चन्द्रस्य किरणा न सेहिरे । तथा हि—दुःखिते सजातदुःखे मनसि सर्वम् । मनोहरमपीति भाव । असह्य सोढुमक्षक्यम् । 'शक्तिसहोक्ष' इति यत्प्रत्यय । पूर्वे तु 'आतपा' इति पेटु । तत्र वध्वा सहातपा अपि सेहिरे । तद्विरहिणा तु शशिकिरणा अपि न सेहिरे इति योन्यम् । फल तु समानम् ॥ ३० ॥

रात्रिकाल के वियोगा चक्रवाक पक्षी ने अपनी स्त्री के साथ रहकर पैर्य्य पूर्वक धर्म की प्रसर किरणों को सह लिया परन्तु (रात्रि में वियोगावस्था में) चन्द्रमा की (शीतल) किरणों को न सहसका क्योंकि जब हृदय वेदना से व्यथित रहता है तब सभी वस्तुएँ हो जाती हैं ॥ ३० ॥

गन्धमुद्गतसज्ज. कणवाही विक्षिपन्विकसता कुमुदानाम् ।

आदुधाव परिहीनविहङ्गा यामिनीमरुदपा वनराजी ॥ ३१ ॥

गन्धमिति ॥ अथा कणवाही । योग्यान्धये व्यवधानमपि सोढन्यम् । विकसता कुमुदाना गन्ध सौरभम् , उद्गत सज्ज परागो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । 'शेवाद्दिमापा' इति विकल्पात् कम् । विक्षिपन् विकिरन् । इत्थ शशिर सुरभि । यामिनीमस्तु रात्रिवायु । परितो लीना शयिता विहङ्गा यासु ता वनराजी । आदुधाव ईपल्कम्पयामास । विहङ्गशयनाविरोधेन वनराजि किंचित्कम्पितेत्यर्थित । 'आल्लोषदर्थेऽभिव्याप्तौ' इत्यमर । तथा कश्चिक्कामिनीं गन्धोद्कादिना सिद्धञ्जाकर्षति तद्वदिति भाव ॥ ३१ ॥

अब व कणों का वहन कर्ता रात्रिवायुन वायुने शिला हुई ज्युदिनी के सौरभ को, जिसमें पराग उतरा था, बिखेरता हुआ वनराजियों को, जिनमें पक्षियों से रही थी, थोड़ा थोड़ा भकनौर दिया ॥ ३१ ॥

सविधातुमभिपेकमुदासे मन्मथस्य न्तसद्दुजलौघ ।

यामिनीवनितया ततचिह्न सोत्पत्तो रजतकुम्भ इवेन्दु ॥ ३२ ॥

राविधातुमिति ॥ यामिनी वनितेव तथा रात्रिरूपया कान्तया मन्मथस्याभिपेक

त्रिभुवनत्रैत्रयान्नाभिपैकं संविधातु सम्यक्नुम् । अहावो जलानीव तेषामोषः पूतो
 कसन् चस्मिन्स । ततचिह्नं स्फुटलान्ध्रम हन्तुः सोत्पलो रजतकुम्भ इव । उदास
 उरिष्ठः । अस्यते कर्मणि छिट् । अत्र संविधातुमिति द्रुमुना मत्तीयमानोऽप्यनुप्रा
 णितोऽयमुपमोत्वोच्यते सकर ॥ ३२ ॥

राका रमणी (रात्रि रूपिणी स्त्री) ने कामदेव का अभिषेक करने के लिये जिसरी
 विरथे ही जन राशि ह और त्रिसन्ना चिन्म कल के समान है ऐसे चन्द्रमा जो रजत कलश
 के समान उठा लिया । (यहा पर आचार्य ने चन्द्रमा को कलश से उपमित किया है
 उसरी 'येत्सना को जल से और उसके चि' को नीलकण्ठ के पुत्र से । कामदेव यानी
 है उसके विजय के लिये अभिषेकार्थं रात्रिरमणी अपनी सामग्री से वैचार ॥ ३२ ॥

ओजसापि खलु नूनमनूनं नासहायमुपयाति जयश्री ।

यद्विभु शशिमयूखसखा सभ्रावदे विजयि चापमनङ्ग ॥ ३३ ॥

ओजसेति ॥ ओजसा । अनून संपूर्णमपि । अस्रहाप सहापरहितम् । पुरुषमिति
 शेषः । अयश्रीर्नोपयाति खलु नूनम् । कुन । यत् यस्मात् । विभुः समर्थोऽप्यनङ्ग
 शशिमयूखानां सखा सहपरस्तमोक । ससहाय सन्नित्यर्थः । विजयि विजयशीलम् ।
 जिहृदि हृत्पादिनेनिप्रत्ययः । चापमाददे । विशेषेण सामान्यसमयत्रक्योऽर्थांतर
 न्यास ॥ ३३ ॥

सामान्य सम्पन्न होने पर भी सहायक विहीन पुरुष के पास विजय ओ नहीं जाती
 वह निर्विवाद है । क्योंकि समर्थ भी रतिवल्गु (काम) ने हिमागु से मित्रता करके ही
 विजयी भद्रुष को मह्य किया ॥ ३३ ॥

दृष्यमुद्दीपनसामग्रीमुपवर्णं संप्रति सत्काममूल रतिवर्णनमारभते—

सद्यना विरचनाहितशोभैरागतप्रियकयैरपि दूत्यम् ।

सन्निकृष्टरतिभिः सुरदारैर्भू पितैरपि विभूषणमीये ॥ ३४ ॥

सद्यनामित्यादि ॥ सन्निकृष्टरतिभिरासन्नसुरतोस्तवैरप एव सुरदारैः सुरवभूमि ।
 आहितशोभैः प्रागेव विहितकेलिगृहमण्डनैरपि पुनः सद्यनां केलिगृहाणां विरचना
 मण्डनम् । ईपेऽभिभेदे । इपेः कर्मणि छिट् । आगतप्रियकयैः प्राप्तप्रियजनहृत्ताम्हीरपि
 दूत्यस्य कम दूत्य दूतीभ्यापार ईपे । दूत्यस्य भावकर्मणोवत्प्रत्ययः । तथा भूपितैरपि
 विभूषण प्रसाधनम् । ईपे । औसुक्यातिरेकादिति भावः ॥ ३४ ॥

इस तरह उ पवन सामग्रियों का वर्णन करके सत्य रूप रति का वर्णन प्रारम्भ
 करते हैं —

देव सुगणियों ने जिनके बिलास का मन्त्र सन्निकृष्ट भा केलिमवन को विभूषण कर
 रखा था तो भी केलिगृहों की रचना के लिये अभिलाष किया । अपने प्राणेश्वरों का

समाचार प्राप्त करके भी वे दूती भेजने के लिये तय्यारो करने लगीं । वे भूषणों से विभूषित होकर भी पुनः अपने को विभूषित करने की अभिलाषा करने लगीं ॥ ३४ ॥

न स्रजो रुचिरे रमणीभ्यश्चन्दनानि विरहे मदिरा वा ।

साधनेषु हि रतेरुपधत्ते रम्यता प्रियसमागम एव ॥ ३५ ॥

नेति ॥ विरहे वियोगावस्थायाम् स्रजो माल्यानि चन्दनानि गन्धा मदिरा भयानि वा रमणीम्य । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाण' इति सप्रदानत्वाच्चतुर्थी । न रुचिरे न रोचन्ते स्म । हि यस्मात् प्रियसमागम एव रते साधनेषु स्रगादिषु रम्यता मनोहरत्वम् । रुचिकरत्वमिति यावत् । उपधत्त आधत्ते । तदभावादरुचिर्युक्तैवेत्यर्थः । अत एव वैधर्म्यात्कारणेन कार्यसमर्थतरूपोऽर्थान्तरन्यासः । रम्यन्त एष्विति रम्याणि । 'पोरुपधात्' इति यत्प्रत्ययः, 'कृत्वद्भ्युटो बहुलम्' इत्यधिकरणार्थः ॥ ३५ ॥

उन अस्तराओं को अपने प्राणेश्वर को विरहावस्था में न तो पुष्प माला, न चन्दन और न मद्य हो रुचिकर प्रतीत हुआ क्योंकि रति के सहायक सामग्रियों में प्रियका समागम ही रमणीयता की उपलब्धि करता है ॥ ३५ ॥

प्रस्थिताभिरधिनाथनिवास ध्वसितप्रियसखीवचनाभि ।

मानिनीभिरपहस्तितधैर्यं सादयन्नपि मदोऽवललम्बे ॥ ३६ ॥

प्रस्थिताभिरिति ॥ अधिनाथनिवास प्रियगृहं प्रति प्रस्थिताभिः प्रचक्षिताभिर्ध्वसितानि खण्डितानि प्रियसखीवचनानि स्वयं प्रस्थानं लाघवाद्येत्येवरूपाणि यामिस्ताभिः । मानिनीभिः कोपनाभिः । 'स्त्रीणामीर्न्याकृत्व कोपो मानोऽभ्यासङ्गिनि प्रिये' इति लक्षणम् । अपहस्तितं निरस्तं धैर्यं येन स । तथा सादयन् मानं शरीरं च कर्षयन्नपि सदोषोऽपीत्यर्थः । मदोऽवललम्बे स्वीकृतं । अज्ञानव्याजेन लाघवापह्वलसौकर्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

ओ अस्तरार्ये मानकर बैठा थी (मानमोचनोपरान्त) वे अपनी प्रिय सहेलियों की बातों की श्रानाशानी करके पतिदेव के घर के लिये चल पड़ीं । (मद्य) मद, जिसने उन्हें धैर्य अष्ट कर दिया और जिसने उनके शरीर और मान को कुछ कर दिया था, वे उसी का मशारा लीं ॥ ३६ ॥

कान्तवेश्म बहु सन्दिशतीभिर्यातमेव रतये रमणीभि ।

मन्मयेन परिलुप्तमतीना प्रायश स्वलितमप्युपकारि ॥ ३७ ॥

कान्तेति ॥ रतये सुरताय बहु सादिशतीभिरनेक कथयन्तीभिः । सादेशव्यसना-द्रुप्तव्यमप्यजानतीभिरित्यर्थः । रमणीभिः । कान्तवेश्म यात् प्राप्समेव । न तु मध्ये-मार्गास्त्रिवृत्तमित्यर्थः । तथा हि—मन्मयेन परिलुप्तमतीना स्वलितं विरहान्तरणमपि प्रायश उपकारि भवति ॥ ३७ ॥

अनेक प्रकार के वार्तालाप करती हुई अस्तरार्ये रमणार्थ पति के घर पहुँच ही गईं

(बच में कहीं ने भूली नहीं) प्रायः कामदेव के द्वारा उपरत बुद्धिमाने व्यक्तियों की भूल भी उपकारक हो जाती है ॥ ३७ ॥

आशु कान्तमभिसारितयत्या योपित पुलकवद्वकपोलम् ।

निर्जिगाय मुखमि नुमखण्ड खण्डपत्रतिलकाकृति कान्त्या ॥ २८ ॥

भाविति ॥ आशु कान्तमभिसारितयत्या अभिगतयत्या । स्वार्थे णिच् । योपित-सम्बन्धि पुलकै क्वान्वाहृती कपोलौ यस्य तत । खण्डा प्रमुष्टा पत्राणां पत्रखेलानां तिलकस्य च आकृतिः सनिवेशो यस्य सद्योक्तं मुखं कान्त्याऽखण्ड पूर्णम् । इन्दुं निर्जिगाय जघति स्मेत्यार्थीयमुपमा । जयति इष्टि इति वण्डिना सादर्यार्थेऽपु गणनात् ॥ ३८ ॥

शोभा से प्रिय के समीप जानी हुई मुखवर्तियों के मुखमण्डल ने जिसके कपोल ममकण से आहत हो रहे थे और जिस पर बनी हुई पत्रलेखा और तिलक की रचना भिन्न रही थी अपनी शोभा से पूर्यचन्द्र मण्डल को भा गत ठिथा ॥ ३८ ॥

अथ युग्मेन सखीनायिकार्सबाधमाह—

उच्यता स वचनीयमशेषे नेश्वरे परुपता सखि साध्वी ।

आनयैनमनुनीय कथ वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेय ॥ ३९ ॥

उच्यतामिति ॥ तत्र नायिकाह—स भूर्तोऽशेषमखिल वचनीय वचन्यमुच्यताम् ।

नि-वाङ्मुपाकम्पतामित्यर्थ । श्रुत्वा दुहादित्वाद्प्रधाने कर्मणि लोट् । अथ सख्याह—हे सखि ईश्वरे भर्तारि भावके विषये परुपता पाकन्य न साध्वी न हिता । अथ नायिकाह—तर्हि धनमनुनीय सान्त्वयित्वा आनय । पुन सरवाह—विप्रियाणि जनयन् अप्रियाणि कुर्वन् स कथ वाऽनुनेयोऽनुनयाह ॥ ३९ ॥

इसो स ३९ और ४ में उस नायिका और उन्की सखी का वार्तालाप है जो मान न परित्याग कर अपने पति के घर नही गई

नायिका— (सखि) वच (ठग) से क्या कह देना कुछ बात जिये न रहना ।

सखी— (नहीं सखि यह ठीक नहीं) पति के साथ करता का व्यवहार अच्छा नहीं ।

नायिका—“अच्छा तो फिर किसी प्रकार मममा सुभावर यहाँ बुला लाया ।

सखी— अप्रियवारा स व्यक्ति के साथ अच्छा व्यवहार करके इसे बुलाया जाय ।

(यह भी तो ठीक नहीं) ॥ २ ॥

कि गतेन न हि युक्तमुपैतु फ प्रिये सुभगमानिनि मान ।

योपितामिति कथासु समेतै कामिभियदुरसा घृतिरुद्धे ॥ ४ ॥

किमिति ॥ युक्तोक्तिमाह—तर्हि गतेन तं प्रति गमनेन किम् । कोऽथ हृत्पर्यं । अत उपैतुं गतुं न युक्त हि । पुन सख्याह—ह सुभगमानिनि सौन्दर्यमानिनि । सुभगमात्मानं मन्वत इति । ‘आममाने खण्ड’ इति चकाराणिनिप्रत्यय । तस्मिन् प्रिये विषये को मान । मानो न कतम्य हृत्पर्यं । यद्वा नहीत्यादि सखीवाच्यम् ।

तत्र नहीत्येक वाक्यम् । यदुक्त सखीत्यर्थ । हे सखि, किं तूपैतु युक्तम् । कु
सुभयमानिनि प्रिये को मान । तादृजनस्य दुर्लभत्वादिति भाव । इति एवरूप उ
योषिता कथासु विषये समेतै । समीपमागस्याकर्णयन्निरित्यर्थ । कामिभिर्वहुरसाऽ
नेकास्वादा एति सतोष ऊहे ऊठा । अत्र परोक्षीसुक्यनिर्वेदाद्यनेकभावशायत्यपरि-
पूर्णकान्ताकथाकर्णानावुत्तरोत्तरमपूर्वद्वन्द्वमानन्दनिष्यन्दमानन्दसदोहमविन्दश्रित्यर्थ ।
प्रायेणात्र प्रौढा कलहान्तरिताश्च नायिका ॥ ४० ॥

नायिका—“तो फिर उसके पास जाना ठीक नहीं, वहाँ जाने का प्रयोजन ही क्या ?”
सखी—“ये अपने को सुन्दरी मानने वाली । प्रिय के विषय में मान ही क्या ? (अर्थात्
मान नहीं करना चाहिये)

सुर सुन्दरियाँ परस्पर इस प्रकार का वार्तालाप कर ही रही थीं कि उनके प्रेमीजन
स्वयं उपस्थित हो गये और उनके वार्तालाप को छुनकर असौम्य आनन्द प्राप्त किये ॥४०॥

योषित पुलकरोधि दधत्या धर्मवारि नवसङ्गमजन्म ।

कान्तवचसि बभूव पतन्त्या मण्डन लुलितमण्डनतैव ॥ ४१ ॥

योषित इति ॥ पुलकरोधि रोमाञ्जल्यापि नवसङ्गम एव जन्म यस्य तत् । धर्मवारि
स्वेदोदक दधत्या इति सात्त्विकोक्ति । कान्तवचसि पतन्त्या इत्यौत्सुक्योक्ति । योषितो
या लुलितमण्डनता उत्सृष्टप्रसाधनत्वम् । भावे तत् । सैव मण्डन बभूव । तादृशफ
व स्वात्तस्येति भाव ॥ ४१ ॥

(पवि के प्राप्त कर लेने पर) रमणियाँ अपने अपने पति के वक्षस्थल पर लेटी हुई
थीं और रोमाञ्ज हो जावे पर ज्ये २ सम्पर्क (सङ्गम) से उत्पन्न श्रमकण धारण करती
थीं जिससे उनके मण्डन (शोभा) को सामग्री भिट म , किन्तु वही उनकी शोभा
हो गई ॥ ४१ ॥

श्रीधुपानविधुरासु निगृह्णन्मानमाशु शिथिलीकृतलज्ज ।

सङ्गतासु दायतैरुपलेभे कामिनीषु भदनो नु मदो नु ॥ ४२ ॥

शोषित ॥ शेरतेऽनेनेति श्रीधु पलेक्षुरसविकारो मयविशेषस्तस्य पानेन विधुरासु
धिमूढासु । तथा दयितै सगतासु स्वयंप्राप्तासु च कामिनीषु अतिमानवतीषु । आशु
मान कोप निगृह्णन् निवर्तयन् । शिथिलीकृता लज्जा येन स भदनो नु मदो नु ।
उपलेभे । लक्ष्यते स्मेत्यर्थ । प्रियसमागमश्रीधुपानरूपोभयकारणामङ्गादुभयथा मान-
निग्रहाद्यनुभावसाधारण्याच्च सदेह । स एवालङ्कार ॥ ४२ ॥

श्रीधु (ईश के रस से बनाया जाता है और वह एक प्रकार का शराव है) पान करने
से वे अप्सरार्ये मतवाली हो गई थीं और अपने प्राणेश्वरों के पास स्वयं पहुँच गई थीं । उनमें,
उनके मान को शीघ्र ही भङ्ग करते हुए, तथा उनको लज्जा को भी दूर करते हुए काम

देव और मन् दोनों छिद्रित होने लगे (परन्तु यह नहीं कहा जा सकता था कि यह दशा उनकी किम्पके द्वारा हुई काम के द्वारा अथवा मन् (नशा) के द्वारा । ॥ ४२ ॥

द्वारि चक्षुरधिपाणि कपोलौ जीवित त्वयि कुत कलहोऽस्या ।

कामिनामिति घञ पुनरुक्त प्रीतये नवनवत्वमियाय ॥ ४३ ॥

द्वारीति ॥ द्वारि स्वदापममार्गं एव चक्षुः इत्यौत्सुक्योक्तिः । अधिपाणि पाणौ करे कपोली इति चिन्तोक्तिः । किं बहुना जीवितं त्वयि स्वर्धनम् । त्वां विना न जीवतीत्यर्थः । इति गाढानुरागोक्तिः । अतोऽस्या कलहो विग्रहः कुत । इति एव कामिनां प्रीतये पुनरुक्त पुनःपुनरुच्यमान वचो दूतीवाक्यं नवनवत्व नवप्रकारत्वमपूर्व यज्ञावम् । इत्याय । प्रकारार्थे द्विर्भाय । कमधारत्यवज्ञापास्तुपो छुक् । कामानुराग-प्रकटनात् कामिनः प्रकृष्यन्तीति भावः । कलहान्तरितेयम् ॥ ४३ ॥

इतिपय तुराङ्गनाभो के कलह से उनके प्रमीजन भी कुछ कुछ रुठ बैठे थे उन युवतियों ने अपनी सखियों से प्रेरणा किया कि वे उनके बहनों को प्रसन्न कर दें अतः वे (सखियाँ) उनके प्राणधारों से कहती हैं — 'बह (भावकी प्रियन्मा) (भाव के आगमन की प्रतीक्षा करने के लिये) दरवाने पर इटि लगाये रहती है । अपने हथेली पर कबोल रखकर बैठी रहती है (अर्थात् चिन्ता में पनी रहती है) उसका जीवन आप के अधीन है । फिर उम्का भगवा (बलाह) कहीं उस प्रकार का बात चीत से जो सप्टी के द्वारा की गई कामिनों के हृदय में नये नये प्रेम के अङ्कुर जमने लगे ॥ ४३ ॥

साचि सौचनयुग नमयन्ती रुन्धवो द्यितवक्षसि पातम् ।

सुभ्रुवो जनयति स्म विभया सङ्कतायुपरराम च लज्जा ॥ ४४ ॥

साचीति ॥ छोचनयुग साचि त्रियक नमयन्ती मिथे त्रियक् पातयन्ती । न तु समरेषवेत्यर्थः । द्यितवक्षसि पात रुन्धती इष्टमपि प्रतिषेधेती लज्जा सुभ्रुवो नायिकाया विभूषां शोभां जनयति स्म । समती सुरत्तमसङ्गे सति उपरराम च । एव यतस्तदा चाभूषणमेवेति भावः । विभाषाकमकारः इति परस्मैपदम् ॥ ४४ ॥

जो सङ्कोच हुए रमणियों को सीधे अवलोकन करने में अभ्यन्त बनाता था अर्थात् बनौनी इटि से देखने को बाध्य करता था और पति देव की तरफ अवलोकन करने के लिये भी मना करता था और उन तुरोचनाभों की शोभा की शक्ति करता था यह पति के साथ सङ्गम काल में उन युवतियों के यहाँ से धीरे धीरे बिना हो चला ॥ ४४ ॥

सन्धलीकमथधीरितस्थिन्नं प्रस्थित सपदि कोपपदेन ।

योपित सुहृदिव स्म रुणद्धि प्राणनाथमभिवाप्पनिपात ॥ ४५ ॥

सन्धलीकमिति ॥ सन्धलीकं सापराधम् अत एव अवर्धितोऽवज्ञातः सन् क्षिप्रस्तम् । पूर्वकाळ इत्यादिना तत्पुरुषः । सपदि कोपस्य पद्मेन व्याजेन प्रस्थितं

निर्गच्छन्त प्राणनाथं प्रिय योषित स्वबन्धी अभिधाप्पनिपात आभिमुख्येनाश्रुमोक्ष
सुहृदिव सगृहि स्म सरोध । बाष्पपातस्य मन्थुमोक्षलिङ्गतया प्रस्थानप्रतिबन्धकत्वात्
सुहृदौपम्यम् । हृयमधीरा खण्डिता—‘ज्ञातेऽन्यासङ्गिनि पतौ खण्डितेऽप्यर्कपायिता ।
अधीराश्रु विमुञ्चन्ती विज्ञेया चात्र नायिका ॥’ इति दशरूपके ॥ ४५ ॥

उन में से किसी एक अप्सरा के हृदयेश (पति), जो कुछ अपराध कर बैठे थे उसके
कारण दिये गये तिरस्कार से खिन्न होकर क्रोध की मुद्रा बनाकर शीघ्र ही चल पड़े । यह
देख उस रमणी ने अधीर होकर आंसू बहाया जिसके कारण पतिदेव रुक गये । इस अप्रुपात
ने उनके लिये मित्र का काम किया ॥ ४५ ॥

शङ्किताय कृतबाष्पनिपातामीर्ष्या विमुखिता दयिताय ।

मानिनीमिमुखाहितचित्ता शसति स्म धनरोमविभेद ॥ ४६ ॥

शङ्कितायेति ॥ शङ्किताय दयितायाविश्वस्ताय नायकाय । ईर्ष्या विमुखिता
विमुखीकृताय । अत एव कृतबाष्पनिपाता मानिनीं धनरोमविभेदं सान्द्रपुलकोदयोऽ
मिमुखलमाहितं चित्तं यथा ताम् । निष्कोपाभित्यर्थं । शसति स्म । ध्यनक्ति रमेत्यर्थं ।
अन्यथा सात्त्विकानुदयादिति भावः । अत्रापि पूर्वोक्तैव नायिका ॥ ४६ ॥

उन सुरवालाओं में से किसी एक ने ईर्ष्या से अपने पति से मुँह फेर लिया और उसके
नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लगने लगी । उसके शरीर के रोमाञ्चने प्राणनाथ से जो सदेह
प्रस्त थे, सूचना दी कि यह अब अनुरक्त है और आप में उसका चित्त भी लगा
हुना है ॥ ४६ ॥

अथ समोगच्छारमाह, तत्रापि बाह्यरतमाह—

लोलदृष्टि वदन दयितायाश्चुम्बति प्रियतमे रमसेन ।

ब्रीडया सह विनीवि नितम्बादशुक शिथिलतामुपपेदे ॥ ४७ ॥

छेलेति ॥ प्रियतमे लोलदृष्टि चञ्चलेषुण दयिताया वदन रमसेन बलाकारेण
चुम्बति सति विनीवि निर्गतबन्धनम् । अशुक नितम्बादब्रीडया सह शिथिलतामुप-
पेदे । उभयमपि शिथिलमासीदित्यर्थं । अत्र ब्रीडाशुकरूपसवन्धिभेदमिच्छति सत्सन्-
रूपसौम्यस्याभेदाध्यवसायनिबन्धनातिशयोक्तिसूत्रं सहोक्तिविशेषोऽलङ्कारः । अत
एव ब्रीडाशुकौपम्यं च कल्प्यम् । अत्र वात्स्यायन —‘बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविध
रतमुच्यते । तत्रापि चुम्बनाश्लेषनखदन्तचतादिकम् ॥ द्वितीयं सुरत साक्षात्तानाकरण-
कल्पितम् ॥’ इति ॥ ४७ ॥

पति के द्वारा लज्जा के जिसके नेत्र चञ्चल हो रहे थे, मुँह का चुम्बन करने पर नीची
(वक्षग्रन्थि) झुल जाने से लज्जा के साथ साथ वक्ष भी नितम्ब में दिसक पया (इर्ष्यात्
वक्ष तो नितम्ब से दृष्ट हो गया लज्जा ने भी अपनी राह ली) ॥ ४७ ॥

हीवथा गलितनीवि निरस्यन्नन्तरीयमयलम्बितकाञ्चि ।

मण्डलीकृतपृथुस्तनभार सस्वजे दयितया हृदयेऽश ॥ ४८ ॥

हीतवेति ॥ गलितनीवि गलितवर्धं तथापि अवलम्बिता काञ्ची येन सत् । काञ्चीलम्बितस्य । सत् अन्तरीयमर्थोऽयम् । 'अन्तरीयापसम्यानपरिधानान्वर्धो-
शुके इत्यमरः । निरस्यन् आक्षिपन् । हृदयेऽशः प्रियो हीतया वस्त्रापगमाङ्गजितया ।
हीधातो क्तरि क् । दयितया मण्डलीकृतो वतुलीकृतः पृथुस्तनभारो यस्मिन्कमणि
तथा तथा । गाढमित्थर्धं । सस्वन्न आक्षिप्य । प्रियदृष्टेः प्रतिबन्धात्प्रमित्थर्धं ॥ ४८ ॥
पतिदेव नीवीविल सन के बाद (भगनो) प्रियतमा के परिधान को जो काञ्ची के
सहारे रूने हुये वे दूर हटाते हुये प्राणेश्वरा के द्वारा मूल रत्नों को दबाकर (गाढ) आक्षिपित
किये गये ॥ ४८ ॥

आहता नखपदैः परिरम्भाक्षुम्बितानि घनदन्तनिपातैः ।

सौकुमार्यगुणसंसृतकीर्तिर्धाम एव सुरतेष्वपि काम ॥ ४९ ॥

आहता इति ॥ परिरम्भा आक्षिप्यनामि नखपदैर्हेतुभिः । आहता अभिमता ।
'हेवी इति तृतीया । तथा क्षुम्बितानि जुम्बनानि घनदन्तनिपातैर्गाढदन्तचतर्हेतुभिः
राहतानीति लिङ्गविपरिणाम । सुरतसुखोद्योपकृत्वाचलदन्तसप्तपूषकेष्वोक्षिप्यनजुम्बने-
श्वाद्दर' संसृत् इत्यर्थः । ननु सुकुमारे कामरत्ने कथं पीडाकरेश्वाद्दर इति न
शाप्यमित्याह—सौकुमार्येति । सौकुमार्यमेव गुणस्तेन संसृतकीर्तिर्लभ्ययथा' काम'
सुरतेषु संशोभेत्पि । न केवल विमलम्बेति भावः । पामः क्रूर २९ । सुकुमार
काम इति प्रवासात्प्रम् । वस्तुतस्तु पादपद्मेव सुखभावहृष्टीय भावः । सामान्येव
विशेषसमयनरूपोऽर्थान्तरम्यास ॥ ४९ ॥

आक्षिपित को प्रचसा नखपदों के कारण ही होती है । जुम्बन की शोभा घने रत्नों के
द्वारा किये गये हन से होती है । जो सुकुमारता के कारण आजन्म प्राप्तनीय है वह
मदन (कामदेव) सुरत समय विपरीत (क्रूर) हो जाता है । नखपद और दन्तचत ये
सब क्रूरों के ही काम हैं ॥ ४९ ॥

अथान्वन्तर रत्नमाह—

पाणिपल्लवविधूननमन्तः सीत्कृतानि नयनाधनिमेपा ।

योपिता रहसि गद्गदयाचामन्नतामुपययुर्मदनस्य ॥ ५० ॥

पाणीति ॥ रहसि पृथग् इति विशम्भाति'योक्तिः । गद्गदवाच्यं रसकत्रिां
योपितां सव'चीनि पाणिपल्लवयोर्विधूननं कम्पनम् । अन्तः सीत्कृतानि सीत्कारा ।
पृतेन कुङ्कमिताचयो भाव उक्तः । अधरर्पाङ्गनादीं शुसेऽपि कु'प्यवहुपचार' कुङ्कमि-
तस्य' इति लक्षणात् । नयनानामर्थनिमेपा अर्थनिमीलितानि । रहस्यकाम्ते गद्गद

वाचा योपितामिति विशेषणसामर्थ्याद्गद्गदकण्ठत्व चेत्वेतानि मदनस्यालतामुप-
ययु । अलखत् पुसामुदीपनान्यासन्नित्यर्थ । अत्र सीत्कारार्थनिर्मेयादिना सुखपार-
श्य ध्यज्यते । तदुक्त रतिरहस्ये—‘न्रस्तता वपुषि मीलन दृशोर्मूर्च्छना च रतिला-
लक्षणम् । श्लेषयेत्स्वब्रजन मुहुर्मुहुः सीत्करोति गतलज्जिताकुला ॥’ इति ॥ ५० ॥

(सुरतकाल में) सुरयुवतियों के स्खलित वचन, करमिसलब का संभ्राजन, सीत्कार
के शब्द और अर्द्धनिमीलित नेत्र—ये सब कामदेव के लिये अल वन गये (अर्थात् इन्हीं
क्रियाओं के द्वारा कामदेव धरि २ अपना काम (प्रहार) करने लगा) ॥ ५० ॥

अथ मधुपानवर्णनमारभते—

पातुमाहितरतीन्वभिले पुस्तर्षयन्त्यपुनरुत्तरसानि ।

सस्मितानि वदनानि वधूना सोत्पलानि च मधूनि युवान् ॥ ५१ ॥

पातुमिति ॥ युवान् आहितरतीनि वर्धितरागाण्यत एव अपुनरुत्तरसानि पुन पुन
पातेनान्यपूर्वस्वादान्यत एव तर्षयन्ति सुष्णोत्पादकानि । अस्तिकराणीत्यर्थ । सस्मि-
तानि वधूना वदनानि सोत्पलानि मधूनि च पातुमभिलेपुश्छिन्ति स्म । अत्र प्रस्तु-
तानामेव वदनाना मधूना च पानक्रिमौपम्यस्य गम्यत्वात्केवल प्राकरणिकविषयतया
तुल्ययोगितालङ्कार । ‘प्रस्तुताना तथान्येषा केवल तुल्यधर्मत । औपम्य गम्यते यत्र
सा मता तुल्ययोगिता ॥’ इति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

सुरयुवतियों का अपने २ प्रियों के साथ मधुपान करने का वर्णन किया है —

(युवक गन्धर्वों ने मधु और युवतियों के मुख) में अनुरक्त होकर युवतियों के मुखों
तथा कमलयुक्त मदिराओं का पान करने के लिये इच्छा प्रकट की । युवतियों के मुख
पर मन्दहास मुशोभित हो रहा था । उनसे उन लोगों की वृषि भी नहीं हो पाती थी और
बार २ उनका स्वाद लिया था तथापि उनके लिये वे अनास्वादित् से मालूम होते थे ॥५१॥

कान्तसगमपराजितमन्यौ वारुणीरसनशान्तविवादे ।

मानिनीजन उपाहितसधौ सदधे धनुषि नेपुमनङ्ग ॥ ५२ ॥

कान्तेति ॥ कान्तसगमेन पराजितमन्यौ त्यक्तरोपे । तद्वधधिकत्वात्तस्येति भाव ।
किंच, वारुणीरसनेन मध्वास्वादेन शान्तो विवादो वाक्छल्हादिर्यस्य तस्मिन् । अत
उपाहितसधौ प्रियै सह कृतसधाने मानिनीजने विषयेऽनहो धनुषीधुं न सदधे सधान
नाकरोत् । सिद्धसाध्वे साधववैयर्थ्यादिति भाव ॥ ५२ ॥

प्रिय के संयोग से मानिनी जन का क्रोध ठहा पड़ गया, मदिरा के आस्वादन से कलह
भी मिट गया, और अब उन्होंने अपने प्रिय के साथ सन्धि भी कर ली । अत कामदेव ने
धनुष की प्रत्यज्ञा पर धर-सन्धान नहीं किया ॥ ५२ ॥

कुप्यताशु भवतानतचित्ता कोपिताश्च वरियस्यत यून् ।

इत्यनेक उपदेश इय स्म स्वाद्यते युवतिभिर्मधुवार ॥ ५३ ॥

कुप्यतेति ॥ यून् मियान् कुप्यत यूनां कोपं जनयत । यात्र कुम्भमुह इत्यादिना यूनां संप्रदानत्वे चतुर्था । तस्य 'य प्रति कोप' इति नियमात् । अत्र कोपस्ता-
वत्कृत्रिम इति भाशु जानतचित्ता अनुकूलचित्ता भवत । किंच कोपितास्ताम् वरि-
षस्यत परिचरत । 'नमोवरिविश्वित्रह' क्यच् इति क्यच् । वरिषसः परिचर्यायामि-
त्यर्थे तस्य नियमश्च । इति पृथम् । अनेकोऽनेकप्रकारो य उपदेश प्रवर्तकवाक्य स
इव मधुवारो मधुपानावृत्ति । 'मधुवारा मधुक्रमा' इत्यमर । युवतिभिः स्वाद्यते
स्म । मधुवारस्य कोपादिकाथप्रवर्तकत्वसाम्यादुपदेश इवेत्युत्प्रेक्षा । अनियता अलु-
मत्तप्रेषा इति भाव ॥ ५३ ॥

प्रमियों को कुट्ट हो जाने दो उनके अनुकूल हो जाने को कुट्ट हो गये है (अर्थात्)
सेना नरके मनाओ रस प्रकार के मनकों उपदेशों की तरह युवतियों ने बार बार मधु
रसात्वादिन किया ॥ ५३ ॥

मर्त्भिः प्रणयसभ्रमदत्ता वारुणीमतिरसा रसयित्वा ।

ह्रीविमोहविरहादुपलेभे पाठव नु हृदय नु वधूमि ॥ ५४ ॥

मर्त्भिरिति ॥ मर्त्भिः प्रणयसंभ्रमाभ्यां प्रेमाद्वाराम्ना दत्ताम् । 'संभ्रम' साध्वसे
ऽपि स्वात्सवेगादरयोरपि इति विरव । अत एव अतिरसामधिकस्वादां वाक्यी
वरुणात्मजाम् । 'सुरा हृदिप्रिया ह्लाका परिसुहृद्व्यात्मजा' इत्यमरः । रसयित्वाऽऽश्वा-
द्य वधूमिह्रीविमोहविरहात् मधेन लज्जाजात्यापगमाद्धेतो पाठव पटुत्व नु हृदय शान-
विशेष नु । उपलेभे । अत एव हृदयस्य तत्कार्यज्ञानसामर्थ्याद्भ्रमवैव प्राणसत्पथा
लक्ष्यमिति संदेह । अन्यथा कथं प्रियं प्रति वक्रोक्त्याद्यर्थेषु प्रवृत्तिरिति भावः ।
संदेहालङ्कार ॥ ५४ ॥

अपतराओं ने अपने २ प्रेमियों के द्वारा प्रेम और आदर के साथ प्रदान की हुई मविरा
को लूण पान किया । अर मर्त्के कारण लज्जा और अश्रुता वा कहीं पता न रहा । यह देहा
उनकी पटुता के कारण प्रथम क्षान के कारण हुई पता नहीं ॥ ५४ ॥

स्वादित स्वयमवैयितमान लम्बित प्रियतमै सह पीत ।

आसव प्रतिपद् प्रमदाना नैकरूपरसतामिव भेजे ॥ ५५ ॥

स्वादित इति ॥ स्वयं स्वादित । आदौ स्वयमेवादाय पीत अथ अनन्तर प्रिय-
तमैरेचितमानं वधितवहुसंमान यथा तथा लम्बितो प्राहितः । स्वहस्तेन पायित
इत्यर्थः । अत प्रियतमै सह पीतः । सुगपदेकपात्रेण पीत इत्यर्थः । आसव प्रमदानां
प्रतिपदं प्रतिघारं नैकरूपरसतामनेकविधस्वादुत्वम् । नमर्थस्य 'नचाद्यस्य सुप्सुपैति

समास । नन्समासे लघोप स्यात् । भेज इव प्रापेव । उपचारविशेषान्नोद्येषु रस-
विशेष स्यादिति भाव । आस्वादानादिपदार्थानामनेकरसताप्राप्तिहेतुत्वात् काव्यलिङ्ग
त्वावदेक स्वादानादीनामनेकधर्माणामेकस्मिन्नेव सर्वक्रमेण सबन्धात्पर्यायभेदश्च, तयोश्च
ससृष्टयोरनेकरसत्वोद्येषाबीजत्वात्तया सहाङ्गाङ्गिभावेन सकर ॥ ५१ ॥

मद्य (शराव) पढ़ने रख पान किया गया फिर आदरपूर्वक प्रियतमों के द्वारा
प्राप्त कराया गया । पश्चात् एक ही पात्र में उनके साथ पान किया गया । प्रतिवार (जिन्हीं
वार मद्यपान किया गया उसमें हरवार) एक तरह के स्वाद का अनुभव न हुआ किन्तु
वार वार उसका स्वाद बदलता गया ॥ ५५ ॥

भ्रूविलाससुभगाननुकर्तुं विभ्रमानिव वधूनयनानाम् ।

आवदे मृदुविलोलपलाशैरुत्पलैश्चषकवीचिषु कम्प ॥ ५६ ॥

अविलासेति ॥ भ्रूविलासे सुभगान् सुन्दरान् । वधूनयनाना विभ्रमाननुकर्तुं
नैरात्मान समीकर्तुमिवेति फलोद्येष्वर्थत्वात् । मृदुविलोलपलाशैरीपञ्चलदलै ।
उत्पलै । चषकेषु या बीचयो मधुर्मयस्तासु य कम्प स आवदे स्वीकृत । न तु
स्वकम्पस्तस्य विलोलविशेषणेनैवोक्तत्वात्तस्वीकारश्च तद्योग एव । पूर्वं नेत्रमात्रसाम्य-
भाजामुत्पलाना कम्पनामवीचियोगात्सुभ्रूविलासनेत्रसाम्य जातमित्यर्थ ॥ ५६ ॥

अपक में पठे हुये कोमल और पल दल युक्त कमल सदिरा में उठनेवाली लहरियों
से कम्पित हो रहे थे उस समय यह मालूम पड़ता था मानो वे सुरयुवतियों के नेत्रों के
चाञ्चल्य का जो करोड़पात के कारण परम रम्य था, अनुकरण कर रहे थे । अर्थात् जब
वे अप्सरायें मद्यपान कर रही थीं उस क्षण मद्यपात्रस्थ सदिरा में तरङ्गें उठ रही थीं जिससे
कमल के पत्र विचलित हो उठे जिसे देखने पर प्रतीत होता था कि मानो वह अप्सरायों की
आँखों की नकल करने पड़ा है ॥ ५६ ॥

ओष्ठपल्लवविदशरुचीना हृद्यतामुपययौ रमणानाम् ।

फुल्ललोचनविनीलसरोजैरङ्गनात्यचपकैर्मधुवार ॥ ५७ ॥

ओष्ठेति ॥ ओष्ठ एव पल्लवस्तस्य विश्वे दशने रुचिरभिलापो येषा तेषाम् ।
सुखसुरापानमिषेणाधर पिपासतामित्यर्थ । रमणाना कुङ्कानि लोचनान्देव विनील-
सरोजानि येषु तै । अङ्गनास्यानि एव चपकाणि पानपात्राणि । 'चपकोऽङ्गी पान-
पात्रम्' इत्यमर । तै, मधुवारो मधुपानवृत्तिर्हृद्यता हृद्यप्रियतामुपययौ । 'हृद्यस्य
'प्रिय' इति यद्व्यत्यय । 'हृद्यस्य हल्लेखयदण्णलसेपु-' इति ह्रज्जाय । रमणविशेष-
णार्थहेतुककान्पलिङ्गस्यकीर्णरूपकालङ्कार ॥ ५७ ॥

किसलयानुकारी अधर के पान करने के अभिलाषी प्रेमीजन—

रमण करने वाले प्रेमीजन प्रेमिकाओं के अधर पल्लवों का रसपान करने की अभिलाषा

करके सुवर्तियों के मुख जो मधुपात्र के समान थे उनके विकसित नेत्र जो पात्रस्य नील कमल के समूह थे इस प्रकार से मानो वे मधुपान की आवृत्ति कर रहे थे वह उन्हें बहुत ही आनन्द-प्रद हुआ ॥ ५७ ॥

प्राप्यते गुणवतापि गुणाना व्यक्तमाश्रयवशेन विशेष ।

सत्तथा हि दयिताननदत्तं व्यानशे मधु रसातिशयेन ॥ ५८ ॥

प्राप्यत इति ॥ गुणवताप्याश्रयवशेन गुणानां विशेषः प्रकर्षं प्राप्यते व्यक्तम् । तत्तथा । बहुलं तत्पदैवेत्यथ । हि यस्मात् । दयितानां भाननेन करणेन दत्तं मधु रसातिशयेन स्वादुप्रकर्षेण कर्त्रां व्यानशे व्याप्तम् । विशेषेण सामान्यसमर्पण रूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५८ ॥

‘गुणों से सम्पन्न आश्रय के कारण गुणों में विशेषता आ ही जाती है यह बात स्पष्ट है क्योंकि प्रियतमा के द्वारा प्रदत्त मधु ने स्वाद के आविष्कृत से मधुपान के कर्ता को अपनी तरफ खींच लिया ॥ ५८ ॥

धीक्ष्य रत्नचपकेष्वतिरिक्ता क्कान्तदन्तपदमण्डनलक्ष्मीम् ।

जक्षिरे बहुमता प्रमदानामोष्ठथावकनुदो मधुवारा ॥ ५९ ॥

धीक्ष्यति ॥ रत्नचपकेषु रक्तिकादिमणिपात्रेषु । अतिरिक्तां यावकापगमात्पूर्वाम्य धिकां काम्तस्य यत् दन्तपदमण्डनं तस्य लक्ष्मीं शोभाम् । प्रतिबिम्बतामिति शेषः । धीक्ष्य । ओष्ठथावकनुदोऽधरलाचारागहारिणो मधुवारा । मधुपानाम्यासां प्रमदानां बहुमता अभिमताः । वर्तमाने च । लक्षोनात्पठोः । जक्षिरे जाताः । तेषां प्रियानुराग चिह्नप्रकाशाकत्वादिति भावः ॥ ५९ ॥

मधु के बार २ पान करने से सुवर्तियों के ओष्ठ प्रदेश की लाल म्हाकर छूट गई थी तथापि सुवर्तियों ने रत्न के दने हुये मधुपान पात्र में प्रियतमा के द्वारा किये गये दत्त क्षुद्र रूप आभूषण का शोभा को स्पष्ट प्रतिबिम्बित देखकर पुनः पुनः मधुपान को अपना अमोल समझा ॥ ५९ ॥

मधुपानाद्विलोचनेषु रागोत्पत्ति अधरेभ्यश्च लाचारागनिवृत्तिः, मध्वानमयोऽन्योन्यग धसकान्तिरिति स्थिते सस्युत्पत्त—

लोचनाधरकृताहृतरागा वासिताननविशेषिताया ।

धारुणी परगुणात्मगुणाना व्ययस्य विनिमयं नु वितेने ॥ ६० ॥

लोचनेति ॥ लोचने आधरश्च लोचनाधरम् । समुदाभावाः इति ‘व्यभिचारः ज्ञापकाद्यात्राधरसम्बन्धस्य पूर्वमिपात्तः । कृतव्यासावाहृतश्चेति विशेषणसमासः । लोचनाधरस्य कृताहृतो रागो यथा सा लयोक्ता । लोचनयोः कृतरागाधरादासमन्ता-कृतरागा चेत्यथ । पट्टवाभार्यसवम्भास्त्राभास्यस्य योगविशेषे पद्यवसानमियमेना

धिकरणापादाभार्थयोरारोहेपात् । तथा चाधरलोचनगुणयो रागतद्विरहयो स्थानपरिवृत्तिं
 कृतवतीत्यर्थ । तथा वासितेन स्वगन् मितसुरभितेन धाननेन विशेषितोऽतिशयितो
 गन्धो यस्या सा । यद्वा, - वासितानना चासावर्थादानेनैव विशेषितगन्धा चेति कृत-
 बह्वुवीहिर्विशेषणसमास । उभयथाप्याननसक्रन्तास्वगन्धा स्वसक्रन्ताननगन्धा
 चेत्यर्थ । पदभूता वाङ्मयी मदिरा परगुणात्मगुणाना परयोर्लौचनधरयोर्गुणी च
 परस्थाननस्य गुण आत्मनी वाङ्मया गुणश्च परगुणात्मगुणास्तेषा परगुणात्मगुणाना
 व्यत्यय विनिमय नु वितेने विस्तारयामास । चित्तन प्रामादिकी वस्तुपरिवृत्तिर्ब्यत्यय ।
 दुद्धिपूर्वा तु विनिमय । अत्र तन्त्रोच्चरितस्य 'परगुण' शब्दस्याद्गुणा परगुणौ च
 परगुणात्मगुणौ चेति चिद्गद् कथञ्चिद्गत्या सोढव्य । उपमानपूर्वपदबहुव्राहिवत् ।
 तथा चायमर्थ — परगुणधरधरलोचनगुणयो रागतद्विरहयोर्ब्यत्यय नु विनिमय नु
 वितेने, तथा परगुणात्मगुणयोराननगन्धात्मगन्धयोश्च व्यत्यय नु वितेने । अन्यथा
 कथमन्यस्मिन्नन्यधर्मोपलभ्य सभवतीति भाव । अत्र लोचनाधररापयोस्तदभाव-
 वांर्था भेदेऽप्यमेवाप्यवसायादेकत्ववाच्योक्ति । तस्मात्सन्मूलातिशयोक्त्यनुप्राणता
 चेय अत्ययविनिमययोरन्यतरकरणाद्दुत्प्रेषति सरोप । सा च प्रतीयमाना व्यञ्जका-
 प्रयोगात् । 'नु'शब्दस्तु सशये ॥ ६० ॥

'मदिरा ने (सुन्दरियो के) नेत्रों को रक्षित कर दिया था और उनके अशरो को
 रक्षित [जो मधवार लगाने से थी] को अपहरण कर हो लिया था ।' उसने उनके मुख को
 अपनी गन्ध से सुवासित कर दिया था तथा वह उनके मुखसुरभि से स्वयं सुरभित हो गई
 थी यह उसने अपने रणों से दूसरे के रणों का विनिमय [बदल बदल] किया था अथवा
 भ्रम में उलट कर हा कर दिया था ॥ ६० ॥

तुल्यरूपमसितोत्पलमक्ष्यो कर्णग निरुपकारि विदित्वा ।

योपित सुहृदिव प्रविभेजे लम्बितेक्षणरुचिर्मदराग ॥ ६१ ॥

तुल्येति ॥ अक्षयोस्तुल्यरूपमहितुल्याकृति योपित कर्णग कर्णावतरीकृतम् ।
 असितोत्पल निरुपकारि अनुपकारक विदित्वा ज्ञात्वा । तत्कार्यशोभाया कर्णान्त-
 विभ्रान्तेनाच्यैव कृतत्वादिति भाव । मदराग सुहृदिव उत्पलस्य वन्दुरिव । अनिष्ट-
 चारकत्वादिति भाव । लम्बितेक्षणरुचिराहितनयनकान्ति सन् । प्रविभेजे वर्णान्तरा-
 पादनेन प्रविभक्तवान् । अवैलक्षण्यकरादक्ष्यो व्यावर्तयमास । ततो विच्छिद् चकरत्वा-
 दिति भाव ॥ ६१ ॥

एक अक्षर ने अपने कान पर नीलकमल को धारण कर रक्खा था वह निकुल नेत्र
 के रंग से मिलता जुलता था उसी के विषय में अक्षि वर्णन कर रहा है —

मदराग ने कर्णोत्पल को अर्धों के समान नीले रंग का देखकर और उसे स्पर्श समझ
 कर नेत्र के रंगों को अक्षिमा ने परिणत कर मित्र के समान कमल की सेवा को तात्पर्य

यह है कि उस झुन्बरी ने अपने कानों पर जो नील कमल का पुष्प धारण कर रक्ता था—
 नवठीक भाँसों के रंग का था उसकी विद्यालय-सँकान पल्लव-वर्द्ध गई थी जिससे कर्णोत्पल
 को जगह को तो वह ही शोभित कर देती फिर उसको क्या आवश्यकता होती कि कुछ न्यर्भ
 हो जाता और वह भायिका उसे फेंक देगी ये सब धार्ने सोच समझ कर मद्रागने भाँसों
 को ही लाल रंग में रंग दिया। जिसने भाँसों से मन्ग झोभा होने लगी और कर्णोत्पल से
 भलग। अतः यह बेकार न हो पाया ॥ ६१ ॥

श्रीणयावकरसोऽप्यतिपानै कान्तदन्तपदसंसृतशोभ ।

आयथावतिवराभिष वध्या सान्द्रतामधरपल्लवरग ॥ ६२ ॥

क्षीणेति ॥ अतिपानै श्रीणयावकरसः श्रीणलाचारागोऽपि कान्तस्य द्यितस्य
 दन्तपदेन दन्तघटेन संसृता शोभा यस्य सः । वध्या अधरपल्लवरगोऽतिवराभित्ति-
 मात्रम् । अतिशयात्पत्यये क्रियेतिऽप्यय इत्यादिनाम्प्रत्यय । तद्विषया
 सर्व्वविमके इत्ययसजा । सान्द्रतां घनत्वम् । आवधाविव । प्रियोपभोगच्छिन्न
 मण्डितानां कामिभ्यवयवानां क्रिमन्मर्ममृद्वैदिति भावः । तत्र श्रीण स्यापि सा-
 द्रतेति विरोधाद् कान्तदन्तेष्वपि विशेषगत्या सा-
 द्रत्वे हेतुत्वा काव्यलिङ्ग सत्संकीर्ण
 चोपेक्षा ॥ ६२ ॥

बार बार मधपान करने से सुररमधियों के शोभ पर लपाने गये महावर धुलकर साफ
 हो गये थे तथापि शोभपल्लव की मन्धिमता जो प्राणेशरी के द्वारा किये गये दन्तघट से
 शोभित हो रही थी और अधिक बढ़ गई ॥ ६२ ॥

रागकान्तनयनेषु नितान्त निद्रुमारुणकपोलतलेषु ।

सवगापि दृश्ये धनिताना दर्पयौधिव मुखेषु मद्भी ॥ ६३ ॥

रागेति ॥ धनितानां सर्व्वगाऽपि सर्वाङ्गतापि । अन्तात्पन्त इत्यादिना
 ष । मद्भी रागेण काव्याति नयनानि येषु तेषु । विद्रुमारुणकपोलतलानि
 येषु तेषु । मुखेषु दर्पयौधिव नितान्त दृश्ये । तेषां नयनादिनैमक्येन रागाभिन्वलि-
 संभवादिति भावः । अत्र मद्भी सर्व्वगतपि मुखेष्वेव दृष्टा इति विरोधः ।
 तत्र मुखविशेषणं समाधानाद् काव्यलिङ्गानुप्राणितो विरोधवदानासोऽलङ्कारः ।
 स चोपमया संयुज्यते ॥ ६३ ॥

मद्भी तथापि उन सुधियों के अन्ततयह में मल्लक रही थी तथापि मन्-राग से रजित
 [अरण] नेत्र अन्त झुन्ड-लिलालई पदत थे - कपोलत्वनी भी प्रवाल [भूते] के
 सृष्ट शक दिखलाई / अतः यह / शब्द की भाँति मूल में अधिक
 मल्लक रही थी ॥ ६३ ॥

बद्धकोपविकृतीरपि रामाश्चारुताभिमततामुपनिन्द्ये ।

वरयता मधुमदो दयितानामात्मवर्गहितमिच्छति सर्वं ॥ ६४ ॥

बद्धेति ॥ बद्धा कोपेन विकृतिर्याभिस्तास्तथाभूता अपि रामा कर्म चारुता तासां सौन्दर्यं कर्त्रा अभिमतता मियवाह्वयम् । उपनिन्द्ये । सौन्दर्यं हि विकृतिमपि रोषयत इति भावः । मधुमदो दयिताना वरयता विधेयस्वमुपनिन्द्ये । तथाहि-सर्वं आत्म-वर्गहितमिच्छति । अतश्चारुता स्त्रीत्वात् स्त्रीणामुपचकार । मधुमदस्तु पुत्रत्वात् पुपा-मिति युक्तमित्यर्थः । अत्र विकृता अप्यभिमता कुपिता अपि वरया इति विरो-धस्य चारुतामदान्या समाधानाद्दुभयथापि विरोधाभासो भवन्नन्तरन्यासेन सम्भवते ॥ ६४ ॥

क्रोध करने के कारण [नाक भौंह सिकोचने से] सुवर्तियों में कुद्ध विकार आ गया था परन्तु सु दरता ने उसे अभीष्ट बना दिया । मधुमदने उन सुन्दरियों को अपने २ पति के वचन में कर दिया । क्योंकि सभी लोग अपने अपने पक्ष का कल्याण चाहते हैं तत्पर्य्य यह है कि 'सुन्दरता' शब्द स्त्रीलिङ्ग है और 'मदराग' शब्द पुल्लिङ्ग है, सुन्दरता ने स्त्रियों के सौन्दर्य को क्रोधादिक्रमे कारण विद्वत न होने दिया । यहाँ स्त्री ने स्त्री का उपकार किया । मदराग को देख स्त्रियाँ पतियों पर गुन्ध हो गई । यहाँ पुरुष (मदराग) ने पुरुष जाति का उपकार किया ॥ ६४ ॥

वाससा शिथिलतामुपनाभि ह्रीनिरासमपदे कुपितानि ।

योषिता विदधती गुणपक्षे निर्ममार्ज मदिरा वचनीयम् ॥ ६५ ॥

वाससामिति ॥ उपनाभि नाभिसमीपे वाससा शिथिलता ह्रीनिरास लज्जात्या-गम् । अपदे कुपितानि अस्थानकोपाश्च गुणपक्षे गुणकोटी विदधती निवेशयन्ती । दोषानप्येतान्गुणान्कृवंतीत्यर्थः । मदिराऽपि योषिता वचनीयम् 'न नामिं दर्शयेत्' इति शास्त्रनिषिद्धाचरणनिन्दा निर्ममार्ज । तथा दोषाणामपि पक्षशैथिल्यादीनां तदानीं गुणत्वात् कश्चिद्दृष्टनीयावकाश इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

मदिरा ने सुन्दरियों के नाभिप्रदेश के परिधान को शिथिल कर दिया, [जिससे आवृत नाभि खुल गयी] लज्जा को दूर भगाया, और बिना कारण उन्हें [सुन्दरियों को] कुपित किया । इस तरह उन्हें गुण की श्रेणी में रखकर [नाभि दिखलाना, निर्लज्ज बनना, तथा अकारण क्रोध करना]—इत्यादि अपवादों को उनके पास फटकने नहीं दिया (उन्हें मिटा ही दिया) भाव यह है कि शास्त्र में लिखा है "स्त्रियों को नाभि नहीं दिखलानी चाहिये, निर्लज्ज भी नहीं होनी चाहिये तथा किसी पर अकारण क्रोध भी नहीं करना चाहिये ।" मदिरा पान करने से ये तीनों दोष उनमें आ गये । उन्हेंने सब कुद्ध कर डाला इतलिये वे निन्दा के पात्र थीं तो भी मदिरा पान करनेवालों के लिये वे

सब बीगवह नहीं होते यही कारण है कि वे उत्तम मशी में ही रह गईं । कोई किसी प्रकार को निन्दा न कर सके ॥ ६५ ॥

महू पूषसखि निक्षिपतीनामात्मनो मधुमदोद्यमितानाम् ।

श्रीद्वया विफलया वनिताना न स्थित न विगतं हृदयेषु ॥ ६६ ॥

महूँ च्छिति ॥ उपसखि सखीसमीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावः । आत्मनः । स्वदेहान् । आत्मा जीवे छती देहे स्वभावे परमात्मनि इति वैजयन्ती । महू पु निक्षिपतीनां निपातयन्तीनाम् । महू णामुपरि पक्ष्मीनामित्यर्थः । माष्कीनद्योनुम् इति विकल्पानुमत्तावः । कुतः । मधुमदोद्यमितानां प्रतितानाम् । न तु स्वेच्छयेति भावः । वनितानामनुपसखीणाम् । वनिता वनितत्वार्थानुरागायां च योपिति इति विरवः । हृदयेषु विफलया । अनुविताचरणादिति भावः । श्रीद्वया न स्थित न विगतम् । वैफलयासस्या मदोपाधिक्रान्तेति भावः । अत एव गोमयनिषेधविरोधः ॥ ६६ ॥

उन अनुरागवती अप्पाराओ ने ओ मदिरा के नये से प्ररित हो रही थी सखियों के समीप अपनेको पक्षियोंके ऊपर गिरा दिया । इस तरह उनका उना करना ध्वंस हो गया । इसी यह स्पष्ट न ही पाया कि कृपा उनके हृदय में वर्तमान है अथवा नहीं गई ॥ ६६ ॥

रुन्धती नयनयाकथयिकासं सादितोभयकरा परिरम्भे ।

श्रीद्वितस्य ललित युवतीना चीवता बहुगुणैरनुजह्ने ॥ ६७ ॥

रुन्धतीति ॥ नयनाना वाक्यानां च विकास प्रागव्यय रुन्धती प्रतिवर्तती । तथा परिरम्भ आलिङ्गने सा इती स्तम्भितौ उभौ करी यथा सा युवतीनां सखिधनी चीवता मत्ततः । कर्त्तृनि क्तः । अनुपसर्गात्पुच्छेक्षीकृच्छोच्छाया इति निपातमात्सायुः । चीवो मत्त सत्य भावः चीवता । एतलोर्गुणवचनस्य पुनरावो वक्तव्यः । बहुगुणैश्चिसङ्कोचादिभिर्प्रोक्षितस्य प्राशया । भावे च । ललित विलासम् । अनुजह्नेऽनुचक्रे । कसति लिट् । श्रीद्विकायकरस्त्राधीदानुकरणमित्युपमालङ्कारः ॥ ६७ ॥

रुन्धता (मत्तवापन) ने नेत्र और मान्थो ने निस्तार को रोक दिया (अर्थात् भाषे भेषने छती और मुल से वान बन्द हो गई) आलिङ्गन के लिये हाथों को अटवट बना दिया इस प्रकार के अनेकों गुणों से युवतियों की कृपा के द्वारा दिये गये हाव भाषाणिकों का अनुकरण किया अर्थात् कृपा के कारण आप मानने का तरह देख नहीं सकतीं मुझमें वान नहीं निरक पायी और हाथ स्तम्भित हो जाते हैं तथा इच्छा मदिरा पान के पथान् मनवालापन में भी हुई इससे कह्य गया है कि मत्तवापनने रुन्धता से ही यह सब कुत सोया है ॥ ६७ ॥

योपिदुद्धतमनोभररागा मानवस्यपि यथी दयिताहम् ।

करयत्यनिमृता गुणदोषे वारुणी रज्जु रहस्यपिभेदम् ॥ ६८ ॥

योपिदिति ॥ उद्धत उत्कटो मनोभवेन यो राग प्रीति स यस्या सा योपि मानवत्पि दयितस्याङ्गधरौ । यतो मानाद्रागो बलीयानिति भाव । लाघवदोष परिहरति - कारयतीति । अनिष्टता स्वपला । न कार्यकारिणीत्यर्थ । बाष्णी मदिरा गुणेषु दोषेषु च विषये । सर्वोऽपि हृन्दो विभाषयैकवद्भवति । रहस्यविभेद रहस्यभङ्ग कारयति खलु । बलाक्षिगूहितावपि गुणदोषौ प्रकाशयतीत्यर्थ । यतोऽतिगूढरागप्रकटन प्रकटमानन्त्यागश्च प्रमत्ताया न लाघवमाचहति । अशुद्धिपूर्वकत्वादिति भाव ॥६८॥

जो सुराङ्गना मान कर बैठो थी वह भी कामदेव के कारण अनुराग दिखना कर अपने प्राणविष के अङ्क में स्वय उपस्थित हो गई (मान से राग प्रबल होता है) चबला मदिरा गुण और दोषों के विषय में निश्चय रहस्योद्घाटन कर देती है (भेद खोल देती है) मवलव यह है कि मदिरा में यह वही बिलक्षण बात है कि वह किसी की मुख देखी नहीं करती जो उसके पास गया चट उसके गुण और दोष को वह खोल करके ही छोड़ती है ॥ ६८ ॥

आहिते नु मधुना मधुरत्वे चेष्टितस्य गमिते नु विकासम् ।

आवभौ नव इवोद्धतराग कामिनीष्ववसर कुसुमेषो ॥ ६९ ॥

आहित इति ॥ मधुना मधेन चेष्टितस्य रतिव्यापारस्य मधुरत्वे माधुर्यं आहिते नु संपादिते नु प्रागसत्यैव मनोहरत्वे सप्रत्युत्पादिते वा । विकास गमिते नु प्रागसत्यैव माधुर्यं प्रकर्षं प्रापिते वा । उद्धतराग उद्विक्तराग । अत एव कुसुमेषो कामिनीषु अवसर प्रवेशो नव इवावभौ । नित्यसनिहितोऽपि मदन कामिनीषु मदकृततात्कालिकचेष्टामाधुर्याद्वागोदये सत्यपूर्ववद्गुहीसोऽभूदित्यर्थ । सद्यपानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा ॥६९॥

बाष्णी के द्वारा सम्भोगव्यापार में आनन्द के संपादित करने पर अथवा दस आनन्द में और उत्कर्षं वृद्धि करने पर रमणियों के निषय में पुष्पबाण [कामदेव] का उद्विक्त राग के साथ प्रवेश नवीनता धारण करता हुआ उदीप्त हो उठा । तात्कालिक [भय] की पहले शतना आनन्द नहा प्राप्त हुआ था जितना मद्यपान के अनन्तर प्राप्त हुआ [वन्दीजनो] मानी सकृन्नि

मा गमन्मदधिभूढाधियो न प्रोवृश्य रन्तुमिति शङ्कितनाथ कि धनको यह योपितो न मदिरा मृशमीषु प्रेम पश्यति मयान्यपदेऽपि ख पता चला तो

मा गमन्मदिति ॥ शङ्कितनाथा अविश्वस्तपुरुषा योपितो मदेन वि

बुद्धयो नोऽस्मान् प्रोवृश्य विसृज्य । प्रपूर्वादङ्गते समासेऽनन्पूर्ववत् तानाम् ।

मा गमन् न गच्छन्तु इति । मनीषयेति शेष । गमेर्माहं लुब्ध् । न गन्ति ॥७५॥

दायमप्रतिषेध । मदिरा मृशमतिमात्र नेपुर्नेच्छन्ति स्म । किंतु भयवियं प्रेम स वेपथ पपुरित्यर्थ । तथा हि—प्रेम स्नेह । अपदऽस्थानेऽपि मयामि अनिष्टानि

उते । शङ्कत इति यावत् । शङ्कहेतौ प्रेमिण कर्तृत्वोपचार ॥ ७० ॥ ताना यूनं

अपने अपने बहनों [प्रियतमों] के निषय में सकृत्कृत सुरपशुओं ने यह रतानि त्यय ।

सब रोगग्रह नहीं होते यही कारण है कि वे कष्टम ग्रथी में ही रह गए । कोई किसी प्रकार को निन्दा न कर सका ॥ ६५ ॥

भट्ट पूषसखि निक्षिपतीनामात्मनो मधुमदोद्यमितानाम् ।

श्रीद्वया विफलाया वनिताना न स्थित न विगत हृदयेषु ॥ ६६ ॥

भट्ट प्विति ॥ उपसखि सखीसमीपे । समीपार्थेऽप्ययीभावः । आत्मनः । स्वदेहान् । आत्मा जीवे पृथी देहे स्वभावे परमात्मनि इति वैजयन्ती । भट्ट पु निक्षिपतीनां निपातयन्तीनाम् । मत्तृ णामुपरि पतन्तीनामित्यर्थः । आच्छीनयोमुम् इति विकृ-
त्पाद्युमभावः । कुतः । मधुमन्मैद्यमितानां प्रेरितानाम् । न तु स्वेष्वयेति भावः ।
वनितामामनुवच्छीणाम् । वनिता अमितास्पर्शानुरागायां च योपिति' इति विरथः ।
हृदयेषु विफलायाः । अनुषितावरणादेति भावः । श्रीद्वया न स्थित न विगतम् ।
वैफलायसस्या मदोपाधिकं ज्ञातेति भावः । अत एव नोभयनिषेधविरोधः ॥ ६६ ॥

इन अनुरागवती अप्पाराभो ने जो मन्त्रि के नये से प्रेरित हो रही थी सखियों के समीप अपनेको पदिदोके ऊपर गिरा दिया । इस तरह उनका रुना करना व्यर्थ हो गया । इससे वह स्वतः न ही पाया कि रुना उनके हृत्थ में वर्तमान है रुधना चली गई ॥ ६६ ॥

रुन्धती नयनयाक्ययिकासं सादितोभयकरा परिरम्भे ।

श्रीद्वितस्य ललित युवतीना चीवता बहुगुणैरनुजङ्गे ॥ ६७ ॥

रुन्धतीति ॥ नयनानां वाक्यानां च विकास प्रागल्भ्य रुन्धती प्रतिवसती । तथा परिरम्भ आच्छिन्ने सा वृत्तौ स्तम्भितौ उभौ करौ यथा सा युवतीनां सबन्धिनी चीवता मच्छता । कर्तारि क्तः । अनुपसर्गा-पुल्लक्ष्मीबहुशोचलाया इति निपातना स्थायुः । चीवो मत्त तस्य भावः चीवता । स्वतन्त्रोर्गुणवचनस्य युवज्ञाने वक्तव्यम् । बहुगुणैश्च शिवाङ्गोपाद्भिर्ब्रूदितस्य साहाया । भावे च । ललित विलासम् । अनु जङ्गुलुचङ्गे । कसुरि छिट । श्रीद्वैक्यकरत्वाद्द्वीद्वानुरागमित्युपमाह्वार ॥ ६७ ॥

रुन्धता (मतवालापन) ने नेत्र और वाक्यों के विस्तार को रोक लिया (अर्थात् अ से जेपने एगी और मुस से पान रु हो गई) आच्छिन्न के लिये हाथों को अलग बना लिया इस प्रकार के अनेकों गुणों से युवतियों की रुन्धता के द्वारा निवे गये हुए भयान्त्रिक का क्रुत्करण किया अर्थात् रुन्धता के कारण आल सामने की तरफ देख - हाँ रुन्धतां मुपने पान नहीं निवृत्त पा १ और हाथ स्तम्भित हो जाते हैं यही दशा मन्त्रि पान के पश्चात् मन्वालापन में भी हुई इससे कहा गया है कि मतवालापन ने रुन्धता से ही वह सब कुत्त सीखा है ॥ ६७ ॥

योपिदुद्धतमनोभवरागा मानत्रत्यपि ययी दयिताङ्गम् ।

कारयत्यनिभृता गुणदोषे वारुणी रल्लु रहस्वनिभेदम् ॥ ६८ ॥

गतवति नखलेखान्द्रयतामङ्गरागे समददयितपीताताम्रविम्बाधराणाम् ।
विरहविंधुरमिष्टासत्सखीवाङ्गनाना हृदयमवललम्बे रात्रिसभोगलक्ष्मी ॥७८॥

इति भारविश्रुतौ महाकाव्ये किराताजुनीये नवम सर्ग ।

गतवतीति ॥ अङ्गरागेऽङ्गविलेपने नखलेखानु नखपदेषु लक्ष्यता दृश्यतां गतवति सति । विमर्दान्नात्रावशेषे सतीत्यर्थः । किंच, विम्बतुल्या अधरा विम्बाधरा । 'शाकपार्थिवादिस्वान्मध्यमपदलोपी समानाधिकरणसमास' इति वामन । समददयित् पीता पीडिता अतः पूजातिपीडनात् आताम्रा आसमन्ताङ्गका विम्बाधरा यासा तासामङ्गनाना सखन्वि विरहेणाद्विकेन वियोगेन विधुर विह्वल हृदयम् । रात्रिसभोगलक्ष्मी । नखपदादिशोभेत्यर्थः । इष्टासा सत्सखीव निपुणसहचरीवावल-
लम्बे धारयातास । मिथसभोगचिह्नशोभा स्पष्टा यमूवेत्यर्थः । मिथोपसभोगचिह्नशो-
भावलोकनलालसा कथं विरहमसहन्तेत्यर्थः । श्रुतिपूर्णोपमालङ्कारः । मालिनीवृ-
त्तम् । लक्ष्यं सूक्तम् ॥ ७८ ॥

इति किराताजुनीयकाव्यन्याख्याया घण्टापथसमाख्याया नवम सर्ग समाप्त ।

उन देवनिताओं के अङ्गराग (ज्वटन, विलेपन) केवल नखलक्ष्मों पर दिसलाई पढ़ रहे थे । उनके ऊपर, जो विम्बा [फका हुआ कुन्दुरू] फल के समान थे, मत्त प्रेमियों के द्वारा निपीडन किये गये थे अतएव [तामे के समान] ताजाम [लोहित] वर्ण धारण कर लिये थे । मिथ समागम बनित नखपद की शोभा ने उन बालाओं के हृदय पर मिथ सहचरी के सदृश स्थान बनाया अर्थात् रात्रि-सभोग का दशा स्पष्ट प्रतीत होने लगी ॥७८॥

नवम सर्ग समाप्त ।

दशमः सर्गः

अयामानुकसहजशोभासपन्नतया समग्रसाधना स्त्रियो मुनिमन प्रलोभनार्थं
प्रारथन्वित्याह—

अथ परिमलजामवाप्य लक्ष्मीमवयवदीपितमण्डनश्रियस्ता ।

वसन्तिमभिन्निहाय रन्ध्यावा सुरपतिसूनुविलोभनाय जग्मु ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ प्रभाते परिमलजा सभोगसमृता लक्ष्मीं शोभाम् । अवाप्य । 'सभोग' स्यात्परिमले' इति वैजयन्ती । सभोगास्त्रिय शोभन्त इति भावः । पूतेना-

समादधिरे प्रापुरिवेत्सुप्येसा । आद्यसुरतवदावरात्मवसन्त इत्यर्थः । यदुत्तरफालं दुर्कमं
तदतिवृष्णायानुभूयत इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

शुभक गन्धर्वों का निनके रतिखेर निद्रा के द्वारा दूर कर दिचे गये थे और जोहोने
उत्त्पन्न से पैतालिच्छे के द्वारा पके गये मङ्गल पाठ से निद्रा का त्याग किया था प्रेमेने जागामी
विपोग से अथाकुल सुन्दरियों के विषय में नयीनगा का पारय किया ॥ ७५ ॥

कान्ताजनं सुरतखेदनिमीलिताच्च सबाहितुं समुपयानिय मन्दमन्दम् ।
हर्म्येषु माल्यमदिरापरिमोगगघानाविश्रकार रजनीपरिवृत्तिवायुः ॥ ७६ ॥

कान्तेति ॥ सुरतखेदेन निमीलिताऽन्यथीणि येन त कान्ताजन स्त्रीसमूहं सबाहितुं
सेवितुमिष । खेदापयोदार्यमङ्गमर्दनं कर्तुमिवेत्यर्थः । सबाहन/बाहनेऽपि नरावेरङ्ग-
मर्दने इति विश्वः । बाह प्रयत्ने इति घातोरप्यन्तात्सुमुन् । अन्वधा णिअहणे
सबाहयितुमिति स्यात् । मन्दमन्द मन्दप्रकारम् । प्रकारे गुणवचनस्य इति द्विभवि
कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । समुपयात् सवान् । रजनीपरिवृत्तिवायु निशावसानम-
रुत् । हर्म्येषु मास्थानि च मदिरा च परिमोगो विमदश्च तेषां गन्धानाविश्रकार । बहि
प्रक्षारयामासेत्यर्थः । अथ सबाहितुमिवेत्युपेसा । मान्यगुणमूलत्वाद्गुणनिमित्तक्रिया
फलोपेसा ॥ ७६ ॥

निशावसान का बालु हत मकार मन्द मन्द चर रहा था मानो जब उन सुरसुन्दरियों
की जिहोने रतिखेद से अपनी आर्षों को भीषा निमीलित कर रण्यता या सेवा करने जा रहा
हो और उस (बायु) ने अदरियों पर पुष्पमाला मध तथा अक्षरागण्णि सायश्रियों को
विखेर दिया ॥ ७६ ॥

आमोदवासितचलाधरपल्लवेषु निद्राकपायितविपाटललोचनेषु ।
व्यामृष्टपत्रतिलकेषु विलासिनीना शोभा धवन्ध वदनेषु मदावरोपः ॥ ७७ ॥

आमोदेति ॥ आमोदेन मद्यगन्धेन वासिताः सुरमिताश्चला इक्षुमुकलवारस्तुरन्त
आधरपल्लवा येषु तेषु निद्रया कपायिताणि अपद्रुहृतानि विपाटलानि छोचनानि येषु
तेषु । कपायस्तुषरे न स्त्री निर्पासे रञ्जकादिके । सुरभावपटी रक्तसुन्दरे छवणेऽपि
च इति केशवः । व्यामृष्टानि प्रमृष्टानि पत्राणि तिलकाश्च तेषां तेषु विलासिनीनां
वदनेषु मदावरोपः शोभा धवन्ध । मण्डनान्तरापायै मदावरोप एव मण्डनं समूचेत्यर्थः ।
स्त्रीणां मद एव विमूर्णमिति भावः ॥ ७७ ॥

उन कामिनिषों के अवर पल्लव गुणों से सननर सुरत कर रहे थे निद्रा से अन्सावे
हुये उन (वापार्षों) के नेत्र अरण उपलसित हो रहे थे । उनकी तिणनरचना भी मिट
(दूरे) गयी थी । उनके मुद्रमण्डल पर जो कुण्ड बन्धा रुचा मदिरा का मद था लमीने उनकी
शोभा को भीषिन रण्यता ॥ ७७ ॥

गतवति नखलेखान्द्वयतामङ्गरागे समद्वयितपीतात्तान्निम्बाधरणाम् ।
विरहविधुरमिष्टासत्सखीवाङ्गनाना हृदयमवललम्बे रात्रिसभोगलक्ष्मी ॥७८॥
इति भारविहृतौ महाकाव्ये किराताजुनीये नवमः सर्गः ।



गतवतीति ॥ अङ्गरागेऽङ्गविलेपने नखलेखान्नु नखपदेषु लक्ष्यता इत्यता गतवति सति । निन्दान्तन्मात्रावशेषे सतीत्यर्थः । किञ्च, निम्बतुल्या अधरा निम्बाधरा । 'शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समानाधिकरणसमास' इति वामनः । समद्वै-
द्वयिते पीता दीहिता अत एवातिपीडनाद् आसन्ता आसन्ताद्गता निम्बाधरा
यासा तासामङ्गनाना सधन्वि विरहेणाङ्गिकेन वियोगेन विधुर विह्वल हृदयम् ।
रात्रिसभोगलक्ष्मी । नखपदादिशोमेत्यर्थः । इष्टाशा सत्सखीव निपुणलक्ष्मीवावल-
लम्बे धारयातास । प्रियसभोगसंघङ्गशोभा स्पष्टा वस्तुमेत्यर्थः । प्रियोपभोगच्छिद्वशो-
भावलोकनलालसा कथं विरहमसहन्तेत्यर्थः । श्रुतिपूर्वोपमालङ्कारः । भाङ्गिनीवृ-
त्तम् । लक्ष्मण वृत्तम् ॥ ७८ ॥

इति किराताजुनीयकाव्यव्याख्याया धण्टापद्यसमाख्याया नवमः सर्गः समाप्तः ।



एन देवनिताभौ के अङ्गराग (उवटन, विलेपन) केवल नखपदों पर दिखलाई
पड रहे थे । उनके अधर, जो निम्बा [पका हुआ कुन्दरू] फल के समान थे, मत्त प्रेमियों
के द्वारा निपीडन मिले गये थे अतएव [ताने के समान] तानाम [लोहित] वर्ण धारण
कर लिये थे । प्रिय समागम जनित नखपद की शोभा ने उन नखलों के हृदय पर प्रिय
सद्वचरी के लक्ष्मण स्थान अर्थात् रात्रि-सभोग का दशा स्पष्ट प्रतीत होने लगी ॥७८॥

नवमः सर्गः समाप्तः ।



दशमः सर्गः

अथान्नुत्सहजशोभासपत्तया समप्रसाधना स्त्रियो मुनिमनःप्रलोभनार्थं
प्रत्यक्षित्याह—

अथ परिमलजामवाप्य लक्ष्मीमथयवदीपितमण्डनप्रियस्ता ।
वसतिमभिविहाय रम्यहावा सुरपतिसुलुविलोमनाय जग्मुः ॥ १ ॥
अथेति ॥ अथ प्रभाते परिमलजा सभोगलक्ष्मी लक्ष्मी शोभाम् । अवाप्य ।
'सभोग' स्वल्पपरिमले' इति वैजयन्ती । सभोगलक्ष्मिण शोभन्त इति भावः । पुनरे-

यन्मुकशोभासंपत्तिरुक्ता । अत एव सुरतादिवर्णनस्य प्रस्तुतोपयोगित्वं चोक्तम् । अथ
सहस्रशोभासंपत्तिमाह—अथयवेति । अथयवै स्तनादिभिर्दीपिता मण्डिता च
मण्डनधी प्रसाधनशोभा यामिस्ता । रम्यह्यान्व मनोहरविच्छासास्तां स्त्रियं । 'हानो
विलासप्रदापासा' इति विरचं । वसतिं शिविरम् । अभिविहाय सर्वतस्यकवा
सुरपतिस्तुगोरजुनस्य विक्रोभनाय जग्मुः । अत्राययवदीपकतया प्रसिद्धस्य मण्डनस्य
सदीप्यत्वासंबन्धेऽपि संबन्धामिधानाद्बन्धवसीन्द्वयतिशयघोतनाथत्वावतिशयोक्तिर
लङ्कारः । अस्मिन्सर्गे पुष्पिताम्रावृत्तम्—अयुजि नपुनरेकतो यकारो युजि च मजौ
जरगाच्च पुष्पिताम्रा इति लक्षणात् ॥ १ ॥

प्रभात होते ही सुराङ्गनार्ये भोग विलास से उत्पन्न होने वाली शोभा को प्राप्त करके
अपने अन्न प्रत्यक्षों की शोभा से आनूयणों को विशोभित करती हुई मनोहर हान मार के
साथ अपने निपासप्रधान से इन्द्र पुत्र [अजुन] को आकृष्ट करने के लिये चल दी ॥ १ ॥

द्रुतपदमभियातुमिच्छतीना गगनपरिक्रमलाघवेन तासाम् ।

अवनिषु चरणै पृथुस्तनीनामलयुनितम्बतया चिर निवेदे ॥ २ ॥

मुतेति ॥ गगनपरिक्रमलाघवेन गगनगमनवेगेन द्रुतपदं यथा तथा अभियातुं
गन्तुमिच्छतीनाम् । किञ्च पृथुस्तनीनां तासाम्पत्तरसाम् । किञ्च अलयुनितम्बतया
न लघवो नितम्बा आसां तासां मावस्तथा तथा स्फुलनितम्बतया चरणैरवनिषु चिर
निवेदे स्थितम् । अग्न्यासपादवेन ममसा स्वरमग्नानामपि तासा स्तनजघनभाराचरणै
मोक्षस्थुरित्यर्थं ॥ २ ॥

वे हृन्दारिया जित गते आराध में उठ रही थी वसी तरह शीघ्र चलने की रम्भा
करने लगीं [किन्तु] उनके उरोख और नितम्ब मारी वे निम्नके कारण उनके चरण स्थीपर
धीरे धीरे पड़ने लगे [अर्थात् वे चाहती थीं आकाश में उठने की तरह स्थीपर भी
जल्दी २ चल् पर वे पैसा करने में असमर्थ हो गईं] ॥ २ ॥

निहितसरसयाथकैवभासे चरणतलौ कृतपद्मतिवधूनाम् ।

अविरलविततेव शक्रगोपैरुणितनीलतुण्डोत्पला धरित्री ॥ ३ ॥

विहितेति ॥ विहिता आतोपिता सरसयाथकां साग्द्रुलाचाराणा येषु तैर्बभूवन् ।
चरणतलैश्चरणन्यासे कृतपद्मतिः कृतमागेरिता । अत एव अरुणिता अरणीकृता
नीलास्तुण्डोत्पलास्तुण्जानि दूर्वादीन्मुलपा बलवमाक्यवास्तुण्जविशेषात् नस्वा हा ।
'उत्पला बलवजां मोक्षा' इति हलाद्युध- । 'उत्पला उत्तरीस्तुण्जानि' इति धीरस्वामो ।
माहान्परिमात्रकयुत्पलाणां वृषहनिर्दश- । धरित्री शक्रगोपैरिन्द्रगोपाक्यै- कीदरै ।
इन्द्रगोपस्यप्रियञ्च इति हेमः । अविरलं निरन्तरं यथा तथा वितता व्यस्येतेषु
व्येषा । यभासे ॥ ३ ॥

अप्सरार्यों के पैर के जलनों से, जिसमें लगाया हुआ महादेव कुंज नीला था, पृथ्वीपर पदचिह्न पटक कर नीले रत्न के अंस के तुल्य से आच्छन्न यह भूमि छाछरण से रग कर निरन्तर पीतवृष्टियों (कीट विशेष) से ग्वास होकर सुशोभित होने लगी ॥ ३ ॥

ध्वनिरगविवरेषु नृपुराणा पृथुरशानागुणशिञ्जितानुयात ।

प्रतिरवविततो वनानि चक्रे मुखरसमुत्सुकहससारसानि ॥ ४ ॥

ध्वनिरिति ॥ अगविवरेषु नगरभ्रेषु । गुहास्त्वित्यर्थ । प्रतिरवै प्रतिध्वनिभिर्वितत समूहित पृथुभी रशानागुणाना शिञ्जितै स्वमितैरनुयातोऽनुगत । भिलत इति यावत् । 'स्वमिते चक्षुष्याणा भूषणाना तु शिञ्जितम्' इत्यमर । नृपुराणा ध्वनिभि-ध्वनिर्वनानि मुखरा शब्दायमाका समुत्सुका उत्कण्ठता हसा सारसाश्च येषा तानि चक्रे । अत्र हसादिषु मुखरसमुत्सुकीकरणरूपेण वातुना तेषा नृपुरादिध्वनौ साह-स्याद्दससारसाम्तरकृजितभ्रान्तिप्रतीतिभ्रान्तिमदलद्धारो व्यज्यते ॥ ४ ॥

उनके [ध्वनारियों के] नूपुरों [पायजों] की ध्वनि, जो करणों की मोटी मोटी त्यों के शिजन से मिश्रित होकर मद्धृत हो रही थी, पक्षों की कदरार्यों से प्रतिध्वनित होकर सम्पूर्ण वनस्थलियों को मुखरित कर दी जिसे सुनकर पक्षों के निवासी हस और सारस भ्रम में पड़कर उत्कण्ठित हो उठे उन्हें यह प्रतीत हुआ कि हमारी जाति के और पक्षी बोल रहे हैं ॥ ४ ॥

अवचयपरिमोगवन्ति हिंस्रै सहचरितान्यमृगाणि काननानि ।

अभिदधुरमितो मुनि वधूभ्य समुदितसाध्वसविक्रमव च चेत ॥५॥

अवचयेति ॥ अवचय पुष्पफलादिच्छेदन परिभोग उपभोगस्तद्वन्ति । हिंसा

यातुका म्याघ्रादय । 'शाराशुर्षांतुको हिंस्र' इत्यमर । तै सहचरिता सहचरन्त । कर्तारि क । 'मतिबुद्धि-' इत्यादिसूत्रेण चकारात् सुतर्थायतादिवहर्तमानार्थता । अन्ये हिंस्रेतरे मृगा हरिणादयो येषु तानि सहचरितान्यमृगाणि काननानि । तथा समुदितेन साध्वसेन विक्रम विवशा चेतश्च वधूभ्य । 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति सम्प्रदानत्वात्तुर्थी । अभितो मुनि भिदधु । आरुह्य सूचयामासुरित्यर्थ । अवचयान्-दिच्छिद्यत्तुष्टयेनासद्यो मुनिमरित्यन्वमीयतेत्यर्थ ॥ ५ ॥

उन वनों में पशु-पक्षी अपने वातक जानवरों के साथ स्वप्नन्द विहरण करते थे, तथा आहारार्थ अर्वाचत फल-मूलादि सामग्री त्यों की त्यों पची हुई थी और उन शुकतियों का चित्त महामुनि अर्जुन से आगत मय की आशंका से निकल हो रहा था । इन दोनों ने [वन और चन्द्र ने] अर्जुन के निष्क होने की सूचना [उन वन लक्ष्णों के द्वारा] दी ॥५॥

नृपतिमुनिपरिमहेण सा भू सुरसाचिवाप्सरसां जहार तेज ।

उपहितपरमप्रभावधान्ना न हि जयिना तपसामलक्ष्यमस्ति ॥ ६ ॥

शशधर इति ॥ शशधरश्चन्द्र इव लोचनानिरामैर्नैत्राहावकैर्गानविसारिभिर्दृ-
भित्तैर्लोभि परीतो व्यासोऽन्वरवदकं सानुसन्न यस्य स । एकदेशस्थोऽपीत्यर्थः ।
महीधरस्येन्द्रकीलस्य सकल शिखरनिघयमपि पथत् आहृण्यशिवेत्युपेक्षा ॥ ११ ॥

नेत्रानन्वर तथा आकाशस्थापी विरणो से भावत मृगलान्धन (चन्द्र) की तरह
महासुनि (अर्जुन) एक ही शितासीन थे तो जो १२कील पन्त के सम्पूर्ण शिखरों को
व्याप्त कर लिये थे । अर्थात् अर्जुन के शरीर से प्रया निकल रही थी विसर्पे सम्पूर्ण पन्त ।
प्रवेश दैनीप्यमान हो रहा था ॥ १२ ॥

सुरसरिति पर तपोऽधिगच्छन् विधृतपिराङ्गुहृहृष्टटाकलाप ।

हविरिव बितत शिखासमूहे समभिलपन्नुपवेदि जातवेदा ॥ १२ ॥

सुरेति ॥ पुनः, सुरसरिति गङ्गाशूले पर तपोऽधिगच्छन् अर्थयन् । फलामिलाये
जेति शेषः । हवि समभिलपन्नित्युपमानविशेषणसामर्थ्यात् । तथा विधृत पिराङ्गुहृहृष्ट
जटाकलापो येन स । अत एव उपवेदि वेद्याम् । विभक्त्यर्थेऽप्ययीभावः । शिखा
समूहैर्ज्वालालालैर्विततो विस्तृतो हविराज्यादिकं समभिलपन् । जात वेदो हिरण्यम् ।
भोज्यं कर्मफलमिति भावत् । यस्मादिति जातवेदा बद्धिरिव स्थित ॥ १२ ॥

कपिशयर्थ की लम्बी लम्बी अर्धों का जाल (समूह) धारण किये हुए निम्न
(अर्जुन) गङ्गा के तटपर अभिलाष सिद्धि के लिये उत्कट तपश्चर्या कर रहे थे । उस समय
वह वेदों के समीप चान्नाजाल से विस्तृत हवि को अभिलाषा करते हुए अग्निदेव के
समान मालूम पड़ते थे ॥ १२ ॥

सदृशमतनुमाकृते प्रयत्न तदनुशुणामपरै क्रियामलङ्घयाम् ।

वधदक्षघ्न तप क्रियानुरूप त्वजयवती च तपसमा समृद्धिम् ॥ १३ ॥

सदृशमिति ॥ पुन आकृतेर्बहुषः । 'आकृति' कथिता रूपे सामान्यवपुषोरपि
इति विरथः । सदृश श्लथमतस्तु महात्मं प्रयत्नमुद्योग इवत् । तथा तदनुशुणां
प्रयत्नानुशुणामपरैरन्वरलङ्घयाम् । अनुशुणायामित्यर्थः । क्रियां व्यापारं इवत् ।
तथा क्रियानुरूप क्रियानुशुणामलघु गृह तपो इवत् । तथा विततवती सर्वोत्कर्षवती
विजयफलं वा तप क्रियानुरूपं तपसमां समृद्धिर्नैरथय इवत् । अत्र पूर्व अत्युत्तरत्
विशेषणतया स्थापनाध्ययमैकावक्यलंकारः— यथापूर्वं परस्य विशयणतया स्थापन
एकावली इति सचस्वसूत्रात् ॥ १३ ॥

आकृति (शरीर की पनापद) के अनुकूल उनका उद्योग महान् था ; प्रयत्नानु
ही उनकी क्रिया थी । वह क्रिया के द्वारा अतिक्रमण की वर्षों जा सकना थी । क्रिया के
फलमार उनका तप (शरीर साधन) भी उत्कृष्ट था । तप के समान ही विजयफलपर

चिरनियमकुरोऽपि शैलसार शमनिरतोऽपि दुरासद् प्रकृत्या ।
ससचिव इव निर्जनेऽपि तिष्ठन्मुनिरपि तुल्यरुचिस्त्रिलोकभर्तु ॥१४॥

चिरनियमेति ॥ पुनश्च, चिरनियमेन दीर्घकालतपसा कृषा श्रीणाङ्गोऽपि शैलसार ।
उपमानपूर्वपदो चङ्गमीहि । शमे निरतोऽपि प्रकृत्या स्वभावेन दुरासदो दुर्धर्षो निर्जने
विजने देशे तिष्ठन्नपि ससचिव सपरिवार इव । किंच, मुनिरपि । पेश्वर्परहितोऽपि-
स्पर्श । त्रयाणां लोकानां भर्तुरिन्द्रस्य । 'तद्वितार्थ'- इत्यादिनोत्तरपदसमास । तुल्य
रुचि समावृत्तेऽ । 'अपि'शब्द सर्वत्र विरोधघोतनार्थ । स च मुनेरतत्पर्यमहिमत्वेन
निरस्त इति विरोधाच्छकार, - विरोधाभासत्वं विरोध ' इति सूत्रात् ॥ १४ ॥

रौपकाळ से मती रहने के कारण दुर्बल हो गये थे तथापि पर्वत के सदृश बलवान थे ।
यद्यपि शान्ति के पुजारी थे तथापि स्वभावतः उनका तेज असङ्ग था । निजान प्रदेशमें रहते
थे तथापि मालूम पड़ता था - अपने मित्रादिकों के साथ वर्तमान मुनिवेषधारी थे तथापि
त्रिभुवनाधिपति इन्द्र) के सदृश तेजस्वी थे ॥ १४ ॥

तनुमवजितलोकसारधान्नीं त्रिभुवनगुप्तिसहा विलोकयन्त्य ।

अवययुरमरस्त्रियोऽस्य यत्न विजयफले विफल तपोधिकारे ॥ १५ ॥

तनुमिति ॥ अवजिते तिरस्कृते लोकानां सारधान्नीं सत्त्वतेजसी यया ताम् । 'अन
उपधा'- इत्यादिना स्त्री । त्रयाणां भुवनानां समाहार त्रिभुवनम् । 'तद्वितार्थ'-
इत्यादिना समाहारार्थे तत्पुरुष । पात्रादित्वाच्छ्रीत्वप्रतिषेध । तस्य गतौ रक्षणे सहा
'समर्थाम् । पचाद्यच् । तनु मूर्ति विलोकयन्त्योऽमरस्त्रियोऽप्सरसो विजयफले विजयार्थं
तपोधिकारे तपोनुष्ठानेऽस्यार्जुनस्य यत्न विफलभवयुर्मेनिरे । त्रैलोक्याधिपत्यादिमहा-
फलसाधनसमर्थस्य तुष्कफलाभिहाया मत्तमातङ्गमासभोगोचितस्य कण्ठीरवस्य
जीर्णतुण्यर्चणोत्कण्ठेव न शोभामावहतीति भाव । अत्र विशिष्टतनुविलोकनस्य स्त्री-
विशेषणवैफल्यजननहेतुत्वोक्त्या पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गमलकार ॥ १५ ॥

अमरकलनाथे तोनां लोक की रक्षा करने में समर्थ अर्जुन के शरीर की, जो सवार के
पराक्रम और तेज की तिरस्कृत कर रहा था, देखती हुई उस अर्जुन के विजयार्थ तपोनुष्ठान
विषयक यत्न को व्यर्थ समझीं तात्पर्य यह है कि उनके शरीर की शक्ति के देखते ही सुर-
सुन्दरियों ने सोचा कि यह ही चीं हैं जो चाहे कर सकता है तपस्या तो इसके लिये
उप्य साधन है ॥ १५ ॥

मुनिदनुतनयान् विलोभ्य सद्यः प्रतनुबलान्यधितिष्ठतस्तपासि ।

अलघुनि बहु मेनिरे च तां स्व कुलिराभृता विहित पदे नियोगम् ॥१६॥

मुनीति ॥ प्रतनुबलानि अनुकृष्टसाराणि तपास्यधितिष्ठतोऽनुतिष्ठतो मुनीन्

वसुतनयान् दानवांश्च सद्यस्तत्क्षणमेव विलोम्याकृष्य चिरात् कुलिशभृता शक्रेण ।
अलघुनि महति पदे स्थाने विहितं दत्तं स्व स्वकीयं निबोगमधिकारं तां स्त्रियो बहु
यथा तथा मेभिरे । निकृष्टपद्दुष्पीनासुसृष्टपद्दलाभो महान् । बहुमानमूलमिति भावः ।
विलोम्य मेभिरे इत्यन्वयः । यद्वा — विलोम्यं लोभं कारयित्वा विहितं शक्रेणेत्यन्वयात्
सनातकृत्यनिर्वाहः ॥ १६ ॥

ए टटमारहीन वपश्चर्या सम्पारन करते हुये मुनि और दानवों को शोष ही मोहित
करके उन सुरवाचजों ने सुरराम (इन्द्र) के द्वारा की गई उत्कृष्ट स्थान की अपनी
नियुक्ति को बहुत समझा भर्षाएँ उनलोगों ने सोचा कि अबतक साधारण मुनि और राक्षसों
का हमने छुमाया है अगर कहीं हम तपस्वी पर हमलोगों की चल गई तो इन्द्र हम लोगो
का उचिन सत्कार करेंगे ॥ १६ ॥

अथ कृतकविलोभन विधित्सी युवतिजने हरिसूनुदरानेन ।

प्रसभमवततार चिन्तजन्मा हरति मनो मधुरा हि यौवनश्री ॥ १७ ॥

अथेति ॥ अथ अनन्तर कृतकविलोभनं कृत्रिम विलोभन विधित्सी विधातु
मिच्छी । विपूर्वाद्घाते सन्नन्ताहुप्रत्ययः । युवतिजने हरिसूनोरर्जुनस्य वचनेन चित्त
अन्ना काम प्रसभं यलात् । अवततार । देवतत्पर घञ्प्रयितुभागतस्य मोहो भवति
यत् स्वयं मुनिवचनप्रवृत्ता स्त्रियस्तेन वञ्चिता इत्यर्थः । युवत चैतत् । हि यस्मात् ।
मधुरा मनोहरा यौवनश्रीमनो हरति । यलादिति शेषः ॥ १७ ॥

(इसके अनन्तर) अप्सराय कृत्रिम मोहन करने की अभिलाषा से भ्रात्री (कर रही)
था । यौवनी के अन्तर्न की देखा यौवनी उनके मनमें मनोमय (काम) का भवतार हो
गया (भर्षाएँ घट्टन के देखने ही के उनपर मुग्ध हो गई) क्योंकि युवावस्था की रम्य
शोभा मन को आरण कर लेती है ॥ १७ ॥

सपदि हरिसरसैश्चधूनिदेशाद्द्वानितमनोरमप्रल्लकीसूदृश्यै ।

युगपद्वतुगणस्य सनिधानं विवर्ति बने च यथायथं चित्तेन ॥ १८ ॥

सपदीति ॥ सपदि धधूनां निदेशास्त्रियोगात् ध्वनिता मादिमा मनोरमा वल्लक्यो
वीणा मृदङ्गाश्च यैस्तहरिसरसैर्गन्धर्वैर्विवर्ति आकाशे बने च युगपद्वतुगणस्य अतुपदृकस्य
सनिधानमा विर्भांते यथायथं यथायथम् । अस्तंकरेजेत्यर्थः । यथास्व तु यथायथम्
इति निधानः । चित्तेन चित्तस्तरे । उदीपनसामग्री सपान्तिवैत्यर्थः ॥ १८ ॥

शोभ हा सुश्रुवनिथो के आदिमानुषार—यन्त्रों ने मनोरम वीणा और मृदङ्ग बजाया
पुन एक हा कान में सही श्रुतियों को अन्त अन्त श्रोम तथा ननों में आदिपूज करके
विभूत कर दिया ॥ १८ ॥

अथ वर्षाक्रमेण ऋतून्वर्णयति—सजलत्यादि—

सजलजलधरं नभो विरेजे विष्टतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम् ।

व्यवहितरतिविग्रहैर्वितेने जलगुरुभि स्तनितैर्दिगन्तरेषु ॥१९॥

सजलेति ॥ सजला जलधरा यस्मिंस्तद् । नभो विरेजे । तडितो लता इव तासा रुचि प्रभा विष्टतिं विजृम्भणम् । इयाय । तथा व्यवहितरतिविग्रहैर्दूरीकृतारतिप्रक-
ल्पितप्रणयकलहैर्जलगुरुभि । जलभाराद्गम्भीरैरित्यर्थ । स्तनितैर्गर्जितै । दिगन्तरेषु
वितेने विततैरभाषि भावे लिट् । अकर्मकत्व वैशङ्किकम् । अत एव दिगन्तरेष्वित्य-
धिकरणत्वेन प्रयोग । अन्यथा कर्मत्वमेव स्यात् ॥ १९ ॥

नील नीरद से आकाश गाच्छन्न हो सुशोभित होने लगा । विष्टुछता की दमक स्पष्ट
दिपटाई पहने लगी । तथा जलमार से गम्भीर मीषर्जन, जिससे रतिकालिक प्रणयजनो
का कलह दूर हो गया था, दिगंतों में गूँज उठा ॥ १९ ॥

परिसुरपतिसुनुधाम सद्य' समुपदधन्मुकुलानि मालतीनाम् ।

विरलमपजहार बद्धबिन्दु सरजसतामवनेरपा निपात. ॥ २० ॥

परीति ॥ परिसुरपतिसुनुधाम अर्जुनाधम प्रति । परीति लक्षणाद्यै कर्मप्रवच-
नीयस्य योगाद्वितीया । यद्वा,—वर्जनार्थस्य तस्यात्र विराधाद्विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव ।
तथा च सुरपतिसुनुधाज्ञोत्थयं । सद्यो मालतीना जातीलतानाम् । 'सुमना मालती
जाति' इत्यमर । मुकुलानि समुपदधत् जनयत् । विरल यथा तथा बद्धबिन्दुरपा
निपातो वृष्टिरवने सयन्धिनीं सरजसता सरजस्कत्वम् । 'अव्यय विभक्ति' इत्यादि-
सूत्रेण साकत्यर्थेऽव्ययीभाव 'समासान्तनिपातश्च बहुव्रीह्यर्थस्तु लक्ष्यते । अव्य-
यीभावदर्शने तु प्रायिकम्' इति केशिद् । अपजहार । धूलिं शमयामासेत्यर्थ ॥२०॥

शोध हो अजुन के आधम के चगल बगल में मालती के पुष्प विकसित हो गये ।
१०० वरले जल शृष्टि ने भूमि को धूलि को शान्त कर दिया ॥ २० ॥

प्रतिदिशामभिगच्छताभिमृष्ट ककुभविकाससुगन्धिनानिलेन ।

नव इव विचभौ सचित्तजन्भा गतघृतिराकुलितश्च जीवलोफ. ॥ २१ ॥

प्रतिदिशामिति ॥ दिशि दिशि प्रतिदिशम् । यथाव्येऽव्ययीभाव । शरध्नृत्ति-
त्वात् समासान्तनिपात । अभिगच्छता सवाता ककुभानि अर्जुनकुसुमानि । 'इन्द्र-
दु ककुभोऽर्जुन' इत्यमर । तेषा विकासेन सुगन्धिना मनोजुगन्धेन । गन्धस्यैव
तदेकान्तग्रहण प्रायिकम् । अनिलेनाभिमृष्ट सस्पृष्टोऽत एव सचित्तजन्मा ।
कामाढान्त इत्यर्थ । अत एव गतघृतिर्गतधैर्य आकुलित चोभितश्च । रतिं
प्रतीति भाव । एवभूतो जीवलोको नव इव अवस्थान्तरप्राप्त्या अपूर्व इव विचभौ
भाति स्नेहयुक्तेषा ॥ २१ ॥

बाहु प्र येक लिखाओं की तरफ सवार करते हुए मनु न नाम के पुष्प विनास के कारण अद्भुत सुगन्धि से सुगन्धित होकर माथीमात्र को छुट कर दिया। उसके हृत्पत्र न म्भुराज का भाविर्भाव हो गया। सवा ने भय का परित्याग कर लिखा और रति के प्रति सबके सब झुम्ब हो गये। इस तरह से सब जीवलोक ने और का और ही होकर भूषण शोभा धारण किया ॥ २१ ॥

व्यधितमपि भृश मनो हरन्ती परिणतजम्बुकजोपमोगहृष्टा ।

परमृतयुवति स्वन वितेने नवनवयोजितकण्ठरागरम्यम् ॥ २० ॥

व्यधितमिति ॥ व्यधित हुआ वितमपि मनो मृष्ट हरन्ती । किमुत सुखितमिति भावः । जम्बुवा फल जम्बु । बाह्य च फले जम्बुवा जम्बु चो जम्बु नाम्बवयु इत्यमरः । जम्बुवा चा इत्यणभावपरोऽपि फले सुक इति सुक । 'लुकादितलुकि इति झीप्रत्ययनिवृत्तिः' । जम्बु च तत्फलं चेति सामान्यविशेषयोः सहनिर्देशः । यद्वा—जम्बुवा फलमिति विग्रहः । इको हत्वोऽहो शाक्यस्य इति हस्वः । तस्य परिणतस्वोपमोगेन हृष्टा । अत एव परमृतयुवति कोकिलाङ्गना नवनव नवप्रकार यथा तथा योजितेन सपादितेन कण्ठरागेन कण्ठमाधुर्येण रम्यम् । सौम्यमित्यधः । स्वन स्वर वितेने । वपास्वपि मधुरा स्वरा कोकिलाया इति प्रसिद्धिः ॥ २१ ॥

दुष्टियों के चित्त को अपहरण करती हुई कोकिला ने जो परिणत जम्बु फलके उपयोग से प्रसन्न हो रही थी कूक का जिसमें नये नये द्रव्य से कण्ठ के द्वारा राग अलापा ना रहा भा विल्लार किया अर्थात् सुमधुर राग से कूकने लगी ॥ २१ ॥

अभिभवति मनः कदम्बवायौ मद्मधुरे च शिरपिङ्गना निनादे ।

नन इव न घृतेश्चाल जिप्युर्न हि महता सुकरः समाधिमङ्गः ॥२३॥

अभिभवतीति ॥ कदम्बवायौ कदम्बसवन्धिनो मारुते मद्मधुरे शिरपिङ्गनां निनादे च मनोऽभिभवति अभिहरति सति जिप्युर्ज्येष्ठीलोऽहो जन पृथाज्जन इव घृतेर्धवाच्च चचाक । वर्षा अपि तदुद्दीपनाय न शेकुस्तिर्य्यः । हि यस्मात्, महता समाधिमङ्गो न सुकरः । न कनापि कर्तुं शक्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

कद्व कानिक तथा मन् के कारण मनोहर मधुर विरत मनको अपनी तरफ आकृष्ट कर रहा था तथापि ज्वनशील भजन साधारण पुरवां भी तरह भेगप्युत नहीं हुए क्योंकि वड़े लोणो की लमपि का मज्ज होना सरल मान नहीं है ॥ २३ ॥

धृतशिसत्रलयावलिबहन्ती कुमुदवनैकदुकूलमात्तथाया ।

शरदमलसले सरोनपाणी घनसमयेन धूरिवाललम्बे ॥ २४ ॥

धृतेति ॥ विसाधि बहपानीव सेपामानलिपता यथा सा । कुमुदवनमैकं मुख्य

सुहृत्समिव तद्ब्रह्मन्ती । अथा शृहीता बाणा नीलशिण्ठी यया सा आत्तबाणा, धृतरा
 च 'शृहीयात्त्रिया शरम्' इति स्मरणात् । 'बाणोक्ता नीलशिण्ठी च' इति वैचयन्ती ।
 शरद्वर्षायेव वनसमयेन वर्षर्तुना । वरेजेति शेष । अमलतले निर्मलतले सरोजं
 पाणिरिव तस्मिन् । आलङ्कम्बे अगृहे । कर्मणि ङिट् । वधूवरसमागमवहत्सुसधिर-
 शोभतेत्यर्थ । अत्र 'आत्तबाणा' इति शिण्ठीशरयोर्बाणयोरभेदाध्यवसायच्छूलेषमूला-
 तिशयोक्तिरुपमाङ्गमित्यनयो सक्कर ॥ २३ ॥

अब वर्षा का अवसान और शरद का प्रारम्भ है । वर्षाऋतु की उपमा वर के साथ
 और शरदऋतु की उपमा वधू के साथ दी गई है । मृणाल-तन्तुरूप करुण को, (धारण करते
 हुए) तथा कुमुदिनी के वनरूप वन को धारण करता हुई शरदरूपी वधू के जो नील
 शिण्ठी के पुष्प को धारण करती है, झकोमल करकमलो का आलम्बन वर्षाऋतुरूप
 करते किया ॥ २४ ॥

अथ ऋतुसन्धि वर्णयति—

समदशिखिरुतानि हसनादैः कुमुदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या ।

अभियमतिशयिनीं समेत्य जग्मुर्गुणमहता महते गुणाय योग ॥ २५ ॥

समदेति ॥ समदशिखिरुतानि मत्तमयूरकृतितानि हसनादैः समेत्य तथा कुमु-
 दवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या कदम्बपुष्पसपदा समेत्य । अतिशयिनीमतिशयवर्ती
 श्रि १ जग्मुः । तथा हि—गुणमहता गुणाधिकाना योग परस्परसमागमो महते
 गुणायोत्कर्षाय । भवतीति शेष । अत्र त्रिपाद्या समालकार—'सा समालकृतियौ-
 स्यवस्तुनोत्तमयोरपि' इति लक्षणात् । सोऽपि धतुर्थेनार्यान्तरन्यासेन स्वसमर्थके-
 नाद्वाङ्गिभावेन सकीर्यते ॥ २५ ॥

इसके पहिले कवि ने वर्षाऋतु का वर्णन किया है । शरदऋतु के प्रारम्भ में वर्षा और
 शरद दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है वसी का वर्णन 'समदशिखि६०' में किया
 गया है—

मत्तगले मयूरो का कलकृन्न रागईसों के विराव के साथ तथा कुमुदों के वन कदम्ब
 पुष्प की वृष्टि के साथ होकर अत्युपम शोभा धारण करने लगे क्योंकि उत्कर्ष गुणों का
 संयोग श्रुतलभोग गुणों का पोषक (बर्द्धक) होता है ॥ २५ ॥

सरजसम्पहाय केतकीना प्रसवमुपान्तिक्नीपरेणुकीर्णम् ।

प्रियमधुरसनानि पट्पदाली मलिनयति स्म विनीलबन्धनानि ॥२६॥

सरजसमिति ॥ प्रियमधुरिष्टमकरन्दा । नात्र कप्समासान्त । 'पुल्लिङ्गेत्तरपदो
 चडुभीहि' इति कैचित् । नपुसकलिङ्गस्यैव 'मधुशब्दस्योर प्रभृतिषु पाठात् 'मकर-

अक्षरों प्रकृत की विभूति दिखलाने के पक्ष पर हेमन्त ऋतु के प्रादुर्भाव से अर्जुन के विशेषतः के छिड़े प्रयत्न करने लगी —

हेमन्त के प्रादुर्भाव होने पर प्रियवृन्द के पुण्य विकसित हो गते । प्रफुल्लित कुन्द के रूप से स्वन सुरचित हो उठा । हेमन्त के प्रारम्भ होने के कारण मोहार्कष की गिरल गिरल गे । इस प्रकार चिरकाल तक इस ऋतु ने अज्ञात सम्भूत युग की जगृहता को जागृ किया ॥ २८ ॥

निचयिनि लवलीलाविकासे जनयति लोभसमीरणे च हर्षम् ।

विकृतमुपयथौ न परहसुत्तुञ्जलति नयान् जिगीषता हि चेत् ॥२९॥

निचयिनीति ॥ निचयिनि उपचययति ऊ दलोडवाना विकासे पुष्पविलुम्भणे तथा लोभसमीरणे हर्षं चोदकण्ठा जनयति सति पाण्डुसुतुर्विकृतिं नोपयथौ । कुत । हि यत्नात्, जिगीषता जेतुमिच्छता चेत् न यवाजीतेर्न चलयति । न हि श्लोभाकान्ते चेत्सि श्रद्धारसस्य विकास । तद्विरुद्धत्वाद्गोपस्येति भाव ॥ २९ ॥

सत्ता नाम की सता के विकसित पुष्पों के समूह से तथा लोभ समर्प से हरभित वाहु के द्वारा अर्जुन के मन में उत्कण्ठा हो रही थी तथापि जनक मया विकृत न हुआ क्योंकि निचयिनीयानियों का चित्त नीचिपथ से विचलित नहीं होता ॥ २९ ॥

कतिपयसकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवार ।

सुरभिमुखहिमागमान्तशशी समुपयथौ शिशिर स्मरैकवन्धु ॥३०॥

कतिपयेति ॥ कतिपयैरेव सहकारपुष्पैश्चतुस्तुमै रम्य । न तु वसन्तवत्समये, नापि हेमन्तवत्प्रद्विर्दिरिति भाव । तनुतुहिनोऽल्पहिम । न तु हेमन्तवत्प्रद्विर्दिव, नापि वसन्तवद्विरच्छदिव इति भाव । कल्पामि कतिपयामि त्रिजिद्राणि सिन्दुवा-
राणि विकसितानिर्गुणकसुमामि यासन्त् स । अथापि सहकारवदाभप्रायो दृष्टव्य ।
‘सिन्दुवारेणुसुरशी निर्गुणदीप्ताशिकेत्वयि’ इत्यमर । इत्थं सुरभिमुख वसन्त-
प्रारम्भ हिमागमान्त हेमन्तापलान धारति सूचयतीति स तथोक्त । स्मरस्यैकवन्धु
सहकारी । उभयार्तुवर्धघषचेरिति भाव । शिशिर समुपयथौ ॥ ३० ॥

हेमन्त से जो अर्जुन का मन न बिगा हो अन्तराओं ने शिशिर के प्रादुर्भाव का प्रदर्शन किया —

शिशिरऋतु, जो कानवेव का एकमात्र सदायक है, प्रादुर्भूत हो गया । इसमें कहीं कहीं ऊपर के मधुरियों के विचलित हो उठने से रम्य रहता है । इस ऋतु में (जीवार) उपारम्भ की न ही गृहता रहती है और न विरकता तथा निर्गुणों अर्धविकास को प्राप्त हो जाता है । शिशिरऋतु वसंत के प्रारम्भ तथा हेमन्त के अन्तानका सूचक होता है।

अथ वसन्तप्रारम्भमाह—

कुसुमनगवन्नान्युपैतुक्रमा किसलयिनीभवलम्ब्य चूतर्याष्टिम् ।

कगदलिकुलनूपुरा निरासे नलिनवनेषु पद वसन्तलक्ष्मी ॥ ३१ ॥

कुसुमेति ॥ कुसुमप्रधानानां नगानां वृक्षाणां कुसुमाना नगा वृक्षा वा तेषां वनानि । उपैतुमारोहु कामो यस्या सा । शैलवृक्षी नगावगौ इत्यमरः । कुम्पेदव रयम कृत्वे तु काममनसोरपि इति मकारलोपः । वसन्तलक्ष्मी त्रिसल्यिनी पद्म त्रिनी चूतर्याष्टिम् । चूतशाखामिवेति भावः । अवलम्ब्यावष्टम्ब्य । अम्यधारोत्तुमश्लक्ष्य स्वादिति भावः । कणत् विजमान शब्दायमानमलिकुल नूपुरमिव यस्या सा तयोक्ता सती । कगदलिकुलनूपुरम् इत्यपि पाठः । अन्यत्र—अलिकुलवद् नूपुरम् । नलिनवनेषु पद निरासे निदधे । तेषु प्रथम प्रादुरालोदित्यर्थः । उपैतगां वसन्त लक्ष्मी इति वचनादात्मनेपदम् । अत्र प्रकान्तवसन्तलक्ष्मीविशेषणसामर्थ्यादवस्तु तनाविकाम्यनहारसरारोपारसमासोन्तिरलक्षकार ॥ ३१ ॥

सुरसुन्दरियो ने देखा—अब ससे भी काव में सफलता प्राप्त न हुई तो शत्रुराज वसन्त को निमग्न श्रिया —

प्रयुक्त प्रधान पवतीपवनों में पहुचने का अभिलाष किये हुये शत्रुराज ने नवपल्लवयुक्त आश्रयति का सहाय लेकर सतेजिनी वन में नूपुरानुशरी अमर कुल के गुजार के साथ साथ पदार्पण किया ॥ ३१ ॥

त्रिकसितकुसुमाधर हसन्ती कुरवकराजिवधू विलोकयन्तम् ।

दृष्टयुरिव सुराङ्गना निपण्य सशरमनङ्गमशोकपल्लवेषु ॥ ३२ ॥

त्रिकसितेति ॥ त्रिकसितो त्रिच्छट्ट कुसुममेवाधरो यस्मिन्कमलि तथया तथा 'हसन्ती स्नपमाना कुरवकराजिरेव वधूस्तां विलोकयन्तम् । कामुकतपेति भावः । अत एव अशोकपल्लवेषु पल्लवसस्तरेषु निपण्यम् । स्थितमित्यथ । रिरसवेति श्लेषः । सङ्करम् । निम्प बज्रयित्वादिति भावः । इत्थं शत्रुराजोरेकाधिकरणमूलम् अङ्ग सुराङ्गना दृष्टयुरिवेषुष्येष्टा । अशोकाश्रयलोकनान्मदनसाङ्गकादादिव महाम्मन-सोमस्तासामासीदित्यर्थः । अत्र रूपकोषेषयो ससृष्टिः ॥ ३२ ॥

वसन्त शत्रुमें मानो शत्रुवाणाभों ने देखा—शत्रुने ने काव धारण कर अशोक किमल्यों पर बैठकर कुरवक पल्लि कर बधू को जो ईन रही थी देगा । प्रयुक्तिन पुत्र उस हाव्य में अशर का कामकर रहे थे ॥ ३२ ॥

मुद्गरनुपतता निधूयमान विरचितसहति दक्षिगानिलेन ।

अलिकुलमलकाकृति प्रपेदे नलिनमुत्तान्तविसर्पि पङ्कनिन्या ॥ ३२ ॥

मुहुरिति ॥ अनुपतताऽनुधावता दक्षिणानिलेन मलयमारुतेन मुहुर्विभूयमान
कम्पितम्, अत एव विरचिता संहतिर्येन । तत्सम्भूतमित्यर्थः । पङ्कजिन्या यच्चलिन-
मुखमिव तस्य अन्तर्विसर्पिं प्रान्तचारि । अलिकुल कर्तुं अलकाकृतिमलकसादर्य
प्रपेदे ॥ ३३ ॥

बार बार सञ्चरण करते हुये दक्षिण दिशा के समोर से भ्रमरों का परिवार एक दूसरे
पर बलम् पड़ता था । पद्मिनी के विकसित पुष्प के, जो मुखमण्डल के सदृश थे, चतुर्विध
गुञ्जार कर रहे थे उन क्षय वह केशपाश की शोभा बहान करने लगे । अर्थात् मुख के
चारों तरफ अलके लटकी हुई रहती हैं उसी तरह सुरानुकारी कमलपुष्प के चारों तरफ
धूमते हुये भ्रमर समूह दक्षिण पवन के झोंकों से परस्पर टलम् कर निहुरबाल के सदृश
मालूम पड़ने लगे ॥ ३३ ॥

श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे नवनिहितेष्वमिवावधूनयन्ती ।

मधुसुरमिणि षट्पदेन पुष्पे मुख इव शाललतावधूश्चुम्बे ॥ ३४ ॥

श्वसनेति ॥ षट्पदेन अलिना । शाललता सर्जतश्शाखा चूरिव शाललता-
वधू । 'प्रकारग्रहयो शाल शाल सर्जतश्च स्मृत' इति शास्त्रत । श्वसनेन वायुना
निश्वासेन च चलित पल्लवोधरोष्ठ इव पल्लवाधरोष्ठो यत्र तस्मिन् । 'वोत्वोद्यो'
समासे वा पररूप बल्लव्यम्' । मधुना मकरन्देन मधेन च सुरमिणि सुरान्धिनि
पुष्पे मुख इव नव यथा तथा निहितेष्वं कृतकोपमिवेति क्रियाविशेषणम् । तथा,
अवधूनयन्ती कम्पयन्ती । 'धूम् धीजोर्नुम्बकम्ब' इति णिचि सुरागम । चुम्बे
चुम्बिता । अत्र 'श्वसन' शब्दार्थ 'मधु'शब्दार्थयोश्च स्वस्वमेदाध्यवसायाच्छ्ले-
षमूलातिशयोक्तिः । सा चोपमाहमित्यनयो सकर ॥ ३४ ॥

भ्रमर ने कापती हुई शाललता वधू के पुष्प मुक्ता, जिसमें मकरन्द मध की गन्धि-
व्यक्त हो रही थी, चुम्बन किया । पवनरूप निश्वान से भ्रमरानुवारी पल्लव हिल
(चुरण) हो रहे थे। वह पुष्प-मुख मानो मानिनी के मुख का अनुकरण कर रहा था ॥ ३४ ॥

प्रभवति न तदा परो विजेतु भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा ।

अवजितमुवनस्तथा हि लेभे सिततुरगे विजय न पुष्पमास ॥ ३५ ॥

प्रभवतीति ॥ पर शत्रु । तदा तस्मिन्काले विजेतु न प्रभवति न शक्नोति ।
यदा जितेन्द्रियता इन्द्रियजयित्वम् । आत्मरक्षा भवति जायते । तथा हि - अवजित-
मुवनस्त्रैलोचनविजयी पुष्पमासो वसन्त । सिततुरगेऽर्जुने विषये विजय न लेभे ।
अतो जितेन्द्रिया दुर्जया इत्यर्थः । विशेषेण सामान्यार्थसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽ-
लंकार ॥ ३५ ॥

तत्काले शत्रु विजय प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता अतः शत्रु शक्ति बरकत रक्षा करने के लिये सज्ज रहता है। त्रिभुवनविजयी वसन्त ऋतु अर्जुन पर विजय न प्राप्त कर सके क्योंकि अर्जुन के पाप विवेन्द्रियता थी ॥ ३५ ॥

अथ ग्रीष्म वर्णयति—

कथमिव तव समतिर्भवित्री सममृतुभिर्मुनिनायधीरितस्थ ।

इति विरचितमल्लिकाविकास स्मयत इव स्म मधु निदाघकाल ॥३६॥

कथमिति ॥ विरचितमल्लिकाविकासो निदाघकालो ग्रीष्मो ऋतुभिवर्षादिभि सम मुनिनायधीरितस्थ विरच्छ्रुतस्य तव समतिलोके योग्यत्वेनानुमतिर्मायत्व कथमिव भवित्री । न संमान कथंचिन्न वेप्यतीत्यर्थ । इति इत्य मधु वसन्त । चैत्रे द्वैत्ये वमन्ते च जीवे। कोके मधु स्मृत इत विरच । स्मयते स्मेव जहास किमित्यु ख्यता । छद् स्मे इति भूतार्थे छद् । प्रहासस्य शुभ्र वेन कथमसिद्धेमल्लिकाविकासे हासवाप्यवसाय । अर्जुनि सममवधीरितस्थेत्यन्नाभेदाप्यवसायमूला सहोक्तिर लकार । सब घनेद्भिन्नस्यावधीरणस्याभिन्नतयाप्यवसायात् तदेवावधीरणमसमति द्वारा समयोत्प्रेषेत्यनयोर्द्वाङ्गिभावेन सकर ॥ ३६ ॥

अनराज भी अर्जुन से शर मान गये । अन निदाघ (ग्रीष्म) ने देखा—अर्जुन के द्वारा सम्पूर्ण ऋतुओं का तिरस्कार हो गया फिर मेरा सम्मान किस तरह हो सकेगा अब उसने मल्लिका को जो मनोहर हास के सदृश थी विकसित कर वमन्त को इसका दुःखाना पदार्पण किया ॥ ३६ ॥

बलनदपि बल मियोपिरोधि प्रभवति नैव विपद्यनिर्जयाय ।

मुयनपरिभवी न यत्तदानीं तस्मत्तुगण क्षममुन्मनीचकार ॥ ३७ ॥

बलवदिति ॥ बलवत् प्रयत्नमपि । प्रकृष्टाङ्गमिति यावत् । मियोपिरोधि परस्पर स्पर्धि बल सैन्यम् । बरुधिनी बल सैन्यम् इत्यमर । विपद्यनिर्जयाय शत्रुविज याय । 'तुमर्षाद्य इत्यादिना ऋतुर्थी । शत्रून्नुभयवध' । न प्रभवति न क्षतीत्वेव । कुत । यत् यस्मात् कारणात् भुवनानां परिभवी जेतापि । त्रिरुचि— इत्यादि भेदिप्रयय । ऋतुगणस्तदानीम् । तम् अर्जुन क्षमपि मौन्मनीचकारानुन्मनसमुन्म नय न चकार । अरमनश्च— इत्यादिनाऽमृततद्भावं प्थिप्रलय सखोपन्न । विनापेण सामान्यसमयनरूपोऽप्याम्तरन्यास ॥ ३७ ॥

प्रलय होने लगे भी परस्परस्पर्धी मना ऋतु के विजय में समर्थ नहीं होगा क्योंकि विवेन्द्रिय विजयी अन्तर्गो का समूह प्रलय के लिये भा उन तरसों (अर्जुन) को व्यथ न कर मत्ता ॥ ३७ ॥

एव सटस्थस्योद्दीपनसामग्री विकलेत्युक्तम्, सप्रति विपरीता जातेत्याह—

श्रुतिमुखमुपवीणित सहायैरविरलताच्छन्नहारिणश्च काला ।

अविहितहरिसूनुविक्रियाणि त्रिदशवधूपु मनोभव वितेनु ॥ ३८ ॥

श्रुतीति ॥ सहायैस्तासा सहचरैर्गन्धर्वैः । कृतमिति शेष । 'न लोक-' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेध । कर्तरि कृतीया । श्रुतिमुख ओन्नमधुरम् । उपवीणित वीणयोपगानम् । 'सत्यापपाश-' इत्यादिना 'वीणा'शब्दादिण्यजन्ताद्भावे क । अविरलैर्नूयोभिर्लान्घनैः पूर्वोक्तैः फलकुसुमादिभिश्चिह्नैर्हारिणो मनोहरा काला वसन्तादिशब्दतव । अविहिताऽकृता हरिसूनुर्जन्तस्य विक्रिया मनोविकृतिसौस्तानि तथाभूतानि सन्ति । 'नपुसक-मनपुसक-' इत्यादिना नपुसकैकदोष । त्रिदशवधूपु मनोभव वितेनुर्विस्तारयामासु । सोऽय परप्रहारार्थमुद्यतमायुध स्वास्मानमेव प्रहरतीति न्यायवजात इति भाव । अत्र मुनिविक्रियार्थं स्त्रीणां विक्रियारूपानर्थोत्पत्तिकथनाद्द्वितीयो विषमालकार । तथा च सूत्रम्—'विरूपकार्यान्वर्थोत्पत्तिरूपसघटनाद्विषमालकार' इति ॥ ३८ ॥

जन् सुरसुन्दरियो के सहायक गन्धर्वों ने ओत्रामिराम वीणा बजाया, समय भी कल्लवों के प्रादुर्भाव से फल-कुसुमादि चिह्नों द्वारा मनोहर था तथापि इन्द्रपुत्र (अर्जुन) का मन विह्वल न हुआ जिसके कारण सरवालाओं पर कागदैन ने अपना प्रभाव जमाया ॥ ३८ ॥

सटस्थबदालम्बनगणोऽपि विपरीतोऽमूदिति श्लोकद्वयेनाह—

न दलति निचये तथोत्पलाना न च विषमच्छदगुच्छयूथिकासु ।

अभिरतिमुपलेभिरे यथासा हरितनयावयवेषु लोचनानि ॥ ३९ ॥

नेत्यादि ॥ आसा लोचनानि हरितनयावयवेषु यथा तथा दलति विकसति उत्पलाना निचयेऽभिरति नोपलेभिरे न प्रापु । तथा च विषमच्छदगुच्छा सप्तपर्ण-स्तवका यूथिका मल्लिकाश्च तास्वभिरति नोपलेभिरे । 'सप्तपर्णो विशालस्वच्छारदो विषमच्छद्' इत्यमर । तथा रमणीयत्वात्तदवयवानामित्यर्थ । इति चङु-प्रीतिरुक्ता ॥ ३९ ॥

इन सुरसुन्दरियों के नेत्र जितना अर्जुन के धनु-प्रत्यङ्गों को देखकर प्रसन्न हुई उतना विकसित कमलों के सनूहसे तथा सप्तपर्ण के स्तवक और मालती से वृक्ष न हुये ॥ ३९ ॥

अथ मन सङ्ग सूचयति—

मुनिमभिमुखता निनीपचो वा. समुपययु कमनीयतागुणेन ।

भदनमुपदधे स एव तासा दुरधिगमा हि गति प्रयोजनानाम् ॥४०॥

ज्ञानाया सधन्वि अलक्षकवर्तनया लाघारसरक्षणेन अभिताम्रं विहित न्यस्त चरणं पट्पदाढी कर्त्री घृता नवलोहितपङ्कजानामभिज्ञाङ्गा प्रत्यग्रकोकनद्वन्नमो यया सा । अभिपपाताभिभावति स्म । अत्र पट्पदाढ्या स्त्रीचरणे पङ्कजभ्रमाभिधानाद्भ्रान्ति-मदलकार । तेन चोपमा न्यज्यत इत्यलकारेणालकारध्वनि ॥ ४२ ॥

रसमावादि व्यञ्जक चेशा विशेष पर ध्वान रखनेवाली सुररमशियो, के चरण पर, जो महाकर के बिलेप से ताम्रवर्ण की अस्थिमा बदन करते थे, भ्रमरपक्ति अभिनव अस्थ कलम (कौकनद) की आशङ्का से दूट पढ़ने लगी ॥ ४२ ॥

अविरलमलसेषु नर्तकीना द्रुतपरिषिक्तमलक्तक पदेषु ।

सवपुषमिव चित्तरागमूहूर्नामतशिखानि कदम्बकेसराणि ॥ ४३ ॥

अविरलमिति ॥ नमित्तशिखानि नर्तकीपादपीडनाशमिताप्राणि कदम्बकेसराणि । रङ्गपूजादत्तानीति शेष । अविरल सान्द्र यथा तथा द्रुतो रागोष्मणा विगलितोऽत एव परिषिक्त प्रसृतस्त द्रुतपरिषिक्त नर्तकीनामलसेषु पदेषु पादन्यासेषु । अलक्तक लाघाराग सवपुष मूर्तिमन्त चित्तरागमुत्कटतया कायाद्वहिर्निस्त मुनिविषयक रागमिषेस्युत्प्रेक्षा । ऊर्ध्वहन्ति स्म ॥ ४३ ॥

रङ्ग पूजामें समर्पित कदम्ब केसर, जिनके शिखाओं का प्रात माग भुक्त गया था, नर्तन क्रिया में रत अम्तराओं के चरणों में, जो स्थूलता से आलस्यपूर्वक थे, ससक्त लाघाराग की उन्मासे द्रवित साक्षात् मूर्तिवारी अनुराग के सद्गुण धारण किये ॥ ४३ ॥

अथासा शृङ्गारचेष्टा कथयति—

नृपसुतमभित समन्मथाया परिजनगात्रतिरोहिताङ्गयष्टेः ।

स्फुटमभिलपित बभूव वध्वा वदति हि सवृतिरेव कामितानि ॥४४॥

नृपेति ॥ नृपसुतमर्जुनम् । अभित समुख परिजनस्य सखीजनस्य गात्रेण तिरोहिता लज्जया स्वाकारगोपनावान्तर्हिताङ्गपरिचर्या सा तस्या समन्मथाया वध्वा । अभिलपित मुनिं प्रत्यनुराग स्फुटो बभूव । न च सत्रियमाणस्याभिव्यक्ति-विस्त्रेति वाच्यमित्याह—यत् सवृति सम्यग्गोपनमेव कामितानि अनुरागान् । कामयतेभावे च । वदति हि । प्रकटयतीत्यर्थ । अयमनुरागस्य स्वभाव उक्त । यथा चेष्टया राग सत्रियते सैवास्य प्रकाशिका जातोत भाव ॥ ४४ ॥

काम से पीडित एक अमरलक्षणा था, जो अर्जुन के सम्मुख आने पर सखियों के शरीर से अपने अङ्ग को तिरोहित कर रही थी, अनुराग, जो अभिलपित अर्जुन के प्रति था, व्यक्त हो गया (द्विदाने से भी द्विप न सका) क्योंकि सम्यक् गोपनचेष्टा ही अनुराग को व्यक्त कर देती है (यह अनुराग का स्वभाव है कि जिस चेष्टा के द्वारा उसे निगूहित किया जाता है वह उसकी प्रोतिका होती है) ॥ ४४ ॥

अभिमनि सहसा हृते परस्या घनमरुता नघनाशुकैकदेशे ।

चकितमयसनोरु सत्रपाया प्रतियुवतीरपि विस्मय निनाय ॥ ४५ ॥

अभिमुनीति ॥ अभिमुनि मुनिसमूह घनेन मरुता जघनाशुकस्यैकदेशे सहसा हृते सति सत्रपाया सलज्जाया परस्या संबन्धि अवसनौ निरावरणी ऊरु यस्मिंस्तत् । चकितं मयसंघमं प्रतियुवतीरपि सपत्नीरपि विस्मय निनाय । किमुताम्ब जनमित्यपिस्तद्द्वार्यं । न तु मुनिमित्वाशयः ॥ ४५ ॥

उपस्था अर्जुन के सम्मुख बाहु के भौंके से अन्य किसी नायिका के अधन वसन (वस्त्र) के उडावे जाने पर लम्बामाराक्रान्त युवती के चक्रपञ्चादृष्टने जिसमें विवस्त्र जपन ही कारण था सपत्नीजनों को मा आश्चर्य चकित कर दिया अन्य लोगों का कहना था 'ये सब कुज होते हुये भी अर्जुन का मनने मर्वादा को भ्रम न किया ॥ ४५ ॥

धृतविसयलये निधाय पाणी मुखमधिरूपितपाण्डुगण्डलेखम् ।

नृपसुतमपरा स्मराभितापादमधुमदालसलोचनं निदध्मौ ॥ ४६ ॥

धृतेति ॥ अपरा स्त्री स्मराभितापात् हेतोः । धृतानि विसान्येष वलयानि वेन तस्मिन् पाणावधिरूपिते चन्दनादिचर्चिते पाण्डु गण्डलेखे गण्डस्थले वरय सत् । मल्ल निधायारोप्य । अमधुमत् मधुमदरहिते तथापि अलसे लोचने यस्मिन्कर्मणि तथाथा तथा तं नृपसुत निदध्मौ परयति स्म । निर्वर्णनं तु निष्यान दृशनालोकने षणम् हृष्यमत् ॥ ४६ ॥

एक धीमती सुराहनाने अमदेव से सत्र होकर अपने हाथ में मृगाल तन्त का (कमल के कण्ठक के भीतर का सफेद रेशा) कटुण धारण कर लिया था । उसीकरतलप्रदेश पर सुत जिसम चन्दन विलेप के कारण चन्दन की रेशा और कपोल पाण्डुवर्ण के हो गये थे रखकर यद्यपि मधुमद नहीं था तथापि अलसाये हुये नेत्रों से तपस्वा (अर्जुन) को देखने लगी ॥ ४६ ॥

अथ पञ्चभिर्मुनिं प्रति दृतीवाक्यमाह—

सखि दयितमिहानयेति सा मा प्रहितवती कुसुमेपुष्पाभितप्ता ।

हृदयमहृदया न नाम पूर्वं भवदुपकण्ठमुपागत विवद ॥ ४७ ॥

सखीति ॥ कुसुमेपुष्पा कामेनाभितप्ता पीडिता सा नायिका । इ सखि ! दयित मुनिम् । इहानयति मां प्रहितवती भवदन्तिक प्रपितवती । किं त्वदिसुरयकारिणीय मित्याह—हृदयमिति । अहृदयाश्मनस्का । तस्यास्त्वदृत्तत्वादिति भावः । अत एव सा पूव प्रागेव भवदुपकण्ठं त्वरसमीपम् । उपागतं हृदय मनो न विवद । माम संभावनायाम् । अतो मत्प्रपणं ध्यर्थं तस्यान्तरङ्गत्वाद्दिरङ्गस्य दुपलत्वादिति भावः । एतेन मनसः उक्तः । अङ्गुप्रीतिस्तु प्रागेव सर्वास्तामुक्ति म पृथगुच्यते ॥ ४७ ॥

श्लोक संख्या ४४-५१ तक मुनि के प्रति दूती के वाक्य हैं —

उम झरबाह्यने कामदेव से पीड़ित होकर "हे सखि ! इस प्रात्याचार तपस्वी को यहाँ बुला आओ" इस प्रकार से आदेश देकर मुझे भेजा है, हृदय (मन) को प्रथम ही उसने आपके समीप सम्प्रेषित कर दिया, अत एव हृदयहीन होने के कारण उसने नहीं जाना कि हृदय तो भेजे उनके पास भेज दिया, फिर दूती क्यों भेजती हूँ ॥ ४७ ॥

'इह्मन् सङ्घकल्पा जगार कृशता रति । इतीत्यागोन्मादसूर्च्छान्ता इत्यनङ्ग-
दशा ददा ॥' इति । तत्राद्यमवस्थाद्वयमभ्यधाधि । सप्रति काश्चित् क्लमनैरपेक्षेण
सूचयति—

चिरमपि क्लित्तान्यपारयन्त्या परिगदितु परिशुष्यता मुखेन ।

गतघृण गमितानि सत्सखीना नयनयुगै सममार्द्रता मनासि ॥४८॥

चिरमिति ॥ चिर क्लित्तान्यपि सदेशार्थं दुःखया योजित्तान्यपि । वचनानीति

शेष । परिशुष्यता मुखेनेति जागरोक्ति । परिगदितुमपारयन्त्याऽशक्नुवत्या तथा ।
हे गतघृण ! अद्यापि ता नातुकम्पस इति भाव । सत्सखीना मनासि नयनयुगै सम-
मार्द्रता गमितानि । उपचव गमितानीत्यर्थं । शोकवाप्यैरिति भाव । अत्र सखी-
शोकोक्त्वा मूर्च्छावस्था सूच्यते । अत्र शोकवाप्यरूपकारणभेदात् प्रतियोगिभेदा-
द्याद्रत्वभेदेऽप्यभेदाध्यवसाय । तन्मूला चैव नयनयुगै सममिति, सहोक्तिर-
लङ्कार ॥ ४८ ॥

बहु दिनों से सन्देश भेजने के विचार से पहले ही से मनमें सोचि गये वचनों को
मैं श्वानीं सुख शोच होने के कारण व्यसन करने में थक (नायिका), अपने को असमर्थ
पाती है । हे कठोर हृदय, [अथात् जब भी उस पर ध्यान नहीं करते हो] मेरे सखियों
के अतः करण दोनों नेत्रों के साथ साथ आदर हो गये हैं अर्थात् शोकाश्रुतों से भीत
गये हैं ॥ ४८ ॥

अचकमत सपल्लवा धरित्री सृदसुरमि विरहृष्य पुष्पशय्याम् ।

भृशामरतिमवाप्य तत्र चास्यास्तव सुखशीतमुपैतुमङ्कमिच्छा ॥ ४९ ॥

अचकमतेति ॥ किं वाच्य चेत्याह—सा स्त्री सृदसुरमिश्च या ता सृदसुरमि
पुष्पशय्या विरहृष्य विहाय सपल्लवा धरित्रीम् । अचकमत पेच्छत् । तस्यास्ततोऽपि
शीतलवादिति भाव । कमेर्गिहन्ताइलुङ् । 'गिश्चिदुसुम्भ कर्तरि चङ्' इति द्विर्भाव
इति केचित् । तत्र । अचीकमतेति प्रसङ्गात् । अतो गित्प्रभावपक्षे 'कमेरप्लेशब्
वक्तव्य' इति वक्तव्याच्चाङि रूपभेदात् । अस्या नायिकाया । तत्र धरिष्यामपि सृदस-
रतिं दुःखम् । अवाप्य । सुखशीतीति सुख शीत शीतलञ्च त सुखशीत तवाङ्कमुस्त-
इत् । उपैतुमिच्छा । चर्तत इति शेष । अस्याश्रीसुख्य कथितम् । अत्रारतिजागरी

सुख्यकावित्यस्या नायिकाया क्रमेण पुष्पसम्याप्तनेत्रधारसबन्धकथनात् प्रथम
पर्यायालंकार । तदुक्तम्— क्रमेणैकमेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि । एकस्मिन्प्रथमानेकं
पर्यायालंकारिर्हिधा ॥ इति लक्षणम् ॥ ४९ ॥

उस नायिकाके सुन्दर सुगन्धमयी पुष्पश्या का परित्याग करके फलव से व्याप्त भूमि
की रक्षा की है [फलवको फूल से भी झीतल होने के कारण फूल झीठ फलवको पसन्द
करती है] उस सल्लवा भूमि पर भी वह यथा से सतत होकर झुपकर शीतल पुष्पाँ
कोट में विभ्रांन प्राप्त करने की रक्षा करती है ॥ ४९ ॥

तदनघ तनुरस्तु सा सकामा प्रजति पुरा हि परासुता त्वदर्थे ।

पुनरपि सुलभ तपोऽनुरागी युवतिपन खलु नाप्यतेऽनुरूप ॥ ५० ॥

तदिति ॥ तत् तस्मात्कारणात् तस्या दुरवस्थात्वाद्भेदो । हे अनघ निष्पाप ! तनु
करोति कार्श्यावस्थाकथनम् । सा नायिका सकामा सफलमभोरथा नस्तु । हि यस्मात्
त्वमेवाद्य प्रयोजनं वस्तु वा तस्मिन् एवार्थे निमित्ते सतीति शेषः । स्वामुहिरयत्पर्यं ।
परासुतां निष्पागत्व पुरा प्रजति प्रजिष्यति । मरिष्यतीत्यर्थः । तथा च तेऽनिमित्तह
त्वयानघ वय्याघात स्यादिति भावः । यावत्पुरा निपातयोर्लङ् इति भविष्यदर्थे
लट् । इदं च दशमावस्थाप्रदर्शनम् । न च तपोनिष्ठत्वाद्भेदमित्याह—पुनरिति ।
पुनरपि पश्चादपि । पुनरप्यमे भेदे इति विश्वः । तप सुलभम् । अनुरागी अनुरूपो
योग्यश्च युवतिजनस्तु नाप्यते न लभ्यते खलु ॥ ५० ॥

इसलिये उमरी दुरवस्था के कारण है निष्पाप ! उम कतीव छोया वा मनोऽमिता
सफल ही जाय क्योंकि तुम्हारे लिये पहले वह मरणासन्न हो गई है कदाचिद् मर न जाय ।
(उसको अन्धकार अथवा ध्यान बनने देना चाहिये) फिर भी तपधर्म सरलतापूर्वक
सम्पान की जा सकती है परन्तु प्रमी और योग्य युवतिजन को उपलब्धि नहीं होती ॥ ५० ॥

पूर्व प्रलोभितस्यापि मुनेर्मानं न भङ्गमित्याह—

जहिहि कठिनता प्रयच्छ धाच ननु करुणामृदु मानस मुनीनाम् ।

उपगतमउर्ध्वरयन्त्यभव्या स निपुणमेत्य कयाचिदेवमूचे ॥ ५१ ॥

जहिदिति ॥ कठिनतां निरग्रहतां जहिहि । त्यजेत्यर्थः । अहाते भा च ही इती
कारः । धाचं प्रयच्छ । सद्यस्त्वत्यर्थः । मुनीनां मानसमम करुणामृदु ननु धर्म
खलु । खाल्य इमानम मन इत्यमरः । किंच अमया निर्मातया उपगत प्राप्तयः ।
विषयमि त शय । अवर्धयन्ति अवमन्यन्तः । एषमुक्तप्रकारेण सोऽनुन कयाचिदप्य
समीपमागत्य निपुणं चतुर यथा स्वात्तथा उच उक्तः । नायिकया दूर्ती प्रति वदन्मु
क्तम् तथा दूत्या च मुनिं प्रति कवितमित्यर्थः । अत्र पञ्चस्यार्या विप्रलम्भमन्त्रारस्वी
सुरवनाम्ना स्वमिथारिमावस्य चापुनरक्तिः । अनौचित्यन नायिकाया प्रवृत्तरामात्मक-

मनुसंधेयम् । तदुक्तम्—'एकत्र चैत्रानुरागस्तिर्यङ्म्लेच्छगतोऽपि वा । योषिता बहु-
सक्तिश्चेद्रसामासस्त्रिधा मत ॥' इति । तत्रिवन्धनादूर्जस्वलमलकार । तथा च
सूत्रम्—'रसभेदतदाभासतत्प्रकाशाना निवन्धने रसवध्नायमूर्जस्वलम्' इति ।
[समाहितातिरसवन्धे रसवदलकार । भावनिवन्धने प्रयोऽलकार । रसभावनिवन्धे
मूर्जस्वलालकार । तत्प्रथमनिवन्धे समाहितालकार इति सूत्रार्थ] ॥ ५१ ॥

पारुष्य (निष्ठुरता) का परिस्वाग कोजिये । शाग्दान दीजिये । न्योक्ति तपस्विजन
का हृदय कण्ठा से कोमल होता है । किञ्च भाम्यहीन व्यक्ति प्रातः दस्तु की श्रवहेलना
करते हैं । इस प्रकार किसी कामपीडित सुराङ्गना का सन्देश किसी दूतीने आकर अर्जुन के
प्रति निवेदन किया ॥ ५१ ॥

सललितचलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसयमनाकुलैकपाणि ।

सुरपतितनये परा निरासे मनसिजजैत्रशर विलोचनार्थम् ॥ ५२ ॥

सललितेति ॥ सललित सविलास यथा तथा चलितेन विवर्तितेन त्रिकेण कटि-
भाषेन । 'पृष्ठवशाधरे त्रिकम्' इत्यमर । अभिरामा । शिरसि जाता शिरसिजा ।
'सप्तम्या जनेर्ब' । 'अमूषमस्तकात्स्वाङ्गादकामे' इत्यलुक् । 'उपपद्मतिङ्' इति
समास । एतेन मनसिजो व्याख्यात । तेषा सयमने बन्धन आकुलो व्यग्र एक
पागिर्यस्या सा । परा स्त्री सुरपतितनयेऽर्जुने । जेतैव जैत्र । 'जेवृ'शब्दान्तृजन्तात्
श्लादिभ्यश्च' इत्यणप्रत्यय । मनसिजस्य जैत्र शरस्त तथाभूतम् । विलोचनस्यार्थमे-
वेदेशम् । कटाचमित्यर्थ । निरासे विससर्ज ॥ ५२ ॥

अन्य सुरवाङ्गने निदका त्रिक (कटिभाग) सविलास चल रहा था, और जिसका
एक हाथ केशपाश के बंधन में लगा हुआ था, ध्यानदेव के अमोघ बाणनूत कटाक्ष का
देश के पुत्र (अर्जुन) पर प्रचेप किया ॥ ५२ ॥

कुमुमितमवलम्ब्य घृतमुच्चैस्तनुरिभकुम्भपृथुस्तनानताङ्गी ।

तदभिमुखमनङ्गचापयष्टिर्विसृतगुणोव समुज्जनाम काचित् ॥ ५३ ॥

कुमुमितमिति ॥ इभकुम्भवत् पृथुभ्या स्तनाभ्यामानतमङ्ग यस्या सा । 'अङ्ग-
गात्रकण्ठेभ्यश्च' इति ङीप् । काचित् तनुस्तन्वी । 'भोक्तो गुणवचनात्' इति विकल्पान्त
कीप् । कुमुमितमुच्चैरुन्नत घृतमवलम्ब्य । अत एव घृतलतायोगाद्विद्यतो विसृतो
गुणो ज्या यस्या सा । 'विद्यत विद्वृत ततम्' इति, 'भौर्वी ज्या क्षिप्रिणी गुण' इति
षामर । अनङ्गचापयष्टिरिव । आङ्गुष्ठमुक्तेति भाव । तदभिमुख समुज्जनाम समुज्ज-
जृम्भे । अङ्गमङ्ग चकारेत्यर्थ ॥ ५३ ॥

किसी और ऊँ देववाला ने, जो हाथों के कपोल के समान स्थूल कुचों के चार से
झुकी जाती थी, विकसित, उन्नत आत्र की शाला का-जो विद्वृत धनुष की प्रत्यक्षा के सदृश
था, अथगन्धन करके कामदेव के धनुष दल के समान आङ्गुष्ठ कर झोकर दी ॥ ५३ ॥

सरमसमजलम्य नीलमन्या विगलितनीवि विसोलमन्तरीयम् ।

अभिपतितुमना ससाध्वसेव च्युतरशनागुणसदितायतस्ये ॥ ५४ ॥

सरमसमिति ॥ अस्याऽपरा विगलितनीवि अथव-धनमत इव विलोळं स्थानचलि-
तम् । नीक्ष्यारक्त नीलम् । नीक्ष्या अन्ववत-प इत्यग्रस्थय । अ-तरीय परिधानम् ।
अवलम्ब्य हस्तेन गृहीत्वा । सरमसं सत्वरम् । अभिपतितुं मनो यस्या सा तथोक्ता ।
अपगन्तुमुद्युक्तस्यैव । तथापि ससाध्वसेव । नतु वस्तुतः ससाध्वसा किंतु प्युतेन
गलितेन रशावागुणेन सन्निता सती । अवतस्ये स्थिता । वद्रे सदानित मृतमुदितं
सदित सितम् इत्यमरः । कमणि क्त । घतिस्यतिमास्थाम्— इतीकार ॥ ५४ ॥

एक सुराक्षना की नीवी मुह गई जिममे नीनी सारी सरक गई उसे हाथ से पक कर
वह भागने का विचार कर रही थी तथापि बाबी (करपनी) से बचकर एक ही सारी रक
गई और वह भी अ पत्र न भगी ॥ ५४ ॥

काश्चिद्युग्मेनाह—

यदि मनसि शम किमङ्ग पाप शठ विपयास्तव बल्लभा न मुक्ति ।

भवतु दिशति नान्यकामिनीभ्यस्तव हृदये हृदयेन्द्ररावकाराम् ॥५५॥

यदीत्यादि ॥ तव मनसि शम शाश्वतैर्वि । अस्तीति शेषः । अङ्ग यो । चार्थ
किम् । किमर्थमित्यथ । किं तु हे शठ हे बल्लक ! तव विपया शलाहयो बल्लभा-
मिया । न तु मुक्तिः । तदेव प्रदधितुमाह—भवतु । को शेष इति शेषः । यच्छ
शारी तर्हि किमिति भवतीति गणयामीति शङ्कं निवारयति—दिशतीति । तव हृदये
मनसि हृदयेवरा काचित्तव प्रयसी । अ-यकामिनीभ्यः स्व-तरोभ्योऽवकारात् न विद्यति
न प्रयच्छति । स्वन्तरासवत्या मास्मान्गणयसि न तु धैर्यात् । तदधमेवार्थं ते
सकल प्रयासोऽपीत्यथ ॥ ५५ ॥

किं तु मु-री ने कहा—ए (तपस्विन्) यदि तु हारे इत्य म शान्ति का निताम इ
नो फिर वह अनुप निस गिये धारण करत हो ? कि तु अरे टग शत्रुको के भियव शान्ता
निक तु ह अ वन्प्रिय व उनम तुम धरन नहीं हा । जो तुम हमन्गो का नरक न
देसक नपुला भक्त बने हो हमरा कारण यह है कि तु हारे मन में कोई और रमणा बना
हुं है मन बदा भवनाश नहीं है जिमस हम लोगो का स्थान मिले ॥ ॥

इति विपमिनचश्रुपाभिधाय श्चुरदधराप्रममूयया कयाचिन् ।

अगगितगुमानलज्यामी स्वयमुरसि अयणात्पलन चध्न ॥ ५६ ॥

इतीति ॥ इतीरथम् । अमूयया मामनेण श्चुरदधरोष्ठो यस्मि-कमणि सद्यथा
तथाभिधायात्वा विपमितचश्रुपा रुट्टीहनदृष्टयाऽगगिताः शुरव आध्यायादयो

मानोऽभिमानो लज्जा च यथा तथा । कयाचित् । असौ मुनि । उरसि स्वयं स्वह-
स्तेनैव श्रवणोत्पलेन जग्मे हत ॥ ५६ ॥

इस प्रकार के वाक्य कह कर किसी दूसरी नायिका ने, जिसके अंशर पुट जुगुप्सा के कारण फड़क रहे थे, अपने अभिमान और लज्जा का कुछ भी विचार न करके कुटिल वृष्टि करती हुई कर्णोत्पल से स्वयं अर्जुन के हृदय में मारी ॥ ५६ ॥

सविनयमपराभिसृत्य साचि स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मी ।

श्रवणनियमितेन त निदध्यौ सकलमिवासकलेन लोचनेन ॥ ५७ ॥

सविनयमिति ॥ अपरा सविनयमनौद्धत्येन । साचि तिर्यक् । अभिघृत्य समीप गत्वा स्मितेन मन्दहासेन सुभगा एकस्य लसत कपोलस्य लक्ष्म्यो यस्या सेति बहुवचनपदोत्तरो बहुव्रीहि । अन्यथा कप्प्रत्यय स्वादिद्युक्त प्राक् । श्रवणनियमि-
तेन कर्णान्तप्रापितेन श्रोत्ररुद्रप्रसरेण । तावदापतेनेत्यर्थ । असकलेनासपूर्णेन,
कटाक्षेणेति यावत् । लोचनेन त मुनिं धनजय सकलमिव समग्रमाय यथा तथा
निदध्यौ पश्यति स्म । कटाक्षेणैव गाढमवाधीदित्यर्थ । पपु श्लोकेषु भावाभासनि-
बन्धादूर्जस्वलालकार । औत्सुक्यमत्र भाव । आभासत्व चास्य विरक्तमुनायवैचि-
त्यादित्युक्तं प्रागेवेति ॥ ५७ ॥

एक सुन्दरी, विनीत भाव से समीप जाकर मन्दहास करने लगी जिससे उसके
कर्ण परम सुशोभित हो रहे थे । वह कर्णपर्यन्त विस्तृत अर्द्धनिमीलित नेत्र से ध्यान
पूर्वक देखने लगी ॥ ५७ ॥

जथ तासा मुनिविलोभनमुपसहरति—

करुणामभिहित त्रपा निरस्ता तदभिमुख च विमुक्तमश्रु ताभि ।

प्रकुपितमभिसारणोऽनुनेतु प्रियमियती ह्यबलाजनस्य भूमि ॥ ५८ ॥

करुणमिति ॥ ताभि स्त्रीभि । तदभिमुख मुनिसमच करुण दीनमभिहितमुक्तम् ।
त्रपा निरस्ता लजा त्यक्ता । किंबहुना, अश्रु च विमुक्तम् । तत पर न किंचिद्दिधेय-
मासीदिति भाव । कुत । हि यस्मात्, अबलाजनस्याभिसारणे समागमविषये
प्रकुपितमनुकूल प्रियमनुनेतुमनुकूलयितुम् । इयती भूमिरित्येतावती सीमा । साध-
नाना परमावधिरिति भाव । अर्थान्तरन्यासोऽल्लकार ॥ ५८ ॥

वे सुन्दरिया दीनतापूर्वक अर्जुन के समक्ष बोलीं, लज्जा छोड़ी और कहा तक
कहा नाप आशुवोकी धारार्थे बहाई । इससे अधिक वे क्या कर सकती थी क्योंकि समागममें
प्रतिकूल प्रियको अनुकूल बनानेके लिए अबलाजनोके माधनोंकी सीमा भी वहीं तक है ॥५८॥

अथासामपुरागदाह्यं निगमयति—

असकलनयनेक्षितानि लज्जा गतमलस परिपाण्डुता त्रिपाद ।

इति विविधमियाय तामु भूपा प्रभवति मण्डयितु वधूरनङ्ग ॥ ५९ ॥

असकलेति ॥ असकलनयनेचितानि भयनाधिलोभितानि लज्जाऽलसं गत मन्द
गमनं परिपाण्डुता पाण्डुरवणत्व विपाद इष्टानवासिगिमित्तब्रह्म ॥ इति पूर्वप्रकारं
विविधं नानाविधेष्टितम् । नपुंसकमनपुंसक — इत्यादिना नपुंसकैकरीपत्वम् । तासु
भूषामिषायेति भाषप्राधान्येन योज्यम् । तथा हि—अनङ्गो मदनी चधूर्मण्डविर्षु
प्रभवति । सर्वविष्यास्त्विति शेषः । अतस्तासामनङ्गभूषितानामखिल भूषणमेवेति
भावः ॥ ५९ ॥

एन देववृष्टियों का रिद्धिभिर्भोजित नेत्रों से अवलोकन लज्जा मन्थर गति (धीरे
चलना) शरीर की पीठिमा और श्ठ के न प्राप्त होने के कारण विषाद से अनेक प्रकार
की क्रियाएँ उनकी अलङ्कारिणी होती हैं क्योंकि कानदेव सभी दृश्यों में अवलोकनों को
विभूषित करने में समर्थ होता है ॥ ५९ ॥

इदानीं तासां त्रिभिर्भुविषिलोभने प्रयासवैफल्यमाह—

अलसपदमनोरम प्रकृत्या जितकलाहसवधूगति प्रयातम् ।

स्थितमुरुजघनस्थलातिभारादुदितपरिश्रमजिहितेक्ष्ण वा ॥ ६० ॥

भृशकुसुमशरपुपातमोहादनवसितार्थपदाकुलोऽभिन्नाप ।

अधिकयिततलोचन वधूनामयुगपदुभमितभ्रु वीक्षित च ॥ ६१ ॥

अलसेति ॥ वधूनां सखिभिः प्रकृत्यालसैः परमनोरम मनोज्ञमत्त एव जिता कल-
हसवधूनां गतिर्वेन तत् । प्रयातं गमनम् । भावे क्त । तथा उरणोऽतिविपुलस्य
जघनस्थलस्थितिभारादितिगौत्वात् । उदितपरिश्रमणोद्गतभ्रमेण जिहिते क्ष्णिते
ईक्षणे यस्मिन् स्थितं वा स्थितिम् । सब्रज वाशब्द समुच्चये ॥ ६० ॥

भृशेति ॥ तथा भृशेन भातेन कुसुमशरस्य कामस्य इषोर्निपातेन यो मोहो मूर्खतां
तस्माद्भेत्तो अनवसितार्थैरस्फुटोच्चरणादनवधारिताभिधेयै पदैः सुसिद्धन्तादिभिः
भ्रमिततान्द्वैरादुक्त सखीर्णोऽभिन्नापो वाक्यप्रयोगश्च । अधिक वितते विखूते लोचने
यस्मिन्स्तदयुगपत् पर्यायेण । उच्चमिते भ्रुवौ यस्मिन्स्तन्वोचम् । ह्रस्वो नपुंसके प्राति-
पदिकस्य इति ह्रस्वः । वीक्षित वीक्षणम् ॥ ६१ ॥

जिनके प्रकृति से 'प्रालम्बयुक्त चरणां का प्रथम जो अतीव मनोहर था और रावदत्त को
शुवती को गति को भीन लेता था वे अतीव स्पूल जघन भार से बने हुए नेत्रों से पकड़ानुपक
देखनी थीं पुष्पराग (नामदेव) के तापण बाण प्रहार के कारण उत्पन्न मूर्खतापस्थानों
प्रयुक्त मन एव अत्यन्त सुखदादि वानियों से भाव व्यक्त नहीं होगा वा और वे आसों की
खूब खोजकर (भ्रवाँद धूर पूर कर देउने से) बार बार मोहों को ऊपर उठाकर अन्तुम
को तरफ देउ रही थीं ॥ ६० ॥ ६१ ॥

रुचिकरमपि नार्थवद्वभूव स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे ।

ज्वलयति महता मनास्यमर्षे न हि लभतेऽवसर सुखाभिलाष ॥६२॥

रुचिकरमिति ॥ पूर्वोक्त रुचिकर स्पृहाजनकमपि । 'रुचि कान्त्यर्चिपोर्भासि स्त्रिया शोभास्पृहार्थयो' इति व्रैजयन्ती । स्तिमितेन स्थिरेण समाधिना तपोयोगेन शुचौ शुद्धे । निर्विकारचेतसीत्यर्थं । पृथातनूजेऽङ्गुनेषिये । अर्थवत् सप्रयोजन न यभूव । तथा हि—महता धीराणा मनास्यमर्षे क्रोधे ज्वलयति सति सुखाभिलाषोऽवसरमवकाश न लभते । रौद्रस्य शृङ्गारविरोधित्वादिति भावः । अत्र विशेषकेऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ६२ ॥

यद्यपि सुरसुन्दरियों के समी मनोमोहक प्रयोग इदयद्वारी थे तथापि वे अविचल समाधिके कारण अविचल चित्त शाली अर्जुन के विषय में सफल न हो सके, क्योंकि क्रोध के उदीप्त होने पर धीर पुरुषों के मन में सृष्ट की लिप्ता स्थान नहीं पाती ॥ ६२ ॥

स्वय सराध्यैव शतमखमखएडेन तपसा

परोच्छ्रित्या लभ्यामभिलाषति लक्ष्मीं हरिसुते ।

मनोभि सोद्वेगै प्रणयविहृतिध्वस्तरुचय

सगन्धर्वा धाम त्रिदशवनिता स्व प्रतिययु ॥ ६३ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये दशम सर्गः ।

स्वयमिति ॥ पत्र हरिसुतेऽङ्गुने स्वयमखण्डेनाविलुप्तेन तपसा शतमखमिन्द्र सराध्य ग्रीणयित्वा परोच्छ्रित्या शत्रुवधेन लभ्या साध्या लक्ष्मीं राज्वलक्ष्मीम् । अभिलषति सति सोद्वेगै कार्यसिद्धयभावात्सनिर्वैर्मनोभिरुपलक्षिता । किंच, प्रणयविहृत्या प्रार्थनाभङ्गेन ध्वस्तरुचयो नष्टकान्तय सगन्धर्वा गन्धर्वसहितास्त्रिदशवनिता स्व धाम स्वस्थान प्रतिययु । शिखरिणीवृत्तमेतत्—'रसै रुद्रैश्चिद्भ्रा यमनसभला ग शिखरिणी' इति लक्षणात् ॥ ६३ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यख्यात्याया षष्ठापद्यसमाख्याया दशम सर्ग समाप्त ॥

इन्द्र तनय (अर्जुन) अविच्छिन्न तपश्चर्वा के द्वारा शतक्रु (इन्द्र) को स्वयं आराधित करके शत्रुवध के द्वारा प्राप्त होने योग्य राज्यश्री की अभिलाषा कर रहे थे । उनमें जिन अमरावतोंके सम्पूर्ण दल विफल हो गये उनका मन उद्विग्न हो पडा । प्रणयविपयिणी याज्ञा के विफल होने के कारण उनके शरीर का काम्ति बिरल हो गई और वे गन्धर्वों को लिये द्रिये अपने निवासस्थान (अमरावती इन्द्र की नगरी) को चली गई ॥ ६३ ॥

दशम सर्ग समाप्त



एकादश सर्ग

अधामर्षाभिसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तथा ।

आजगामाभ्रम जिष्णो प्रतीत पाकशासन ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ अप्सरसां प्रतिप्रयाणान्तरम् । पाको नाम कश्चिद्वाचस्तस्मिन्
शासन इन्द्र । नन्वादिवास्वमुत्पद्य । तथाऽऽप्सरोमुखाऽप्युत्तयाभमर्षावृद्धिपदद्वेषाच्च
सर्गाच्च वा जितेन्द्रियता तथाऽऽगन्तुकानागन्तुकोभयविधहेतुक्या प्रतीतो इष्ट
सन् । रयाते इष्टे प्रतीत इत्यमर । जिष्णोरञ्जुनस्य । जिष्णु शक्रे धननये
इत्यमर । आभ्रममाजगाम । अत्रामर्षाभिसर्गयोर्जितेन्द्रियताहेतुक काव्यलिङ्गं स्पृष्टम
वगम्यते ॥ १ ॥

अप्सराओं के लीं जाने पर स्वभावसिद्ध तथा शुक के साथ विष्णु के कारण अञ्जुन की
जितेन्द्रियता अञ्जुन पर पाकशासन के मालिक इन्द्र अञ्जुन के आभ्रम में गये ॥ १ ॥

निम्नरूपो निजरूपेणैवागतो नेत्याह—

मुनिरूपोऽनुरूपेण सञ्जुना दृश्ये पुर ।

द्राघीयसा यथोतीत परिक्लान्त किलाध्वना ॥ २ ॥

मुनिरूप इति ॥ मुने रूपमिव रूप यस्य स मुनिरूप । मुनिवेषधारीत्ययम् ।
इन्द्रोऽनुरूपेण दर्शनप्रदानयोग्यमेत्ययम् । सञ्जुना पुत्रेणाञ्जुनेन पुरोऽप्य दृश्ये इष्टः ।
कथमूत । यथो यौवनादिकमतीतो वृद्ध । द्वितीया भित्ति इत्यादिना द्वितीया
समाप्त । द्राघीयसाऽतिदीर्घेण । प्रियस्थिर- इत्यादिना दीर्घाव्यस्य द्राघावेश ।
अध्वना । अध्वरामनेनेत्ययम् । पारक्लान्त परिक्लान्त । किलेत्यलीके । किल समाप्त
वातयो । इत्यरूप्योरलीके च इति हेमचन्द्र । वृद्ध एव दूराध्वमान्त इव स्थित
इत्यर्थः । इव इति पाठे स्पष्टाय ॥ २ ॥

मुनिवेषधारी युवावस्था के अधिकमय वर्धा बहुत दूर से जाने के साथ यत्रे इव
इन्द्रो दर्शन प्रदान योग्य अञ्जुन से सामने देखा ॥ २ ॥

अथ अनुभिरिन्द्र विदिगच्छि—

जटाना कीणया केशै सहत्या परित सितै ।

पृक्तयन्दुकरैरह पयन्त इव संध्याया ॥ ३ ॥

जटानामिति ॥ परित सित केश कीणया व्यास्रया जटाना सहत्या समुत्प्लेव
लक्षित । अत एव इन्दुकरै पृक्तया युक्तया संध्योपलक्षितोऽयम् पयन्तो दिनान्त

इव स्थित । तस्याऽनुपपरिणतरूपत्वाद्बुद्धोपमानत्वम् । जटाना सहत्येत्युक्त्वात्, सध्यासाम्बम् ॥ ३ ॥

शररान (इन्द्र) ध्वलित केशों से स्वात अश्रुओं की सहति से उपलक्षित होकर चन्द्रमा की किरणों से युक्त सन्ध्या से व्याप्त दिवसावसान के सृष्टश दिखावार्हे पढ़ते थे ॥३॥

विशदभ्रयुराच्छन्नवल्लितापाङ्गलोचन ।

प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्ज इव हृद ॥ ४ ॥

विशदेति ॥ पुनश्च, विशदेन पलितपाण्डुरेण भ्रूयुगेन झृष्टे वलितापाङ्गे वल्लिम-
द्यान्ते लोचने यस्य स लघोक्त 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमर । पामादित्वाङ्गोमा-
दिसूत्रेण वल्लश्चत्यय । प्रालेयावतत्या हिमसहत्या म्लानपलाशानि कलान्तदलानि
अब्जानि यस्मिन्स हृद इव स्थित ॥ ४ ॥

पलित पाण्डुर वर्ण के भौहों से जन (इन्द्र) के दोनों नेत्र ढके हुए से थे । उन नेत्रों
के कीनों में सिक्कन पड़ गई थी । वे (इन्द्र) तुषार के डेर से सुरभावे हुए कमल दल
से व्याप्त सरोवर के सृष्टश मालूम पड़ते थे ॥ ४ ॥

आसक्तभरनीकाशौरङ्गै परिकुशौरपि ।

आधून सद्गृहिण्येव प्रायो यष्टश्चावलम्बित ॥ ५ ॥

आसक्तेति ॥ पुनश्च, परिकुशौ परिकीर्णैरपि, आसक्तभरनीकावैभारिकाण्ठान्तसदृशौ ।
समारवद्रुरुकमवदिरित्यर्थ । 'इक कावो' इति दीर्घ । अङ्गैरुपलक्षित । कापर्याङ्गधू-
न्यपि स्वाङ्गानि स्वय बोद्धुमसमर्थ इत्यर्थ । अत एव आधून औदरिक । 'आधून
स्यादौदरिको विनिगीषाविर्जिते' इत्यमर । आङ्पूर्वादीभ्यते ष । 'धू' शृङ्नु-
नासिके च' इत्युठादेश । 'दिवोऽविजिगीषायाम्' इति निष्ठानत्यम् । सद्गृहिण्याऽ-
नुकूलकलत्रेण इव प्राय प्राचुर्येण यच्छ्याऽवलम्बनदण्डेन । अवलम्बितो धारित ।
न तु स्वशाक्त्येति भाव ॥ ५ ॥

शररान (इन्द्र) के अङ्ग दुर्बल थे अह भार से दबे हुए के सृष्टश प्रतीत होते थे ।
बाई के महारे चढ़ते हुए बड़े पेटवाले पुरुष के सृष्टश मालूम पड़ते थे, जो अपनी स्त्री के
सहारे उठता बैठता है ॥ ५ ॥

गूढोऽपि वपुषा राजन् धाम्ना लोकाभिभाविना ।

अशुमानिव तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रह ॥ ६ ॥

गूढ इति ॥ वपुषा गूढोऽपि । प्रच्छन्नरूपोऽपीत्यर्थ । प्रकृत्यादिभ्य उपसख्याना
चुत्तीया । तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रह स्तोकाभ्रयुन्दान्तरितमूर्ति । अशुमानिव लोका-
भिभाविना लोकव्यापिना धाम्ना तेजसा । 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्याजे जन्मप्रभा-
वयो' इति हेमचन्द्र । राजन् दीप्यमानो ददश इति पूर्वेण सवन्व ॥ ६ ॥

वधपि इन्द्रदेव प्रच्छन्न होकर चलते थे तथापि उत्तार व्यापी तेज से उस क्षेत्र की तरह दोष हो रहे थे जो (एव) इसके बाकी भी तरह से वक्रा हुआ रहता है ॥ ६ ॥

जरतीमपि विघ्नान्प्रस्तजुमप्राकृत्याकृति ।

चकारान्प्रन्तलक्ष्मीक ससाध्यसमिधाश्रमम् ॥ ७ ॥

जरतीमिति ॥ जरती जीर्णाय । जीनो जीर्णो शरत्तपि दूरयम् । जीर्णवेरतीतार्थे चात्रप्रत्ययः । उगितश्च इति डीप । तस्य शरीर विभागेऽपि वधपि । अप्राकृत्याऽ-
लोकसामान्या भाकृतिमूर्तियस्य स इन्द्र व्याप्तान्ताऽभिमृता लक्ष्मीराश्रमशोभा यन
स आकान्तलक्ष्मीकः । अत्र उरप्रभृतिभ्यः क्य इति नित्यक्याश्रयणम् । पूर्ववच
भोत्तरपदस्यैव लक्ष्मीशब्दस्योरऽश्रुतिषु पाठ्यात् । शेषाङ्गिभाषा इति विकल्पाश्रयणे
तु बहुवचनोत्तरपद इति विवेकः । आश्रम ससाध्यसमिधश्चकार । वेदस्विद्वानाश्रय
मपति । तत्तु न हुःश्रवणं तस्यामालुपत्वादिति सूचयितुम् इय शब्दः ॥ ७ ॥

जीर्ण तथापि अलौकिक शरीर धारण किये हुये इन्द्र ने आश्रम की शोभा को आकान्त
करके आश्रमही मयाकुल को तरह कर लिया ॥ ७ ॥

अभितस्त पृथासूनु स्नेहेन परितस्तरे ।

अविज्ञातेऽपि थापी हि बलात्प्रह्लादते मन ॥ ८ ॥

अभित इति ॥ पृथासूनुश्चन । तम् इन्द्रम् । अभितस्त प्रति स्नेहेन परित
स्तरे । तत्रोच्येण प्रेम्णा पर्याभूत् । सूनुवाते कर्मणि छिट् । अस्तश्च सयोगादेशुण
इति गुणः । नन्वज्ञातस्य अविज्ञोपस्य तस्येन्द्रे कर्म स्नहोदय इत्यत आह—अविज्ञात
इति । अन्वै सुहृदि । अविज्ञातेऽपि वन्दुरवास्त्यज्ञातेऽपि बलात्प्रान्धवसत्तायक्षादिषु
मन प्रह्लादते हि विज्ञातित्यर्थः ॥ ८ ॥

इन्द्र के मान बैठे हुये पृथासुनु (अन्व) स्नेह से परिच्छुन हो गये । अलौकिक शरीर
धरने का भय भी कोरे नहा पहचान सकता है तथापि उसके मनन बलात् इषोद्रेक
होया है ॥ ८ ॥

आतिथेयीमथासाद्य सुतादपचिर्ति हरि ।

विश्रम्य विष्टर नाम व्याजहारेति भारतीम् ॥ ९ ॥

आतिथेयीमिति ॥ अथ हरिरिन्द्रः सुतादनुनात् । आतिथेयीम् अतिथिषु
साध्वीम् । अपचिर्तिथिवसतिस्वपतेचन । अपचिर्ति पूजाम् । आसाद्य साध्यः । पूजा
नमस्यापचिर्ति इत्यमरः । विष्टर आश्रमे । अश्वोरप इति लृणातेऽश्रमवयः ।
‘वृक्षासनपोर्विष्टर’ इति पञ्चम् । विश्रम्य नाम विश्रम्य छिट् । अममपचीयेत्ययः ।

इति वक्ष्यमाणप्रकारा भारतीं व्याजहार उक्तवान् । 'व्याहार उक्तिर्लपितम्' इत्यमर ॥ ९ ॥

सुरेन्द्र (इन्द्र) पुत्र से आतिथ्य सत्कार के उपयुक्त पूजा प्रहण करके बोधी देरतक आसन पर विग्राम करके (अर्जुन से) बोले ॥ ९ ॥

अथ प्रथम तावन्मुनिवदेन मुमुक्षु कृत्वाह—

त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तप ।

ह्रियते विषयै प्रायो वर्षीयानपि मादृश ॥ १० ॥

त्वयेति ॥ त्वया साधु समारम्भि सम्यगुपक्रान्तम् । रमे कर्मणि लुङ् । कुत । यत् यस्मात् । नवे वयसि यौवने । तप चर्चत इति शेष । तथा हि—अहमिदं दृश्यतेऽसौ मादृशो वर्षीयानसिद्धोऽपि । 'प्रियस्थिर-' इत्यादिना 'बुद्ध' शब्दस्य वर्षी-देश । प्रायो विषयैर्हियत आकृष्यते । किमु भवादृशो यवीयानिति भाव ॥ १० ॥

इन्द्र ने कहा—

तुमने अच्छा किया जो इस अल्पावस्था में ही तपश्चया प्रारम्भ कर दिया, मुझ जैसे व्यक्ति अधिक अवस्था के होते हुये भी विषयों के द्वारा आकृष्ट हो जाते हैं ॥ १० ॥

अथैवमनारम्भे तव स्वाकारलाभोऽपि त्रिफल स्यादित्याशयेनाह—

श्रेयसी तव सप्राप्ता गुणसपदमाकृति ।

सुलभा रम्यता लोके दुर्लभा हि गुणार्जनम् ॥ ११ ॥

श्रेयसीमिति ॥ तवाकृतिर्भूति । रम्येति शेष । श्रेयसी श्रेष्ठा गुणसपद तपसमारम्भरूपा सप्राप्ता । अतो न निष्कलेति भाव । न च स्वाकारा गुणाख्याश्च कियन्तो कियन्तो न सन्तीति वाच्यमित्याह—लोक इति । लोके रम्यता रम्याकारता सुलभा हि, गुणार्जनं गुणसपादनं दुर्लभम्, त्वयि तूभय सपद्यत इति हेन परमाभोद इति भाव ॥ ११ ॥

तुम्हारी आकृति परम रम्य है, कल्याण कारी गुणों की सम्पत्ति भी तुम्हें मिल गई है सौन्दर्यका तो ससार में मिलना कोई कठिन बात नहीं है परन्तु गुणों का प्राप्त करना कठिन काम है । तुममें तो सौन्दर्य और गुण दोनों मिलते हैं, ये तुम्हारे लिये सोने में सुगन्ध का काम देने हैं ॥ ११ ॥

यदुक्तम् 'त्वया साधु समारम्भि' (रलो० १०) इति, तदेव साधुत्व ससार-नि सारतात्प्राप्त्याय युग्मेनोपपादयति—

शरदन्धुधरच्छायागतवयस्यौ जीवनश्रिय ।

आपातरम्या विपया पर्यन्तपरितापिन ॥ १२ ॥

हरदिति ॥ शौचनभियस्तावत् शरदम्बुचरच्छाया इव गत्सर्वमश्रुता ॥ गत्वरश्म
इति करवन्तो निपातः । दिग्द्वाराज— इत्यादिना ङीप् । विषयाः शब्दादयस्तु
आपातरम्यास्तत्कारणमणीया । 'तदात्वे पात आपातः' इति वैजयन्ती । पर्यन्तेऽ-
वसाने परितापयन्ति दुःखं कुर्वन्तीति तयोक्ताः ॥ १२ ॥

सुखावस्था की शोभा शरदःकाल के मेघ की तरह चञ्चल है (जैसे शरदःकाल का आदल
आया और गया) शून्यादि जो ताप इन्द्रियों के विषय हैं वे उसी काल में रम्य प्रतीत
होते हैं परन्तु अन्तिमावस्था में सन्ताप मर ही होने हैं ॥ १२ ॥

अन्तक पर्यवस्थात्त जन्मिन सतत्तापव् ।

इति स्याये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिप्रते जनः ॥ १३ ॥

अन्तक इति ॥ किञ्च सतता अनवच्छिन्ना अपदं बलेष्वा यस्य तस्य जन्मिन
प्राणिनः । प्राणी तु चेतनो जन्मी इत्यमरः । ग्रीहादित्वादिनि । अन्तको मृत्यु
पदवस्थाता प्रतिरोद्धः । प्रथम तावज्जन्मिनो जन्मदुःखमेव दुस्तरम् ततो जातरव्य
जीवनमपि सततं दुःखसमिञ्चतया विपयुक्तप्रयागम् तदपि मृत्युप्रसक्तिमिति सोऽयम्
काकमासं शूनोर्द्विष्ट [दुर्गन्धं किमिसकुलम् । म्लेच्छपवव सुरासिक्तम्] स्वर्णं
तदपि कुलभम् ॥ इति म्यायादिति भावः । इति उक्तहेतोः । स्वाये भवे संसारे ।
भवतीति भव्यो योग्यो जनः । भवाच्छ इति शेषः । 'भव्यं सुखे शुभे चापि मेघव
योग्यभाषिनो इति विश्वः । 'भव्ययोग्य— इत्यादिना कर्त्तव्यं निपातः' । मुक्ता मोक्ष
उच्छिद्यत उद्युक्तो भवति । उद्योऽनूर्ध्वकर्मणि इत्यात्मनेपदम् ॥ १३ ॥

जन्मभारण करनेवाले प्राणी सर्वदा विपत्तियों से ढके रहते हैं । अन्त में मृत्यु से
अवश्य भाविनी है (तापर्य यह कि पहिले तो प्राणी को जन्म जन्मिले हुए उ भोगना पटना
है फिर जीवन यात्रा अनेक आपत्तियों से पूर्ण है अन्त में मृत्यु क विषय में कहना ही
क्या सतभोग जानते ही हैं) इस लिये यह संसार है ही जो सज्जन लोग हैं वे मुक्ति
प्राप्ति के लिये सतत यत्नशाल रहते हैं ॥ १३ ॥

संप्रति प्रशसापूर्वकं स्वामिसर्गं दृशयति—

चित्तवानसि कल्याणी यत्रा मातरुपस्थिता ।

विहृद्धं केवल वपं संदहयति मं मनः ॥ १४ ॥

चित्तवानिति ॥ चित्तवान् प्रशस्तचित्तोऽसि । प्रशसापूर्वं मृत्युम् । कुतः । यत् यत्
त्वं कल्याणी साध्वी । बद्धादिभ्यश्च इति ङीप् । मतिरुपस्थिता सगता । किं
केवलमेकं यथा तथा विहृद्धो यथा मे मनः संदहयति सत्पवयुक्तं कराति । यद्वा वेप-
कवळम् । वेपं पृथैव्य । 'कवळं कृमन् णके च कवळं चावधारिते इत्युभयत्रापि
सारयत् ॥ १४ ॥

तुम्हारा मन शुद्ध है जो तुममें इस तरह की मज्जलमयी बुद्धि का विकास हुआ है। एक तुम्हारा विरुद्ध भेष ही मेरे मन को झुंझ कर रहा है ॥ १४ ॥

बेषविरोधमेवाह—

युयुत्सुनेव कवच किमामुक्तमिदं त्वया ।

तपस्विनो हि वसते केवलाजिनवल्कले ॥ १५ ॥

युयुत्सुनेति ॥ युयुत्सुनेव योद्धुमिच्छुनेव त्वया । युधे सन्नन्तादुप्रत्यय । किमिदं कवचं वर्म । आमुक्तमर्पितम् । तत्र को विरोध इत्यत्राह—हि यस्मात्, तपस्विन केवले पुंके । कवचाद्यसहचरिते इति यावत् । ते च ते अजिनवल्कले च । 'निर्णीते केवलमिति त्रिचिद्ग त्वेककृत्स्नयो ' इत्यमर । वसत आच्छादयन्ति । अतस्तपस्विनस्ते कवचधारण विरुद्धमित्यर्थ ॥ १५ ॥

विरुद्ध भेष क्या है —

युद्धार्थी की तरह यह कवच तुमने किस लिये धारण कर रखा है ? तपस्वी तो केवल शृंगधर्म और वल्कल धारण करते हैं ॥ १५ ॥

प्रपित्सो किं च ते मुक्तिं निस्पृहस्य कलेवरे ।

महेषुधी धनुर्भीम भूतानामनभिद्रुह ॥ १६ ॥

प्रपित्सोरिति ॥ किं च, मुक्तिं प्रपित्सो प्राप्नुमिच्छो । 'सनि मीमा-' इत्यादिनेसादेश । 'अत्र लोपोऽन्यासस्य' इत्यन्यासलोप । अतो मुमुक्षुत्वादेव कलेवरे शरीरे शतस्पृहस्य नि स्पृहस्य । अतो नात्तरत्कार्यं धनुर्धारण युक्तमित्यर्थ । नापि परिहंसार्थं मित्याह—भूताना अन्तूनाम् । 'धमादी जन्तौ च भूतानि' इति बैजयन्ती । 'क्रुधद्रुहो रूपस्पृष्टयो कर्म' इति कर्मसंज्ञाया 'कर्तृकर्मणो कृति-' इति कर्तार पष्टी । अनभिद्रुहोऽर्हिसकस्य । 'सव्युद्धिप-' इत्यादिना क्तिप् । ते तव महेषुधी महानिष्कलौ भीम ब्राह्मणनक धनुश्च । न समर्थयते शममित्युत्तरेणान्वय । समर्थयत इति वचनविपरिणाम कार्य ॥ १६ ॥

तुम मुक्ति के अभिलाषी हो शरीर के विषय में तुम्हें निस्पृह होना स्वाभाविक है ऐसी दशा में तुम्हें किसी प्राणी से द्रोह बुद्धि नहीं रखना चाहिये अतः यह महान् तूणीर (तलकत) और भीषण धनुष धारण करना तुम्हारी शान्ति का समर्थन नहीं करता ॥१६॥

भयकर प्राणमृता मृत्योर्मुञ्ज इवापर ।

आसिस्तव तप स्थस्य न समर्थयते शमम् ॥ १७ ॥

भयकर इति ॥ तथा, मृत्योरपरो भुज इव प्राणमृता प्राणिना भय करोतीति भयकर । 'मेवर्तिन्मेषु कृज' इति खप्रत्यय । 'अर्हिस-' इत्यादिना सुमागम ।

असि खड्ग । तपसि तिष्ठतीति तपस्य । तपश्चरन्निवध । सुपि स्य इति कथस्यय । तस्य, तव शर्म शान्ति न समर्पयते न संमाचयति । किं शान्तस्य शस्त्रमेति भाव ॥ १७ ॥

वह कृपाण (तलवार) जो अग्निधारियों के लिये मृत्यु की दूतरी मुझ के सङ्घ भवान् है धारण करते हो वह तपोनिष्ठ धुंधारी शान्ति का समर्पण नहीं करता (शान्त पुरुष को शस्त्र से क्या प्रयोजन ?) ॥ १७ ॥

नम्यशान्तस्य किं तपसेत्याशङ्क्य जयार्थमित्याह—

जयमत्रभवान्नूनमरातिष्वमिच्छापुक् ।

क्रोधलक्ष्म जमावन्त कायुध क तपोधना ॥ १८ ॥

जयमिति ॥ अत्रभवान् । पूज्य इत्यथ । इतोऽम्बोऽपि हरयन्ते इति प्रथमार्थे प्राग्निदीपमसहस्यय । सुप्सुपेति समास । त्रिषु तत्रभवान् पूज्यस्तथैवात्रभवानपि इति यादव । अरातिषु शत्रुषु विषये जयममिच्छापुक् जयमिच्छु । 'लपत इत्यादिनोकप्रत्यय' । न लोके इत्यादिना पठ्यप्रतिषेध' । नूनमिति निश्चये । नून तर्केऽपि निश्चये इत्यमर । क्रोधस्य लक्ष्म क्रोपस्य लिङ्गम् । कायुर्थं कः । जमावन्त शान्ता तपोधना क । क्रोधशान्तयोर्विरोधात् तत्कार्ययो' शब्दतपसोरप्येकत्रासंगतेषु शस्त्रिणस्ते तपो जयार्थं न तु मोक्षार्थमिति निश्चय इत्ययम् ॥ १८ ॥

यह निश्चय हो रहा है कि तुम शत्रु से विजय प्राप्ति की अभिलाषा रखते हो (शोध का नहीं) क्योंकि क्रोधमूलक शस्त्र नहीं और क्षमाशील तपस्वी नहीं । अर्थात् जो शत्रु की जीवने की इच्छा रखना है वही शस्त्र धारण करता है और वो मुझ्छु ए उन्हें तो क्षमा की हो भाव-वचन पंती है ॥ १८ ॥

तपसो जयार्थत्वे दोषमाह—

य करोति यधोदर्का निश्चेयसकरी क्रिया ।

ग्लानिदोषच्छिद्व स्वच्छा स मूढ पङ्कयत्यप ॥ १९ ॥

य इति ॥ यः पुमान् । निश्चित ज्ञेयो निश्चेयस मुक्ति । अचतुर इत्यादिना समासात्तो निपात । 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणधेयोनिश्चेयसायुतम् इत्यमरः । निश्चेयस कुवन्तीति निश्चेयसकरी । निश्चेयसहेतुमित्यर्थ । कृणो हेतुताच्छी क्यानुलोम्येषु इति हेत्वर्थं व्यत्यय । शिखा-डीप् । क्रियास्तपोदानादिकर्मणि यधोदर्का हिसाफलका करोति । उर्ध्वं फलमुत्तरम् इत्यमरः । अत एव मूढ स पुमान् । ग्लानिरेव दोषस्त क्षिन्दन्तीति ग्लानिन्येषच्छिद्व पिपासाहारिणी । निप् । स्वच्छा निमज्जा अप पङ्कयति पङ्कयती करोति । 'गाविष्टवज्ञाये विन्मतोऽमुक्'

इति मनुष्यो लुक् । महाकलसाधनस्य तपसस्तुच्छफलैर्विनियोग स्वच्छाम्बुन पङ्क-
सकरवत् प्रेक्षावन्निर्गहित इत्यर्थः । अत्र 'यत्तपसो बधोदकाकरण तन्निर्मलस्य पयस
पङ्कसकरीकरणम्' इति वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्य प्रतिविम्बकरणालेपादसम्भव-
इत्सुसम्बन्धाद्वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनालङ्कार ॥ १९ ॥

जो पुरुष मोक्षसाधिका क्रिया को हिसात्मक बनाता है वह मूर्ख तथाशान्ति समय
पवित्र जल को गदला बना देता है ॥ १९ ॥

मन्वर्थकामयोरपि मोक्षवत्पुरुषार्थत्वात्तपसस्तदर्थत्वे को दोषस्तत्राह—

मूल दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः ।

तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदानुपप्लवौ ॥ २० ॥

मूलमिति ॥ हिंसादेरिति तद्गुणसविज्ञानो बहुव्रीहि । 'आदि'शब्दात् अतुतस्ते-
पादीना सग्रह । दोषस्य अवगुणस्य मूल कारणभूतौ । 'स्त्रीकामा धनकामाश्च किं
न कुर्वन्ति पातकम्' इति भावः । अर्थकामौ मा स्म पुषो नोपशिनुष्व । 'स्मोत्तरे लङ्
च' इति लङ् । 'पुषादि-' इत्यादिना च्छेरडादेशः । हि यस्मात्, तौ अर्थकामौ
तत्त्वावबोधस्य तत्रज्ञानस्य । मोक्षसाधनस्येति शेषः । दुरुच्छेदी दुर्बारी उपप्लवौ
हिंसादिप्रवर्तकत्वावन्तकौ । अत्र पुरुषार्थपरिपन्थिनावेतौ न पुरुषार्थावित्यर्थः ॥२०॥

बड़ा कदाचित् यह कहा जा सकता है कि मोक्ष के लिये नहीं, अर्थ और काम के लिये
तपस्या कर रहे हैं उसका उत्तर यह है —

हिंसादिक जो अवगुण है उनके ये अर्थ और काम जड़ हैं (इन्हीं के कारण हिंसा
होती है) न त इनकी इष्टि नहीं करना चाहिये क्योंकि ये दोनों तत्वज्ञान के पैसे जुटते
हैं भिनको कोई उपाय नहीं है ॥ २० ॥

मुक्तिप्रतिषन्धकत्वादपुरुषार्थावर्थकामावित्युक्तम्, तत्रार्थस्य तु खैकनिदानत्वात्-
प्यपुरुषार्थत्वमिति पञ्चमि प्रपञ्चयति—

अभिद्रोहेण भूतानामर्जयन् गत्वरी श्रियः ।

उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ॥ २१ ॥

अभिद्रोहेणैत्यादि ॥ भूतानामभिद्रोहेण हिंसया गत्वरीरस्थिरा श्रियः सपदोऽ
र्जयन् जनः । उदकमस्तीति उदन्वानुवृद्धिः । 'उदन्वानुवृद्धौ च' इति निपातना-
त्साधुः । सिन्धूना नदीनामिव आपदा विपदा पात्रता मूलत्वम् । एति ॥ २१ ॥

जो पुरुष प्राण मात्र के साथ ईर्ष्या करके चञ्चल लक्ष्मी को एकत्रित करता है वह ठीक
उसी तरह विपत्ति का माजन बनता है वैसा कि समुद्र नदियों का (आशय) पात्र
बनता है ॥ २१ ॥

भापत्याव्रतमेव व्यनक्ति—

या गम्यां सत्सहायाना यासु खेदो भय यत् ।

वासा किं यत्र दुःखाय विपदामिव संपदाम् ॥ २२ ॥

या इति ॥ या सपद सत्सहायाना विद्यमानसाधनानामेव पुंसां गम्या प्राप्या । विपन्नेऽपि सत्सहायानामेव गम्या । निस्तीर्या इत्यर्थ । 'कृत्वाणा वृत्तिरि वा इति पठ्ये । यासु सतीषु खेदो रक्षणादिश्लेष । विपत्सु स्वत एवेति विशेष । यतो याम्याः सपदम्यो भयम् । अनेकानयमूलाद्यादिति भाव । विपदम्यस्तु स्वरूपत एवेति भाव । किं बहुना विपदामिव तासां संपदां सचमिष न किम् । अस्तीति शेष । यद्दुःखाय न भवति । सर्वं दुःखावहमेवेति भाव । यद्वाहु — अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे । नाशे दुःखं व्यये दुःखं विगर्षं दुःखभाजनम् ॥ इति । अतो देवा इति भाव । अत्र यत्र दुःखाय इत्युत्तराधानस्य यद्बुद्धसामर्थ्यात्तासां किमिदं पूववाक्ये तच्छब्दोपादानं नापेक्षते । तदेतत्काव्यप्रकाशे स्पष्टम् ॥ २२ ॥

नद । विपत्ति का पात्र किम् प्रवार बनता है कवि विवरण कर रहे है —

जिस तरह विपत्ति अर्द्धे सहायक सामर्थ्या से टाली जा सकती है उसी तरह स पति भी अच्छे साधनों के द्वारा प्राप्त की जा सकती है । विपत्तियों के आने से दुःख होता है और समाप्तियों की रक्षा करने में अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं । सम्पत्तिशाली बनने पर प्राण पर संकट रंगा रहता है और विपत्ति तो रम्य भयोत्पत्तिना है । क्या हम न से कोई भी विपत्ति पैठी है जो दुःख का कारण न हो ! ॥ २२ ॥

दुरासदानरीनुमान् घृतेरिन्ध्यासजन्मनः ।

भोगान्भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्न दुःखभा ॥ २३ ॥

दुरासदानिति ॥ किंच दुरासदान् दुःख्यापान् । विरवासाजन्म यस्यास्तस्या । जन्मोत्पत्त्याद्ध्यधिकरणो बहुवीहि । एते संतोषस्य । उमानरीन् । घनिष्ठस्य सवत्रानारवाससभवाद्भिन्नम्सुखभङ्गकानित्यथ । सुखन्त इति भोगास्तान् भोगान् घनानि । आह्वयान् अन्धु भवान् । 'दातुञ्चिकलक्षित्यस्यद्वयम्' । भोगान् कणानिव । भोगः सुखे घने चार्थः शरीरक्षणयोर्पि इत्युभयत्रापि विरव । अध्यास्य अधिष्ठाय । आपन् विपत् । न दुःखभा । आसीद्विपत्सुखमिव नैऋन्तमेव भोगिनपुमांस बलान्पन्नेऽनुसद्वर्तीत्यथ ॥ २३ ॥

भोग विमानानि दुःखान् हैं वे सनीप के विमर्षी उत्पत्ति विधान ने कारण होती है प्रवृत्त शब्द हैं और वे सप के पति की तरह रहे अन भोगा पुण्य विपत्ति से दुःखारा क्या नहीं या मकने ॥ २३ ॥

इतोऽपि श्रियो हेया इत्याह—

नान्तरज्ञा श्रियो जातु प्रियैरासा न भूयते ।

आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तव ॥ २४ ॥

नेति ॥ श्रिय सपदो जातु कदाचित् । अन्तरज्ञा नीचानीचविशेषाभिज्ञा न भवन्ति । अत एव, आसा श्रिया श्रियैर्न भूयते । न ता कुत्राप्यनुरज्यन्तीत्यर्थ । मन्वय श्रीदोषो न पुरुषदोष इति चेत्तत्राह—मूढा अमी जना तासु अननुरक्तास्वपि श्रीषु आसक्ता । स्त्रीष्विव श्रीष्वननुरक्तास्वनुराग पुसामेवाय दोष इत्यर्थ । किमर्थं सहिं तास्वेव सर्वेषाम्सासकिरित्यर्थान्तर न्यस्यति—वामेति । जन्तवो वामशीला नक्त्यभावा हि । स्वभावस्य तुर्वारत्वादिति भाव ॥ २४ ॥

सम्पत्ति कभी भी किसी प्रकार का भेदभाव (ऊँच नीच का विचार) नहीं रखती । इन सम्पत्तियों के लिये प्रिय कोई नहीं । क्योंकि मूर्ख प्राणी इनमें आसक्त होकर दुःशील हो जाते हैं ॥ २४ ॥

यदुक्तम्—'नान्तरज्ञा श्रिय' (श्लो० २४) इति, तदेव भङ्गवन्तरेणाह—

कोऽपवाद स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चला ।

साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव सपद. ॥ २५ ॥

क इति ॥ यत् सपदोऽशीलेषु दुःशीलेषु विषये चञ्चला अस्थिरा । न तद्विरुद्धमुच्यते, यत् चञ्चला इति अत स्तुतिपदे स्तुतिविषये तत्र कोऽपवाद का निन्दा । किंतु क्षुद्रा सपद साधुवृत्तानपि विक्षिपन्त्येव अहत्येव । तदेव तासा निन्दापदमित्यर्थ । तस्मादर्धो न पुरुषार्थ इति सदर्थार्थ ॥ २५ ॥

सम्पत्तियों दुःशील पुरुषों के विषय में चञ्चल रहती है यदि इन्हें चञ्चल कहें तो इसमें निन्दा की कौन-सी बात है, कारण यह कि वे चञ्चल तो हैं ही । निन्दा का पात्र अभाव वे नीच तब होती हैं जब कि अले मानुषों को भी छोड़ देती है ॥ २५ ॥

ननु नार्थमहमर्थये, किंतु वीरधर्ममनुपालयन् वैरनिर्घातनामिच्छामीत्याशाकृत् तदपि परपीडात्मकत्वाद्युक्तमिति श्लोकस्तुष्टयेनापष्टे—

कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च विधुर मन ।

अप्रियैरिव सयोगो विप्रयोग प्रियै सह ॥ २६ ॥

कृतवानिति ॥ तत्रात्मदृष्टान्तेनैव परपीडातो चिन्तितव्यमित्याशयेनाह—अप्रियैरनिष्टवस्तुभि सयोग इव प्रियैरिष्टवस्तुभि सह विप्रयोगो विरहोऽन्यदेहेषु स्वस्वीव देहान्तरेषु । अतीतानागतैष्विति शेष । मनो विधुर दुःखित कृतवान् कर्ता करिष्यति च । भक्तिव्ये क्षुद्र । तद्वर्तमाने चानुभूयत इति शेष । इष्टनाशो दुःखहेतुरिति सर्वत्रापि त्रैकालिकसिद्धमिति श्लोकार्थ ॥ २६ ॥

आपत्यान्नतामैव व्यनक्ति—

या गम्या सत्सहायाना यासु खेदो भय यत ।

तासा कि यत्र दुःखाय विपदाभिव सपदाम् ॥ २२ ॥

या इति ॥ या संपद सत्सहायानां विद्यमानसाधनानामेव पुंसां गम्या प्राप्या । विपक्षोऽपि सत्सहायानामैव गम्या । निस्तीयां इत्यर्थं । 'कृष्यानां कतरि वा' इति पठेत् । यामु सतीषु खेदो रक्षणादिक्लेशः । विपत्सु स्वत एवेति विशेषः । यतो याम्य सपदम्यो भयम् । अनेकानर्थमूलत्वादिति भावः । विपदम्यस्तु स्वरूपत एवेति भावः । कि बहुवा विपदाभिव तासां सपदा सर्वाच्च न किम् । अस्तीति दोषः । यदुःखाय न भवति । सध दुःखावहमेवेति भावः । यदाहु— अर्चानामर्जने दुःखमर्जिताया च रक्षणे । नादो दुःखं ध्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥ इति । अतो हेया इति भावः । अत्र 'यत्र दुःखाय' इत्युत्तरवाक्यस्य यच्छब्दसामर्थ्यात्तासां किमिति पूर्ववाक्ये तद्भयोपादानं नापेक्षते । सर्वत्रकाम्यप्रकाशे स्पष्टम् ॥ २२ ॥

वद १ विपत्ति का पात्र किस प्रकार बनता है कवि विवरण कर रहे है —

जिस तरह विपत्ति का अर्थ सहायक सामग्रियों से डाली वा सफ़ाई है उसी तरह सम्पत्ति भी अच्छे साधनों के द्वारा प्राप्त की जा सकती है । विपत्तियों के जाने से दुःख होता है और सम्पत्तियों की रक्षा करने में अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं । सम्पत्तिशाली बनने पर प्रायः पर सबट लगा रहता है और विपत्ति तो स्वयं अयोत्यादिका है । क्या इन में से कोई भी विपत्ति पैदा है जो दुःख का कारण न हो ? ॥ २२ ॥

दुरासदानरीनुमान् धृतेर्विद्यासजन्मन ।

भोगान्भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्नं दुर्लभा ॥ २३ ॥

दुरासदानिति ॥ किञ्च दुरासदान् दुष्प्रापन् । विरवासाज्जम् यस्यास्तस्या । जन्मोत्तरपदत्वाद्भ्यधिकरणो बहुवीहि । एते सतोपस्य । उन्नानरीन् । धनिकस्य सर्वत्रानारवाससमवाहितसम्भुक्तमज्ञकानित्यथ । मुञ्चन्त इति भोगास्तान् भोगान् धनानि । आदेयान् अदिषु भवान् । इतिदुष्किलशिवरत्नस्यहेबन् । भोगान् कणानिव । 'भोग' मुखे धने चाहे शरीरफणयोरपि इत्युभयत्रापि विरव । अध्यास्य अधिष्ठाय । आपत् विपत् । न दुर्लभा । आशीविषमुल्लभिव मैच्छन्तमेव भोगिर्न पुमांस बलादापदोऽनुसंधेयतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

भोग शिखानां दुष्प्राप्य हैं वे सन्तान के जिसकी उत्पत्ति विवाह के कारण होती है प्रकृत शत्रु हैं और वे सर्व के शत्रु की तरह हैं जब भोगी पुरुष विपत्ति से छुटकारा कमी नहीं पा सकते ॥ २३ ॥

इतोऽपि श्रियो हेया इत्याह—

नान्तरज्ञा श्रियो जातु प्रियैरासा न भूयते ।

आसक्तास्तास्वमी भूढा वामशीला हि जन्तवः ॥ २४ ॥

नेति ॥ श्रिय सपदो जातु कदाचित् । अन्तरज्ञा नीचानीचविशेषाभिज्ञा न भवन्ति । अत एव, आसा श्रिया श्रियैर्न भूयते । न ता कुत्राप्यनुरज्यन्तीत्यर्थ । नन्वय श्रीदोषो न पुरुषदोष इति चेत्तत्राह—भूढा स्वमी जना तासु अनुरक्तास्वपि श्रीषु आसक्ता । स्त्रीष्विव श्रीष्वननुरक्तास्वनुराग पुसामेवाय दोष इत्यर्थ । किमर्थं तर्हि तास्वेव सर्वेषामासक्तिरित्यर्थान्तर न्यस्वति—वामेति । जन्तवो वामशीला यदस्वभावा हि । स्वभावस्य दुर्वारत्वादिति भावः ॥ २४ ॥

सम्पत्ति कमी भी किरती प्रकार का भेदभाव (ऊँच नीच का विचार) नहीं रखती । इन सम्पत्तियों के लिये प्रिय कोई नहीं । क्योंकि मूर्ख प्राणी इनमें आसक्त होकर दुःशील हो जाते हैं ॥ २४ ॥

यदुष्मन्—'नान्तरज्ञा श्रिय' (श्लो० २४) इति, तदेव भद्रव्यन्तरेणाह—

कोऽपवाद स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चला ।

साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव सपद् ॥ २५ ॥

क इति ॥ यत् सपदोऽशीलेषु दुःशीलेषु विषये चञ्चला अस्थिरा । न तद्विरुद्धमुच्यते, यत् चञ्चला इति अतः स्तुतिपदे स्तुतिविषये तत्र कोऽपवाद का निन्दा । किंतु क्षुद्रा सपद् साधुवृत्तानपि विक्षिपन्त्येव जहत्येव । तदेव तासां निन्दापदमित्यर्थ । तस्मादर्थो न पुरुषार्थ इति सवर्णार्थः ॥ २५ ॥

सम्पत्तियों दुःशील पुरुषों के विषय में चञ्चल रहती है यदि उन्हें चञ्चला कहे तो इसमें निन्दा की कौन-सी बात है, कारण यह कि वे चञ्चल तो हैं ही । निन्दा का पात्र अभावे वे नीच ठव होती हैं जब कि भले प्राणियों को भी छोड़ देती हैं ॥ २५ ॥

ननु नार्थमहमर्थये, किंतु धीरधर्ममनुपाळयन् वैरनिर्यातनमिच्छाम्रीत्याशङ्क्य तदपि परपीडात्मकत्वादयुक्तमिति श्लोकचतुष्टयेनाचष्टे—

कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च विधुर मनः ।

अप्रियैरिव सयोगो विप्रयोग प्रियै सह ॥ २६ ॥

कृतवानिति ॥ तत्रात्मदृष्टान्तेनैव परपीडातो निवर्तितम्यमित्याशयेनाह—अप्रियैरनिष्टवस्तुभिः सयोग इव प्रियैरिष्टवस्तुभिः सह विप्रयोगो विरहोऽन्यदेहेषु स्वस्यैव देहान्तरेषु । भतीतानामतेष्विति शेष । मनो विधुर इति कृतवान् कर्ता करिष्यति च । भविष्ये ह्ये । तद्वर्तमाने चानुभूयत इति शेष । इष्टनाशो दुःखहेतुरिति सर्वत्रापि त्रैकालिकसिद्धमिति श्लोकार्थः ॥ २६ ॥

उपर के शब्द के कहे हुये वाक्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि 'भोक्ष जिस तरह पुरपाय माना गया उसी तरह अर्थ भी पुरपाय माना जाय' यह ठीक नहीं।

यदि भजुन यह कहे कि मैं अर्थाही नहीं हूँ किन्तु नीरों का भी कतम्ब है उसरा पालन करते हुये शत्रु का नाश चाहता हूँ। यह भी दूसरों का पीयप्रद ही है अतः अत्युक्त है इसी की पुष्टि भागे के चार श्लोकों द्वारा की जायेगा।

जिस प्रकार अनिष्ट शक्तियों का समापन अरीरान्तर में मन की वष्ट पहुँचाता रहता है और पहुँचनेवाली प्रकृति प्रिय वस्तु से विद्युस्त होना भी देहान्तर में वष्टप्रद होता रहता है और होगा ॥ २३ ॥

सप्रतीष्टसमागमस्य सुखहेतुत्वमाह—

शून्यमाकीर्णतामेति तुल्य व्यसनमुत्सवै ।

विप्रलम्भोऽपि क्षामाय सति प्रियसमागमे ॥ २७ ॥

शून्यमिति ॥ प्रियसमागम इष्टजनसंयोगे सति शून्य रिक्तमपि आकीर्णतां सपूज्यताम् पृति । सम्यग्मित्र प्रतीवत इत्यर्थः । व्यसन विपदि उत्सवैस्तुत्यम् । 'व्यसनं विपदि भ्रते इत्यमरः । विप्रलम्भो वञ्चना । प्रतारणमिति यावत् । सौऽपि क्षामाय । किं बहुना प्रियसंगस्य सर्वावस्थावपि सुखमेवेत्यर्थः ॥ २७ ॥

अमीट के समागम से न्यूनता भी पूर्ण हो जाती है कुछ (विपत्तियाँ) भी कुछ के समान ही प्रतीत होती हैं। वष्ट के द्वारा की गई प्रवर्णना (अकल्पना) भी लाभ प्रदा होती है। अनिष्ट क्या कहे अमीट सलग सभी अवस्थामें ही सुख का कारण होता है ॥ २७ ॥

पुनः प्रकारान्तरेण प्रियवियोगस्य सुखहेतुत्वमाह—

तदा रम्याण्यवरम्याणि प्रियां शक्य तदासव ।

तदैकाकी सबाधु सन्निष्टेन रहितो यदा ॥ २८ ॥

सर्वेति ॥ तदा रम्याण्यपि अरम्याणि अमनोहराणि भवन्ति । किं बहुना प्रिय असव प्राणा अपि शक्यम् । शक्यवदसङ्गा भवन्तीत्यर्थः । किञ्च तदा सबाधु सन्निष्टेन एकाकी असहाय च । 'एकाकीनिष्ठासहाये इत्यादिनिष्पत्त्यर्थः । यदा सन्निष्टेन रहितो भवति तदा सर्वमसङ्गमिति ॥ २८ ॥

प्रिय के वियोगवस्था में मनोऽभिराम वस्तुय भी कुछ प्रतीत होती हैं तथा एक कहे प्रियताय भी इश्य में कष्ट की तरह लटकते हैं। जब अवस्था में इष्टव्य परिवार के रहते हुये भी (वियोगी) अपने को अकेला समझता है ॥ २ ॥

युक्त प्रमाद्यसि हितादपेत परितप्यसे ।

यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सञ्चि भवता जने ॥ २६ ॥

युक्त इति ॥ किंच, युक्त, हितेनेति शेष । हितेनेष्टेन युक्त सन् । प्रमाद्यसि प्रकर्षणं माद्यसि कृष्यसि । हितादपेत परितप्यसे परितप्तो भवसि । तपेवैवादिक्वाकर्तारि लुब् । सत्यमेव तत् किमत आह—यदीति । पीडा आत्मन स्वस्य च नेष्टा यदि तर्हि भवता जने परस्मिन्नपि मा सञ्चि न सञ्च्यताम् । सञ्जतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुब् । आत्म-
वष्टान्तेव परपीडातो निवर्तितव्यमित्यर्थ । पीडायाः परात्मनो समत्वाम् ॥ २६ ॥

यदि प्रिय के समागम से प्रसन्न होते ही तो उसके वियोग से अवश्य दुःखी होंगे (यह प्राकृतिक नियम है) यदि आप अपने को दुःख से बचाना चाहते हैं तो किसी भी व्यक्ति के साथ आसक्त न हों (आसक्ति ही उसके अभय में दुःख का कारण हो जाती है) ॥२६॥

अथ देहास्थैर्यश्नद्धया च परपीडा न कार्येत्याह—

जन्मिनोऽस्य स्थितिं विद्वाल्लक्ष्मीमिव चलाचलाम् ।

भवान्मा स्म वधीन्न्याय्य न्यायाधारा हि साधव ॥ ३० ॥

जन्मिन इति ॥ अस्य जन्मिन उत्पत्तिघर्मिकस्य शरीरिण । श्रीष्टादित्वादिनि । स्थितिं लक्ष्मीमिव चलाचला चञ्चला जन्मिधर्मत्वादेव चञ्चलाम् । अनित्यामित्यर्थ । चलते पचाद्यच् । 'चरिचलिपतिवदीना वा हित्वमन्याक्वाभ्यासस्येति प्रक्तव्यम्' इति द्विर्भाव । अन्यासस्थागागमश्च । विद्वान् । जानन्नित्यर्थ । 'विदे शतुर्वसु' इति वैकल्पिको बसुरादेश । भवान् । न्यायादनपेत न्याय्यम् । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्यय । मा स्म वधीत् । मा नाशयेत्यर्थ । 'स्मोत्तरे लुब् च' इति लुब् । 'लुब्धि च' इति हनो वधादेश । 'शेषे प्रथम' इति प्रथमपुरुष । हि यस्मात्, साधवो न्यायाधारा न्यायावलम्बा । बहुव्रीहिस्तत्पुरुषे वा । न्यायत्यागे साधुस्त्वमेव न स्यादिति भाव । 'न्यायाचारा' इति पाठे न्यायमाचरन्तीति तथोक्ता । कर्मण्यण् ॥ ३० ॥

जिस प्रकार लक्ष्मी चञ्चल है (स्थायी नहीं है) उसी प्रकार शरीर (उत्पन्न होने वाले) भी स्थायी नहीं है (अनित्य है) (पता नहीं, कब रहा और कब नहीं रहा) अतः आप भी न्याय के गर्दन पर कुठाराघात न करें क्योंकि सञ्जन पुरुष सर्वदा 'न्याय-
पथावलम्बी' होते हैं ॥ ३० ॥

तर्हि किं मे कर्तव्यं तत्राह—

विजहीहि रणोत्साह मा तपः साधु नीनश ।

उच्छेद जन्मन कर्तुं मेधि शान्तस्तपोधन ॥ ३१ ॥

विजहीहीति ॥ हे तपोधन । एगोरसाह एगोद्योगम् । कोकोत्तरेषु कार्येषु स्वेषाम्
 पक्ष उस्ताहस्य विजहीहि त्यज । आ च हो' इतीकार । सातु समीचीनम् । नि
 शेषसकारादिति भाव । तथा सा नीनसो न दाशय । नश्यतेर्ध्वन्नाम्नादयोगा
 दासिपि कुल । अहागमनिषेधम् । किन्तु जन्मन उरक्षेद् कनुम् । मोक्ष साधयितु
 मित्यम् । सातु श्रुते । विद्विगोपाभिपूता भवे पर्य । हुमरस्यो हेरि इति धि ।
 'ध्वसोरिदावभ्यासकोपम् इत्येकार इति ॥ ३१ ॥

अपिचि अजुन यह कहे कि फिर मेरा अन्व न्या है' अत एव देव निशादित
 रीति से वनके कर्मके का उद्देश्य कर रहे है ।—

अपे तपरिवद्' जुद्ध विषयत उद्योग से पराभङ्ग हो जायो । अपनी तपस्या को
 उचित न करो । किन्तु अन्वमरण से मुक्त होने के लिये राम का आश्रय लेकर ध्य का
 मनिलाया का परित्याग कर दो ॥ ३१ ॥

अथ सर्वथा मे विद्वपकण्डूरुत्ति म निवर्तस इत्याशङ्क्य सर्वान्तःशुचितवेन
 विधीयतां तपपणोय इत्याह—

जीयन्ता दुर्जया देहे रिपवश्छुरादय ।

जितेषु ननु लोकोऽयं तेषु कुरुक्षत्रवया जित ॥ ३२ ॥

जीयन्तामिति ॥ हुजया अजन्वा । अङ्गरादयो देहे वर्तमाना रिपवो जीयन्ताम् ।
 यस्मात् तेषु अन्य शत्रुषु जितेषु सखु स्वयाय कुरुको लोको जितो ननु । किमुतान्ये
 शत्रवस्तदन्तगता इत्यर्थ । जितेन्द्रियस्येन्द्रियार्थि-रशुहस्य निर्भयवानुदयाद्विज
 यन्वपदेश ॥ ३२ ॥

अजुन यह भी यह लक्ष्य है कि क्या करे । विजयानिच्छिष्टा यही शत्रु है मानती
 नहीं इसलिये वन्दने फिर कहा ।—

यदि हुम्ने धीतने की शक्या हो तो बहुत, मोरदि इत्यादि यो भवेव शत्रु है वन्दे
 जीतो । इन सर्वों के भीत लेने पर इस शरा ससार जीत लीये ॥ ३२ ॥

अजितेन्द्रियस्यानिष्टमाचष्टे—

परवानर्धससिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रप ।

अधिषेयेन्द्रिय पुंसा गारिवैति विषेयताम् ॥ ३३ ॥

परवानिति ॥ अयससिद्धौ अन्यपदारादिस्वात्मसाधने परवान् पराधीन ।
 वरतन्तः पराधीन परवान् इत्यमर । नीचवृत्ति' कर्षणवहनादिनिहृष्टकर्म । अपत्रपो
 निर्लज्जीअधिषेयेन्द्रियोअजितेन्द्रिय पुंसा भीचलीयद् इव पुंसां विषेयतां यथोक्तका
 रिताम् । प्रेष्यतामिति यावत् । विषेयो विषयप्राप्ती यत्ने विषयभाजन इत्यमर ।

एति प्राप्नोति । उपमालकारोऽयम्—‘प्रकृताप्रकृतयोरर्धसाधर्म्यात् श्लेषे तु शब्द मात्रसाधर्म्यम्’ इति ॥ ३३ ॥

इवोपासनं न मनुष्यको पराधीन रहना पढता है । नीचवृत्ति का अवलम्बन करना पढता है, निर्लब्ध बनना पढता है, अजितेन्द्रिय होकर रहना पढता है । पुरुषों की ठीक वैल की दशा हो जाती है ॥ ३३ ॥

न केवल हिसाबिदोषमूलत्वादिषयाणा हेयत्वम्, किंतु अपारस्मार्धिकत्वादिपीत्याह—

श्वस्त्वया सुखसवित्ति स्मरणीयाधुनातनी ।

इति स्वप्नोपमान् मत्वा कामान् मा गास्त्वदङ्गताम् ॥ ३४ ॥

श्व इति ॥ अधुना भवा अधुनातनी इदानींतनी । ‘सायचिर-’ इत्यादिना व्युत्पत्तय । सुखसवित्ति सुखानुभव श्व परेऽहनि स्वया स्मरणीया । न त्वनुभवनीया । इति हेतो । काम्यन्त इति कामा विषयास्तान् । स्वप्नोपमान् स्वप्नतुल्यान् । मत्वाऽतारिक्कात्तिस्वित्य तदङ्गता तच्छेषस्य कामपरतन्त्रता मा मा न गच्छ । ‘इणो गा लुङि’ इति गादेश ॥ ३४ ॥

अज का सुखोपनोभ दूमरे दिन के लिये केवल स्मरणीय रह जाता है अतः विषयोपमोगों को स्वप्न के तुल्य समझ कर अपने को उन (विषयों) का अङ्ग (अवयव) महत बनाओ ॥ ३४ ॥

अतो हेया कामा इत्याह—

श्रद्धेया विप्रलब्धार प्रिया विप्रियकारिण ।

सुदुस्त्यजास्त्यजन्तोऽपि कामा कष्टा हि शत्रव ॥ ३५ ॥

श्रद्धेया इति ॥ श्रद्धातुमर्हा श्रद्धेया विश्वसनीयास्तथा विप्रलब्धार प्रसारका । विश्वासघातका इत्यर्थ । तथा, प्रीणयन्तीति प्रिया प्रीतिजनका । ‘इगुपध—’ इत्यादिना कप्रत्यय । तथापि विप्रियकारिणो दुःखजननशीला । किंच, त्यजन्तोऽपि पुरुष विहाय गच्छन्तोऽपि सुदुस्त्यजा स्वयत्नेन त्यक्तुमशक्या कामा विषया कष्टा कुत्सिता शत्रवो हि प्रसिद्धशत्रव । वैधर्म्यादिति भाव । अत्र श्रद्धेयत्वादीनां विप्रलम्भकत्वादीनां चैकत्र विरोधो विषयस्याभाष्येन समाधीयत इति विरोधाभासोऽलकार । तेन च कामाना प्रसिद्धशत्रुवैधर्म्यं व्यतिरेकेण व्यज्यत इत्यलकारेणालकारणनि ॥ ३५ ॥

और अन्य प्रकार के शत्रुओं का परित्याग करके कष्ट से कुटकारा मिल सकता है, परन्तु काम, क्रोधादिक शत्रुओं को देखिये कटे विलक्षण हैं —

इन कामादि शत्रुओं की धरम की दृष्टि से देखा जाय तो भी ये ठगने में देर नहीं

जगते । ये प्रिय (अमीष्ट) होते हुए भी अकारक हैं । इनका परित्याग करके दूर भागना चाहे ही तो ये पिन्ध नहीं छोड़ते वे महान् कष्टप्रद शत्रु हैं ॥ ३५ ॥

तर्हि किं कर्तव्यमित्यात्तद्बोधोपसहरसाह—

विविक्तेऽस्मिन्नगे भूय प्लाविते जङ्गुकन्यया ।

प्रत्यासीदति मुक्तिस्त्वा पुरा मा भूरुदायुष ॥ ३६ ॥

विविक्त इति ॥ विविक्ते विजने । विविक्तविजनच्छ्रविशाकाकास्तथा रह इत्यमरः । जङ्गुकन्यया मन्त्रया भूयो भूयिष्ठ पुनःपुनर्वा । 'भूय' पुनःपुनः क्वात् भूताये पुनरव्ययम् इति विश्व । प्लाविते सिक्ते । प्लाविते इति पाठे पवित्रीकृत इत्यर्थः । अस्मिन्नगे इ-प्रकीर्णेषु स्थां मुक्तिं पुरा निकटे प्रत्यासीदति । संबिकृष्टा भविष्यतीत्यर्थः । 'पुरा पुराणे निकटप्रव-धातीतमाविशु इति विश्व । उदायुषो पृहीतसखो मा भू । शत्रुं विमुञ्जीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

मुक्ति के विषय में यदि अनेकजन्मसंक्रियतलो याति परा गतिम्' इसका ध्यान किया जाय तो फिर इस अ-म में मुक्ति निकलना ठीकी राह है ऐसा नहीं बहून सरल है—

इस निबन्ध पर्वत पर भी चाइवी के द्वारा बार बार सिन्धन कर दिया जाता है मुक्ति त्रुन्दारे समुत्स रव कपस्थि हो जायगी शक्यारी बत वो [शखो वा परित्याग पर दो] ॥ ३६ ॥

व्याहृत्य मरुता पत्याविति वाचमश्रियते ।

वच प्रशयगन्भीरमथोजाप कपिष्यज ॥ ३७ ॥

व्याहृत्येति ॥ मरुतां पत्नी देवेभ्ये इति वाचं व्याहृत्य उक्त्वा अवश्यते सति नृणां स्थिते सति । अथ कपिष्यजोऽशुन प्रशयगन्भीरं विमयमपुरम् । विनयप्रशयौ समौ इति यावत् । वच उवाच उक्तवान् ॥ ३७ ॥

वपुस्त प्रकार से कपदेश कर सुरराज के गौन धारण कर लेने पर अर्चन में विमय पूर्वक मञ्जर वाणी से कपट किया ॥ ३७ ॥

किमुवाचैत्यवेदायां बहुभिर्दि-द्रवाक्यमुपश्लोक्यसाह—

प्रसादरभ्यमोजस्वि गरीयो साधयान्वितम् ।

साकाङ्क्षमनुपकारं विष्वगाति निराकुलम् ॥ ३८ ॥

प्रसादेति ॥ प्रसादोऽत्र प्रसिद्धार्थपदत्व तेन रभ्यम् । 'प्रसिद्धार्थपदत्व क्वत् प्रसादो नियमते इति छलपाद् । ओजस्वि समाप्तभूविष्टम् । 'ओज समाप्तभूय सत्वम्' इति शासनात् । गरीयोऽयमभूयस्त्वपरिगतम् । न तु कम्पाङ्गन्वरनाप्रमित्यर्थः । साधयान्वित विस्तरदोषरहितम् । साकाङ्क्षं आकाङ्क्षावत्पदकदम्बात्मकम् । न तु

दशवादिमादिवाक्यवदनाकाङ्क्षितमित्यर्थ । अनुपस्कार अध्याहारदोषरहितम् ।
विष्वमासि कृत्स्नार्थप्रतिपादकम् । न तु सावशेषार्थमत एव निराकुलमस-
कीर्णार्थम् ॥ ३८ ॥

समासों का प्रानुस्य रङ्गने के कारण यह [वाक्य] भोजस्वी है । अर्थ युक्ता पूर्ण है ।
अधिक दोष से बचा हुआ है । इसके पद परस्पर साकाक्ष हैं । न कि 'दश दक्षिणानि
षट्पूर्वा' की तरह निराकाक्ष है । अध्याहार दोष से भी मुक्त है । पूर्ण अर्थ के प्रतिपादक
है । अर्थ भी इस का सङ्गित नहीं है ॥ ३८ ॥

न्यायनिर्णतिसारत्वाज्जिरपेक्षमिवागमे ।

अप्रकम्प्यतयान्येषामान्नायवचनोपमम् ॥ ३९ ॥

न्यायेति ॥ पुन, न्यायेन युक्त्या निर्णतिसारत्वाज्जिरपेक्षितार्थत्वाद्भेदो, आगमे
शास्त्रे विषये निरपेक्ष स्वतन्त्रमिव । युक्तिदाढ्यादेव प्रतीयते । वस्तुतस्तु शास्त्रसिद्धा-
र्थमिवेति 'द्वय'शब्दार्थ । किंच, अन्येषा प्रतिवादिनाम् । अप्रकम्प्यतयाऽनुमानादि-
भिरवाध्यत्वाद्प्रत्याख्याततया आन्नायवचनोपमम् । वेदवाक्यतुल्यमित्यर्थ ॥ ३९ ॥

युक्तिपूर्वक इसका तत्व निर्णय कर दिया गया है । अतएव इतने शास्त्रप्रमाण की भी
आवश्यकता नहीं । तर्कों के द्वारा अलग्ग्य है इसलिये वेद वाक्य सदृश है ॥ ३९ ॥

अलङ्घ्यत्वाज्जनैरन्यै क्षुभितोदन्वदूर्जितम् ।

औदार्यादर्थसपत्ते शान्त चित्तमृषेरिव ॥ ४० ॥

अलङ्घ्यत्वादिति ॥ अन्यैर्जनैरलङ्घ्यत्वात् अनुलङ्घनीयत्वात् । क्षुभितोदन्वदूर्जित-
उद्देलाम्भोधिगम्भीरम् । औदार्यादुक्तिविशेषत्वात् । श्लाघ्यविशेषणत्वाद्वा । तदुक्त
दण्डिना—'उत्कर्षवान्गुण कश्चिदुपते यस्मिन्प्रतीयते । तदुद्वाराह्वय तेन समाधा
काव्यपद्धति । श्लाघ्यविशेषणैर्युक्तमुदार कैश्चिदिष्यते ॥' इति 'अप्राम्यार्थत्वात्' इति
केचित् । अन्यत्र, -त्यागित्वादित्यर्थ । अर्थसपत्ते प्रयोजनसपत्ते । अन्यत्र, -अणिमा-
दिसमूहे । अपेर्मुनेश्चित्तमिव शान्त सौम्यम् ॥ ४० ॥

इतर लोगों के लिये अनुत्सह्य है अतः उद्देलित जलराशि [समुद्र] के समान है
उत्कर्षणों से युक्त होने से अपि महर्षियों के चित्त की तरह शान्त है ॥ ४० ॥

इदमीदृग्गुणोपेत लब्धावसरसाधनम् ।

व्याकुर्यात्क प्रिय वाक्य यो वक्ता नेहगाशय ॥ ४१ ॥

इदमिति ॥ इदमीदृग्गुणोपेत यथोक्तगुणयुक्तम् । इदमुपपत्ताद्दोषो किप् । 'इद-
किमोरीशकी' इतीहादेश । लब्धे प्राप्तेऽवसरसाधने कालोपायौ येन तत् प्रिय प्रीति
कर वाक्य को वक्ता व्याकुर्यात् व्याहरेत् । यो वक्ता सोऽजीह्याशय ईदृग्विवसावान्
न भवति । अद्युदिरित्यर्थ । तस्यार्थस्य वक्तुमशक्यत्वादिति भाव ॥ ४१ ॥

कौन ऐसा ब्रह्मा जिसका अभिप्राय इस तरह का नहीं है ऐसा भ्रिम वाक्य मुझ से निकाल सकता है। इस वाक्य में जो पद समूह आवे हैं प्रतिज्ञार्थ प्रतिपात्क हैं अर्थात् पद वाक्य परम इन्द्रपकारी है। सुप्रसन्न प्राप्त होने पर कार्य का साधक भी है ॥ ४१ ॥

एवमिन्द्रवाक्यमुपश्लोच्य मादमस्योपदेशस्याधिकारीति परिहरति—

न ज्ञात वात यन्नस्य पीवापयममुष्य ते ।

शासितु येन मा घम मुनिभिस्तुल्यमिच्छसि ॥ ४२ ॥

नेति ॥ हे वात ! अमुष्य यन्नस्य तपोरूपस्यास्य मदीययोगस्य पूर्वं चापरं च पूर्वापरे । त एव पीवापयं कारणं फलं च । चातुवर्ण्यदित्वात् स्वार्थं व्यग्रप्रत्ययः । ते तव न ज्ञातम् । खवा न ज्ञायत इत्ययम् । 'मतिमुद्धि इत्यादिना घतमाने छः । सद्योगादेव षष्ठी । कुत । येन कारणेन मां मुनिभिस्तुल्यं सद्यः धर्मं मोक्षधमं वासि मुमुक्षुष्यम् । इच्छसि । शासितुं तुहादित्वात्प्रिकर्मको ज्ञेयः ॥ ४२ ॥

हे वात ! आप मेरे इस वशोग के विषय में आरम्भ से लेकर अत तक आप नहीं जानते व यही कारण है कि आप मुझे मुनियों के समान धर्म का उपदेश करना चाहते हैं ॥ ४२ ॥

अथ पीवापयमज्ञात्वाप्युपदेशो दोषमाह—

अविज्ञातप्रवृत्तस्य वचो वाचस्पतेरपि ।

प्रजत्यफलतामेव नयद्गुह इवेहितम् ॥ ४३ ॥

अविज्ञातेति ॥ अविज्ञातः प्रवृत्तः पूर्वापरसंगतिर्बेन तस्य वाचस्पतेर्बुद्धस्पतेरपि । कस्कादित्यस्य । अथवा - पठथा पांवलुप्रपृष्टपारयवपस्योयेषु इति सकारः । एतस्मादेव ज्ञापकत्वमिति केचित् । नच उपदेशो नयद्गुहो नीतिविरुद्धकारिणः पुरुषस्य । ईदितमुपयोग इव । अफलतां विफलत्वं प्रजत्येव गच्छत्येव ॥ ४३ ॥

पूर्वापर [प्रसङ्ग] जाने बिना उद्देश्यति का वाक्य जो इस तरह विफल हो जाता है जिस तरह नीति विरुद्ध किया गया उद्योग विफल हो जाता है ॥ ४३ ॥

ननु सदुपदेशस्य कुतो वचन्यमित्याशङ्क्य सोऽप्यस्याने प्रयुक्तदूपदप्रेत्र शक्ति-
वीक्षणद्विकल पुत्रेत्याशयेनाह—

श्रेयसोऽप्यस्य ते वात वचसो नास्मि भाननम् ।

नभसः स्फुटतारस्य रात्रेरिष विषयम् ॥ ४४ ॥

श्रेयस इति ॥ हे वात ! पुत्रे पितरि पूज्ये च सातकस्य प्रचक्षते इति । अथसो-
ऽपि द्विजाधयोगाव्यसस्तत्तस्यापि । अस्य ते तव वचसो हितोपदेशरूपस्य श्रेयसिपि

र्ययो विषस स्फुटतारस्य व्यक्ततारकस्य नभस इव भाजन पात्र नास्मि । अनधिकारित्वादिति भाव । अत्राहो नभोमात्रसबन्धसम्भवेऽपि तारासबन्धासम्भवात्तद्विशेषनम सबन्धविरोधाद्युक्त तारकितस्य नभसो न पात्रमहरिति ॥ ४४ ॥

हे तात ! यद्यपि आपका यह वचन कल्याणकारक है तथापि मे इसका पात्र नहीं है, क्योंकि नक्षत्राग्नि विशेषित आकाश रात्रि के विपरीत [दिन] में न होता [दिन में अभिन्न तारों का होना असम्भव है] दिन में तारे भले ही हों परन्तु दृष्टिगोचर नहीं होते हैं ॥ ४४ ॥

कुतस्ते मोक्षोपदेशानधिकारिष्वम्, किंच, ते तपस पौर्वापर्यं कथं न जाने इत्याशङ्क्य तत्सर्वं स्वजात्यादिकथनपूर्वकं निरूपयति—

क्षत्रियस्तनय पाण्डोरह पार्थो धनञ्जय ।

स्थित प्रास्तस्य दाय्यादैर्भ्रातृज्येष्ठस्य शासने ॥ ४५ ॥

क्षत्रिय इति ॥ अह क्षत्रिय क्षत्रियकुले जात । तत्रापि महाकुले प्रसूत, वीरसतानश्रेत्याह—पाण्डोस्तनय इति । तत्रापि कौन्तेयोऽस्मि, न मात्रेय इत्याह—पार्थ इति । पृथा कुन्ती, तत्सुत पार्थ । 'तस्यापत्यम्' इत्यण् । अर्जुनोऽह महावीरश्रेत्याह—धनञ्जय इति उत्तरकुरुन्बजित्य धनाहरणादनजयोऽस्मीत्यर्थ । 'खचि सुमागम' इत्युक्त प्राक् । धनञ्जय इत्युक्ते शरीरस्थो धानु सर्पविशेषो वा स्वात्तदर्थं पार्थ, गन्धर्वोऽपि कश्चिपृथुमासुतोऽस्ति तदर्थं पाण्डो सुत, नैमिवारण्ये पाण्डुर्दिप्रस्तपत्नी पृथा नाम क्वाचिद्ब्राह्मणी तत्पुत्रोऽपि स्वात्तदर्थं क्षत्रिय इति । अथैव चेत्किमर्थं तर्हि तपस्यसि, मोक्षार्थं वा किं न तपस्यसि, तत्राह—स्थित इति । दाय पैतृक धनमाददत इति दाय्यादा ज्ञातय । 'दायादा ज्ञातिपुत्रयो' इति, 'विभक्तव्य पितृद्वय दायमाहुर्मनीषिण' इति च विश्व । 'स्वामीरवरदि'सूत्रेण सोपसर्गादपि दाय्यादेति कप्रत्ययान्तो निपातनास्त्राधु । तै, प्रास्तस्य राज्याच्चिरस्तस्य । वैरिनिर्यातनार्थेन इत्यर्थ । ज्येष्ठस्य भ्रातृर्ज्येष्ठिरस्य । 'शुद्ध'शब्दादिष्टप्रत्यय । वृद्धस्य च ज्येष्ठस्य । शासने निदेशे स्थित । तदाज्ञया तपस्यामीत्यर्थ । अन्यथा मानहानि सौभ्रात्रमङ्गल्यपूज्यापूज्याव्यतिक्रमदोषश्च स्फुरतीति भाव । अत एव हिंसैकरसस्य रागाद्वेपकथयित्तचेतस कुतो मे मोक्षाधिकार इति तत्पर्यार्थं । सार्थविशेषणत्वात्परिकरालकार ॥४५॥

मं क्षत्रिय हू । पाण्डु का पुत्र तथा पृथापुत्र हू । धनञ्जय मेरा नाम है । अपने दादादों के द्वारा निर्वासित हू । अपने ज्येष्ठ भ्राता [युधिष्ठिर] की आज्ञा पालन के लिये तप्यार रहा हू । जितने विशेषण बड़ा पर युक्त किये गये हैं सब सामिप्राय है । इन्द्र की पूर्वापर का शान कराने के लिये अर्जुन ने इस तरह का उधार दिया है । सर्वप्रथम अपनी जाति वतल्य कर अपना परिचय दे रहे हैं । इससे भी उनके उल्लङ्घन में जन्म लेने के प्रमाण में न्यूनता देखकर त होने अपने पिता पाण्डु का नाम लिया । इतने पर अभी उत्तर

नेन पाण्डवाभिभवनेतान् स्वनगरं नेष्यामीत्येवभूत सत्यकारमिव । मिवतेऽमनेति कार । करणे मञ् । सत्यस्य कार सत्यकार सत्यापनम् । चिकीपितस्य कायस्या वस्य क्रियास्थापनाय परहस्ते यद्दीयते स सत्यकार । क्रियादौ सत्यदाकार्यं प्राञ्चीयमानो मूष्यैकदेशश्च । 'वञ्चीषे सत्यापनं सत्यकार सत्याकृति स्त्रियाम् इत्यमर' । कारे सत्यागदस्य' इति मुमागम । तमिव सपत्नेपूषाघ्न निहितवान् । तेषां विना शाकाले त्रिपरीतञ्चन्द्रिमुत्पादितवानित्यथ ॥ ५ ॥

दुर्यो के द्वारा वह रोगों के समस्त पतिव्रता पाञ्चाली (द्रौपदी) के केश कन्धानि आहरण जिने जाते समय सत्यु ने वह निश्चय कर लिया कि दुर्यो (कौरवों को) भी हम अपने नगर में लसौट ले जावेंगे ॥ ५ ॥

केन्यसावृष्टा सम्भैर्षां कि कृत तदाह—

तामैच्यन्त क्षण सभ्या दुःशासनपुरसराम् ।

अभिसायाकर्मभृता क्षायामिन महातरो ॥ ५१ ॥

तामिति ॥ दुःशासन प्ररःसरो वस्थास्ता तयोक्तम् । दुःशासनेन सर्वा प्रत्या कृष्यमाणामित्यर्थ । अनुपसर्भनात् इति न डीप् । तां कृष्णाम् । समायां साधवस्मया । समाया य इतिथप्रत्यय । अभिसायाकर्म दिनान्तसूयांभिमुखम् । स्थितस्येति शेष । सायो नाशदिना'तयो' इति विश्व । लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इत्यम्ययीभाव । महातरो संवधिभीम भावृतां क्षायामिष तां कृष्णां क्षणमैच्यन्त । न चिरं क्षुण्णितत्वात् । नापि किञ्चिद्दयाप्रियम्त माभ्यस्यमङ्गभवात् । ते त्वर्कवदेव साधित्वमात्रमास्थिता इत्यथ । अत्राकृष्यमाणान्वा कृष्णावा भाकृष्टार प्रति परा द्मुखत्वादावृत्तञ्चावीपम्यम् । तथापि तां न मुञ्चतीति दुःशासनस्य वरसाम्यम् ॥ ५१ ॥

दुःशासन के द्वारा सभा में आकृष्यमाण द्रौपदी को सायकाल के समय निश्चाल वृष्ट नी प्राश्न क्षाया की तरह वन सभ्य (भोग्य द्रोण मधुति) ने क्षण मात्र देखा ॥५१॥

अथास्यास्तादृग्भिःसमायघार्ध्वं वगयति—

अथयाथक्रियारम्भै पतिभि किं तवेच्छितै ।

अरुध्येतामितीनास्या नयने चाप्यवारिणा ॥ ५२ ॥

अथघार्ध्वेति ॥ अथघार्धां मिथ्याभूता क्रियारम्भा पति'शब्दप्रवृत्तिनिमित्त मृतकर्मोद्योग्यैर्षां त' । तामरुच्छिरित्यथ । तत्र संवधि'घभि । पात्ति रक्ष्मतीति पतयो भर्तार । पत्ते'इति इत्थीणादिको वृत्तिप्रत्यय । तै ईच्छितैरवेच्छित किम् । न किञ्चि'फलमस्तीत्यर्थ । इत्थि इत्य विचार्यैवित्युत्पत्ता । चाप्यवारिणाऽस्या कृष्णा वा नयने अरुध्येतामापृते । इधे कमणि लट् । अक्षरणा ररोदेत्यर्थ ॥ ५२ ॥

पति शब्द या रक्षये धातु से 'इति' प्रत्यय करके सिद्ध होता है इसलिये इसका अर्थ 'रक्षा करने वाला' होता है। "पति शब्द के अर्थ के अनुकूल कार्य न करनेवाले पुण्डरीक शन पतिवर्ग के देखते रहने से क्या प्रयोजन ?" इस बातको सोचकर द्रौपदी के नेत्र अश्रुधाराओं से परिप्लुत हो गये थे अर्थात् द्रौपदीने यह सोचा कि वे पतिदेव लोग मेरी रक्षा करने में विवश हीनर खड़े २ देख रहे हैं इससे क्या प्रयोजन ? ॥ ५२ ॥

ननु भवति किमर्थमसमर्थैरिवोपेक्षित तत्राह—

सोढवान्नो दशामन्त्या ज्यायानेव गुणप्रिय ।

सुलभो हि द्विपा भङ्गो दुर्लभा सत्त्ववाच्यता ॥ ५३ ॥

सोढवानिति ॥ गुणा प्रिया यस्य स गुणप्रिय प्रियगुण । 'वा प्रियस्य' इति परनिपात । ज्यायान् अग्रजो युधिष्ठिर एव । 'बृद्धशब्दादीयसुनि 'ज्यादादीयस' इत्याकारादेश । नोऽस्माकम् । अन्ते भवाम्, अन्त्या निकृष्टा दशामवस्था सोढवान्, न तु वयम् । किन्तु तदवस्था इति भाव । ननु शत्रूपेक्षा महानर्थकारिणीत्याशङ्क्याह-सुलभ इति । द्विपा विद्विपा भङ्ग सुलभ । कालान्तरेऽपीति शेष । सत्सु सज्जनेषु । ववाच्यता निन्द्यता दुर्लभा, न तु शत्रूपेक्षा । हि प्रसिद्धौ । शत्रूपेक्षातो लोकापवाद एव बलवान् । तस्योत्पन्नस्य पुनरप्रतिविधेयत्वात्, स च समयोद्धरणे स्यादेवेति भाव ॥ ५३ ॥

हम लोगों के ज्येष्ठ भ्राता ने ही जो गुण के पक्षपाती हैं हम लोगों की दुर्दशा को उद्धार लिया । शत्रु का नाश करना कोई बड़ी बात नहीं किन्तु सज्जनविपयिणी निन्दा (जुगुप्सा) दुर्लभ है ॥ ५३ ॥

ननु शत्रुवधे राजा को नामापवाद प्रयुक्त कीर्तिरेवेत्याशङ्क्य, सत्य स एव समयोद्धरणकलङ्कितकीर्त्या महानिन्दानिदानमित्याशयेनाह—

स्थित्यतिक्रान्तिभीरुणि स्वच्छान्याकुलितान्यपि ।

तोयानि तोयराशीना मनासि च 'मनस्विनाम् ॥ ५४ ॥

स्थितीति ॥ तोयराशीना समुद्राणा तोयानि मनस्विना मनासि च स्थित्यतिक्रान्तेर्मर्यादोद्धतनाडेतो भीरुणि, अत एव, आकुलितानि सञ्चोभितान्यपि स्वच्छानि अकलुपाणि । न त्वरन्त इत्यर्थ । मनस्वलय युधिष्ठिर इति भाव । अत्र तोयानां सामान्यतो मनस्विना चापकृतानामेव गुणतौल्यादौपम्यस्य गम्यतया तुल्ययोगिता-लकार । गुणत्रात्र भीरुत्व स्वच्छता च ॥ ५४ ॥

जल की राशि (समुद्र) का जल और मनस्वियों का मर्यादा के उद्धत होने के भय से घुण्य हो जाने इ तथापि कल्पित नहीं होते (किन्तु स्वप्न ही रह जाते हैं) ॥ ५४ ॥

मन्वन्तातन्नो स्वजनवैरे किं कारणमित्यावाङ्मवास्मसौहार्दमेवेत्याह—

घातराष्ट्रै सह प्रीतिवैरभस्मास्वसूयत ।

असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेव सेवित् ॥ ५५ ॥

घातराष्ट्रैरिति ॥ घातराष्ट्रैरंतराष्ट्रयुक्ते सह प्रीति सौहार्दमेव अस्मानु विषये वैरमसूयत सूतयती । सूयतेद्वैवादिवाक्यतरि छट् । ननु सौहार्द वैरजनक चेद्विप्रात यिद् तत्राह—असदिति । हि यस्मात् असन्मैत्री बुद्धनेन संगति कृत्स्न्यासञ्चपातस्य नहीतस्य छायेव सेविता भिन्ना सती दोषाद्यानर्थाय भवति । न कस्यु बुद्धेन सुगम यन्मन्त्रप्रोहपातक परयतीति भावः । उपमाप्राणिहोऽयमर्थांतरयासालकारः ॥५५॥ मन्वातनाडु होते बुद्धे भी सुभिर्भर के जो शठ हो गये व वे हम लोगों की शत्रु विषयक भासक्ति हो कारण है—

सुपराष्ट्र के सन्त्राणों के साथ हम लोगों का प्रमथनकार ही शत्रुता की वर्यक्ति का कारण है । नर्चोक दुष्टों की भिन्ना नन्दी के वट प्रदेश की बाया के समान है जिनके सेवन से मन्त्रकार अनर्थ होने का सम्भावना बनी रहती है ॥ ५५ ॥

मन्वादावेव तेषां वृत्तमविज्ञाय कश्च मैत्री कृतेत्याशङ्क्य किं कुम् सुर्वेनवृत्त दुर्विज्ञेयमित्याह—

अपवादादभीतस्य समस्य गुणदोषयो ।

असद्बुत्तेरहोवृत्त दुर्विभाव विधेरिच ॥ ५६ ॥

अपवादादिति ॥ अपवादाद् अनाद्योशाद् । अभीतस्य । अशुगुप्तमानस्येत्यर्थः । गुणदोषयो समस्य तुल्यखण्डे । निगदानुमदी गुणबोधयोरगुणदोषत इत्यर्थः । विषय-
प्येतद्विशेषण योन्वम् । असद्बुत्तेरहोवृत्तस्य भूतस्य । अहोवृत्तमीहित विधेर्द्वैवस्य
वृत्तमिष दुर्विभावं विभावयितुमशक्यम् । किंतु कावैकसमविगम्यमित्यथ । भवते
पर्यन्तात्कृद्गार्थे छदप्रत्ययः ॥ ५६ ॥

पहने ही से उन सत्तों के गुण दोष का विचार करके हम लोग निश्चय क्रिये होने से
ब- दशा न व्यभिन्न होनी पर-हू करे नया । वृत्त (दुराचारी) लोग से लोपापवाद
से कभी भवभीष नहीं होते उनके लिये गुण और दोष दोनों बटाकर है जिन तरह काय
का भाव नहीं पन्ना उठा तरह दुवनों के नेछिन विचार का पना नहीं चलता ॥ ५६ ॥

मन्त्रेव मानी कथं परिभूतो जीवसि वप्राह—

प्यसेत हृदय सद्यः परिभूतस्य मे परै ।

यद्यमप्य प्रतीकार भुगाहन्व न लम्भयेत् ॥ ५७ ॥

प्यसेतेति ॥ परै शत्रुभिः परिभूतस्य मे हृदय सद्यो प्यसेत । अन्वेदित्यर्थः ।

अमर्षं कर्ता प्रतीकार प्रतिक्रियारूप भुजालम्ब हस्तावलम्बन न लम्बयेत्त घ्राहये-
च्चिद । हृदयेनेति शेष । सत्य जीवामि प्रतिविधित्तया । न तु निर्लज्जतयेति भाव ॥

मानी पुरुष मानहानि की अपेक्षा प्राण हानि की अज्या समभक्ता है परन्तु करे क्या ?
शत्रु से तिरस्कृत होकर हम लोगों का हृदय शीघ्र ही खम्ब खण्ड हो जाता है (शत्रुओं कोई
सन्देश नहीं) परन्तु यदि क्रोध (अमर्ष) प्रतिकार स्वरूप होकर सहाय न देता तो ॥५७॥

ननु तत्रैव कोऽयमभिमानस्तत्राह—

अवधूयारिभिर्नीता हरिणैस्तुल्यवृत्तिताम् ।

अन्योन्यस्यापि जिह्नीम किं पुन सहवासिनाम् ॥ ५८ ॥

अत्रधूयेति ॥ अरिभिरवधूय परिभूय हरिणैर्मुंगैस्तुल्यवृत्तिताम् तुल्यजीवनश्वम् ।
अन्याहारतामित्यर्थ । नीता प्रापिता वधम् । पञ्चापीति शेष । अन्योन्यस्यापि
जिह्नीमो लज्जामहे । सहवासिना सहचारिणा किं पुन । प्रागेव जिह्नीम इति किमु
वक्तव्यमित्यर्थ । क्रियायोगे सवन्धसामान्ये षष्ठी । अत्र वध पञ्चापि तुल्याभिमाना
एव । इदं तु मदेकसाध्य कर्मेति मुनिशासनान्मयानुष्ठीयत इति भाव ॥ ५८ ॥

शत्रुओं से तिरस्कृत होकर हम लोगों की दशा ठीक अन्य पशुओं की सी हो गई है
हम लोग परस्पर पाँचों भाई एक दूसरे से लज्जित होते हैं यदि सहचर वगी (मित्रों)
का सामना पवता है तो कहना ही क्या ? (अर्थात् वध पशु पत्र पुष्प फलाहारादि से
से जीवन-यात्रा करते हैं हमलोग भी वही करते हैं) ॥ ५८ ॥

ननु तर्हि तु शैकनिवानमन्त शत्रुमान एव त्यज्यतामित्याशङ्क्य तत्प्रागे दोषमाह—

शक्त्यैकल्यनस्य नि सारत्वाल्लघीयस ।

जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गति ॥ ५९ ॥

शक्तीति ॥ शक्त्यैकल्येनोत्साहादिशक्त्यैधुर्धेणाऽवष्टम्भसामर्थ्यविरहेण च सन्नस्य
प्रहीभूतस्य विधेयभूतस्य च निःसारत्वात् दुर्बलत्वात् स्थिराधारहितत्वाच्च । 'सारो
बले स्थिराशे च' इत्यमर । लघीयसो गौरवहीनस्य । नीरसस्येत्यर्थ । मानहीनस्य
जन्मिनो जन्तो । प्रीहादित्वादिनि । तृणस्य च गतिरवस्था समा इति । मानहीनस्य
तृणादपि निकृष्टत्वात् त्याज्यो मान इति भाव । श्लेषालकारोऽयं तदमुप्राणितेयमुप-
मेत्यनेकार्थदीपिकेति व्यज्यते ॥ ५९ ॥

इम दुदशा का कारण मान ही यदि हो तर्थापि इम लोग श्से नहीं छोड़ सकते क्योंकि —

मान का परिस्पाग करने पर उत्साहादि शक्तियों से शून्य तथा साररहित होने के
कारण गौरवहीन पुरुष तृण का समान हो जाता है ॥ ५९ ॥

मानत्यागे दोषमुक्त्वा तत्सद्भावे पद्मिगुणमाह—

अलक्ष्यं तत्तदुद्धीक्ष्य यद्यदुच्चैर्महीभृताम् ।

प्रियता ज्यायसीं भागान्महता केन तुङ्गता ॥ ६० ॥

अलक्ष्यमिति ॥ भद्दीशुनीयां एवतायां संवधि यद्यत् श्रद्धाविक्रमः । उच्चैश्चत
सत्तदलक्ष्यमुद्दीशुनीयप्रथम । तर्कयित्वेति यावत् । महतां महारमणां शुद्धता मानौक्यं
यापसीं श्रियतां श्रियत्वं केन हेतुना नागात् । न केनापि श्रियत्वं गच्छत्येवेत्यर्थः ।
आशेषि माळि कुट । अतोऽप्यशब्दः । वैतमनिश्चयपीशुनीयाप्राप्तयत्यौपयवद्
स्मिन्नर्थे इत्याशसनाथमाशीप्रयोगः । उद्दीशुनीयसमानकत्वरश्निर्देशः कश्चित्प्रयोग
वशनास्तोऽन्यः । केचित् उद्दीशुनीय इति पठन्ति । अत्र यद्युच्चैश्चतस्रलक्ष्यमुद्दी
शुनीयमशुनीय न चोद्दीशुनीयमिति । अतो महतामित्यादि योजयन्ति ॥ ६ ॥

मान के परित्याग में दोष तो है ही परन्तु मान के रहने में गुण भी बहुत से हैं—

अत्र होने हो के कारण परत अत्रकथ्य वं अथात् उन्हे छोड़े च जनन नहीं कर सकना
तो फिर कौन सा पैसा कारण है— जो चीन य वडे लोगों के लिये श्रिय न होगा । ॥६॥

सावदाश्रीयते लक्ष्म्या सावदस्य स्थिरं यथा ।

पुरुषस्त्वावदेवासी यागन्मानाञ्ज हीयते ॥ ६१ ॥

सावदिति ॥ किंवा तावदेशासी लक्ष्म्याऽऽश्रीयते । सावदस्य पुत्रो यथा स्थिरम् ।
सावदेष असी पुरुषः । पुरुषत्वेन गण्यत इत्यर्थः । यावत् मानादभिमानात् । न
हीयते न भ्रष्टयति । मानेनस्य न किञ्चिच्छुभमस्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

तभी तक पुरुष लक्ष्मी का आश्रय बना रहता है तभी तक उसका यथा स्थिर रहना
है और तभी तक वह पुरुष है अन वह मान का परि त्याग नहीं करता (जहाँ मान
को छोटा कि गया) ॥ ६१ ॥

स पुमानथवज्रमा यस्य नाम्नि पुर स्थिते ।

नान्यामहुलिभभ्येति सख्यायामुद्यताहुलि ॥ ६२ ॥

स इति ॥ स पुमान् अपवज्रम्मा सापवज्रम्मा यद्यत् पुत्रो नाम्नि पुरोऽग्रे स्थिते
सनि सख्यायां पुरुषगमनाप्रस्ताव उद्यता गुणमधिकृत्योक्तमिवाऽहु लिर्न्या द्वितीयात् ।
अहुलेम् । उद्यतामिति शेषः । नाभ्येति न प्राप्नोति । अद्वितीयायादस्यैत्यर्थः ।
एतन्मानरहितस्य न समवतीति भावः ॥ ६२ ॥

उत्तो पुरुष का नाम इस सवार में सफल है जिसका नाम यचना के समक में प्रथम
भैरुणि पर हो जाना है न कि दूसरी अहुलि पर ॥ ६२ ॥

दुरासद्वन यापान् गम्यस्तुद्गोऽपि भूचरः ।

न जहाति महीजरक मानप्राशुमलक्ष्यता ॥ ६३ ॥

दुरासदेति ॥ दुरासद्वैरिण्यायान् प्रवृद्धस्तथापि शुद्धोऽपि भूचरो राम्यो गन्तुं
शक्य एव । प्रसिद्ध चतुर्विधि भावः । महीजरकं प्रतापसपथ मागप्राशु मानौक्यतम् ।
पुरुषमिति शेषः । अलक्ष्यता न जहाति । कदाचिन्मानी लक्ष्यितु न शक्यत इत्यर्थः ।

तिरेरपि गरीयान् मानाधिक इति भाव । अत्रोपमानाद्भूधरादुपमेयस्य मानिनो धर्मान्तरसाभ्येऽप्यलङ्घ्यत्वेसाधिम्यकथनाद्दयतिरेकालकार ॥ ६३ ॥

धने धने जङ्गलों से प्रवृद्ध तथा अत्यन्त उन्नत पर्वत का भी उल्लंघन किया जा सकता है परन्तु अविलम्बिता भवान् पराक्रमशाली तथा मान से उन्नत पुरुषों का परित्याग नहीं करती ॥ ६३ ॥

गुरुन्कुर्वन्ति ते वश्यानन्वया तैर्वसुधरा ।

येषा यशासि शुभ्राणि ह्येपयन्तीन्दुमण्डलम् ॥ ६४ ॥

गुरुनिति ॥ ते नरा । वश्यान् अन्वये भवान् । गुरुन् कुर्वन्ति प्रथयन्ति । स्वनाम्ना व्यपदेशयन्ति शश्विलीपादिवदित्यर्थ । तैर्नरैः । वसूनि धनानि धरतीति वसुधरा । 'सज्ञाया भूतृष्टुभिः' इत्यादिना सप्रत्यये 'खपि ह्रस्व' इति ह्रस्वान्नुमागच्छ । अन्वयाऽनुगतायां । तेषा वसुभूताना धारणादिति भाव । येषा शुभ्राणि यशासि इन्दुमण्डल ह्येपयन्ति लज्जयन्ति । यशसो निष्कलङ्कत्वादिति भाव । इदृश हि यशो मानमदत्त एव सम्भवतीति सात्पर्यार्थ । हीधातोर्प्यन्ताद्धद् । 'अर्तिही-' इत्यादिना पुगागम । अत्र ह्येपणस्य सादृश्यपर्यवसानादुपमालकार ॥ ६४ ॥

जिन पुरुषों के विमल यश चन्द्रमण्डल की भी वञ्चित करते हैं वे ही लोग अपने २ नाम से अपने वश का विस्तार करते हैं और उन्हीं से यह वसुधरा (पृथ्वी) अन्वया है अर्थात् वश का अर्थ है धन, शीर धरा का अर्थ है धारण करनेवाली । यदि पृथ्वी धन धारण करनेवाली हो तो अन्वया है अन्यथा नहीं ॥ ६४ ॥

उदाहरणमाशी पु प्रथमे ते मनस्विनाम् ।

शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिपु पात्यते ॥ ६५ ॥

उदाहरणमिति ॥ यैरमर्षं श्लोच शुष्के वीरसे । अशनिरिव अरातिपु विषये पात्यते प्रक्षिप्यते । मनस्विना मानिना प्रथमेऽग्रेस रास्ते आशी पु पुरुषैरेव भवितव्यमेवरूपासु । उदाहरण निदर्शनम् । भवन्तीति शेष । रामादिवदुपमान भवन्तीत्यर्थ । अतो न त्याज्यो मान इति सदर्थार्थ ॥ ६५ ॥

शुष्क तृणपुत्र पर वज्रपात के सदृश जो पुरुष अपने श्लोच को शत्रु पर प्रक्षिप्त करते हैं २ ह' मनस्वी पुरुष मानियों में अग्रगण्य हैं और 'मनुष्य मात्र को कैसा हीना चाहिये' इसके उदाहरण भी वे ही हैं ॥ ६५ ॥

यदुक्तम्—'अभिद्रोहेण भूतानाम्' (श्लो० २१) इत्यादि, तत्र शुम्भेनोत्तरमाह—

न सुख प्रार्थये नार्थमुदन्वद्भीचिचञ्चलम् ।

नानित्यताशनेल्लस्यन् विविक्तं ब्रह्मण पवम् ॥ ६६ ॥

नेत्यादि ॥ उदन्वद्भीचिरिव चञ्चल समुद्रतरङ्गवदस्यिर सुख काम न प्रार्थये नेच्छामि । तथा, चञ्चल अर्थ च न प्रार्थये । किंच अनित्यता विनाशिता सैव अज्ञानि-

अलङ्कारमिति ॥ महोत्तमां पवतानां सन्धिं यद्यत्, गङ्गादिकम् । उच्चैरुन्नतं
 तत्पङ्कजं यमुद्रीचरोत्प्रेष्य । तर्कमित्येति यावत् । महतां महात्मनां गुणता भानीप्रत्यं
 उपायसीं प्रियतां प्रियत्वं केन हेतुना भागात् । न केनापि प्रियत्वं गच्छत्येवेत्यर्थः ।
 आश्रयि मां हि ह्रुत् । अतोऽपवादः । सैनमनिच्छन्नदीपञ्चासुत्पावयत्पीपभवद्
 स्मिन्नर्थे इत्याशंसनाप्यभाशो-प्रयोगः । उद्गीचयेत्समानकतुक्कवनिर्देशः कश्चिद्योग
 दशनात्सोऽहम् । केचित् उद्गीचयम् इति पठन्ति । तत्र यद्यदुच्यते तदलङ्कारमुद्गी
 चयमवलोऽनीयम् न चोद्गीच्यतीत्यमिति । अतो महतामित्यादि योजयन्ति ॥ ६ ॥

मान के परि वाग में दोष तो है ही परन्तु मान के रहने में गुण भी बहुत से हैं—

उन्नत होने ही के कारण पर्यंत अवश्य है जब न उ हैं कोई उन्नत नही कर सकता
 वो फिर तीन सा देना काय है— जो भोग य वडे लोगों के लिये प्रिय न होगा ? ॥६ ॥

तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तवदस्य स्थिर यथा ।

पुरुषस्तावदेयासी यावन्मानाञ्ज हीयते ॥ ६१ ॥

तावद्विति ॥ किं च तावदेयासी लक्ष्म्याऽऽश्रीयते । तावदस्य पुत्रो यथा स्थिरम् ।
 तावदेव असी पुरुषः । पुरुषत्वेन यण्यत इत्यर्थः । यावत् मानाङ्घ्रिमावात् । न
 हीयते न भ्ररयति । मानहोवत्य न किञ्चिद्भ्रमस्तोत्यथ ॥ ६१ ॥

तमी तक पुरुष लक्ष्मी का आश्रय बना रहता है तमी तक उसका यथा स्थिर रहना
 है और तमी तक वह पुरुष है जब तक मान का परिष्कार नहीं करता (जहाँ मान
 को छोड़ कि गया) ॥ ६१ ॥

स पुमानथयज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरास्थते ।

नाभ्यामङ्गुलिमभ्येति सख्यायामुच्यताङ्गुलि ॥ ६२ ॥

स इति ॥ स पुमान्, अथवज्जन्मा सार्थं कृञ्जन्मा यस्य पुत्रो भ्रात्रि पुरोऽग्रे स्थिते
 सति सख्यायां पुरुषगणाप्रस्ताव उच्यते गुणमधिकृत्योच्चमिताऽङ्गुलिर्नाम्ना द्वितीयात् ।
 अङ्गुलिम् । उच्यतामिति शेषः । नाभ्येति न प्राशेति । अद्वितीयात्वात्स्येत्यर्थः ।
 पुरात्मानरहितस्य न संभवतीति यावत् ॥ ६२ ॥

उसी पुरुष का नाम इस संभार में सफल है जिसका नाम गणना के समय में प्रथम
 अङ्गुलि पर ही आता है न कि दूसरी अङ्गुलि पर ॥ ६२ ॥

पुरासद्वनश्यायान् गम्यस्तुहोऽपि भूधरः ।

न जहाति महोजस्क मानप्राशुमलङ्घयता ॥ ६३ ॥

पुरासदेति ॥ पुरासदेवैर्वायावत् प्रकृतस्तथापि तुहोऽपि भूधरो गम्यो गन्तुं
 चाश्वत्थः । प्रसिद्ध चैत्रदिशि भावः । महोजस्क प्रतापसपन्न मानप्राशु मानोजसम् ।
 पुरासमिति शेषः । अलङ्घयता न जहाति । कर्त्तव्यतामी अङ्घ्यितु न शक्यत इत्यर्थः ।

गिरेरपि गरीयान् भानाधिक इति भाव । अत्रोपमानाद्भूधरादुपमेयस्य भानिनो धर्मान्तरसाम्येऽप्यलङ्घनत्वेनाधिक्यकथनाद्द्वयतिरेकालंकार ॥ ६३ ॥

धने धने जङ्गलों से प्रकृत तथा अत्यन्त उन्नत पर्वत का भी उल्लंघन किया जा सकता है परन्तु अधिकद्वयता भवान् पराक्रमशाली तथा मान से उन्नत पुरुषों का परित्याग नहीं करती ॥ ६३ ॥

गुरुन्कुर्वन्ति ते वश्यातन्वर्था तैर्वसुधरा ।

येषा यशासि शुभ्राणि ह्येपयन्तीन्दुमण्डलम् ॥ ६४ ॥

गुरुनिति ॥ ते नरा । वश्यान् अन्वये भवान् । गुरुन् कुर्वन्ति प्रययन्ति । स्वनाम्ना व्यपदेशयन्ति रघुदिलीपादिवदित्यर्थ । तैर्नरै । वसूनि धनानि धरतीति वसुन्धरा । 'सज्ञाया मृतवृजि—' इत्यादिना स्वल्पस्यै 'स्वधि इस्व' इति हस्वान्नुसाराक्ष । अन्वर्थाऽनुगवाधा । तेषा वसुभूताना धारणादिति भाव । येषा शुभ्राणि यशासि इन्दुमण्डल ह्येपयन्ति लज्जयन्ति । यशासो निष्कलङ्कत्वादिति भाव । इदं हि यशो मानमहत एव सम्भवतीति तात्पर्यार्थ । हीधातोर्ण्वन्ताङ् । 'अर्तिही—' इत्यादिना पुगागम । अत्र ह्येपणस्य सादृश्यपर्यवसानादुपमालंकार ॥ ६४ ॥

जिन पुरुषों के विमल वश चन्द्रमण्डल की भी लक्षित करते हैं वे ही लोग अपने २ नाम से अपने वश का विलार करते हैं और उन्हीं से यह वसुन्धरा (पृथ्वी) अन्वर्था है अर्थात् वसु का अर्थ है धन, और धरा का अर्थ है धारण करनेवाली । यदि पृथ्वी धन धारण करनेवाली हो तो अन्वर्था है अथवा नहीं ॥ ६४ ॥

उदाहरणमाशी पु प्रथमे ते मनस्विनाम् ।

शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिपु पात्यते ॥ ६५ ॥

उदाहरणमिति ॥ यैरमर्षं क्रोध शुष्के नीरसे । अशनिरिव अरातिपु विषये पात्यते प्रलिप्यते । मनस्विनां भानिता प्रथमेऽमेस रास्ते आशी पु पुरुषैरेव भवितव्यमेवरूपास्तु । उदाहरण निदर्शनम् । भवन्तीति शेष । रामादिवदुपमान भवन्तीत्यर्थ । अतो न व्याज्यो मान इति सद्वर्था ॥ ६५ ॥

शुष्क वृणुज पर वज्रपात के सट्टा की पुरुष अपने क्रोध को शत्रु पर प्रक्षिप्त करते हैं व ही मनस्वी पुरुष भानियों में अत्रगम्य हैं और 'मनु य भाव को कैसा होना चाहिये' शक्ये वदाराव भी वे ही हैं ॥ ६५ ॥

यदुक्तम्—'अभिद्वेष्टेण भूतानाम्' (श्लो० २१) इत्यादि, तत्र शुभमेवोत्तरमाह—

न सुख प्रार्थये नार्थमुदन्तद्वीचिचञ्चलम् ।

नानित्यताशनेऽस्यन् विविक्तं ब्रह्मण पवम् ॥ ६६ ॥

नेत्यादि ॥ उदन्वद्वीचिरिव चञ्चल समुद्रतरङ्गवदस्थिर सुख काम न प्रार्थये नेच्छामि । तथा, चञ्चल अर्थ च न प्रार्थये । किञ्च अनित्यता विनाशिता सैव अज्ञानि-

स्तस्मात् प्रत्यद् विभ्यम् । वा आशा इत्यादिना शब्दप्रत्ययः । विदित्त निर्वाधं प्रह्लाणो
वेधस्य आत्मन एवैत इति पद स्थानमैकपरलक्षणं मुक्ति च न प्रापये । एतेन यदुक्तम्—
उच्छेदं सम्मनं कर्तुम् (श्लो ३१) इत्यादि तत् समाहितम् ॥ ६६ ॥

आपने जो कहा आ कि तुम मुक्त का कामना या धन का लिप्ता से उपसाधन
कर रहे हो यह ठीक नहीं मोक्ष के लिये प्रयत्न करो शीघ्र ही सफलता प्राप्त हो जायगी
ये सब बातें झूठ नहीं—

न मैं मुक्त के लिये तपश्चर्या कर रहा हूँ न ही समुद्र की लहरियों के सदृश अस्थिर
इस्य ही कामना करता हूँ और न तो मैं विनश्वरता रूप विदुस्वरूप ही से टरता हूँ । अब
मुझे मुक्ति की भी इच्छा नहीं है ॥ ६६ ॥

प्रमाष्टु भयशा पङ्कमिच्छेय झञ्जना कृतम् ।

वैधर्म्यतापितारातिथनितालोचनाम्बुमि ॥ ६७ ॥

प्रमाष्टुमिति ॥ किंतु, झञ्जना कपटेन कृतम् । शङ्कमिरिति शेषः । अथवा एव पङ्क-
मिति रूपकालकारः । वैधर्म्येन तापिताना कुत्सीकृतानामरातिथनितानां लोचनाम्बु-
मि प्रमाष्टुं शालयितुम् । इच्छेयमनिलपेयम् । इषिघातोर्लिङ्गि रूपम् । वैरिनिर्वात
नास्तिरिक्त न किंचिदिच्छामीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

यदि इच्छा है तो एक यह है कि शत्रुओं के द्वारा किये गये कष्ट व्यवहार
उजो हमलोगों को कठक की टीका लगी है वह विधवापन से सतत शत्रुभणियों के
लोचन-जल से पुन जाय ॥ ६७ ॥

एव तर्हि व करोति यथोदका (श्लो १९) इत्याद्युक्तदोष स्वादित्याशङ्काम-
ङ्गीकृत्य ग्लानिर्बं दोषायेति न्यायमाधित्य सुग्मेनोत्तरमाह—

अपहस्येऽथवा सद्भिः प्रमादो यातु मे धियः ।

अस्थानविहितायास्त कर्म जिह्वेतु वा भवान् ॥ ६८ ॥

अपहस्य इत्यादि ॥ अथवा सद्भिः पण्डितैः अपहस्ये । अपहसिष्य इत्यर्थः ।
वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा इति हस्तैरप्यन्तात्कर्मणि कट । प्यन्तास्तु आन्त-
पाठ । मे धियः प्रमादोऽन्यथात्व वाऽस्तु । भवान् अस्थानेऽप्योऽप्यदिपये विहित
आप्यासो हितोपदेशप्रयासो येन स उच्यते । विफलप्रयत्नः सफित्ययः । काम वा
जिह्वेतु लज्जताम् ॥ ६८ ॥

चाहे रुज्जन लोग मेरी निन्दा करें अथवा मेरी शक्ति ही शान्त हो जाय अथवा
अप्योऽप्यपात्र में उपदेश देने का जो आपने प्रयत्न किया उसके विफल होने से आप
रुज्जित हों ॥ ६८ ॥

वशलक्ष्मीमस्तुद्धत्य समुच्छेदन विद्विषाम् ।

निर्माणमधि मन्येऽहमन्तराय जयधियः ॥ ६९ ॥

यशेति ॥ अहं तु विद्विषा धत्रूणां समुच्छेदेन विनाशेन करणेन यशस्यमीमनुद्ध-
स्यापुनरावर्त्य निर्वाणं मोक्षमपि जयश्रियोऽन्तराय विष्णु मन्व्ये । नतु पुरुषार्थमित्यर्थं ।
किमुत्तान्योस्सवादिकमिति भावः ॥ ६९ ॥

शत्रुओं का संहार करके यश परम्परा को श्री का उद्धार किये बिना मैं मोक्ष को मा-
नियलक्ष्मी की प्राप्ति में विष्णु ही समझता हूँ ॥ ६९ ॥

नन्वय ते दुराम्नाह इत्यत आह—

अजन्मा पुरुषस्तविद्गतासुतृणमेव वा ।

यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यशः ॥ ७० ॥

अजन्मेति ॥ पुरुषो यावत् अरिभिर्विलुप्त सङ्गत यश ह्येषुभिर्नादत्ते । अरिवधेन न
प्रत्याहर्तीत्यर्थं । तावत् अजन्मा । अजातप्राय इत्यर्थं । नन्वजातो जनना-
न्तरमुपयुज्यत एवेत्यरुच्यया पचान्तरमाह—गतासुतृणम् । मृततुल्य इत्यर्थं ।
मृतोऽपि प्राणुपयुक्तवानित्यरुच्ययाह—तृणमेवेति । तृणतुल्य इत्यर्थं । अकिंचित्कारस्तु
त्रैकाल्यानुपयोगाजीवनमृत इत्यर्थं । अतो नाहमाग्रहाद्ब्रह्मिनि, किं तु धीरधर्ममनुपा-
ख्यामीति भावः ॥ ७० ॥

ये सब बातों में आग्रह से भी नहीं कहना क्योंकि—

शत्रुओं के द्वारा विह्वल यश का जो पुरुष जब तक अपने बाणों के द्वारा उद्धार नहीं
करता तब तक वह पुरुष अजन्मा है यर्थात् उसने ससार में जन्म ही नहीं लिया है, मृत
प्राय है, तृण से भी गया होगा है ॥ ७० ॥

सर्वथा वैरनिर्घातनं कर्तव्यमित्युक्तम्, तदकरणे पुरुषगुणानां हानिदोषमाह—

अनिर्जयेन द्विपता यस्यामर्षः प्रशाम्यति ।

पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन् ब्रूहि त्वं हि तपोवन ॥ ७१ ॥

अनिर्जयेति ॥ यस्यामर्षं क्रोधो द्विपता शत्रूणाम् । अनिर्जयेन निर्जयं विजैव
प्रशाम्यति । उपलक्षणे तृतीया । तस्मिन् पुरुष इत्युक्तिः 'पुरुष' शब्दः कथम् । न
कथंचित्त्वित्यर्थं । प्रवर्तत इति शेषः । प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुरुषकारस्याभावादिति भावः ।
हे तपोधन ! त्वं हि त्वमेव ब्रूहि कथम् । न च ते किंचिद्विदितमस्तीति भावः । 'हि-
हेतावधारणे' इत्यमरः ॥ ७१ ॥

'वैरिणों से बदला प्रथम सेना आहिये' ऐसा न करने से शेष होता है—

हे तपस्विन् ! मला आप ही बतलाइये, 'शत्रु से बदला चुकाये बिना जिसका क्रोध
शान्त हो जाता है उसे पुरुष पर से कैसे पुकारा जा सकता है' ॥ ७१ ॥

नतु पुरुषत्वजात्यैव पुरुषोक्तिप्रसूते किं पुरुषकारेण, तत्राह—कृतमित्याविद्वेषेन—

कृत पुरुषशब्देन जातिमात्रावलम्बिना ।

योऽङ्गीकृतगुणैः श्लाघ्य सविस्मयमुदाहृत ॥ ७२ ॥

कृतमिति ॥ जातिमात्रानलम्बिना जातिमात्राभिधायिना पुरुषशब्देन कृतमलम् । न तेन किञ्चित्साध्यत इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया कर्णयाचरतीयेत्युक्तं प्राक् । कृतम् इति विशेषार्थकमव्ययं चादिषु पठ्यते । सत्यं जातिमात्रमपि पुरुष शब्दं प्रवर्तते । परन्तु बाली पुत्राभावात् परवादिसाधारण्यादिति तात्पर्यं । तर्हि कीदृशरूपाय इत्याद्युक्त्वाह—य इत्यादिनाथइयेन । अङ्गीकृतगुणैर्गुणपञ्चाविति । यं पुमान् रूपाय सुख्यं सन् सविस्मय ससंभ्रमम् । उदाहृतं कथितं । पुत्रा ईदृशेन भवितव्यमिति निदर्शितं ॥ ७२ ॥

पुत्र वा पित्र (पुंलिंग) जिनमे पाया जाना है उसे पुरुष कहना उचित हो दे चाहे वर पौत्रपन्नपत्र वा न हो यह भिन्न त पक्ष नहीं है छुनिये —

जाति नाम का भावही जो पुरुष शब्द है वस्ते वृद्ध भी नहीं हो सकता (यह उर्ध्व हा ह) जो पुत्रियों के द्वारा प्रदत्त हो भी सम्भवपूरक निरुद्धा उदाहरण दिया जा सकता हो वही पु व शब्द से योग्य है ॥ ७ ॥

असमानमिरौजासि सदसा गौरवरितम् ।

नाम यत्थाभनन्दन्ति द्विपोऽपि स पुमापुमान् ॥ ७३ ॥

असमानमिति ॥ किञ्च सदसा सभया गौरवेणैरित कथाप्रसङ्गेषु गौरवपूरकं सुधारितं सत् । ओजासि श्रृण्वतां सेजासि असमानं गिराद्वय स्थितं वस्य पुत्रो नाम द्विपाज्यमिन्नुन्त्यनुमोदन्ते । किमुत सुख इति भावः । स पुमान् पुमान् । पुरुषत्वेन गण्यत इत्यर्थः । प्रथमं पु शब्दो जातिवचनं द्वितीयो गुणवचनः । स पृथक् रूपाय । अत्र पुमापुमानित्वात् तात्पर्यमात्रमेव भिन्नशब्दार्थपीनद्वयलक्षणो लटानुशासोऽङ्कारः । तथा च सूत्रम्— तात्पर्यमेवपुत्रो लटानुशासः इति ॥ ७३ ॥

अत्र पुत्र का नाम सम्बन्धमात्र मे भावर के स थि या जात हो तथा जिन नाम के — वे मे श्रीगामों का तैय मालिन रा ही जाता है और शब्द भी बिलकी प्रस्ता वर हा पुरुष पुरुष इ ॥ ७२ ॥

अतु सत्सु सीमादिषु सर्वेषां कोऽभिनिवेश इत्युक्त्वाह—

यथाप्रतिज्ञं द्विपतां युधि प्रतिचिह्नकीर्पया ।

ममैराध्येति नृपतिस्तृप्यन्निमं जलाञ्जले ॥ ७४ ॥

यथेति ॥ नृपतिर्बुध्दिदोषे यथाप्रतिज्ञं युधि द्विपतां प्रतिचिह्नकीर्पया द्विपतं प्रति कर्तुंमच्छुद्धा । प्रतिज्ञानुसारीणैश्च जिज्ञासवेत्यर्थः । नृप्यन् पिपासुं अलाञ्जलेति वचनवाच्येति ह्यनुक्तिः । कायसिद्धेर्मेहायचत्वान्मायेव स्मरति अतोऽथ भ्रमाभिनिवेश इत्यर्थः । अधीगर्थं इत्यादिना कर्मणि पठ्यते ॥ ७४ ॥

इस शब्द के प्रचारिक व ने का उल्लेखियर सब भागों के द्विर पर है तथापि नशा राज बुध्दिदोष ज्ञानो र्मि का के अनुसार शब्द से कथा देने के लिये नृपार्थ व्यक्त

जिस प्रकार ब्रजलि के बल की इच्छा करता है, उसी प्रकार मेरा ही स्मरण करते हैं ॥७२॥
ननु युधिष्ठिर स्वार्थं साधयति, त्वया च स्वार्थमात्रमनुसधीयतामित्यत आह—

स वशस्यावदातस्य शशाङ्कस्येव लाङ्घनम् ।

कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराह्वया ॥ ७५ ॥

स इति ॥ स नरोऽवदातस्य स्वच्छस्य वशस्य शशाङ्कस्येव लाङ्घन कलङ्क ।
[त्र यस्मिन्पुरे कृच्छ्रेषु व्यसनेषु भर्तुं स्वामिन आह्वया व्यर्थया भूयते । भावे
ऽत् । आपदि स्वार्थसाधक कुलघातक तत्कथ स्वार्थनिष्ठकार्यता युक्तेत्यर्थं ॥ ७५ ॥

जिस विशुद्ध वश में विपत्ति के समय जो व्यक्ति स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन करता
[वह चन्द्रमा के कलङ्क के समान है ॥ ७५ ॥

यदुक्तम्—'विद्याहीहि रणोत्साहम्' (श्लो० ३१) इत्यादि, तत्रोत्तरमाह—

कथं वादीयतामर्वाङ्मुनिता धर्मरोधिनी ।

आश्रमानुक्रम पूर्वं स्मर्यते न व्यतिक्रम ॥ ७६ ॥

कथमिति ॥ धर्मरोधिनी धर्मविरोधिनी । अर्वाङ् गार्हस्थ्यत्प्रागेव मुनिता वान
प्रस्थान चतुर्थाश्रमता वा । वर्णप्रक्रमेण तस्य विधानात्, 'त्रयाणा वर्णानां वेदमधीत्य
षत्वान् आश्रमा' इति सूत्रकारवचनात् अत्रियस्यापि कैश्चिदित्यात् । तदेतस्सम्य-
न्निवेचितमस्माभी रघुवशसजीविन्याम् (स० ८।१४)—'स किलाश्रममन्त्यमाश्रित'
इत्यत्र । कथं वा आदीयता मया कथं वाऽहीक्रियताम् । सप्रश्ने लोड् । तथा हि—
पूर्वमन्वादिभिराश्रमानुक्रम स्मर्यते । न तु व्यतिक्रम । ब्रह्मचारी भूत्वा गृही
भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रज्जेद्' इति श्रुत्यनुसारादित्यर्थं ।
एतदपि 'षत्वान् आश्रमा' इत्येतत्पद्यमाश्रित्योवतम् । 'यदि चेद्द्वैराग्यं तदा ब्रह्म-
चर्यादेव प्रज्जेद्गृहाद्वा वनाद्वा' इति न्युक्तमपद्यस्यादि श्रवणात् सामान्येन विशेष-
णसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ ७६ ॥

आप मुझे पहिले ही धर्म के विरुद्ध मुनियों की वृत्ति पालन करने का उपदेश क्यों
दे रहे हैं क्योंकि मनुप्रभृति आचार्य लोग आश्रमों के ठारतन्यानुसार उन उन आश्रमों में
प्रवेश करने की आज्ञा देते हैं न कि व्यतिक्रम के लिये उपदेश करते हैं ॥ ७६ ॥

ननु भवान्गृहस्थ पद्य तत्कथमर्वाङ्मुनिविवरोध इत्याशङ्क्य, सत्यं गृहस्थोऽस्मि,
तथापि वृत्तनिष्ठिलगृहस्थकर्तव्यस्यैव वानप्रस्थाधिकारो न गृहस्थमात्रस्य । न चाह-
मद्यापि कृतकृत्य इत्युत्तरमाह—

आसक्ता धूरिय रुढा जननी दूरगा च मे ।

तिरस्करोति स्वातन्त्र्यं ज्यायाश्चाचारवान्मृप ॥ ७७ ॥

आपक्तेति ॥ आसक्ता लज्जा । अवश्य कर्तव्येत्यर्थं । रुढा प्रसिद्धा । महती-
त्यर्थ । इयं पूर्वोक्ता धू वैरिनिर्यातनभार । दूरगा दूरवर्तिनी जननी च मातापि ।

तथा मृपोऽध्याचारवान् । तपोऽधिक इत्यथ । तत्रापि ज्यायान् ज्येष्ठो नृपो युधि
 छिरश्च मे मम स्वात्मन्यं स्वापद्मं च तिरस्करोति दूरीकरोति । आश्रमान्तरं प्रतिधत्ता-
 तीत्यर्थः । तिरस्करोतीति प्रपक्वमनिसवध्यते । अथ्यथा बहुवचनप्रसङ्गान् ॥ ७७ ॥

अत्रात्रा प्रादशोच करते ५१ बार मुक्त पर निर्धारित है । इस समय मेरी माता दूर
 है मेरे नेत्र श्रापा युधिछिर स्वयं व्याचार पद्धति में सत्त्व है और मेरी स्वतन्त्रता
 १ बदन दूर रज दिये है अथान् आश्रमान्तर में प्रवेश करने के छिदे म स्वतन्त्र
 ११ हू ॥ ७७ ॥

उक्तमवमुपसहरति—

स्वधर्ममनुबुधते नातिक्रममरातिभिः ।

पलायन्ते कृतध्वसा नाहवान्मानशास्त्रिनः ॥ ७८ ॥

स्वधर्ममिति ॥ मानशास्त्रिन स्वधर्मं चाश्रयमनुबुधतेऽनुवर्तते । अतिक्रम
 स्वधर्ममतिक्रमं मानुस्त्वसे । तत् किमत आह—अरातिमिति । अरातिभि कृत
 ध्वसा कृपाकारा सत् आहवाद्य पलायते । अयमेव स्वधर्मानुरोध इत्यर्थः ।
 उपसर्गस्याप्यतौ इति रेफस्य क्लृप्तम् । अत्र मनु—न निवर्तत सदग्रामात् चात्र
 धर्ममनुस्मरन् इति । अत्रोत्तरवाच्यार्थं प्रति पूजनाश्रयस्य हेतुः आह्वायार्थहेतुर्न
 काव्यलिङ्गमलकारः ॥ ७८ ॥

माना पुरय अपने धर्म (शात्र) वा अनुसरण करते है अर्थात् अपने धर्म का उद्योग
 नहीं चाहते तथा अनुभूति से अपट्ट और विमुक्त होकर समर से नहीं भागते हैं ॥ ७८ ॥

किं बहुना ममायं निधाय श्रूयतामित्याह—

विच्छिन्नाभ्रविलाय वा विलीये नगमूधानि ।

ध्वाराध्य वा सहस्राक्षमयशाशान्यमुद्धरे ॥ ७९ ॥

विच्छिन्नेति ॥ विच्छिन्नं वासाहत यदन्न तदिव विलीयेति विच्छिन्नाभ्रविलाय
 यथा तथा । उपमाने कर्मणि च इति कर्तृपुण्ये पञ्चुर्ल । नगमूधानि अस्मिन्निति
 शब्दे विलीये विशेष्ये वा । कपादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । यद्वा सहस्राक्षमिदं च
 आश्रयार्थस्य एव शर्यं चत् । उद्धर उद्धरिष्यामि । न तु शल्पन्तराद्धेत्यर्थः ।
 वाश्रान्ते विकल्पे ॥ ७९ ॥

यौ तो मैं अपना से उद्धर (मिपमाला की तरह एक एक होकर रानी इन्द्रनील के
 शिर पर भरती जीवनलोच समाप्त कर दूंग वा महललोचन (इन्द्र) की ध्वाराधना
 करने अर्थात् छत्र करके को निश्चल कर दे दूंगा ॥ ७९ ॥

इत्युक्तवन्त परिरभ्य दोर्भ्यो तनुजमाधिष्णतदिव्यमूर्ति ।

श्रधोपघात मघना धिमूत्यै भवोद्भवारायनमादिदरा ॥ ८० ॥

इतीति ॥ मघवा इन्द्र । इत्युक्तवन्त तनूज पुत्रमर्जुनम् । आविष्कृता प्रकटिता
दिव्यमूर्तिर्निजरूप येन स तथोक्त सन् । दोग्धां बाहुभ्या परिरम्य विमूढ्यै श्लेषसे ।
उपहन्यतेऽनेनेत्युपघातम् । करणे चञ्चल्यय । अधाना दु खानामुपघात अधोपघा-
तम् । मघ ससारस्तस्योद्भव कारणमिति भवोद्भव शिवस्तस्य आराधनमुपासनम् ।
आदिदेश । शिवमुद्दिश्य तपश्चरेत्वाज्ञापयामासेत्यर्थ ॥ ८० ॥

अपना दिव्य रूप प्रकट कर उपर्युक्त प्रकार से उत्तर देते हुये सुरराज (इन्द्र) ने अपने
पुत्र अर्जुन को भुजाओं से आलिंगन किया और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये ससार के उत्पत्ति के
कारणभूत भगवान् शंकर की उपासना करने का उपदेश दिया जिससे समस्त पापों का
श्रमन हो जाया है ॥ ८० ॥

प्रीते पिनाकिनि मया सह लोकपालैर्लोकत्रयेऽपि विहिताप्रतिवार्यवीर्यै ।
लक्ष्मीं समुत्सुकयितासि भृश परेषामुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे ॥ ८१ ॥
इति भारविष्णुतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये एकादश सर्गः ।



प्रीत इति ॥ पिनाकिनि शिवे प्रीते सति लोकपाल सह मया लोकत्रयेऽपि
विहित दत्त अप्रतिवार्यमनिवार्य वीर्यै यस्य स तथोक्त सन् । परेषा शत्रूणा लक्ष्मीं
भृश समुत्सुकयिताऽसि समुत्सुका त्वय्यनुरक्ता कर्ताऽसि । पुनराहरिष्यसौत्यर्थ ।
वीरभोग्या सपद इति भाव । 'उत्सुक'शब्दात् 'तत्करोति' इति ष्यन्तात्कर्तरि
सुट् । इति वाचमुच्चार्य, तेन इन्द्रेण तिरोबभूवेऽन्तर्दधे । भावे लिट् ॥ ८१ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्याया घटापद्यसमाख्यायामेकादश सर्ग समाप्त ।



“भगवान् शशी के प्रसन्न होने पर लोकपालों के साथ मैं तुम्हें ऐसी शक्ति प्रदान कर
दूंगा जिससे शत्रु लोग प्रतिहार नहीं कर पायेंगे और फिर तुम शत्रुओं की लक्ष्मी को
अपनी तरफ समुत्कण्ठित कर लो गे” इस प्रकार की बात कहते हुये सुरराज अन्तर्हित
हो गये ॥ ८१ ॥

एकादशसर्ग समाप्त



द्वादश सर्ग ।

अथ वासवस्य वचनेन रुचिरवदनस्त्रिलोचनम् ।

क्लान्तिरहितमभिराधयितुं विधिवत्तपासि विदधे धनजयम् ॥१॥

अपेति ॥ अथ इन्द्रतिरोधानानन्तर रुचिरवदन इन्द्रसाक्षात्कारसंतोषात् प्रसन्न मुखो धनजयोऽशुनो वासवस्य वचनेन उपदेशेन त्रिलोचनस्य विधिवत् तपासि विदधे धनजयम् । यथासाक्षमित्यर्थः । तदर्हम् इति वक्तिप्रत्ययः । विदधे चक्रे । अस्मिन्संग उद्गतावृत्तम्—सञ्जसाधिमसलक्ष्मी च तस्यजगुरनैरधोऽज्ञता । श्यङ्प्रगतमनसला गयुता सजसा जगौ चरणमेकत पठेत् ॥ इति लक्षणात् ॥ १ ॥

सुरान के तिरोहित हो जाने पर प्रमत्त हुए अजुन आलस्य छोटेकर बनकी (इन्द्र की) शान मानकर त्रिनयन भगवान शंकर की आराधनाके लिये यह विधि तपस्साधन करने लगे ॥

अभिरश्मिमालि धिमलस्य धृतजयधृतेरनाशुप ।

तस्य नुवि बहुतिथास्तियथ प्रतिजग्मुरकचरण निपीदत् ॥ ॥

अभिरश्मीति ॥ अभिरश्मिमालि अभिसूर्य सूर्याभिसुख नुवि एकचरणं निपीदत् एकचरणेन तिष्ठतो विमलस्य धाम्नाम्तरशुचिनत । एता अयद्यतिजयेच्छा यन तस्य । अनाशुपोऽनक्षत । अपेयिजानमारवाननूचामश्च इति निपातः । तस्यार्जुनस्य बहुना पूरणा बहुतिथा । बहुसरयाका इत्यर्थः । 'तस्य पूरणे षट् । 'बहुपूरणाय सङ्घस्य तिथुक् इति तिथुगागमः । तिथयो दिनानि प्रतिजग्मुः । अत्र तिथि'सम्पुष्टिम् । तथाचा स्तथयो द्वयो इत्यभिधानात् । अन्वया बहुतिथा इत्यत्र द्वित्वा ष्टीप्स्यात् ॥ २ ॥

भगवान् मास्कर (शुभ) के समझ एक पग से पृथ्वीपर खड़े होकर बाह्य और आन्तरिक शुद्धिपूर्वक विषय की कामना करते हुए निराहार वन अजुन के बहुत दिन व्यतीत हो गये ॥२॥

वपुर्निद्रयोपतपनपु सततमसुखेषु पाण्डव ।

व्याप नगपतिरिव स्थिरता महता हि धैर्यमविभाव्यैभवम् ॥ ३ ॥

वपुर्निद्रि ॥ पाण्डवोऽर्जुन । सततं वपुष इन्द्रियाणां च उपतपनेषु सतापकरेषु । करणे षष्ठः । असुखेष्वनशान्तिदुःखेष्वपि जगपतिर्गिरीन्द्र इव स्थिरतां दार्ढ्यं व्याप प्राप । तथा हि—महतां धैर्यमविभाव्य दुर्वोच वैभव सामर्थ्य यस्य तत्तथोक्तम् । धैर्याणामकिंचित्करं दुःखमिति भावः ॥ ३ ॥

पाण्डवपुत्र (अजुन) शरीर और इन्द्रिया के संस्कारकारी उपवासादि क्लेशों के निरंतर रहने परमी हिमालय की तरह अचल से ही गये क्योंकि बड़े लोगों के धैर्य के वैभव का पता नहीं चलता ॥ ३ ॥

न पपात सनिहितपक्तिसुरभिषु फलेषु मानसम् ।

तस्य शुचिनि शिशिरे च पयस्यमृतायते हि सुतप सुकर्मणाम् ॥४॥

नेति ॥ तस्यार्जुनस्य मानस मन सनिहितानि समीपस्थानि यानि पक्तिसुरभीणि पाकसुगन्धीनि तेषु फलेषु । तथा, शुचिनि स्वच्छे शिशिरे शीतले पयसि च न पपात । न किंचिदाचकाङ्क्षेति भाव । प्राणधारण तु तस्य तप एवेत्याह—
तथाहि—सुकर्मणा सुकृतिना शोभन तप सुतप एव अमृतायतेऽमृतवदाप्सरति । किं तपस्तृप्तानां तर्पणान्तरैरिति भाव । 'लोहितादिहाभ्य क्यप्' । 'वा क्यप' इत्यात्मनेपदम् । लोहितादिराहृतिगण ॥ ४ ॥

उस तपस्वी (अर्जुन) का मन अत्यन्त समीप के फलों पर, जो परिपक्व होने से सुन्दर सुगन्ध से सने हुवे थे, तथा शीतल स्वच्छ जल पर भी चञ्चल मान न हुआ । सुकृति व्यक्तियों का तप ही अमृत का काम करता है ॥ ४ ॥

न विसिस्मिये न विपसाद् मुहुर्लसता न चाद्दे ।

सत्त्वमुरुधृति रजस्तमसी न हत स्म तस्य हतशक्तिपेलवे ॥५॥

नेति ॥ सोऽर्जुनो न विसिस्मिये । 'अहो महत्तपस्तप्तम्' इति न विस्मय जगाम । 'तप चरात् विरमयात्' इति स्मृतेरिति भाव । न विपसाद् फलबिलम्बाद्गतोत्साहो न बभूव । 'त्रिपाटश्चेतसो भङ्ग' इति लक्षणात् । 'सदिरप्रते' इति पत्वम् । मुहुर्लसता च नाद्दे । तपसि मग्दोद्यमाने च नागमदिति भाव । किञ्च, हतशक्तनी हतसारे अत एव पेलवे भङ्गुरे ते हतशक्तिपेलवे रजस्तमसी गुणौ, उरुधृति महासार तस्यार्जुनस्य सत्त्व सत्त्वगुण न हत स्म न हतवती । हन्ते 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् ॥ ५ ॥

उस अर्जुन को न अपना उद्य तपश्चर्चा पर आश्चर्य हुआ न तो उनका उत्साह भङ्ग हुआ और न तपस्साधनम उस आलस्याभिभूत ही होता पड़ा । रजो गुण और तमो गुण ये दोनों क्षीण शक्ति होने के कारण उनके मान् सत्त्व को भी नष्ट न कर सके ॥ ५ ॥

तपसा कृश वपुरुवाह स विजितजगत्त्रयोदयम् ।

त्रासजननमपि तत्त्वविदा किमिवास्ति यन्न सुकर मनस्त्रिभि ॥ ६ ॥

तपसेति ॥ सोऽर्जुन । तपसा कृश तथापि विजितो जगत्त्रयस्य भुवनत्रयस्य उदय उदकपों येन तत्तथोक्तम् । किञ्च, तत्त्वविदामपि लोकोहितार्थतत्त्व जानतामपि त्रासजनन भयकर वपु । उवाह वहति स्म । न चैतद्विभ्रमित्याह—किमिति । यत् मनस्त्रिभिर्न सुकर तत् किमिवास्ति । न किमपीत्यर्थ । 'ह्व'षब्दो वाक्यालकारे । 'मनस्त्रिणाम्' इति पाठे शेषे पठ्ये स्यादेव । वृद्योगलक्षणाया 'न लोका—' इत्यादिना निषेधात् ॥ ६ ॥

उनका (अर्जुन का) शरार तपस्या के कारण क्षीण हो गया था तो भी उन्होंने तीनों लोक

विद्युत् हीव जित्वाह्वजितमिवेषुष्येष्वा । वीतमले विमले । मेघनीहाराघावरपरहितेऽ-
पीत्यर्थ । नमसि न विराजते स्म ॥ १३ ॥

६ ३ आकाश म एष्य वा मन्त्र प्रज्ञेन वे शरीर ने निस्तुत महान निरप्यजाल से
हनप्रम हीकर लज्जित रूप को तरह विशोभित नहीं हो रहा था ॥ १३ ॥

तमुदीरितारुणजटाशुमधिगुणशारासन जना ।

रुद्रमनुदितललाटदृश ददृशुर्मिमन्थिपुमिवासुरी पुरी ॥ १४ ॥

तमिति ॥ उदीरिता उद्गता अरुणा जटानामधयो यस्य । तमधिगुणमधिग्य
शारासन यस्य । त अनुवम् । जना सिद्धगणा । आसुरीरसुरसवन्निवनी पुरीर्मि
मथिषु मथितुमिच्छुम् । मथे सन्नन्ताहुप्रत्यय । तथा अनुदिताऽनुत्पन्ना ललाटे
दृश्यस्य त साचास्त्रिपुरविजयोद्यतमभालाश्च ह्यमिव दृश्यु । अत्राभालाचस्य रुद्र
स्यासभवास्त्वतसिद्धोपमानासिद्धनैयमुपमा किन्त्येष्वा । सा चाभालाचनिसुपमावा
हुपमेयस्य न्यूनत्वकथनाप्येऽन्ववभ्यतिरेकेणोऽभिवेत्पनयोरद्वात्रिभावान सकर । उपमा
तु भवत्यत इत्यलकारेणालंकारध्वनि ॥ १४ ॥

अनन के बयमारो से प्रश्न बच की प्रिय निक्क रही था धनुष पर प्रयत्ना की
हुई थी । उ ह लोगों ने दानवों के नगर को नष्ट झट करने की इच्छा करने वाले साक्षात्
पि ने सनान देस भेद इतना हा पर कि अवन के रत्नस्थल न सीतरा नेत्र नहीं था ॥ १४ ॥

मरुता पति स्विर्हिमाश्रुत पृथुशिरा शिखी तप ।

तप्तमसुकरमुपक्रमते न जनोऽयमिन्वयये स तापसै ॥ १५ ॥

मरुतामिति ॥ मरुतां पति स्विर् देवे द्रो वा । अहिमाश्रुत सूर्यो वा । पृथुशिखी
महाबाल शिखी पावको वा । असुकर दुष्कर तपस्तप्तुमुपक्रमते । अय अण-
पुरप कश्चित्प्राकृतो न इति सोऽनु न । तापसैस्तपस्विनि । अण् च इति मत्वर्थो
योऽप्रत्यय । अवययेऽवगत । यातेरपपूर्वात्कमणि छिट् । अत्र त्रत्वादिकधर्ममारोप्य
ननत्वापवादोऽस्मान्मनारोप्यापद्धवालकार । सामान्यलक्षण तु निपिद्विषये साम्या
रोपो ह्यपह्वय इति ॥ १५ ॥

उदें (अनुव को) देख कर लोगों का अनेक प्रकार की भारणा हुई —

— ३ ह क्या ! अथवा सुई ह । विशाल वाक सगुण अग्निदेव तो नहीं हैं । दुष्कर
तपश्चर्मा करने के लिये यह पुरप तैयार है । यह कोई प्राकृत पुरप नहीं (विदित होता)
न प्रकार का भास लोगों को रहा ॥ १५ ॥

न ददाह भूद्ववनानि हरितनयधाम दूरगम् ।

न स्म नयति परिशोपमप मुसह घभव न च सिद्धतापसै ॥ १६ ॥

न ददाहिति ॥ दूरगम् । व्यापकमित्यर्थ । हरितनयस्य इन्द्रसुतस्यानुगतस्य धाम
तत्रो भूद्ववनानि वृक्षसण्डान् न ददाह । अतिवदिति भाव । तथा अपो जलानि

परिसोप न नयति स्म । अर्कवदिति भाव । तथापीति शेष । सिद्धाश्च तापसाश्च तै
सुसह न बभूव । अतोऽस्यालौकिक तेज इति भाव । अत एव दु सहत्वदाहाध्यजन-
कत्वयोर्विरोधाद्विरोधाभासोऽल्लकार — 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाच्छुद्धिः' ।
इति लक्षणात् ॥ १६ ॥

सर्वत्र व्याप्त होनेवाला, इन्द्र पुत्र (अर्जुन) का तेज वृष्टों के समूह को न जलना
और न तो जलशयों को सुजाया परन्तु सिद्ध तपस्त्रियों के लिये असह्य ही गया ॥ १६ ॥

विनयं गुणा इव विवेकमपनयमिदं नया इव ।

न्यायमवधय इवाशरणा शरण ययु शिवमथो महर्षय ॥ १७ ॥

विनयमिति ॥ अथोऽनन्तरम् । अशरणा महर्षयो मुनयो विनयं शिवा गुणा
श्रीदार्यादय इव । अशिक्षितस्य तदभावादिति भाव । अपनयमिदं दुर्नीतिवारक
विवेक सदसज्ज्ञान नया नीतय इव । अविवेकिनो नीत्यभावादिति भाव । नीति
पाहुष्यप्रयोग । नीयतेऽनेवेति न्यायो नियामक प्रमाण तम् । अवधयं समया इव ।
अप्रामाणिकस्य समयोद्धृष्टितत्वादिति भाव । शिवं त्रिनयनम् । शरणं रक्षितारम् ।
'शरणं गृह्णन्निद्रो' इत्यमरः । ययुर्जग्मुः । शरणत्वेन प्रापुरित्यर्थः । अशरणा शरण-
मिति शोपमास्वपि यथायोग्यं योज्यम् । उपमाल्लकार ॥ १७ ॥

बिना तरह श्रीदार्यादि गुण शिक्षा के समीप, नीति दुर्नीतिनिवारक विवेक (सप
और असत् के विचार) के समीप, अवधि (समय) न्याय के समीप जाता है उसी तरह
महर्षि लोग निराधार होकर झुंकर भगवान के शरण में गये ॥ १७ ॥

परिवीतमशुभिरुदस्तदिनकरमयूखमण्डलैः ।

शमुमुपहतदृश सहसा न च ते निचायितुमभिप्रसेहिरे ॥ १८ ॥

परिवीतमिति ॥ उदस्तं निरस्तं छादितं दिनकरमयूखमण्डलं यैस्तैः । सूर्यतेजो-
विजयिभिरित्यर्थः । अशुभिस्तेजोभिः परिवीतं व्याप्तं शमुः शिवम् । उपहतदृश-
प्रतिहतदृष्टयस्ते महर्षयः सहसा झटिति निचायितुं निशामयितुम् । इच्छामित्यर्थः ।
'चायुं पूजानिशासनयो' इति घातो 'शकष्टप-' इत्यादिना सुसुम् । 'नामिन्सेहिरे
न शेकु ॥ १८ ॥

(वहा) महर्षियों ने शकर भगवान् की किरणपुञ्ज से, जो सूर्य की किरणों की
तिरस्कृत कर रहा था, आशुन देकर आँसों के चक्काचों होने के कारण एकदम देहने में
असमर्थता प्रकट की ॥ १८ ॥

अथ भूतमन्यभवदीशमभिमुखचित्तु कृतस्तवा ।

तत्र महसि ददृशु पुरुष कमनीयविप्रहमयुगमज्जोचनम् ॥ १९ ॥

अथेति ॥ अथ एगुपघातामन्तरं भूतमन्यभवता भूतमविप्यद्वर्तमानानां ईश देवम,
अभिमुखचित्तुमभिमुखीकर्तुं कृतस्तवा कृतस्तोत्राः सन्तः । न त्वन्यथेति भावः ।

‘स्तव स्तोत्र स्तुतिरु ति इत्यमर । तत्र पूषाक्त महसि तेजसि कमनीयदिग्द
रम्यमूर्तिम् । अयुग्मानि श्रीणि लोचनानि यस्य स पुरुर्यं ददशु ॥ १९ ॥

दृष्टि क्लावाच होने के पश्चात् सहर्षियों ने भूम भविष्य और पर्वतान “न तानो काख
के स्वामी (शंकर) के प्रत्यक्षोत्तरण के लिये स्तुति िया पश्चात् रम्यार्ति तीम नेत्र-
युक्त पुरप को देण । १९ ॥

अथ पञ्चमि- पुरप विद्यवदि—कजुद इवादिना—

ककुदे वृपस्य कृतवाहुमकृशपरिणाहशालिनि ।

स्पर्शसुखमनुभवन्तमुमाकुचयुग्ममण्डल इवाद्रचन्दने ॥ ० ॥

कजुद इति ॥ कीदृश पुरुषम् ॥ अकृशेन महता परिगाहेन विशालतया शालत
इति तयोक्ते । परिणाहो विशालता इत्यमर । वृपस्य वृपस्य कजुर्वेत्सकृते ।
आश्रयीकृत इति शेष । आद्रचन्दन उभाया कुचयुग्ममण्डल इव कृतवाहु म्यस्त
हस्तमत पूव स्पर्शसुखमनुभवन्तम् । कजुदस्य तथाविधस्य सुखकर वादिति भाव ।
उपमाहकार ॥ २ ॥

वह पुरप (शंकर मगवान्) वृषभ (वैड नन्दी) के विज्ञान मतकूट पर हाथ रख
कर पार्वती के पयोधर मण्डल के जो चन्दन ने लित है स्वच्छ-सुन्द का आनन्द ले
रहा है ॥ २ ॥

स्थितमुन्नते तुहिनरीलशिरसि मुयनातिवर्तिना ।

सात्रिजलधिजलराहपथ सविगस्तुधानमिन् विश्वमोजसा ॥ २१ ॥

स्थितमिति ॥ उन्नते तुहिनरीलशिरसि हिमवत शिखरे स्थितम् । ऊर्ध्वरोधे
स्थितमित्यर्थ । तथापि मुयनातिवर्तिना सबलोकतिशायिना । ओजसा तेजसा ।
अद्रिमि पवतैश्चलधिभि समुद्रे भजलवाहपथेनाकाशेन च सह वतव इति
सघोषम् । दिग्भि सह वर्तत इति सदिक् । उभयत्रापि तेन सहेति सुखयोगे इति
कजुदीति । निरवमशुवान व्याजुवन्दमिन् स्थितमित्युपेक्षा । अशुब्ध्याही इति
यातो क्षावच् ॥ २१ ॥

वह (पुरप) हिमालय के उच्च शिखर पर आसीन होकर पौदहों मुयनों को भीतने
माने तेम से पर्वत स्तम्भ आराध तथा सम्पूर्ण निजाओं से युक्त सम्पूर्ण विश्वको उदरस्थ
बनाते हुए के सङ्घ इष्टिगोचर हो रहा था ॥ २१ ॥

अनुनानुमध्यमरसकारिततवपुषा महाहिना ।

लोफमखिलमिष भूमिभृता रवितेजसामरधिनाधिवेष्टितम् ॥ २० ॥

अनुनान्विति ॥ अनुनोमध्येशुजानुमध्यम् । विमलवर्षेज्ययीमात्र । अवसर्ष
हृत्न विलतमावत च वपुवस्य तेन महाहिना । अवसर्षिकार भूभूतस्यर्थ ।
अधिवेष्टितम् अत एव रवितेजसामरधिना पयम्भृतेन भूमिभृता लोकालोकाचले-

नाथिवेष्टितम् । अश्लिष्य लोकाभिव स्थितमित्युपमा । 'असूर्यपश्यापरभागो लोका
लोकाच्चल' इत्यामम ॥ २२ ॥

वह पुरुष जानुमध्यगत भीष्म काच मुचद्मराज से वेष्टित होकर सूर्य के प्रकाश की
सीमामुक्त लोकाशोक (चक्रवाक) पर्वत के द्वारा वेष्टित समग्र विश्व के समान दिखारै
पट रहा था ॥ २२ ॥

परिणाहिना तुहिनराशिविशदमुपवीतसूत्रताम् ।

नीतमुरगमनुरञ्जयता शितिना गलेन विलसन्मरीचिना ॥ २३ ॥

परिणाहिनेति ॥ पुनश्च, तुहिनराशिवत् विशद शुभ्रम्, उपवीतसूत्रता यज्ञोपवी-
तत्वं नीतं प्रापितम् । उरग शेषाहिम् । अनुरञ्जयता स्वगुणोपरक्त कुर्वता ।
श्यामीकुर्वतेत्यर्थः । परिणाहिना विशालेन विलसन्मरीचिना प्रसूतकिरणेन
शितिना नीलेन गलेन कण्ठेनोपलक्षितम् । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायाम्' इत्यमरः ।
अत्रोरगस्य स्वधबलिस्यगोमान्द्यजन्त्यनीलिमप्रहृणात्तद्गुणालकार - 'तद्गुण स्वगुण
त्यामादन्योःकृद्गुणग्रहः' इति लक्षणात् ॥ २३ ॥

वह (पुरुष) तुषारपुञ्ज के सदृश शुभ्र मुजगराज को, जो शकर के यज्ञोपवीत के
स्थान की पूर्ति कर रहे थे, अपने रङ्ग में रगते हुए नीलकण्ठ से, जिससे किरणों परिस्ररण
कर रही थीं, उपलक्षित हो रहा था ॥ २३ ॥

प्लुतमालतीसितकपालकुमुदमवरुद्धमूर्धजम् ।

शेषमिव सुरसरित्पयसा शिरसा विसारि शशिधाम विभ्रतम् ॥ २४ ॥

प्लुतेति ॥ पुनश्च, मालती जातीकुसुमम् । 'सुमना मालती जाति' इति, 'पुण्ये
जातीप्रभृतयः स्वलिङ्गा ग्रीहय फले' इति चामरः । तद्वत् सितयत् कपालमेव
कुमुदं तत् प्लुतमान्प्लुतयेन तत्तथोक्तम् । अवरुद्धमूर्धजं व्याप्तशिरोरुद्धम् । अत एव
सुरसरित्पयसा शेषमिव निर्यातावशिष्टं नाङ्गमन्म इव । स्थितमित्यर्थः । उद्योत्ता-
लकारः । विसारि विस्त्वरं शशिधाम चन्द्रतेजः शिरसा विभ्रतम् । पुरुष ददृशुरिति
पूर्वेण सूचन्धः ॥ २४ ॥

वह (पुरुष) मालती पुष्प के समान भवक कपाल कुमुद को आप्लुत करती हुई चन्द्रमा
(चन्द्रिका) को, जो कैदाँ को न्यास कर प्रसरण कर रही थीं, गर्दा के जल के अवशिष्ट भाग
की तरह धारण कर रहा था । अर्थात् शकर के लज्जस्थ चन्द्रमा की शिरखों से न्यास हो
रहा था, उन शिरखों को धारण करते हुए शकर जी इस प्रकार माणस पट्टे में कि जैसे वे
जादवी के रूप हुए जल को धारण करते थे ॥ २४ ॥

मुनयस्ततोऽभिमुखमेत्य नयनविनिमेषनोदिता ।

पाण्डुतनयतपसा जनित जगतामशर्म भृशमाचचक्षिरे ॥ २५ ॥

मुनय इति ॥ ततो दर्शानानन्तरं मुनयोऽभिमुखमेत्य । शिवस्येति शेषः । नयन-
१८ कि०

'स्तव' स्तोत्र स्तुतिरिति इत्यमरः । तत्र पूर्वांके महसि तेजसि कमनीयविग्रह
रम्यमूर्तिम् । अयुग्मान श्रीणि लोचनानि यस्य त पुरुष दृष्ट ॥ १९ ॥

इष्टि चकाचधि होने के पश्चात् महर्षियों ने मूल मन्त्रिय श्रीर इतमान "न तीर्णो नारो
के स्वामी (शंकर) के प्रत्यक्षारुण के लिये स्तुति क्रिया प्रकार रम्यार्कित तीन नैन
युक्त पुरुष को देखा ॥ १९ ॥

अथ पञ्चमिः पुरुष विशिनष्टि—ककुब् इत्यादिना—

ककुब्दे वृषस्य कृतबाहुमक्रुशपरिणादशालिनि ।

स्पर्शसुखमनुभवन्तमुमाकुचयुग्ममण्डल इवाद्रचन्दन ॥ ० ॥

ककुब् इति ॥ कीदृश पुरुषम् ॥ अकृतोऽथ महता परिणादेन विशालतया शालत
इति तथोक्ते । 'परिणाहो विशालता इत्यमरः । वृषस्य वृषमस्य ककुब्देऽक्षरूढे ।
आधारीकृत इति शेष । आद्रचन्दन उभाया कुचयुग्ममण्डल इव कृतबाहुं न्यस्त
इत्यमरः पूव स्पर्शसुखमनुभवन्तम् । ककुब्देस्य तथाविधस्य सुखकरावादिनि भावः ।
उपमालकारः ॥ २ ॥

वह पुरुष (शंकर मन्वान्) वृषभ (वैक नन्दी) के विशाल भसकू पर शय्य रज
कात पार्वती के पवीर मन्त्र के जो चन्दन म लिप्त है स्पर्श-सुख का भान ल
रहा है ॥ २ ॥

स्थितमुज्जते तुहिनशैलशिरसि भुवनातिवर्तिना ।

साद्रिजलधिजलवाहपथ सदिगशुधानमिन निश्चमोजसा ॥ २१ ॥

स्थितमिति ॥ उच्चते तुहिनशैलशिरसि हिमवत शिखरे स्थितम् । ऊर्ध्वकोणे
स्थितमित्यर्थ । तथापि भुवनातिवर्तिना सबलोकतिशासिना । जोजसा तेजसा ।
अद्रिमि पक्षीचलधिनि समुद्रैः अजलवाहपथेनाकारेण च सह वर्तत इति
तथोक्तम् । दिग्भिः सह वर्तत इति सद्रिक् । उभयधापि तेन सहैति द्रव्ययोगो इति
बहुमीदृक् । विश्वमशुधान भ्यान्नुवन्तमित्य स्थितमित्युच्यते । अशुद् व्याप्तौ इति
घातो घानच् ॥ २१ ॥

वह (पुरुष) विमाळय के उच्च शिखर पर आसीन होकर चारों भुवनों को जीने
वाले तेज से पर्वत समुद्र आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओं से युक्त सम्पूर्ण विश्वो उदरस्थ
बनाते हुए के सहित इष्टिोचर हो रहा था ॥ २१ ॥

अनुजानुमध्यमरसकविचतवपुषा महाहिना ।

लोकमखिलमिन भूमिश्रुता रधितेजसामवधिनाधिनिवेष्टितम् ॥ २२ ॥

अनुजामिति ॥ जानुनैर्मन्त्रेऽनुजानुमध्यम् । विमरुथैर्येऽन्यथीभात्र । अवसकः
अन्न विततमापत च वपुषस्य तेन महाहिना । अवसकिकारणमभूतेनेत्यर्थ ।
अधिनिवेष्टितम् अत्र पूव रधितेजसामवधिना पथ-श्रुतेन भूमिश्रुता लोकालोकावष्टे

माधिबेष्टितम् । अखिल लोकमिव स्थितमिन्दुपमा । 'असूर्यपश्यापरभागो लोका
लोकाच्छ' इत्याशाम् ॥ २२ ॥

वह पुरुष जानून अथगत भीषण काय भुजङ्गराज से बेष्टित होकर स्वयं के प्रकाश की
सोमामृत लोकालोक (चक्रवाल) परत के द्वारा बेष्टित समय विश्व के समान दिखाई
पड़ रहा था ॥ २२ ॥

परिणाहिना तुहिनराशिविशदमुपवीतसूत्रताम् ।

नीतमुरगमनुरञ्जयता शितिना गलेन विलसन्मरीचिना ॥ २३ ॥

परिणाहिनेति ॥ पुनश्च, तुहिनराशिवत् विशद शुभ्रम्, उपवीतसूत्रता यज्ञोपवी-
तत्व नीत प्रापितम् । उरग शेषाहिम् । अनुरञ्जयता स्वगुणोपरक्त कुर्वता ।
श्यामीकुर्वतेत्यर्थं । परिणाहिना विशालेन विलसन्मरीचिना प्रसृतकिरणेन
शितिना नीलेन गलेन कण्ठेनोपलक्षितम् । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवापाम्' इत्यमरः ।
अत्रोरगस्य स्वधवलमित्यागेचान्वयन्यनीलिमग्रहणात्तद्वगुणालकार - 'तद्गुण स्वगुण
त्यागादन्योक्तद्वगुणग्रह' इति लक्षणात् ॥ २३ ॥

वह (पुरुष) द्वारपुरुष के सदृश शुभ्र भुजङ्गराज को, जो शंकर के यज्ञोपवीत के
स्थान की पूर्ति कर रहे थे, अपने रङ्ग में रगते हुए नीलकण्ठ से, जिससे किरणें परिरक्षरण
कर रही थीं, उपलक्षित हो रहा था ॥ २३ ॥

प्लुतमालतीसितकपालकुमुदमवरुद्धमूर्धजम् ।

शेषमिव सुरसरित्पयसा शिरसा विसारि शशिधाम विभ्रतम् ॥ २४ ॥

प्लुतेति ॥ पुनश्च, मालती जातीकुसुमम् । 'सुमना मालती जाति' इति, 'पुण्ये
जातीप्रभृतय स्वलिङ्गा व्रीहय फले' इति चामरः । तद्वत् सित यत् कपालमेव
कुमुद तत् प्लुतमाप्लुत येन तत्तथोक्तम् । अवरुद्धमूर्धजं व्यासशिरोरुद्धम् । अत एव
सुरसरित्पयसा शेषमिव निर्वातावशिष्टं गान्धमम् इव । स्थितमित्यर्थः । उद्योष्ठा-
लकारः । विसारि विसृत्वर शशिधाम चन्द्रतेज शिरसा विभ्रतम् । पुरुष दृष्ट्युरिति
पूर्वेण सवन्धः ॥ २४ ॥

वह (पुरुष) मालती पुष्प के मजान भवल कपाल कुमुद को आप्लुत करती हुई चन्द्रमा
की किरणों को, जो केशों को व्याप्त कर प्रसरण कर रही थीं, गान्ध के जल के अवशिष्ट भाग
की तरह धारण कर रहा था । प्रयात शंकर के ललाटक चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त हो
रहा था, उन किरणों को धारण करते हुए शंकर को इस प्रकार माधूम पटते थे कि जैसे वे
जाधनी के बच हुए जल को धारण करते थे ॥ -४ ॥

मुनयस्ततोऽभिमुखमेत्य नयनविनिमेषनोदिता ।

पाण्डुतनयतपसा जनित जगतामशर्म भृशमाचचक्षिरे ॥ २५ ॥

मुनय इति ॥ ततो दर्शनादन्तर मुनयोऽभिमुखमेत्य । शिवस्येति शेषः । नयन-
१८ कि०

विनिमेषेण नेत्रतर्जया बोधिता मेरिता सत पाण्डुतनयस्पाहुनस्य तपसा जनित
सत्पूर्वोऽं जगतामशम असुखम् । दुःखमित्यथ । शमसाधसुपानि च इत्यमर ।
शृङ्ग सम्यक् । आचरन्निरे कथितवत् ॥ २५ ॥

इत तरह के शकर भगवान् के दान करने के अनन्तर नेत्र-निमेष से सङ्कलित होकर
शुनि लोगों ने उनके सम्मुख उपस्थित होकर पाण्डुपुत्र (अर्जुन) के तपश्चर्या के कारण
तपन दुःख को जिससे कि-दुःख या दशा या कष्ट सुनाया ॥ २५ ॥

तरसैव कौऽपि भुवनैकपुरुष पुरुषस्तपस्यति ।

‘योतिरमलवपुवोऽपि रवेरभिभूय घृत्र इय भीमविग्रह ॥ २६ ॥

तरसेति ॥ हे भुवनैकपुरुष । पुरुषोत्तम । घृत्रो घृत्रासुर इव भीमविग्रह कौऽपि ।
अविज्ञात इत्यथ । पुरुष । तरसा बलाकारेणैव । तरसी घट्टरहसी इति विरव ।
अमलवपुष उज्ज्वलमूर्ते रवेरपि ज्योतिरभिभूय तपस्यति तपश्चरति । कमजो रोमस्य
तपोभ्यां वतिचरो इति क्यङ् ॥ २६ ॥

ये पुरुषग्रह । घृत्रासुर की तरह भीषण काय योई पुरुष प्रकाशमूर्ति श्वं के प्रकाश को
निरस्तन करके बलाकार तपश्चरण कर रहा है ॥ २६ ॥

स धनुर्महेषुधि विभर्ति क्वचमसिमुत्तम जटा ।

यत्कमजिनमिति चित्रमिदं मुनिताविरोधि न च नास्य राजते ॥ २७ ॥

स इति ॥ किञ्च स पुरुषो महान्ताविपुधी यस्य तद् महेषुधि धनुः क्वच धम
उत्तमसि क्वञ्च अटा धरुं धीरम् अजिन धर्म च विभर्ति इति पृथक् रूपम् इव विरुद्ध
नेपधारणं मुनिताविरोधि मुनित्वप्रतिबन्धक तथापि अस्व न राजत इति न ।
किं तु राजत एवेत्यर्थ । चित्रमाश्चर्यम् । ‘समाख्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ
इति धामन ॥ २७ ॥

यह तपस्वी धनुष विशाल तरकश सुन्दर क्वच करवाल (तलवार) जटा भूज
दण्ड और शृगधम धारण करता है । इसका रूप निकटतम शक्ति मुनियों से विपरीत है ।
देखने में मला न मालूम होता ही यह भी नहीं उते यह नैश शून्य इजता है । यह
इसमें अत्यन्त ही है ॥ २७ ॥

चलनेऽपनिश्चलति तस्य करणनियमे सदिक्मुसुम् ।

स्तम्भमनुभवति शान्तमरुद्महतारकगणसुत नभस्तलाम् ॥ २८ ॥

चलन इति ॥ किञ्च तस्य पुंसः चलनेऽपि शृषिबो चलति । तथा करणनियमे
समाधिने-मयनिरोधे सति । करण साधकतम श्रेयगात्रेभिः श्रेयसि इत्यमर ।
शान्ते रितमित्तमैकता वापुनां प्रहारां स्यादीनां सारकार्णां गणत्राणां च गणैर्मुक्तं धम
स्तलं ज्योम सदिक्मुसुं दिग्बद्धित स्तम्भ निश्चलताम् । अनुभवतीत्यर्थ । अतो
विश्वान्निशानिनी तस्य अकिरपलचयत इति भाव ॥ २८ ॥

जब वह तपस्वी चलता है तब भूमि भी कम्पित हो उठती है । मिल समग्र यह वास का अथर्वोत्तर करने समाधिस्थ हो जाता है उस समग्र दिशाओं के साथ लम्ब गद्य, ग्रह, नक्षत्रों से युक्त ग्योम (आकाश) प्रकृत का दृष्टि गोचर होता है । तात्पर्य यह कि ब्रम्हो-वास की गति करने से समस्त विश्व की गति एक जाती है ॥ २८ ॥

न चैतदुपेक्ष्यमित्याशयेनाह—

स तदोजसा विजितसारममरदितिजोपसहितम् ।

विश्वमिदमपिदधाति पुरा किमिवास्ति यत्र तपसामदुष्करम् ॥ २९ ॥

स इति ॥ स पुमान् । ओजसा विजितसार गिरस्तसत्त्वम् । अमरदितिजोपसहि-
त सुरातुरसहित तदिदं विश्वं पुराऽपिदधाति । अपिधास्वतीत्यर्थं । शीघ्रमेव हरि-
ष्यतीति भावः । 'निष्ठागामिके पुरा' इत्यमरः । 'यात्रपुरानिपातयोर्लोट्' इति भवि-
ष्यदर्थे लट् । तथा हि—यत् कर्म तपसामदुष्करं तत्किमिवास्ति । न किञ्चित्तेन दुष्कर-
मस्तीत्यर्थः । सामान्येन विशोपसमर्षणरूपोऽर्धान्तरन्यासः ॥ २९ ॥

वह तपस्वी अपने पराक्रम से देवता और दैत्यों के साथ साथ इत विश्व को जीत कर निस्तार कर देगा । उत्तर में जोन ऐसी वस्तु है जो उपरिवाँ के लिये हुस्ताप्य है ॥ २९ ॥

न चैतदन्वयफलकं तप इत्याह—

विजिगीषते यदि जगन्वि युगपद्य सजिहीषेति ।

प्राप्तुमभवमभिवान्छति वा वयमस्य नो विषहितुं क्षमां क्वच ॥ ३० ॥

विजिगीषते इति ॥ स पुरुषो जगन्वि भुषणानि युगपद्विजिगीषते यदि विजेतुमि-
च्छति वा । 'पूर्ववासन' इत्यात्मनेपदम् । अथ युगपत्सजिहीषेति सहर्तुमिच्छति वा ।
अभवमपवर्गं प्राप्तुमभिवान्छति वा, न विप्रो वयमिति श्रेयः । किंतु वयमप्यस्य
क्वस्तेनासि विपहितुं सोढुम् । 'दोषसङ्कल्पमरुपिण' इति विकल्पाद्विवायाम् । नो
क्षमां न क्वच । केचित् 'क्वच कामिनां विपहितुमवधारयितुम्' इति न्याचच्छते,
सत्र सहैवधारणार्थं विचार्यम् ॥ ३० ॥

वह पुरुष (तपस्वी) विपोक के विषय की कामना करता है क्या ? अथवा इस उत्तर
को एक ही साथ सहार करना चाहता है क्या ? अपना मोक्ष की बन्धन करता है क्या ?
इस ध्यान में नहीं आता कि वह क्या करना चाहता है । इन श्रेय तो उनके एक को
सहज करने में अनर्थ है ॥ ३० ॥

किमुपेक्षसे कथय नाथ न तव विदितं न किञ्चन ।

प्राप्तुमलमभयदाहंसि नस्त्वयि मा स्म शासति भवत्पराभव ॥३१॥

किमिति ॥ हे नाथ ! किं किमर्थमुपेक्षसे कथय । स्वमिति श्रेयः । तव न विद्मि-
वम् । स्वधाऽज्ञत्वमाममित्यर्थः । 'क्षस्य च वर्तमाने' इति पठौ । न किञ्चन किमपि

न । हे ममयव ! गोष्ठमान् अल ब्राह्मणइति । स्वयि शासति सति परामयो मा स्म
भवत् मा भूत् । श्मोसरे लङ्घ इति लङ् ॥ ३१ ॥

हे प्रभो ! कहिये क्यों उपेक्षा कर रहे हैं । आप को कुछ भी नहीं शान है क्या ? अये
अनर्थानदान आप हम लोगों की रक्षा करने में समर्थ हैं । आपके शासन काल में
हम लोग परामवन होने पावें ॥ ३१ ॥

इति गा विधाय विरतेषु मुनिषु वचन समावद् ।

मिञ्जजलधिजलनादगुरु ध्वनयन्दिशा विवरमघकान्तक ॥ २२ ॥

इतीति ॥ इति इत्थ गां धावन् विधाय । अमिघादेत्यथ । सामान्यस्य विरोप
पर्यवसानात् । मुनिषु विरतेषु तूष्णींभूतेषु सस्यु । अघकान्तक शिवो मिञ्जयो
द्वेकस्य जलधेमलम्भ नादमिदं गुरु गम्भीर यथा तथा दिशां विवरमन्तराल ध्वनयन्
वचन समावदे स्वीचकार । उवाचे यथ ॥ ३२ ॥

उक्त प्रकार का स्तुति करके मूर्धियों के विरत (चुप) हो जाने पर मन्वकाङ्कर
के घट्ट (शरर भगवान्) शिवाओं के मनराल को ध्वनि से पूर्ण करते हुए जुम्भ सागर
के अल में उद्वेग होने वाले गम्भीर नार के सञ्च वाक्य बोले ॥ ३२ ॥

ध्वरीतपोवननिवासनिरवमघगात मान्यथा ।

धातुरुदयनिधने जगता नरमशमादिपुरुषस्य गा गतम् ॥ ३३ ॥

बदरीति ॥ बदरीतपोवने ध्वरिकाधने निवासनिरत नित्यनिवासिन गां गतं
मुवमक्तीर्णं आगतामुदयनिधने सृष्टिसंहारी धातु । तपो क्तुरित्यर्थ । 'तुन्' इति
दधातेस्त्-प्रत्यय । अत एव 'न लोके- इत्यादिना कमणि पक्षीभस्तिथेय । आदि
पुरुषस्य विष्णो । अक्षमशामृतम् । नरम्, नरसञ्जकमित्यथा । यो नारायणसक्रेति
भाव । अन्यथा उच्यैपरीत्येन पुन माश्वयात् । मनुष्यमात्रं मा आनीतेत्यर्थ ।
हृणो गा लुब्धि इति गादेश् ॥ ३३ ॥

जो यह तपनी स्थी पर समागत है वह बदरिकाधमनिवासी सृष्टिके निर्माता और सृष्टी
आदि पुरुष (विष्णु) का अथ नारायण का अन्तार है उसे दूरता मन समनिये ॥ ३३ ॥
अथ तस्य तपसो निमित्तमाह—

द्विपथ परासिसिपुरेप सकलमुयनाभितापिन ।

क्रान्तकुलिशकरधीर्यबलान्मदुपासनं विहितयान्महत्तप ॥ ३४ ॥

द्विपथ इति ॥ एष नर सकलमुवनान्यभितापयन्त्वमीकामिति तथोक्तान् ।
बहुलमाभीकथे इति शिनि । क्रान्ते आक्रान्ते कुलिशकरस्वेद्रस्य धीर्यबले सृष्टि-
सैन्ये वैस्तान् द्विपथ शत्रूँ परासिसिपु परासिगुमिच्छु । अस्यते सञ्चन्तादुप्यथः ।
मदुपासनं मदाराधनम् । करणे क्तुद् । महत्तपो विहितवाद् । अथ विमित्तं शत्रुचप
एवेति भाव ॥ ३४ ॥

यह (तपस्वी) अखिल विश्व के सन्तापदायक शत्रुओं को, जो इन्द्र की शक्ति और सेना को तृण वटाधर समझते हैं, पराजित करने की अभिलाषा से मेरी (शंकर की) उपासना-रूप उग्र तपश्चया कर रहा है ॥ ३४ ॥

अथास्य मानुषावतारे कारणमाह—

अयमच्युतश्च वचनेन सरसिरुहजन्मन प्रजा ।

पातुमसुरनिघनेन विभू भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठत ॥ ३५ ॥

अयमिति ॥ विभू प्रभू अथ नरोऽच्युत कृष्णश्च सरसिरुहजन्मनो ब्रह्मणो वचनेन प्रार्थनया । असुराणां निघनेन भारणेन करणेन प्रजा पातु रक्षितु भुवमभ्युपेत्य मनु-जेषु तिष्ठत । वस्तुतस्तु साचाक्षरनारायणावेतौ कृष्णाहुंनावित्यर्थ ॥ ३५ ॥

यह तपस्वी और कृष्ण ये दोनों प्रभु हैं, भक्ता की प्रार्थना से असुरों का विनाश कर प्राणी मात्र को रक्षा के लिये भूमि पर श्वतीर्ण होकर मनुष्य के रूप में रहते हैं । वस्तुतः ये दोनों व्यक्ति नर और नारायण के अवतार हैं ॥ ३५ ॥

अथास्य सत्त्वसपद प्रकाशयितुमाह—

सुरकृत्यमेतदवगम्य निपुणमिति मूकदानव ।

हन्तुमभिपतति पाण्डुसुत त्वरया तदत्र सह गम्यता मया ॥ ३६ ॥

सुरेति ॥ मूकदानवो मूकारुध कश्चिदसुर । एतत् पाण्डवकृत्य सुरकृत्यमिति निपुणमवगम्य साधु निश्चित्य पाण्डुसुतमर्जुन हन्तुमभिपतति । तत् तस्मात्कारणात्, अन्नार्जुनाश्रमे विषये । आश्रम प्रतीत्यर्थ । मया सह त्वरया गम्यताम् । द्रष्टुमिति शेष ॥ ३६ ॥

(अर्जुन) मूक नाम का कोई दानव "यह अर्जुन की तपस्या देवताओं का कार्य है" इस बात को अच्छी प्रकार निश्चित करने पाण्डुपुत्र अर्जुन का वध करने के लिये उद्यत है । अतः शीघ्रातिशीघ्र आपलोग मेरे साथ होकर आश्रम में चलिये ॥ ३६ ॥

विवरेऽपि नैनमनिगूढमभिभवितुमेष पारथन् ।

पापनिरतिरविशङ्कितया विजय व्यवस्यति वराहमायया ॥ ३७ ॥

विवर इति ॥ पापे निरतिरतिप्रीतिर्यस्य स एव दानवो विवरे रन्ध्रेऽपि । एकान्ते-ऽपीत्यर्थ । एन पाण्डवम् । अनिगूढं प्रकाश स्पष्ट तथा तथा, अभिभवितु न पारथन् न धवन्वन् । विभाषायाम् 'अन्' इति चम्पसास । अविशङ्कितया स्वरूपगूढनाशि-शङ्कितया वराहमायया वराहभूमिकया विजय व्यवस्यति । विजय प्रयुक्त इत्यर्थ ॥

पापाचाररत यह मूक दानव एतान्त पारर मी अर्जुन की पराजित करने में अपने को असमर्थ समझा, अतः अब माया का शंकर बन कर निःशङ्क भाव से (अर्जुन पर, विजयलाम के लिये) उद्योग कर रहा है ॥ ३७ ॥

तत कि भविष्यतीत्यत्राह—

निहते विडम्बितकिरातनुपतिवपुया रिपौ मया ।

मुक्तनिशितप्रिशिख प्रसभं मृगयाविषादमयसाचरिष्यति ॥ ३८ ॥

निहत इति विडम्बितमनुकृत किरातदृपतिवपुर्मेव । तद्रूपधारितेत्यथ । मया निहते रिपौ वराहे मुक्तनिशितविशिख सन् । अथ पाण्डव प्रसभ प्रसन्न मृगया विषादं मृगग्रहणकल्हम् । आचरिष्यति करिष्यति । मलाहतमेव मृग प्रकल्प स्वयमह मेव प्रहर्तुं कलहिष्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

फिर क्या होगा यह भी प्रबल है—

किरात का वेष बना कर भेरे द्वारा जब वह (वानर) मार डाला जायगा तब वह तपस्वी ब्रह्मरूप पर अपने तीक्ष्ण बाणों का प्रयोग करके मृगयाकरुण्य प्रारम्भ कर देगा ॥ ३८ ॥

ततोऽपि किं भाषीत्यत्राह—

तपसा निपीडितकृशस्य विरहितसहायसपद ।

सत्त्वविहितमतुलं मुजयोबलमस्य पश्यत मृधेऽधिकुप्यत ॥ ३९ ॥

तपसेति ॥ तपसा नितरां पीडितोऽथ पद कृशस्तस्य निपीडितकृशस्य । 'पूर्व-काल-' इत्यादिना समास । तथा विरहिता सहायसपदस्य तस्यैकाकिनो मृधे रणे । मृधमास्कन्दनं सख्यम् इत्यमर । अधिकुप्यतोऽधिकं कुप्यतोऽस्य पाण्डवस्य सत्त्व विहितं स्वभावकृतम् । स्वाभाविकमित्यर्थः । 'सत्त्वोऽस्ती जन्तुषु क्लीबे प्यवसाये पराक्रमे । आत्मभावे पिशाचादौ द्रुधे सत्तास्वभावयो । प्रागे वलेऽन्तःकरणे इति वैशयन्ती । अतुल गिरुपम भुजयोर्बाहोर्बलं शक्तिं पश्यत । बल शक्तिवत् सैन्यम् इति चारवत् ॥ ३९ ॥

ऐ कथियो ! उस मजुन का शरा तपस्या के कारण दुबल हो गया है । उसके पास कोई सहायक सामग्री भी नहीं है । सामान में रुद्ध होते हुए उसके मुजा के स्वाभाविक और अनुपम पराक्रम को आप लोग देखिये ॥ ३९ ॥

अथ त्रिभिरस्य किरातभाव वक्ष्यति—

इवि सानुसारमनुनीय विपमहरिचन्दनात्तिना ।

धर्मजानतपुलकेन ससद्गजमौक्तिकापलिगुणेन वक्षुसा ॥ ४० ॥

इतीत्यादि ॥ शिव इति इत्यं सान् मुनीन् । उदारं धुक्तिकुक्तं मया तथाऽनुनीयं शिष्यित्वा । उक्तवेति यावत् । 'अधिर' किरातधृतनापतिः सवद्वृते इत्युत्तरेणान्वयः । किरातसेनापतिवेषधारी बभूवैत्यर्थः । कथमूलः । विपमा विकृतविन्यासा हरिचन्दन स्वालयो रेखा यस्मिन्स्तेन । धर्मज्ञं स्वैरेन जनिता पुलका रोमाञ्चा यस्मिन्स्तेन । पुलका-युतः । रोमाञ्च कण्ठको रोमाधिकारो रोमहर्षणम् इति हेमचन्द्रः । 'धर्म' स्यादात्तये

ग्रीष्मे उष्णस्वेदाग्भसोरपि' इति विश्व । लसन्त घोभमाना राजमौक्तिकाना कवि-
कुम्भोज्ज्वमौक्तिकाना आबल्य एव गुणा सूत्राणि यस्मिन्स्तेनैवससा वक्ष त्यलेनोपल-
बित । करिणा मुक्तायोनिष्वे प्रमाणमाहृतस्य — 'जीमूतकरिमत्स्याहिवशाद्भङ्गवरा-
हणा । शुभ्रयुद्धवाश्च विज्ञेया अष्टौ मौक्तिकयोगव ॥' इति ॥ ४० ॥

शंकर भगवान् पूर्वोक्त प्रकार से ऋषिपों को युक्तिपूर्वक शिक्षा देकर [किरात] शंकर
सेनापति का सुन्दर वेष धारण कर लिया । वे विद्वत् रूप से विन्यस्ता हरिचन्दन की रेखाओं
से युक्त बद्धस्थल से, जो स्वेद विन्दुओं से रोमाञ्चित हो रहा था तथा जिसके मनोहर
गल्गुणता की पमित सूत्र के स्थान की पूर्ति कर रही थी ॥ ४० ॥

वदनेन पुष्पितलतान्तनियमितविलम्बिमौलिना ।

विभ्रद्रुगुणनयनेन रुच शिखिपिच्छलाब्धितकपोलभित्तिना ॥ ४१ ॥

वदनेनेति ॥ पुष्पितैर्लतान्तैर्विकसितलताग्रैर्नियमिता सयता विलम्बिवश्च ते
मौलम सयतकेशा यस्य तेन । 'चूडा किरीट केशाश्च सयता मौलयश्चय' इत्यमर ।
शिखिपिच्छलाब्धिते वहिर्बर्हाङ्किते कपोलभित्ती यस्य तेन । अलगनयनेनारक्तनेत्रेण
वदनेन रुच शोभा विभ्रत् ॥ ४१ ॥

सुसम्पुष्क वे, जिध पर लटकते हुए चिकुर जाल पुष्पयुक्त लता की वन्दुओं से
बंधे हुए थे, और अल्प क्षेत्र से, जिसकी कपोलरूप वित्ति भ्रूरपिच्छ से अङ्कित थी ॥ ४१ ॥

बृहद्बुद्धञ्जलदनादि धनुरुपहितैकमार्गणम् ।

मेघनिचय इव सवधृते रुचिर किरातपृतनापति शिव ॥ ४२ ॥

बृहदिति ॥ पुनश्च, जलद इव नदतीति जलदनादि । 'कर्तुंयुग्माने' इति णिनि ।
उपहितैकमार्गण सहितैकवाण धनुरुद्धन् । अत एव मेघनिचय इव स्थित इत्युपमा ।
अत्र विशेषके स्वभावोक्तिरलकार । 'स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्भस्त्ववर्णनम्' इति
लक्षणात् ॥ ४२ ॥

शोभा धारण करते हुए, [औरमेघ के सङ्घ निर्वोपकारी विशाल धनुष, जिस पर एक
वाण चढ़ा हुआ था, धारण करते हुए किरात रूपधारी (शंकर भगवान्) मेघमण्डल की
तरह स्थित थे ॥ ४२ ॥

अनुकूलमस्य च विचिन्त्य गणपतिभिरास्तविग्रहै ।

शूलपरशुशरचापभृतैर्महती वनेचरचमूर्विनिर्ममे ॥ ४३ ॥

अनुकूलमिति ॥ अस्य शिवस्य । अनुकूल विचिन्त्य प्रियमिति निश्चित्य । आत्त-
विग्रहैर्गृहीतकिरातवैर्है । तथा, शूलान् परशाव कुठारा शराक्षापानि च तानि
भृतानि वैस्ते । प्रहरणार्थस्य परे निष्ठासम्भ्यौ' इति निष्ठाया परनिपात । गणप-
तिभि प्रमथमुत्थैर्महती वनेचरचमू सेना विनिर्ममे निर्मिता । माह कर्माणि छिद्,
'इत्स्व' इत्यभ्यासस्य ह्रस्वत्वम् ॥ ४३ ॥

शङ्कर भगवान् के पुत्रों ने व दे ण्काड़ी जाते हुए बैस कर मत्थान की वैगारी की—

मण्डेष्ट प्रचुनि देस्ताभों ने (शङ्कर का सम्पूर्ण इन्द्रम्ब) उनके (प्रिय) हित की कामना बरके किरात का वेष बनाकर शूल फरशा धनुष और बाणों को धारण किये हुए एक किरातों की विद्याल (बटी भारी) सेना का निर्माण किया ॥ ४३ ॥

विरचय्य काननत्रिभागमनुगिरमयेश्वराज्ञया ।

भीमनिनद्वपिहितोरुमुन परितोऽपविश्य मृगया प्रतस्थिरे ॥ ४४ ॥

विरचयेति ॥ अथ ईश्वराज्ञयाऽनुगिर गिरौ । विनस्यर्थेऽन्यथीभाव । गिरेश्च सेनकस्य इति समासान्त । कामनविभाग घनविभाग विरचय्य । अस्यापमिति वैश्वविभागं कृत्वेषथ । भीमनिनद्वै कलकलै विहिता उरवो भुवो वैस्ते तथोक्ता सन्त । मृगयामपविश्य श्याजीकृत्य पशित प्रतस्थिरे प्रस्थिता ॥ ४४ ॥

भगवान् शूली की आज्ञा से उस पर्वत के जङ्गलों का विभाग कर लिया । फिर तुमुल (महान्) कोराइल से पृथ्वीमण्डलकी श्यात नरते हुए सर्वत्र अपने अपने विभाग में मृगया के रहने शुरूने लगे ॥ ४४ ॥

श्रुमितामिनि सृत्वभिभिन्नशक्तुनिमृगयूथनिस्वनै ।

पूणपृथुवनगुहाविवर सहसा मयादिव ररास भूधर ॥ ४५ ॥

श्रुमितेति ॥ श्रुमितास्वस्ता अमिनि सृता स्वस्थानाभिर्गता वि भद्रा मुक्तसवाश्च ये शकुनय पक्षिणो मृगाश्च तेषां मृथानि तेषां निस्वनै पूर्णानि पृथूनि पनाचि गुहा विवराणि च यस्य स भूधर सहसा मयादिवेल्युत्प्रेक्षा । ररास शुक्रोक्ष ॥ ४५ ॥

अब नया भा एक किरात ने पशु पक्षियों को ज्ञात हो जाता है यथा ही उनकी सेना ही जल रही थी सम्पूर्ण पर्वत के प्रत्येक वनों में उन लोगों के घूमने से इच्छन मच गई— उस समय मयाकुल और अपने २ स्थान से विनिर्गत तथा सथ से भ्रष्ट पशु पक्षियों की भार्ग्वनि से इन्द्रजोल पर्वत के घने घने वन और वन्यराशों के विवर प्रतिभनित हो रहे थे वसों वह पर्वत आकस्मिक मय से क्रुद्ध हुए की तरह प्रतीत हो रहा था ॥ ४५ ॥

न विरोधिनी रुपमियाथ पथि सुगविहङ्गसहति ।

अन्ति सहजमपि भूरिभिय सममागता सपदि वैरमापद् ॥ ४६ ॥

नेति ॥ पथि पलायनमार्गो विरोधिनी जातिवैगिणी सुगणा सिंहज्वाप्रादीनां विहृगानां काकोलुकानां च सहति सद्यो रूप परपरम्येव नेयाथ न प्राप । किमु सहैव चचरित्यथ । तथा हि—भूनि मगूता भीर्वाहुं सा सम साधारण्येव आगता आपक्षे क्षिपत्तय सहज स्वामाधिकमपि वैर सपदि प्रापत् । नहि सघातम्यसनेषु प्रजायते वैरानुषय इति भाव ॥ ४६ ॥

अब से जस्ता होकर भगते समय माग में पशु पक्षियों का सच नरगिर (स्वभाव सिद्ध) शत्रुता के कारण क्रुद्ध न हुआ (अर्थात् ज-प्रसिद्धशत्रुता के कारण एक दूसरे के हिनक न

वने) विपुल त्रासपूर्वकं आकस्मिक विपदायै स्वाभाषिकी शङ्कता को नष्ट कर देती है ॥ ४६ ॥

चमरीगणैर्गणवल्लस्य वलवति भयेऽप्युपस्थिते ।

वशविततिपु विपक्कपृथुप्रियबालवालधिभिराददे धृति ॥ ४७ ॥

चमरीति ॥ वशविततिपु वेणुगुरुमेषु विपक्का लक्षा पृथवो मृश प्रियबाला प्रियरोभाणो बालधय पुच्छानि येषा तं । 'पुच्छोऽञ्जी लमलाङ्गूले बालहस्तश्च बालधि' इत्यमर । चमरीगणैर्मृगविशेषैर्गणवल्लस्य शिववल्लस्य सयन्धिनि । तद्धेतुक इत्यर्थ । सवन्धमात्रविषयाया पद्ये । अन्यथा 'भीत्रार्थाना भयहेतु' इति पञ्चमी स्यात् । वलवति प्रवले भय उपस्थिते प्राप्तेऽपि धृतिर्धैर्यम् । आददे स्वीकृता । बालच्छेदभवात्प्राणहानिमप्यवगणय्य स्थितमित्यर्थ ॥ ४७ ॥

साथी सारो बेचारी चमरी गावें भी डर से भगी परन्तु करें क्या ? बासकी माटियों में उलफ गई —

चमरी गावें, जिनकी पुच्छ, जिसमें प्रचुर रोम थे, बास की माटियों में सतकत हो गई थी, प्रबल भय के उपस्थित होने पर धैर्य धारण करके यथास्थान [ज्यों की त्यों] खड़ी रहीं [क्योंकि अमर ने अपने पूँछों को छुड़ाने के लिये घनघाती तो कदापि किरातों के द्वारा देखी जाती जिससे प्राण के जाने आशङ्का ही यह समझ कर जहाँ की तहाँ रह गईं] ४७

हरसैनिका प्रतिभयेऽपि गजमदसुगन्धिकेसरै ।

स्वस्थमभिददृशिरै सहसा प्रतिबोधजृम्भितमुखैर्मुगाधिपै ॥ ४८ ॥

हरेति ॥ प्रतिभये भयहेतौ । 'भयकर प्रतिभयम्' इत्यमर । प्राप्तेऽपीति शेष ।

गजमदै सुगन्धय सुरभय केशरा सटा येषा तै । हतानेकगजेरित्यर्थ । सहसा सेनाकलकलश्रवणानन्तरमेव प्रतिबोधेन निद्रापगमेन जृम्भितानि व्याप्तानि मुखानि येषा तै, मुगाधिपै सिंहै स्वस्थ नि शङ्कमेव यथा तथा हरसैनिका अभिददृशिर ईचिता । न तु किञ्चित्प्रभितमित्यर्थ । युक्त चैतद्राजनामधारिणा केशरिणामिति भाव ॥ ४८ ॥

सिंहों ने सेना के कल कल ध्वनि से निद्रा का परित्याग किया और फिर जंगल की उनके अंशाल [गर्दन के बाल] हाथियों के मद से झुरमित हो रहे थे । यद्यपि उन्हें भय था तथापि निशङ्क भाव से भगवान् शकर की सेना भी देखा ॥ ४८ ॥

विभरावभूवुरपवृत्तजठरशफरीकुलाकुला ।

पङ्कविपमिततटा सरित करिरुग्णचन्दनरसारुण पय ॥ ४९ ॥

विभरामिति ॥ अपवृत्तजठरैस्तत्कालचोभाल्लुठितोदरै शफरीकुलैराकुला व्याप्ता पङ्केर्विपमितानि दुर्गमीकृतानि तटानि शूलानि यास्ता ता । सरित करिणि, पलायमानैरिति शेष । रुणाना मार्गरोधितया भग्नानाम् । 'जोदितश्च' इति निष्ठा-नत्वम् । चन्दमाना रसैरुग्ण करिरुग्णचन्दनरसारुण पयो विभरावभूवु । मृघातो

भीहीमृदुवां स्वचा इत्याग्रत्यय स्तुवज्ञावश्च । इच्छानुप्रयुज्यते छिति इति
शुभोऽनुप्रयोगः ॥ ४९ ॥

मरिचाथ छठिठोर म स्वी के समूहसे वाप्त हो रही थीं । उनके तट कीचट के कारण
दुग्ध हो रहे थे । और मयमोन होकर पलायमान शवियों के द्वारा भस्म चन्दन वृक्ष के
रसोंसे बनका नल अक्षय वर्ष हो गया था ॥ ४९ ॥

महिपक्षतागुरुतमालनलदसुरभि सदागति ।

व्यस्तशुकनिभशिलाकुसुम प्रगादप्रधौ वनसदा परिश्रमम् ॥ ५० ॥

महोपेति ॥ महिपैर्लुब्धै चतान विद्वितानि वैद्युरभिस्तमालनैर्लुब्धैर्वारैश्च
सुरभि सुगणैश्च । व्यस्ता न विद्वितानि शुकनिभानि शुकसवर्णानि शिलाकुसुमानि
शैलेयाख्या ओपधिभिषोषायेन स । अत शीतल इति भाव । कालानुसायद्भारम
पुष्पशीतशिवानि तु । शलेयम् इत्यमर । शुकनिभः इति स्वरूपकथनम् । सदा
वसिर्षाद्यु वनसदा वनेचरणानां परिश्रम प्रणुवन् । अतो म-व इति भाव । भातरिखा
सदागति इत्यमर । वधौ वाति स्म ॥ ५ ॥

महिषी [मैसों] से विद्वित अथवा तमाल और जड़ीर से सुरमित वायु शुकवर्ण
सन्ध [हरे रंग क] शिला के पुष्पों से विक्रीय करके वनप्रान्त निवासियों [निरानों]
के माग जनित खेद का शमन करता हुआ म-व करने लगा ॥ ५ ॥

मथिताम्भसो रयविकीणमृदितकदलीगवेधुका ।

कलान्तचलकहलता सरसीर्षिदधे निदाध ह्व सत्त्वसप्लव ॥ ५१ ॥

मथिताम्भस इति ॥ सत्त्वसप्लव प्राणिसद्योभो निदाधो ग्रीष्म ह्व सरसी सरां
सि । कासार सरसी सरः इत्यमर । मथिताम्भसः संक्षोभितोदका रयेण पलायन
येणेन विप्रीर्ण व्याकीर्ण यथा तथा मृदिता निष्पीडिता कदरयो गवेधुकास्तृणधान्य
विशेषाश्च यासां तास्तयोक्ता । शृण्वाम्यामि नीवारः खी गवेधुगवेधुका इत्यमर ।
मृदित इति 'मृदिति च' इति गुणप्रतिषेध । कलान्ता अछटहलता पशिन्यो धातु
ता एवाभूता विश्वे प्रकार ॥ ५१ ॥

श्रीश्वके समान वन्य पशुओं के घुग्घ होने के कारण सरोवरों का जल विलीकित हो
गया मयमोद होकर आगने के वेग में दहर-उधर मार्ग में पड़े हुए केली और गवेधुका नाम
के वृक्ष प्रमत्ता कर नष्ट भट ही गये तथा जलोय लतायें [कमल कुमु- सेवारदिप] सब
कुम्हल गई ॥ ५१ ॥

इति चालयलचलसानुबनगहनजानुमापति ।

प्राप मुदितहरिणीदशनक्षतवीरुध वसतिमैन्द्रसुनधीम् ॥ ५२ ॥

इतीति ॥ इति इत्यमर । उमापतिरचलसानुषु वनेपूपभोग्यवृक्षेषु गहनेषु दावेषु
च जातास्तयोक्ताः सप्तानिति शेष । आलयन् । मुदितानां हरिणीनां दशनै-

चता वीरुधो लता यस्या ताम् । इन्द्रसूनोरिमा ऐन्द्रसूनवीम् । वसत्यत्रेति वसति-
माश्रमम् । 'वहिवस्मर्तिभ्यश्च' इत्थौणादिको वसतेरतिप्रत्यय । प्राप ॥ ५२ ॥

इस तरह भगवान् शहर उस इन्द्रनील के शिखर के उपभोग्य वृक्षों तथा बद्धों के समस्त जीवों को विद्युत् के इन्द्रपुत्र [अर्जुन] सम्बन्धी निवास स्थान में पहुँचे, जहाँ के तुण प्रसन्न चित्त हरिषिर्वी के दाँत से छिन [कर दिये गये] थे ॥ ५२ ॥

स तमाससाढ घननीलमभिमुखमुपस्थित मुने ।

पोत्रनिकषणाविभिन्नमुव दनुजं दधानमथ सौकर वपु ॥ ५३ ॥

स इति ॥ अथ अनन्तर स शिवो घननील मेघमेचक मुनेरर्जुनस्य । अभिमुख-
मुपस्थितमागत पोत्रस्य मुख्राप्रस्य निकषणेनोल्लेखनेन विभिन्ना विदारिता भूर्येन
तम् । 'मुखाग्रे ऋदहलयो पोत्रम्' इत्यमर । 'हलसूकरयो पुव' इति ष्टम्प्रत्यय ।
सूकरस्येद सौकर धाराह वपुर्दधान दनुज दानवम् । आससाढ प्राप । वदर्शति यावत् ॥

इसके अनन्तर शहर भगवान् (नील नीरद सृष्ट) बादल के समान काले, सूकर-
वेषधारी दानव के समीप, जो अर्जुन के समक्ष उपस्थित होकर अपने शूदन [मुख का
अग्रभाग] को चित कर मूमि खोद रहा था, भाये ॥ ५३ ॥

कच्छान्ते सुरसरितो निधाय सेनामन्वीत स कतिपयै किरातवर्यै ।

प्रच्छन्नस्तरुगहनै सगुल्मजालैर्लक्ष्मीवाननुपदमस्य सप्रतस्थे ॥ ५४ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये द्वादश सर्ग ।

कच्छान्त इति ॥ लक्ष्मीवान् । 'मादुपचायाश्च मतौर्वोऽपवादिभ्य' इति मत्तुपो
मकारस्य घकारादेश । स शिव । सुरसरितो मन्दाकिन्या कच्छान्तेऽनुपप्रान्ते ।
'जलप्रायमनूप स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविध' इत्यमर । सेना निधाय । स्थापयित्वे-
त्यर्थ । कतिपयै किरातवर्यैरन्वीतोऽनुगत सन् । 'ई गतौ' इति धातोरनुपूर्वात्क-
र्मणि क । सगुल्मजालैर्लक्ष्मीवाननुपदमस्य सप्रतस्थे । 'वा दान्त-
शान्त' इत्यादिना निपात । यस्य वराहस्य पदमनु अनुपदम् । पदासुसारेणैत्यर्थ ।
सप्रतस्थे प्रस्थित । 'समवप्रधिष्य स्थ' इत्यात्मनेपदम् । प्रहर्षिणीकृतम् ॥ ५४ ॥
इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्याया घण्टापथसमाख्याया द्वादश सर्ग समाप्त ॥

श्री सम्पन्न भगवान् शहर ने भागीरथी के कच्छ में अपनी किरातों की सेना को स्थापित
कर दिया और कुछ कार्य कुशल किरातों को साथ लेकर लता जालों से युक्त घने वृक्षों
से अन्वहित होते हुए [वृक्षों की आद में छिपकर] उस वराहवेष धारी मूक दानव के पद
चिन्हों का अनुसरण करते हुए आगे बढ़े ॥ ५४ ॥

वारहवीं सर्ग समाप्त

चतु इन्ते सञ्चन्तादुप्रत्यय' । अभ्यासाच्च' इति कुत्वम् । अञ्जनगमां सनि' इति वीघ' । कुत' । हि यस्माद् अत्रास्मिन्सृगविषये मे मनस्तथा मृषा स्खलति घुम्पति । यथायं जिघांसुरिति बुद्धिरूपघन इत्यथ' । तथा हि—विमल प्रसन्न तथा कञ्जुपीभ वत् घुम्पच्च चेत् पृथ्वितैपिण रिपु वा मित्रममित्र च कथयति । यत्र यत्र मन' प्रसीद्ति तदेव मित्रम् । अन्यथा त्वन्यथेति निमित्तमित्यथ । अतोऽयं वच्य इति भाव ॥६॥

यह शब्द नहीं है किन्तु जोई अथ ही मेरे माथ का घाहक है क्योंकि वस्तु के विषय में मेरा मन बार बार घुम्प हो रहा है । चित्त का प्रमत्न होना तथा मलिन होना मित्र और शत्रु की सूचना देता है [यथाद् जिसके प्रति मन प्रसन्न होता है वह मित्र रहता है और जिसके प्रति मनमें क्षाम उत्पन्न होगा है वह शत्रु रहता है] ॥ ६ ॥

मनु मुने किमनया दुःखद्वया तत्राह—

मुनिरास्मि निरागस कुतो मे मयमित्येष न भतयेऽभिमान' ।

परवृद्धिषु बद्धमत्सराणां किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलङ्घ्यम् ॥ ७ ॥

मुनिरिति ॥ मुनिरास्मि । अतो निरागसो निरपराभस्य मे कुतो मयमित्ये षोऽभिमानोऽहकारः अवपकारिण मां कोऽपि किं करिष्यतीति बुद्धिर्भूतये श्रेयसे न भवति । तथा हि—परवृद्धिषु विषये बद्धमत्सराणां दुरात्मनामलङ्घ्य किमिवास्ति न किञ्चिद्वकायमस्तीत्यथ' । 'इव शब्दे वाक्यालकारे ॥ ७ ॥

मैं तपस्वी हूँ । निरपराह हूँ । मुझे मय किसकी ? यह अहकार कल्याणकारक न होगा । दूसरेकी उप्रतिमें जड़ने वाले दुर्बलों के लिये हीन ऐमी सोमा [परबचन] है जिसरा वे उलघन नहीं कर सकते ॥ ७ ॥

अस्तु जिघांसुरपि बुद्ध किं करिष्यतीत्यत्राह—

दनुज' स्विय क्षपाचरो धा वनजे नेति बल वतास्ति सरवे ।

अभिभूय तथा हि मेघनील' सक्ल कम्पयतीथ शंकराजम् ॥ ८ ॥

दनुज इति ॥ अथ दनुज' स्विय दानवो धा क्षपाचरो राक्षसो वा । न तु मृग एवत्यथ' । कुत' । वनजे सप्ये धन्यप्राणिनि । इति ईदृश बलं नास्ति । वतेत्याश्रयं । बलमेव समर्थयते । तथा हि—मेघनीलोऽयं वरुण' सक्ल शंकरात्मभिभूय आक्रम्य कम्पयतीथ । पद्विष्टम्भमराचथा प्रतीयत इत्यर्थः । अत्र कम्पयतीमेत्युभेऽगामाऽर्थं शैलकम्पनरूपकार्येण तदकारणबलातिरेकसमर्थभाकार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ ८ ॥

यह [वराह] जानक है अथवा राक्षस [वो] में से एक तो अवश्य है] क्योंकि धन्यप्रथियों में दनुव बल लक्ष्मी ? । मेघ के समान काया यह शंकर सम्पूय सर्वतराजको आक्रान्त करके हिलाया हुआ श्री भाति प्रतीत हो रहा है ॥ ८ ॥

किंच, योज्य शैले मृगयाकलकल इव श्रूयते सोऽप्येतन्मायापरिकल्पित एवेत्याह—

अयमेव मृगान्यसत्रकाम प्रहरिष्यन्मयि मायया शमस्ये ।

पृथुभिर्ध्वजिनीरवैरकार्षीच्चकितोद्भ्रान्तमृगानि काननानि ॥ ९ ॥

अयमिति ॥ अयमेव शमस्ये शान्तिनिविष्टे इति रन्ध्रोक्ति । मयि । अतिक्रमण विवक्षाया सप्तमी । मायया प्रहरिष्यन् । प्रहर्तुमिच्छश्चित्यर्थ । 'खट शेषे च' इति चकारात्क्रियाार्थाया क्रियाया खट् । 'खट सद्वा' इति फात्रादेश । मृगान्य मृगया तस्य सत्र घन तदर्थं घनमित्यर्थ । तत्कामपत इति मृगान्यसत्रकाम मृगयाभूमिपरिग्रहार्थो ससित्यर्थ । 'कर्मण्यण्' 'आच्छेदने मृगान्य स्यादाखेटो मृगया स्त्रियाम्' इति, 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि च' इति चामर । पृथुभिर्ध्व-
जिभिर्ध्वजिनीरवै सेनाकलकलै । स्वमायया कल्पितैरेवेत्यर्थ । काननानि चकितो-
द्भ्रान्तास्त्रस्तपलायिता मृगा येषु तानि । अकार्षीच्चकार । अयमेव रन्ध्रान्वेषी मत्प्र-
हारार्थं स्वपमेव मृगयुर्भूत्वा वनाबरोधाव सेनाबोध कल्पयामास । स मृगरूपेणा-
गच्छतीत्यर्थ ॥ ९ ॥

यह (खट्) ही आखेट भूमि की अभिलाषा से शयानलम्बी मुक पर नावा के द्वारा प्रहार करने की इच्छा करता हुआ अपनी विशाल सेना के कलकल ध्वनि से वनों के पशु-
पक्षियों को भय उत्पन्न कर गया रहा है ॥ ९ ॥

वितर्कान्तरमाह—

बहुश कृतसत्कृतेर्विधातु प्रियमिच्छन्नथवा सुयोधनस्य ।

सुमित वनगोचराभियोगाद्गणमाशिश्रियदाकुल तिरश्चाम् ॥१०॥

बहुश इति ॥ अथवा बहुश कृता सत्कृति सत्कारो येन तस्य सुयोधनस्य प्रिय मद्गुरुरूप प्रतिप्रिय विधातु कर्तुमिच्छन् । य कश्चिदिति शेष । वन गोचर स्थान येषा तेषा वनगोचराणामभियोगादबरोधात् । 'अभियोगोऽबरोध स्यात्' इति हला-
पुष । इमित्तमुद्दिष्टमाकुल चल तिरश्चा मृगादिपशूना गणमाशिश्रियत् वराहरूपेण प्राविच्छत् । 'प्रिधित्तुस्य कर्तरि चच्', 'चडि' इति द्विर्भाव ॥ १० ॥

अथवा सुयोधन न इतका खूब रागत किया है जिसके कारण (मेरा गुरुरूप) उसके हितकी कामना करता हुआ वन निवासियों को भयरुद्ध कर दिया है जिससे जीव जन्तुओं का समूह सुस्थ हो गया है इतने में उसी का आश्रय लिया है अर्थात् घकर का रूप बना लिया है ॥ १० ॥

वितर्कान्तरमाह—

अवलीढसनामिरश्वसेन. प्रसभ स्वापडवजातवेदसा वा ।

प्रतिकर्तुमुपागत समन्यु कृतमन्युर्यदि वा वृकोदरेण ॥ ११ ॥

अवलीदेति ॥ एण्डवजातवेवसा खाण्डववनाग्निना प्रसभमवलीढसनाभिदग्ध
यन्तु । सपिण्डास्तु सनाभय । सगोत्रवाण्डवजातिव पुस्वरवचना समा ह्य
मर । अत एव समान्युबद्धपर । तस्यार्जुनस्थापकारवितृत्वाविति भाव । अयसेन
स्तत्रनपुत्र कश्चिन्महासप प्रतिवस्तु वरनिर्यातनार्थम् । उपागतो वा । बराहमात्र
येति शेष । पत्नी तरसाह—यदि वा दृग्गोदरेण भीमसेनेन वृत्तमभ्युज्वलितनोषो वा ।
कश्चित्ति शेष । पुरा बिल पाण्डव एण्डववाहे पावकभयात् पलापमानांस्तत्र
पुत्रानधसेनस्य वधूर् वापैरवरथ्य दह्यमासेति भारतकथा ॥ ११ ॥

अथवा मयसेन (रक्षकपुत्र) जिसके बन्धु वा पक्ष खाण्डव वन का अग्नि से जला ई वे
गये इतनी क्रुद्ध होकर उस । वरुण पुत्रान के लिए उपाक्षण हुआ है प्रथवा भीम से
नोष को प्राप्त किया हुआ कोई मुषसे बरका ने के किये उपस्थित हुआ है ॥ ११ ॥

अथ द्वाभ्यामनन्तरकरणीयमध्यस्यति—बलेत्यादिना—

बलशालितया यथा तथा वा धियमुच्छेदपरामय दधान ।

नियमेन मया निबहणीय परम लाभमरातिमङ्गमाहु ॥ १२ ॥

कि बहुतना यथा तथा वास्तु । अथ मायिक पारमार्थिको वाऽस्थित्यथ । सव-
थापि बलशालितया । बलवस्तवेत्यर्थ । उच्छेदपरं धिय दधान । मां निघांसुरि
त्यर्थ । अतोऽय सुगो नियमेनावरय मया निबहणीयो वध्य । प्रमाण नियर्हणम्
इत्यमर । तथा हि—अरातिमङ्ग क्षत्रुष्य परम लाभमाहु ॥ १२ ॥

वह चाहे जो हो दैत्य या दानव (इसकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं) बल से शक्ति
होकर यह मे देही नाश की सुदि रचना है अत मेरे द्वारा वह भव्य वध्य है क्योंकि
शत्रु का विन्द्वेह करना मन् से बन् लाभ है ॥ १२ ॥

बनु तपोविरोधिनी हिंसेत्याशाङ्कवाह—

कुरु तात तपास्यमार्गदायी विजयायेत्यलम वशान्मुनिर्मां ।

बलिनश्च वधाहतेऽस्य शक्य प्रतसरक्षणमन्यथा न कतुम् ॥ १३ ॥

कुर्विति ॥ हे तात परस मार्गदायी न भवतीति अमार्गदायी । रन्ध्रान्देहिर्णा
प्रवेशमयश्चक्षित्यर्थ । कृत । अयार्थित्वादित्याह—विजयाय तपांसि कुर्विति मुनि-
र्षातो मामर्हं मृशम् । अन्वशात् अनुशिक्षयन् । अनुशासेत् । वनु मुनिर्वा कथ
मधममन्वशात् तत्राह—बलिन इति । अस्य सुगस्य बलिन प्रवक्तव्य वधाहते वध
विना । अन्यारादितरत्तं इत्यादिना पञ्चमी । अन्यथा उपादान्तरेण प्रतसरक्षण
सपोरक्षण कर्तुं न शक्यम् । हिंसापि दुष्टनिग्रहात्मिका नाधम इत्यर्थ ॥ १३ ॥

हे तात विद्वान्पणनारिणो को भ सर न देवे हुए विषवाय तनक्षरण श्रोत इत
प्रकारको शिक्षा व्यास जा ने मुझे दिया है परामम शानी इस बराह के वध किये विना
मे किसी अन्व उपाय से मन को रक्षा नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

इति तेन विचिन्त्य चापनामप्रथम पौरुषचिह्नमाललम्बे ।

उपलब्धगुण परस्य भेदे सचिव शुद्ध इवाद्दे च बाण ॥ १४ ॥

इतीति ॥ तेनाहुनेन । इतीत्य विचिन्त्य वितर्क्य चापनाम चापाख्य प्रथम पौरुषचिह्नम् । तस्य मुख्यायुधत्वादिति भाव । आललम्बे गृहीतम् । कर्मणि लिट् । अथ परस्य शत्रोर्भेदे विदारण उपलप्ते च उपलब्धगुणो ज्ञातशक्ति । बाणस्तु प्राप्त-मौर्वीकरचेति शेष । शुद्धो अहुर्दिग्भस्वादिदोपरहितो वा । 'न कर्णभेदैर्नां विरघैर्नां मिश्रलिततैजसैः' इति निषेधात् । अन्यत्र,—शुद्धो निर्मलचित्त इति यावत् । बाणश्च सचिव इव । आद्दे जगृहे । अत्र बाणसचिवयो शब्दमात्रसाधर्म्याच्छ्लेषालकार, प्रकृताप्रकृतविषय इति सर्वस्वकार । उपमैवेति केचित् ॥ १४ ॥

इस तरह सोच विचार कर अजुन ने सब से पहले पुरुषार्थ वा सचक धनुष डठाया । (फिर) विमुक्त मन्त्री की तरह निर्दोष बाण को, जिसकी शत्रु भेदन शक्ति क्षिपी दुर्भ नहीं थी । अर्थात् जिनकी शक्ति वे स्वयं जानते थे, धारण किया (हाथ में लिया) ॥१४॥

अनुभाववता गुरु स्थिरत्वादविसवादि धनुर्वनजयेन ।

स्वबलव्यसनेऽपि पीड्यमान गुणवन्मित्रमिवानतिं प्रपेदे ॥ १५ ॥

अनुभावेति ॥ गुरु महत्त्व्य च स्थिरत्वात् सारवत्वात् । अविसवादि अभङ्गुरम् । अन्यत्र,—प्रतिष्ठितत्वादसाररहितम् । गुणवत् सव्यम् । अन्यत्र,—औदार्यादिगुणवत् । धनुर्मित्रमिवानुभाववता मिश्रयबुद्धिमता । 'अनुभाव प्रभावे च सता च मतिमिश्रये' इत्यमर । धनजयेन स्वबलव्यसनेऽपि तपसा जीणत्वेऽपि । अन्यत्र,—स्व धन तत्वेव बल तस्य व्यसने हासेऽपि । पीड्यमानमाकृष्यमाणमवरुध्यमान च सत् मित्रमिष । आनतिं नघ्रतामानुकूल्य च प्रपेदे । अलकारस्तु पूर्ववत् ॥ १५ ॥

निश्चयात्मक बुद्धि शाली अजुन के द्वारा—महान् (शाण्डीय) धनुष जो कि स्वरपूर्व होने में अभङ्गुर भा तथा प्रत्यक्षा से युक्त था, तपस्या के कारण अजुन के द्योग बल हो जाने पर भी—आलुत होकर मित्र की तरह भुक्त गया ॥ १५ ॥

प्रधिकर्षनिनादभिन्नरन्ध्र पदविष्टम्भनिपीडितस्तदानीम् ।

अधिरोहति गाण्डिव महेपौ सकल सशयमारुरोह शैल ॥ १६ ॥

प्रविकर्षेति ॥ तदानीं तस्मिन्काले महेपौ बाणे गाण्डिवमर्जुनधनु । अधिरोहति सति । 'कपिश्चरस्य गाण्डीवगाण्डिवौ पुनपुसकौ' इत्यमर । 'गाण्डिवजगास्तज्ञायाम्' इति चप्रत्यय । प्रविकर्षेण ज्यास्फालनेन यो निनादस्तेन भिन्नरन्ध्रो विदलितगह्वर तथा, पदविष्टम्भेन पादाक्रमणेन निपीडितो नुत्र सकल समूल शैल सशय जीवितसदेहम् । आरुरोह । प्रापेत्यर्थ । अत्र शैलस्य सशयासबन्धेऽपि सबन्धकथनादति-शयोक्तिरलकार ॥ १६ ॥

उत्सृज्य अजुन के गान्धेव धनुष पर बाण के चक्के ही प्रयत्ना के आट्ट होने से उत्सृज्य ध्वनि के कारण सम्पूर्ण गुणाय गूज गई । अजुन के पशुप्रचेप के कारण पशु क्रुन्त गया जिससे पशु के निवासियों की अपने अस्तित्व में आशंका होने लगी ॥ १६ ॥

दृष्टोऽथ सविस्मय शिवेन स्थिरपूर्णायतचापमण्डलस्य ।

रचितस्तिसृणा पुरा विधातु वधमात्मेव भयानकं परेषाम् ॥ १७ ॥

दृष्टा इति ॥ अथ बाणसंचानानन्तरं शिवेन स्थिरं निश्चलं पूर्णं च यथा तथा व्याप्य आकृष्ट चापमण्डले तिष्ठतीति तथोक्तं । चापमण्डलमन्वर्थाय स्थित इत्यर्थः । तिष्ठताम् । न तिष्ठच्चतस्र इति द्वितीयप्रतिषेधः । पुरास्य । त्रिपुरासुरस्येत्यर्थः । वधसंहारं विधातुं कर्तुं रचितं कल्पितं । स्थानविशेषे स्थापित इति यावत् । आमा स्वप्रमिव परेषां भयानकं भयंकरं सोऽजुनः सविस्मय दृष्टो दृष्टः । उपमार्ककारः ॥ १७ ॥

इसके अनन्तर शङ्कर भगवान् ने देखा कि—पूण विचार युक्त धनुष के मण्डल में अचिञ्चल भाव से लगे हुए त्रिपुरासुर का वध करने के लिये धनुष मण्डल गत स्वयं की तरह शङ्क के लिये (वह अजुन) भयङ्कर प्रतीत हो रहे हैं ॥ १७ ॥

अथ पिनाकिवृत्तान्तमाह—

त्रिचकर्वं च संहितेपुरुषुचैश्चरणास्कन्दननामिताचलेन्द्र ।

धनुरायतमोगवासुकिज्यावदनप्रथिविसुकुवह्नि रामु ॥ १८ ॥

त्रिचकर्वेति ॥ अथ त्रिसुक्तं संहितेषु सन् । उचैश्चरणाश्चरणास्कन्दनेन पशुविष्टमेन नामितोऽथो नीतोऽथलेन्द्रो येन स तथोक्तः । व्याप्यतमोग आकृष्टकायो वासुकिरेव ज्या तस्य—वधनेव प्रथिवस्तेन विसुकु वत्सृष्टे वह्निर्यस्य सत् धनुर्विचकर्वेति स्वभावोक्तिः ॥ १८ ॥

शङ्कर भगवान् ने भी अत्रस्थान पूर्वक धनुष आकृष्ट किया उनके चरण की दशान से पशु क्रुन्त गया और विशाक वासुकी के अज्ञाने जो कि उस धनुष की प्रत्यक्षा का काम दे रहे थे अग्नि के स्फुटिक निरुत्थने लगे ॥ १८ ॥

स भवस्य भवस्यैकहेतोः सितसप्तैश्च विधास्यतोः सद्दार्थम् ।

रिपुराप परामवाय मण्य प्रकृतिप्रत्यययोरिधानुबध ॥ १९ ॥

स इति ॥ सद्यः संभूय अमरिचपस्वरूपप्रबोधन विधास्यतोः करिष्यतोः । अम्यन्न—सद्दार्थमभिधेयमभिधास्यतोः इत्यर्थः । प्रकृतिप्रत्ययौ सद्दार्थं मृत इति यथक्तात् । भवस्यैकहेतोः संसारीशब्देनिदानस्य भवस्य शिवस्य सितसप्तैश्वर्यस्य च मण्य रिपुरवराहः । यस्मात्प्रत्ययो विधीयते सा प्रकृतिर्धात्वादि प्रत्ययः सनादि तयोर्मा भवसमुबन्ध इत्यज्ञको वणः । यथा मृतं भूतिरित्यादी ककारः । स इव परामवाय नावाय लोपार्थमेव वापः । न तु स्थित्यर्थमित्यर्थः ॥ १९ ॥

जिस तरह शब्द में व्याकरण शास्त्र के अनुसार प्रकृति और प्रत्यय होते हैं। ये दोनों एक साथ मिलकर एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। प्रत्यय के साथ जब कभी अनुबन्ध होता है उसका लोप कर देते हैं। उदाहरण के लिये 'भूत' इस पद को लीजिये इसमें 'भू' भातु (प्रकृति) है और 'क्त' (कृत) प्रत्यय है और 'क्त' में क् अनुबन्ध है उसका लोप हो जाता है फिर प्रत्यय तत्कार जो अवरोध रह जाता है उसीसे प्रकृति के साथ अर्थ का भान होता है। उसी तरह जन्म मरण रूप जो सत्कार का बन्धन है उसके नाश करने में अद्वितीय शङ्कर भगवान् और अर्जुन दोनों एक साथ लक्ष्यभेद रूप अर्थसिद्धि के विधान करने को अभिलाषा कर रहे थे। उनके बीच में वह शुक (शत्रु) नाशार्थ प्राप्त हुआ न कि नित्यार्थ ॥ १९ ॥

अथ दीपितधारिवाहवर्त्म रववित्रासितवारणाद्वार्ष ।

निपपात जवादिपु पिनाकान्महतोऽभ्रादिव वैद्युत कृशानुः ॥ २० ॥

अथेति ॥ अथ रिपोर्मध्यप्रवेशानन्तर दीपित धारिवाहवर्त्म आकाश येन स । जवायीं दुर्वार इषु शरो रववित्रासितवारणात् स्वबोधमीपितगवात् पिनाकात् शिवधनुष । 'पिनाकोऽजगव धनु' इत्यमर । महतोऽभ्रान्मेघात्, विद्युतोऽय वैद्युत कृशानुरशगिरिव जवाह्वेगात् । निपपातादघाब ॥ २० ॥

इसके अनन्तर अमोघ वाज आकाश पथ की विभासित करता हुआ बड़े वेग से शुक के महान् अजगव धनुष से, जिसके टुक़ार से शशियों का मुण्ड धरा जाता था, मेघमण्डल से निघुन्नाला की तरह छूट ॥ २० ॥

व्रजतोऽस्य वृहत्पत्तन्नजन्मा कृततास्वोपनिपातवेगशङ्कः ।

प्रतिनादमहान्महोरगाणा हृदयश्रोत्रभित्तुत्पपात नादः ॥ २१ ॥

व्रजत इति ॥ व्रजतो घावतोऽस्य वागस्य वृहद्भय पत्तन्नेभ्य पथेभ्यो जन्म यस्य स तयोक्त । कृता तास्वोपनिपातवेगशङ्का गरुडागमनवेगभ्रमो येन स । अत एव, महोरगाणा सर्पाणा हृदयानि श्रोत्राणि च भिनत्तीति हृदयश्रोत्रभित् । 'समुद्राभ्राठ' इति सूत्रे पूर्वनिपातव्यभिचारात् 'श्रोत्र' शब्दस्य पूर्वनिपातव्यभिचार । प्रतिनादै प्रतिध्वनिभि महान् समूच्छित्तो नाद् उत्पपात उच्यते । अत्र नादस्वोरगहृदयभेदकत्वात्सवन्धेऽपि सवन्धानिवानादतिशयोक्ति । सा च तास्ववेगभ्रमोत्थापितेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सकर ॥ २१ ॥

लक्ष्य की और महान् वेग से जाते हुए शुक के उस वायु का क्षम्रने, जो कि विशाल शर पुत्र में प्रादुर्भूत हुआ था, और जिससे गरुड के वेग पूर्वक आगमन की शङ्का होती था, प्रतिध्वनि के शर विशाल रूप धारण कर लिया। वमसे भीषण सर्पों के हृदय और कान फटने लगे ॥ २१ ॥

नयनादिव शूलिन प्रवृत्तैर्मनसोऽप्याशुतर यत पिशङ्कः ।

द्विने ~~द्विने~~ हिल्लतामै किरणैर्व्योमनि मार्गणस्य मार्गः ॥ २२ ॥

नयनादिवेति ॥ शूलिनो नयनात् प्रवृत्तिर्निर्गतेरिव शिषतेरित्युत्प्रेक्षा । नेत्राग्निसि
 खाकरूपैरिस्थैर्भ । पिशङ्गैः पिङ्गलैः विलसत्तद्विलसतानैर्विद्युद्दामतुल्यैरित्युपमा । मनस
 शिषादपि आशुतरं शीघ्रतरम् । आशु शब्दादनव्ययात्तरप । अतः किमेत्तिदव्यय-
 इत्यादिभाष्यस्ययो न । शूलिभ्यं शीघ्राद्यसाधे स्यात्त्रिभ्येषा सत्वगामि यत् इत्यमर ।
 यतो गच्छत । इण शतृप्रत्यय । मार्गस्य शरस्य । कदम्बमार्गस्य शरा इत्यमर ।
 किरणैर्धामिनि आकाशे भाग उक्कारेखाकारं यथा विद्युधे विरचित इति स्वभावात्कि-
 रलकार ॥ २२ ॥

मन से भी शीघ्रगत से जाने हुए (शकर मगवान् के) बाण की किरणों के द्वारा
 भी कि शर शर आग के तीवरे नेत्र से निर्गत विद्युत् के सदृश भी तथा परिस्फुरण
 करती हुई विद्युत् के सदृश पिशङ्ग वय की भी आकाश में उक्कारेखा सार्य मार्ग
 बन गया ॥ २२ ॥

अपय धनुष शिवान्तिकस्यैर्विषरेसङ्गिरमिखयया निहान ।

युगपद्दृशो विशन्वराह तदुपोदैश्च नभश्चरै पृषत्क ॥ २३ ॥

अपयधिति ॥ धृषको बाणः । धृषत्वबाणविशिला इत्यमरः । धनुषः विनाकात् ।
 अपयन् नियन् । निगच्छन्वित्यधः । इण शतृप्रत्यय । शिवान्तिकस्यैर्वभश्चरै । अभि
 खयया शोभया जिहास । शोभां गच्छन्वित्यधः । ओहाह गतौ इति धातोः शानच् ।
 अभिरया नामशोभयो इत्यमरः । विषरे सीवन्तीति विषरेसवस्तै विषरेसङ्गिरन्त
 राखवतिभिर्नभश्चरै । सत्वृद्धिप- इत्यादिना क्त्वि । तत्पुरुषे कृति बहुलम् इत्य
 शुक । अय वराह विहान् प्रविशन् सवुपोदैस्तं वराहमुपोदै प्रत्यासक्तैः । वहे कर्तरि
 क् । नभश्चरैस्तुंगपद्दृशो दृष्ट इति बाणवेगोक्तिः । अत्र क्रमेण विनाकमिष्कमणाद्विक्रि-
 याविशिष्टस्य बाणस्य शिवान्तिकादिभिश्चदेशस्थनभश्चरैर्कर्तृकदर्शनयोगपद्यासक्तैश्चेऽपि
 तत्संबन्धोऽपि मूलातिशयोक्त्या लोकोत्तरवेगप्रतीतिरलंकारेण वस्तुध्वनि ॥ २३ ॥

मगवान् शूली के समीप के और उस नराह के आसक्तस्थित अन्तराल विचरण शूली
 नभश्चरै ने धनुष से मुक्त होकर वराह को भेदन करते हुए सुन्दर बाण को फूट ही
 स्रष्ट देखा अर्थात् बाण इतने वेग से लक्ष्यपर पहुँचा कि विसी ने देखा और किसी ने
 नहीं देखा ॥ २३ ॥

स समाह्वनिभे रिपी सुराणां घननीहार इवापिपस्रवेगः ।

भयविप्लुतमीक्षितो नभस्यैर्जगतीं प्राह इयापगा जगाहे ॥ २४ ॥

स इति ॥ स बाणः । समाह्वनिभे समाह्वयभे । नीलाम इति पाषत् । सुराणां
 रिपी वराहे घननीहारे सान्द्रगुहिन इव अपिपस्रवेगोऽप्रतिबद्धवेग सन् । तथा
 नभस्यै-लेखरैः मयेन विप्लुत विद्वलं यथा तथा ईक्षित सन् । अपां सन्धिभ्य वेग
 आप- अपां समूहो वा आपम् । आपेव गच्छतीति आपगा नदी तां गृह्णातीति प्राहो

जलप्राह । जलचर इति यावत् । 'जलचरे' इति वक्तव्यात् 'विभाषा ग्रह' इति
णप्रत्यय । स इव । जगती भूमिम् । 'जगती विष्टपे मूग्या वास्तुच्छन्दोविशेषयो'
इति वैजयन्ती । जगाहे विवेश । अन्तर्हित इत्यर्थ ॥ २४ ॥

निम्न प्रकार घड़ियाल नदी में अन्तर्हित हो जाता है उसी तरह शंकर भगवान् का
वाण तमाल के मृदुल नीले वर्ण के सुकर के शरीर में, जो तुषार राशि के सदृश फलश
या बिना किसी अवरोध के प्रविष्ट होकर भूमि में अन्तर्हित हो गया । आकाशचारियों ने
मनविह्वल नेत्रों से यह दृश्य देखा ॥ २४ ॥

अथार्जुनवाणप्रयोगमाह—

सपदि प्रियरूपपर्वरेख सितलोहाग्रनख खमाससाद् ।

कुपितान्तकतर्जनाहुलिश्रीर्व्ययन् प्राणभृत कपिष्वजेपु ॥ २५ ॥

सपदीति ॥ सपदि शिववाणपातसमय एव प्रिया रूपमाकृति पर्वणि ग्रन्थयो
रेखा रचनाश्च यस्य स । अहुलिपर्वे, पर्वरेखा प्रसिद्धा । लोहाग्रमथ फल तद्वत्प्रमि-
वेत्युपमितसमास । सित लोहाग्रमथ यस्य स । कुपितस्यान्तकस्य मृत्योर्यां तर्जना
तस्या अहुलिस्तर्जनाहुलि तर्जनी तस्या श्रीरिव श्रीर्यस्य स कपिष्वजेपुरार्जुनवाण
प्राणभृतो व्ययन् भीषयमाण खमाकाशम् । आससाद् प्राप । उपमालकार ॥२५॥
भगवान् शंकर के वाण प्रयोग समय में ही अर्जुन का मी वाण, जो कि क्रुद्ध बमराज कि
तर्जनी अंगुली के सदृश था, जिसको आकृति और पर्वों को रेखा मनोहारिणी थी, और
जिसका अन्तभाग, जो कि स्वच्छ लोह से बनाया हुआ था, और उस अंगुलि के स्वच्छ नख
की शोभा का उद्देश्य करता था, जीवधारियों को व्यथित करता हुआ आकाशमण्डल
में जा पहुँचा ॥ २५ ॥

परमास्त्रपरिग्रहोरु तेज स्फुरदुल्काकृति विरिक्तपन्वनेषु ।

स जवेन पतन् पर शताना पतता व्रात इवारव वितेने ॥ २६ ॥

परमेति ॥ परमास्त्रपरिग्रहेण दिव्यास्त्राधिष्ठानेन उरु महवत एव स्फुरदुल्का-
कृति । उल्कावहीर्घायमाणमित्यर्थ । तेजो धनेषु चिन्धिपन् विकिरन्सन् । जवेन पतन्
धावन् स वाण । शताहरे पर शतास्तेषाम् । शताधिकसख्याकानामित्यर्थ ।
'पर शताधास्ते षेषा परा सख्या शतादिकात्' इत्यमर । 'पञ्चमी—' इति योग-
विभागात्समास । 'राजदन्तादिषु परम्' इत्युपसर्जनस्य 'शत'शब्दस्य परनिपात ।
पारस्करादित्वात्सुडागम । पतता पतत्रिणाम् । 'पतत्पत्ररथाण्डजा' इत्यमर ।
वात समूह इव, आरव वितेने विस्तारयामास ॥ २६ ॥

उपने { अर्जुन के वाण } दिव्यास्त्र होने के कारण महान् तेज की, जो कि उल्का
के सदृश चमक रहा था, वन में फैलाता हुआ तथा वेग के साथ गमन करता हुआ सदृशों
पक्षियों के समूह के समान अपने रव की विस्तृत कर दिया ॥ २६ ॥

अभिभाषितान्क्रमप्रयाण शमितायाम इवातिरहसा सः ।

सह पूर्वतर तु चित्तवृत्तेरपतित्वा नु चकार लक्ष्यभेदम् ॥ २७ ॥

अविभाषितेति ॥ अतिरहसाऽतिवेगेन । अविनाशितेऽलक्षिते निष्कमो गण्डोवा
 त्रिसरण प्रयाणमंतरागमन च यस्य स । तथा अमितायाम् संक्षितवैर्ष्य इव
 स्थित इत्युपमा । अत्र वेगगुणनिमित्ता वैर्ष्यगुणाभावो प्रेक्षा । स शरः । सह तु सह
 वा । चित्तनृपेति शेषः । चित्तनृपे पूर्वतर तु प्रागेव वा । उभयत्रापि लक्ष्ये पतित्वेति
 शेषः । अथवा अर्थात्त्वा तु । लक्ष्य इति शेषः । लक्ष्यमेद् चकार । अत्रोपात्तवेगगुण
 निमित्तद्वागस्थ चित्तनृप्या सहपातपूर्वपातपतनाभावोपेक्षास्ति च उत्तरोत्तरोऽर्पण
 वेगातिशययज्ञिका इत्यलक्षारेण वस्तुष्वनि ॥ २७ ॥

उस अवन के बाण ने जिसका गाणेश से मुक्त होना और चन्दा भरदिन या
 (अथा यह नहीं कहा जा सकता कि जिस क्षण में वह वस्तु से छूटा और बीच में
 पत्तरी क्या समझ लगा) मानो वेग से मार्ग के विचार को सहित करके मनोवृत्ति के
 साथ ही अथवा कुछ पहिने ही लक्ष्यमें किया अथवा यह जो एक किया जा सकता है
 कि जमने लक्ष्य पर पहुंचाने से पहिने ही लक्ष्यमें कर दिया । इस वचन से अवन
 के बाण के वेग का परिचय मिलता है ॥ २७ ॥

स घृष्वजसायकावभिन्न जयहेतु प्रतिक्रयमेपणीयम् ।

लघु साधयितु शर प्रसेहे विधिनेयार्थमुदीरित प्रयत्न ॥ २८ ॥

स इति ॥ जयहेतु स शरो घृष्वजसायकावभिन्न शिवशरविद्धम् । एपणीयम् ।
 व्यद्भूमिति शेषः । हेरेरिच्छार्थवनीयरप्रत्यय । प्रतिक्रयम् प्रतिशरीरम् । प्रतिपक्षमिति
 यावत् । विधिना नैवेन उदीरित फलसाधनतया प्रतिपान्तिमर्थं योगादिक प्रयत्न
 पुरपश्चात्पार इव । लघु अक्षरशेन यथा तथा साधयितुम् । स्वाधगिज्जन्ताद्युमुत् ।
 प्रसेहे शशाक । उपमालक्षर ॥ २८ ॥

निजवसायक यह अवन का बाण घृष्वजसायक (शर) के शर से बिद्ध प्रतिशरी को पुन
 में करने की कलसा से अथायस में हो नाय साधन में इस प्रकार समझ हुआ जिस
 प्रकार पुरपश्चात्पार विधिनाय से प्रतिपान्ति यह को साधन करने में समझ होता है ॥२८॥

अत्रिवेकश्रयाभ्रमाविवाध क्षयलोभाविव सशितानुरागम्

विजिगीषुमिवान्यभ्रमादाववसाद् विशिष्टी विनिन्यतुस्तम् ॥ २९ ॥

अत्रिवेकेति ॥ अत्रिवेकोऽन्तरानभिज्ञत्व श्रयाभ्रमो निष्कामप्रयासस्तौ अर्थ
 घनमिव । अस्थानविनियोगहेतुलक्षणाद्यनयोघनहानिकरत्वमिति भावः । लघोऽनुप
 चयो लोभोऽदाएव सौ सशितानाम् अनुशीविनाम् अनुरागमिव । अक्षिविकरे
 स्वामिन्यनुरागस्यानवस्थानादिति भावः । अनयो तुर्नाति प्रमादोऽनवधानता सौ
 विजिगीषुमिव । रन्ध्रमूयिष्ठस्य अयासिद्रिति भावः । विशिष्टौ शिवाह्वेनबाणी
 तं वराहम् । अवसात् कारणशैविक्यं विनिन्यतुर्नातवन्तौ । नपतिर्हिकर्मकः ।
 आलोपमेयम् ॥ २९ ॥

शिव और अर्जुन के द्वारा प्रक्षिप्त शरोंने उम वराह को इस प्रकार अवसथ (जर्जरित) कर दिया जिस प्रकार विचार शून्यता और विफल परिश्रम धनको, क्षय और अद्राव्यत्व आश्रित व्यक्तियोंके अनुराग को, पथ दुर्नीति और अनवधानता (लापरवाही) विधियामिकावगे व्यथित को सद्गुणवस्तु कर देती है ॥ २० ॥

अथ दीर्घतम तम प्रवेक्ष्यन् सहसा रुग्णरय स सभ्रमेण ।

निपतन्तमिवोष्णरश्मिमुर्च्या वलयीभूततरु धरा च मेने ॥ ३० ॥

अथेति ॥ अथ स वराहो दीर्घतम तमो दीर्घनिद्रा प्रवेक्ष्यन् । मरिष्यन्नित्यर्थ । सहसा हृदिति रुग्णरयो सभ्रमेण सभ्रमेण भ्रान्त्या । 'सभ्रमो भ्रान्तिहावयो' इति विश्व । उष्णरश्मिमुर्च्या भूमौ निपतन्तमिव मेने । धरा च वलयीभूता मण्डली-मूलास्तरवो यस्यास्ता सदा मेने । तथा बभ्रामेत्यर्थ । स्वभावोक्तिरलंकार ॥ ३० ॥

अनन्तर उस वराह ने घोरनिद्रा में प्रवेश करता हुआ (अर्थात् इस दुर्नियों से विदा होता हुआ) एकपक्ष वेग रहित होकर भ्रान्ति के कारण स्वर्ग को पृथ्वी पर गिरता हुआ और पृथ्वी के वृक्षों को घूमते हुए देखा । (अर्थात् जिस क्षण वह सड़क मरने लगा उस क्षण उसमें वह वेग बर रहा तथा मरण काल में असह्य दुःख से व्यथित होकर शरों परफ धूमकर पृथ्वी पर गिर पड़ा जिससे उसको मालूम पड़ा कि स्वर्ग पृथ्वी पर उतर आया है और पृथ्वी के सब वृक्ष एक वृत्त में महान् वेग के साथ भ्रमण कर रहे हैं) ॥ ३० ॥

स गत क्षितिमुष्णशोणितार्द्रं खुरद्वद्रामनिपातदारिताश्मा ।

असुभि क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुर्विहितामर्षगुरुध्वनिर्निरासे ॥ ३१ ॥

स इति ॥ क्षितिं गत क्षितौ पतित उष्णेन प्रत्यग्रत्वाच्छोणितेनार्द्रं क्षिप्त सुराणा इष्टयोश्च अभ्राणा निपातेनाघातेन दारिताश्मा पाटितपापाण । किंच, क्षणमीक्षितेन्द्रसूनु । स्वार्थनिघांतरोपादिति भाव । अत एव, विहित कुतोऽमर्षगुरु श्लोघो-द्भवो ध्वनि क्रन्दित येन स तद्योक्त स वराहोऽसुभि प्राणैर्निरासे निरापित । त्यक्त इत्यर्थ । अस्यते कर्मणि छिट् । इय च स्वभावोक्ति ॥ ३१ ॥

उम वराह ने भूमिशायी होकर अपने खुर और वीर्य दंतों के अभ्रभाग के ग्रापात से वहाँ का पत्थर तोड़ फोड़ डाला । और उसका धरीर उष्ण रक्त से लथपथ हो रहा था । क्षण मात्र उसने अर्जुन को देखा । फिर क्रुद्ध होकर चिखाडता हुआ प्राणों से विद्युक्त हो गया अर्थात् वही मर गया ॥ ३१ ॥

स्फुटपीरुपमापपात पार्थस्तमथ प्राज्यशरः शर जिघृक्षु ।

न तथा कृतवेदिना करिष्यन् प्रियतामेति यथा कृतावदान ॥ ३२ ॥

स्फुटेति ॥ अथ वराहपातानन्तर पार्थोऽर्जुन प्राज्यशरं प्रभूतशरं । सध्रपीत्यर्थ ।

'प्रभूत प्रचुर प्राज्यम्' इत्यमर । स्फुटपीरुप व्यसक्तिप्रसन्न वराहभेदिन शर जिघृक्षुर्-हीतुमिच्छु । प्रहे सन्नन्वाहुप्रत्यय । आपपाताघावति स्म । कृतज्ञतया शरग्रहण,

न तु लोभादित्यर्थः । न वन्धेऽनुपकर्तार एव किमित्यत्रैवावरस्तस्येत्यत आह—
कृतचेदिनां कृतज्ञानां कृतावदानं कृतकर्मा । अवदानं कर्मवृत्तम् इत्यमर । यथा
प्रियतामेति तथा कश्चिद्वन् उपकरिष्यन्न प्रियतामेति । कृतकरिष्यमाणयो कृत
बलीय इति न्यायादिति भाष ॥ ३२ ॥

उपकार में सफल होने के कारण उस बाण का पराक्रम व्यक्त था । भूत अजुन
बहुत शरीर बनने पास होने पर भी उस बाणको देने के लिये दौरे पड़े । कारण यह है
कि—कृतज्ञ पुराणों के लिये कृतकर्मा पुरुष जितना प्रिय होता है उनना भविष्य में उपकार
करनेवाला व्यक्ति प्रिय नहीं हो सकता ॥ ३२ ॥

अथ युग्मेनाह—

उपकार इवासति प्रयुक्त स्थितिमप्राप्य मुने गतं प्रणाशम् ।

कृतशक्तिरधोमुखो गुरुत्वाज्जनितव्रीड इवात्मपौरुषेण ॥ ३३ ॥

उपकार इति ॥ असति नीचे प्रयुक्त उपकार इव मृगै स्थितिमप्राप्य प्रणाशम-
वर्शनं गत इत्युपमा । यथा कृतशक्तिं कृतपौरुष्यो गुरुत्वात् लोहभारान्महत्त्वाच्च
अधोमुखो मन्त्रमुखः । अत एव आत्मपौरुषेण जनितव्रीड इव स्थित इत्युल्लेखा ॥ ३३ ॥

अतएव मने किये गये उपकार की तरह अजुन का बाण बरस के शरीर में स्थान न
पाकर फलज्जन हो गया । उसने अपना विक्रम दिसवाना था तथापि लौहभार के कारण
नीचे की तरफ गिरते समय मालूम पड़ रहा था कि वह अपने पुरपार्थ से लम्बिन होकर
अधोमुख हो रहा है ॥ ३३ ॥

स समुद्धरता विचिन्त्य तेन स्वरुच कीर्तिमिवोत्तमा दधान ।

अनुयुक्त इय स्ववातमुच्चैः परिरभे नु श्रुतां निखोचनाभ्याम् ॥ ३४ ॥

स इति ॥ उत्तमा इत्येव कान्ति कीर्तिमिव दधान इत्युल्लेखा । किञ्च विचिन्त्य
सद्यथा प्राज्ञोऽवमिति विमृश्य समुद्धरता तेनाजुनेन उच्चैः स्ववातं स्वपादधम् ।
वार्तं पादवमारोर्ग्यं मध्य स्वास्थ्यमनामयम् इति यावत् । अनुयुक्तं पृष्ठ इव स्थित
इत्युल्लेखा । आदरात्तथा प्रतीयत इत्यर्थः । प्रकोऽनुयोगेन पृच्छन् च इत्यमर । अ
वागो विखोचनाभ्यां नयनाभ्यां कृत्वा श्रुतां परिभे नु आलिङ्गित किमित्युल्लेखा ।
तेनात्मादरेण इष्ट इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

वह बाण कीर्ति की तरह अपनी क्षति से मुक्त होकर ऊँचे स्वर में अपने क्रिया
पाद को जानने की समीक्षा करता हुआ पड़ा था । तबवा प्राज्ञ समझ कर
अजुन ने अपने नेत्रों से उस बार बार आलिङ्गन किया । अर्थात् आदरपूर्वक देखा ॥ ३४ ॥

तत्र कामुकभृत् महासुज परयति स्म सहसा बनेचरम् ।

सनिक्काशयितुमप्रवत् स्थित शासनं कुसुमचापविद्विष ॥ ३५ ॥

तत्रेति ॥ तत्र प्रदेशे महाभुजोऽर्जुन कुसुमचापविद्धिष स्मरारे शासन वक्ष्य-
माणभादेश सनिकाशयितु सनिषेक्षयितुम् । निवेदयितुमिति यावत् । अद्यत स्थित
कार्मुकभृत वनेचर सहसा श्रद्धेति परयति स्म । इत प्रभृति रथोद्धतापृच्छम्—'रो
नराबिह रथोद्धता लगी' इति लक्षणात् ॥ ३५ ॥

उम प्रदेश में महाराज अर्जुन ने एकएक पुष्पपत्रा (कामदेव) के उड्ड (धार)
की आशा सूचन करने लिये सामने उपस्थित अनुषधारी एक किरान को देखा ॥ ३५ ॥

स प्रयुज्य तनये महीपतेरात्मजातिसदृशीं किलानतिम् ।

सान्त्वपूर्वमभिनीतिहेतुक वक्तुमित्यमुपचक्रमे वचः ॥ ३६ ॥

स इति ॥ स वनेचरो महीपतेस्त्वनये राजपुत्रेऽर्जुन आत्मजातिसदृशीं किरातजा-
त्यनुरूपा किल । 'किले'ति जातेरकीकता दर्शयति । यत् । परमार्थत प्रमथ एव
स । आनतिं प्रणतिं प्रयुज्य सान्त्वपूर्वं सामपूर्वकम् । 'साम सान्त्वमुमे समे' इत्य-
मर । अभिनीतिहेतुक प्रिययुक्तिहेतुक वच । इत्य वक्ष्यमाणप्रकारेण वक्तुमुपचक्रम
उच्यतेत्यान् ॥ ३६ ॥

यह वनेचर आत्मनुसार राजपुत्र (अर्जुन) को प्रणाम करके सान्त्वनापूर्वक प्रिय
और युक्तियुक्त उचन वक्ष्यमाण प्रकार से कहने के लिये उक्त हुआ ॥ ३६ ॥

तत्र तावच्छतुर्भि सान्त्वमाह—

शान्तता विनययोगि मानस भूरि घाम विमल तप श्रुतम् ।

प्राह ते नु सदृशी दिवौकसामन्ववायमवदातमाकृति ॥३७॥

शान्ततेति ॥ शान्तता घट्टिरनौद्धत्य ते तव विनययोगि अनौद्धत्ययुक्त मानस
कर्म प्राह नु मूले लङ् । तथा, भूरि बहु घाम तेजो यस्मिस्तत्तप कर्तुं विमल
सप्रदायशुद्ध श्रुत प्राह । किञ्च, धीर्दिव वीको वेपा तेषा दिवौकसा देवानाम् ।
पृपोद्वादित्वात्साधु । 'दिव स्वर्गेऽन्तरिक्षे च' इति विश्व । सदृशी तुल्या आकृति-
मूर्ति अवदात शुद्ध अन्ववाय वक्ष प्राह । 'वशोऽन्ववाय सतान्' इत्यमर । शान्त्या-
दिभिर्लिङ्गैर्विनयाद्योऽनुमीयन्ते । अन्यथा तदसम्भवादिति भाव ॥ ३७ ॥

किरात ने कहा—(महाराज) । शान्त मान आपके उद्दय की कोमलता प्रकाशित करता
है । तेजराशिसम्पन्न आपके सन्प्रदायशुद्ध तप आपके शास्त्रज्ञान को चक्षुषा देता है ।
देवताओं के समान जो आपकी यह आकृति है इससे आपके उद्द वश में जन्म ग्रहण करने
वा परिचय प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

दीपितस्त्वमनुभावसपदा गौरवेण लघयन्महीभृत ।

राजसे मुनिरपीह कारवचाधिपत्यमिव शातमन्यवम् ॥ ३८ ॥

दीपित इति ॥ मुनिरपि । ऐश्वर्यरहितोऽपीत्यर्थ । अनुभावसपदा प्रभावाति-
शयेन दीपित प्रकाशित । 'अनुभाव प्रभावे च' इत्यमर । गौरवेण महत्तया

महीभृतो राज्ञो लघयन् लघुकृषन् । त्वम् । इहाज्ञौ । शतमन्योरिदं शातमन्यवमैत्र्यम् ।
तस्येदम् इत्यणप्रत्ययः । शतमन्युर्दिवस्पति इत्यमरः । अधिपते कर्म आधिपत्यं
त्रैलोक्यरक्षाधिकारम् । प्राज्ञमादित्वात्प्यप्रत्ययः । कारयन्निव इन्नेनेति शेषः ।
राजसे तस्याप्युपशोध्य इति प्रतीयसे । स्वमहेत्सेत्यथ ॥ ३८ ॥

इतना पेशयहोन होते हुए भी प्रनाप की अतिशयिता के कारण आप प्रकाशित हो
रहे हैं । आप बननी महत्ता स राजाओं को भी गुज्र कर दे रहे हैं । मुनि होते हुए भी
तनों लोगों के रक्षक इन्द्र के नाय को आप ही कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

वापसोऽपि विमुतामुपेयिद्यानास्पद् त्वमसि सर्वसंपदाम् ।

दृश्यते हि भवतो विना जनैरन्यितस्य सचिवैरिव द्युति ॥ ३९ ॥

तापस इति ॥ विमुतां प्रभावम् । उपेयिद्यानुपगतः । अत एव तापसोऽपि त्वं
सर्वसंपदामास्पद् स्थानमसि । आस्पद् प्रतिष्ठायाम् इति निपातः । विमुतामेव
समर्पयते—हि यस्माद् भवतस्तव जनैरिनापि । एकाकिनोऽपोत्यथ । सचिवै
रन्यितस्येव अमात्यादियुक्तस्येव द्युतितेजो दृश्यते । अतः सर्वसंपदास्त्ववत्
युक्तमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

तपस्वी होते हुए भी आप प्रभावशाली हैं । इत्यथे आप सब स पत्तियों के अभिष्ठान
है । नयपि यहाँ भार अपने अमात्य (मन्त्री) नगों के साथ नहीं है तबपि आप की कान्ति
में दिग्गि होना है कि आप उन लोगों से युक्त हैं ॥ ३९ ॥

विस्मय क इन्द्र धा जयभिया नैत्र मुक्तिरपि ते दवीयसी ।

ईप्सितस्य न भवेदुपाश्रयः कस्य निजितरजस्तमोगुण ॥ ४० ॥

विस्मय इति ॥ किञ्च जयभिया हेतुना । प्राप्तयापोति शेषः । क इव वा विस्मय-
किमाश्चर्यम् । न कञ्चिद्विशेषः । विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रम् इत्यमरः । अतो
मुक्तिरपि ते तव दवीयसी दूरतरा दुर्लभा न भवत्येव । स्थूलदूर इत्यादिना
यगादिपरलोपः पूर्वगुणश्च । तथा हि—निर्जितौ रजस्तमसौ एव गुणौ येन स
भवत्सदृशः पुरुष कस्येप्सितस्य वाञ्छितस्य । उपाश्रय आस्पद् न भवेदित्यर्थः ॥ ४० ॥

आपको विजयप्राप्तमा प्राप्त होने में कोई आश्रय नहीं है ? मुक्ति (जन्ममरण स मुक्त
होना) भी आपके लिये बहुत दूर नहीं है । क्योंकि जिसने रजोगुण और तमोगुण
पर विजय प्राप्त कर लिया है वह जिस अभिरहित मनोरथ का स्थान नहीं है अर्थात्
मनविष्य अभिलषित वस्तु प्राप्त कर सकता है ॥ ४० ॥

अधारात्मनप्रयोजनमुपादग्ममुक्षेताह—

हेपयन्नहिमतेजस त्विपा स त्वमित्यमुपपन्नपीहप ।

हतुमहसि धराहभेदिन नैनमत्सन्धिपस्य सायकम् ॥ ४१ ॥

इपयन्नि ॥ त्विपा तेजसा । अहिमतेजसमुष्णतेजसं इपयन् लज्जयन् तप

पञ्चपौरुष सभावितपराक्रम स प्रसिद्धस्त्व वराहभेदिनम् । कृतोपकारमित्यर्थ ।
 पुन त्वत्करगतम् । अस्मदधिपस्य सायक शरम् । इत्थ साहसेन हर्तुं नार्हसि ॥४१॥

आप अपने तेज से तीक्ष्णाशु (चर्च) को लज्जित करते हुए सामर्थ्यवान् होकर भी
 मेरे स्वामी के इस वराहभेदी सायक (बाण) को इस तरह साहसपूर्वक अपहरण करने के
 योग्य नहीं हैं ॥ ४१ ॥

अनर्हत्वमेवाह—

स्मर्यते तनुभृता सनातन न्याय्यमाचरितमुत्तमैर्नृभिः ।

ध्वसते यदि भवादृशस्तत क प्रयातु वद तेन वर्त्मना ॥ ४२ ॥

स्मर्यत इति ॥ उत्तमैर्नृभिः सत्पुरुषैर्मन्वादिभिः । तनुभृता शरीरिणा सनातनं
 नित्य न्याय्य न्यायादनपेतम्, आचरितमाचार स्मर्यते । कर्तव्यतयेति शेष । न
 त्वनाचार इत्यर्थ । अथाप्यनाचारेण दोषमाह—ध्वसत इति । भवानिव ध्वसन्ते इति
 भवादृशस्तत सदाचारात् ध्वसते भ्रश्यन्ते यदि तथा तेन वर्त्मना न्यायमार्गेण क
 प्रयातु गच्छतु वद कथय । न कोऽपीत्यर्थ । तथा च सम्मार्ग एव शील कुर्वदिति
 भाव ॥ ४२ ॥

मनु, याज्ञवल्क और पराशरादिक ऋषियों ने शरीरियों (प्राणियों) के लिये 'सर्वदा
 न्यायपथावलम्बन करना' कर्तव्य उपदेश किया है । यदि आप जैसे पुरुष उस मार्ग से
 भ्रष्ट हो गे हों फिर वतलरथे, दूभरा कौन ध्वस्त इसको आधार मानेगा ॥ ४२ ॥

आकुमारमुपदेष्टुमिच्छन्न सनिवृत्तिमपथान्प्रहापद ।

योगशक्तिजितजन्ममृत्यय शीलयन्ति यतय सुशीलताम् ॥ ४३ ॥

आकुमारमिति ॥ किञ्च, योगशक्त्याऽऽत्मज्ञानमहिम्ना जितौ जन्ममृत्युं यैस्ते
 यतयो योगिनः । कुमारेभ्य आ कुमारम् । कुमारादारभ्येत्यर्थ । 'आह् सर्वदा-
 भिविध्यो' इत्यव्ययीभाव । महत्य आपदो यस्मिस्तस्मात् महापद । महानर्थहेतो-
 रित्यर्थ । अपथात् अमार्गात् । 'पथा धिभापा' इति निषेधविकल्पात्समासान्त ।
 'अपथ नपुंसकम्' । सनिवृत्तिमपगमम्, उपदेष्टुमिच्छन्न सन्त सुशीलता सद्बृत्त-
 ताम् । 'शील स्वभावे सद्बृत्ते' इत्यमर । शीलयन्ति अभ्यस्यन्ति । अतो न त्याज्य-
 मीलमित्यर्थ ॥ ४३ ॥

जिन योगी महानर्था ने योगशक्ति से जन्म और मरण को जीत लिया है वे
 पाल्पकाल में उग्रानर्थगूलक, न्यायविन्द मार्ग में निवृत्त होने के लिये उपदेशोच्छु श्रेते हुए
 सत्चार वा ही अभ्यास करते हैं ॥ ४३ ॥

न केवल सौशील्यादनर्थनिवृत्ति, किं स्वयंप्राप्तिरपीत्याह—

तिष्ठता तपसि पुण्यमासजन् सपदोऽनुगुणयन् सुखैपिणाम् ।

योगिना परिणमन् विमुक्तये केन नास्तु विनय सता प्रिय ॥ ४४ ॥

विद्यतामिति ॥ तपसि विद्यता तपोनिष्ठानाम् । धर्माधिनामित्यथ । पुण्य धर्मम् ।
 आसन्नं सपादयन् । स्याद्भ्रममस्त्रियां पुण्यध्वयसी सुकृत वृष इयमर । सुखैविर्गा
 सुखाधिना संपदं सुखसाधनमूतानर्थात् । अनुगुणयत्तनुकूलयन् । अथकामयोरपि
 हेतुभूत इत्यर्थः । तथा योगिना विमुक्तयेऽप्यवर्गाय परिमन् सपद्यमानो विनय
 सौशील्य केन हेतुना सतां प्रयो मास्तु । सभावनायां होतुः । सर्वथा विनय पुत्र
 घटुक्वसाधवमित्यर्थः । अतस्त्वया नास्मत्प्रशमिशतशौच्यं कार्यमिति तात्पर्यम् ॥४३॥

सत्कार तपसिर्वां को पुण्य प्रदान करता है सुखे दुर्बो को सम्पत्ति प्रदान करता
 है और योगियों को मुक्ति प्रदान करता है । अतः कौन ऐसा कारण हो सकता है ?
 अतः वह सत्कारों का विनय नहीं हो सकता ? (अर्थात् उसे सज्जनों या प्रिय व भन्ते में
 कोरे करण नहीं है) ॥ ४४ ॥

अथवा किं महादेशेऽन्यसंभावनाया यतो भ्रातरिपि संभाव्यत इति सूक्ति
 मण्डलम्पाह—

नूनमत्रभवत् शराकृति सर्वथायमनुयाति सायकम् ।

सोऽयमित्यनुपपन्नसंशय कारितन्धमपथे पद यथा ॥ ४५ ॥

नूनमिति ॥ अयमस्मदीय सायकोऽत्रभवत् । पूज्यस्येत्यथ । पूज्यस्तत्रभवा
 नत्रभवान् इति सञ्जन । इतरेभ्योऽपि दृश्यन्ते इति सावधिभमितकस्वस्ति
 इत्यप्य । सुप्सुपेति समासः । शराकृतिं सवथा रूपेण रेखादिना सवप्रकारेण ।
 अनुयात्यनुसरति । अस्वन्तमनुकरोतीत्यर्थः । नूनम् इति वितर्कः । यथाऽऽकृत्या
 कर्त्या त्वमनुपपन्नसशयोऽस्य तसाह्वयादनुत्पन्नत्वान्यदीयत्वसदेह सन् । सोऽय
 मिति यः स्वकीय स एवायमिति । भ्रान्त्युपवेशेति शेषः । अपथेऽन्तरे शराप
 हरणरूपे पद कारितः । निघापित इत्यथ । इच्छोरन्यतरस्याम् इत्यणि कर्तुं कर्मता ।
 'ज्यन्ते मनुष्य कमग इति तत्रैवाभिहिते कमणि वत् ॥ ४९ ॥

यह निश्चय है— "स मेरे स्वामी के बाण की आकृति सब तरह से आगे के बाण से
 निम्नो जुटती है अतः आकृति ने आपको अदना होने में सशय न उत्पन्न करके विमार्ग
 का अन्तर्गमन कराया है ॥ ४५ ॥

पुनरपि श्लेषमेव ब्रह्मण्य दोषान्तरमापादयति—

अन्यदीयनिशिखे न केवल निःस्पृहस्य भवित यमाहूते ।

निम्नत परनिर्वाहित मृग शीघ्रित यमपि ते सचेतसः ॥ ४६ ॥

अन्यदीयेति ॥ सह चेतसा वतत इति सचेतसो भवतिवत् । तेऽन्यदीयनिशिखे
 विपदे यत् आहतमाहरणम् । भावे अतः । तस्मिन् । अन्यदीयनिशिखत्वाहरण
 इत्यथ । निःस्पृहस्य केवल निःस्पृहेणैव न भवितव्यम् । किन्तु परनिर्वाहितं परेण प्रहृतं
 मृग निम्नत महत्तस्ते । निम्नता स्वयेत्यर्थः । 'कृत्याना कर्तारि वा' इति षष्ठी । शीघ्रि

तव्य लजितम्यमपि । भावे तव्यप्रत्यय । सप्रति तु स्वधा परविद्ध मृग विष्वापि न व्रीडयते प्रत्युत स्तेय च क्रियत इत्यहो महत्साहसमित्यर्थ । मृगमित्यत्र शेषस्वा-
विवक्षणात् 'जासिनिप्रहणनाटकाधपिपा हिंसायाम्' इति षष्ठी न भवति शेषाधि-
कारात् । निप्रहणैत्यत्र निप्रयो सञ्जातव्यस्तविपर्यस्ताना ग्रहणात् ॥ ४६ ॥

आप सञ्चित है (अर्थात् मनस्वी है), किती अन्ध के वाणाश्वार से विमुख होना सन्तोषजनक न होगा, किन्तु अन्य के द्वारा बध किये हुये मृग का पुन बध करने से आपको लजित भी होना चाहिये ॥ ४६ ॥

अथास्मिन्कृतप्रताभियोग स्वीयोपकारकत्व वर्णयितु विकथनदोष तावद्युग्मेन परिहरन्नाह—

सतत निशमयन्त उत्सुका यै प्रयान्ति मुदमस्य सूरयः ।

कीर्तितानि हसितेऽपि तानि य व्रीडयन्ति चरितानि मानिनम् ॥४७॥

सततमित्यादि ॥ सूरयो विद्वांस । अस्य अस्मत्स्वाभिन्न सबन्धिभि, यैश्चरितैः
करणभूतै सतत सततमुत्सुका सोत्कण्ठा सन्तो निशमयन्तश्चरितानि मृगवन्तो मुद
प्रयान्ति । अत्र चरिताना मुध्याप्तौ शब्द करणत्वम् । अर्थाञ्जिशमनकर्मत्वमिति विवेक ।
तानि चरितानि हसितेऽपि परिहासेऽपि कीर्तितानि परैरुच्चारितानि सन्ति य भागिन
मोहयन्ति । मानित्वाद्ब्रीडा, न तु चरितदोषात् । तेषामलकाररूपत्वादिति भाव ॥

विद्वान् शेष मेरे स्वामी (किरातनाथ) के जित चरित्र को उत्कण्ठापूर्वक श्रवण
हल्के प्रसन्न होते हैं । वे (चरित्र) परिहान के समय भी यदि कथन किये जाते हैं तो
उससे मानी व्यक्ति को लजित होना पड़ता है ॥ ४७ ॥

अन्यदोषमिव स स्वक गुण ख्यापयेत् कथमधृष्टताजड ।

उच्यते स खलु कार्यवत्तया धिन्विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम् ॥ ४८ ॥

अन्येति ॥ अष्टष्टया विकथनेन शालीनतया जड स्तब्ध । अविकथन इत्यर्थ ।
सोऽस्मत्स्वामी । अन्यदोष परावरगुणमिव स्वक स्वकीय गुण कथ ख्यापयेत् प्रकट-
येत् । 'जात्मप्रशंसा परगर्हामिव वर्जयेत्' इति स्मरणादिति भाव । तथापि कार्य-
वत्तया । कर्मार्थितयेत्यर्थ । स स्वगुण उच्यते खलु । कार्याधिनि कुतो गर्व इति
भाव । निर्विण्ण इवाह—धिगिति । विभिन्नबुधसेतुमतिक्रान्तसुखनमर्थादाम् ।
अर्थिता याचना धिक् । निन्दाम्नीत्यर्थ । यद्ययमपीत्य विकल्पयितु प्रवृत्त इति भाव ।
'धिन्निर्मलर्त्सननिन्द्यो' इत्यमर । 'अभिसर्वतसो कार्या धिगुपयादिषु त्रिषु । द्विती-
यात्रे दितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति द्वितीया ॥ ४८ ॥

यही स्वामी आत्मप्रशंसा से बिरत होते हुये अन्य व्यक्तियों के अथगुण के सदृश
अपने उपरो का प्रशंसा किन्म गरह कर सकते हैं ('आत्मप्रशंसा को दूसरे के अथगुण के
नमान समझ कर परित्याग कर देना चाहिये' यह श्रुतिकार का वचन है) परन्तु नहीं,

कायवश वही सामप्रशसा की भी जाती है। सज्जनमर्यादोहिनो याथा की बिचार है जिसके कारण वे भी आमप्रशसा करने में प्रवृत्त हैं ॥ ४८ ॥

सप्रति स्वकृतोपकार दर्शयति —

दुर्बच तदथ मा स्म भून्मृगस्त्वद्यसौ यदकरिष्यदोजसा ।

नैनमाशु यदि वाहिनीपति प्रत्यपत्स्यत शितेन पत्रिणा ॥ ४९ ॥

दुर्बचमात ॥ वाहिनीपति' सेनापतिरस्मत्स्वामी शितेन पत्रिणा क्षरेण । पुन मृगम् । आशु न प्रत्यपत्स्यत यदि नाभियुक्षित चेत् असौ मृग भोजसा बलेन यदि विषये यदकरिष्यत् यदनिष्ट दुर्पात् तद्दुर्बच दुर्बाध्यममलतया वक्तुं न शक्यते । तदनिष्टम् अध्यावन्तारमपि मा स्म भूदिति सौर्वाक्यमम् । तदुपेक्षणे स मयस्त्वां हन्यादिति भावः । लिङ्निमित्ते लृट् क्रियातिपत्तौ इति ऋगोते' पद्य लेख लृट् ॥ ४९ ॥

किरात-सेनानो मेरे स्वामी यदि इत चकर को ताएण शर के द्वारा बिल न करते तो यह अपने महान पराक्रम से जो अनिष्ट कर टालना वह अमङ्गकारी होने के कारण उदाहन विधा नहीं जा सकता । भगवान् करे वह अनिष्ट आपको कभी न हो । यदि उसकी उपेक्षा ही जाती हो वह चकर तुम्हें मार टालता । ४९ ॥

ननु मयैव हतो न तु सेनापतिना सग्राह—

को त्रिम हरितुरङ्गमायुधस्येयसीं दधतमङ्गसहविम् ।

वेगवत्तरमृते चमूपतेर्हन्तुमर्हति क्षरेण दृष्टिगम् ॥ ५० ॥

क इति ॥ हरितुरङ्गमायुधस्येयसीं दधतमङ्गसहविम् । अङ्गुष्ठिता मित्यर्थः । स्थिराव्यावृत्तीयुगम् । प्रियस्थिर— इत्यादिना स्थावृषा । अङ्गसंहति मयवयसंघात दधत धारयन्तं वेगवत्तर दुर्पारयेयम् । इम दृष्टिगं बराह चमूपते किरातवाहिनीपतेर्हति चमूपतिं विना । अध्यायात्— इत्यादिना पञ्चमी । को नु को वा क्षरेण । एकेनेति भावः । हन्तुमर्हति । न कोऽपीत्यर्थः ॥ ५० ॥

इ द्रवित (दुर्लभ वज्र) के सृष्ट करठिन ऋषों को धारण करते हुये अत्यन्त वेगवाली इस बराह को एक पाण से बंध करने में 'वरसेनापति के अतिरिक्त अन्य कौन व्यक्ति समर्थ हो सकता है ॥ ५० ॥

अस्तु स पृथ मृगस्य हन्ता तत किमित्यत आह—

मित्रमिष्टमुपकारि सराये मेदिनीपतिरसि तथा च ते ।

त विरोध्य भयता निरासि मा सज्जनैकवसति कृतज्ञता ॥ ५१ ॥

मित्रमिति ॥ तथा च तस्यैव मृगहन्तुस्ये सतीत्यर्थः । अर्थ मेदिनीपति' किरात भूपति । ते तव संहाये प्राप्तसकृते । उपकारि उपकारकारकम् इष्ट मित्रम् । सतीत्यर्थे किं सग्राह—तमिति । तं मित्रमूर्तं विरोध्य सज्जनैकवसतिः भवाइशसुज्जनमात्राधारा

कृतज्ञता उपकारवेदित्व भा निरासि न निराक्रियता भवता । अन्यथा जगति कृतज्ञताऽस्त यायात्, कृतज्ञता च ते भवेदित्यर्थ । अस्यते कर्मण्याशिषि मादि छुड् ॥ ५१ ॥

यह पुलिन्दवाहिनीपति आपके जीवन सकल के समय उपकार करके शत मित्र बन गया है । अतः उसके साथ विरुद्धाचरण द्वारा मुजनाश्रया कृत्नीपकारिता को गला पकड़ कर निर्वासित न कीजिये ॥ ५१ ॥

ननु सर्वस्यार्थमूलत्वात्स एवास्तु, कि मित्रेणेत्यादाङ्गव मित्रस्य सर्वाधिक्य युग्मेनाह—

लभ्यमेकसुकृतेन दुर्लभा रक्षितारमसुरच्यभृतय ।

स्वन्तमन्तविरसा जिगीषता मित्रलाभमनु लाभसपद् ॥ ५२ ॥

लभ्यमिति ॥ जिगीषता जेतुमिच्छताम् । जयते सन्नन्ताच्छतृप्रत्यय । दुर्लभा कृच्छ्रेणापि लभ्युमशक्या, तथापि असुरच्यभृतयो रक्षितुमशक्यमहिमान । तथापि नित्य रक्षणादिकलेषावहाश्चेति भाव । अन्तविरसा । रत्त्वर्थ इत्यर्थ । लभ्यन्त इति लाभा अर्थास्तेषा सपद् । एकसुकृतेनैकोपकारेण लभ्य सुलभ न तु दुर्लभ । रक्षितार न तु रच्य स्वन्त शुभावसान न स्वन्तविरस मित्रलाभमनु मित्रलाभाद्धीना । निकृष्टा इत्यर्थ । 'हीने' इत्यनो कर्मप्रबन्धनीयसज्ञा । तद्योगे द्वितीया । अत्रोपमेयस्य मित्रलाभस्य लाभान्तर प्रत्याधिक्याभिधानादुच्यतिरेकालकार ॥ ५२ ॥

जयेपुत्रो (जग को अभिलाषा करने वालों) के लिये मित्रलाभ एक ही सुकृत के द्वारा लभ्य है और लाभ सम्पत्तियों दुष्प्राप्य है । यह [मित्रलाभ] उनका रक्षक होता है इसके विपरीत [सम्पत्तियों की रक्षा करना] देवी खीर हो जाती है । मित्र लाभ का अवधान भी महत्त्वमय होता है । सम्पत्तियों का लाभ अस्थिर है । इस तरह का मित्रलाभ सर्वोच्छेद है और सम्पत्तिलाभ निरुद्ध है ॥ ५२ ॥

चञ्चल वसु नितान्तमुन्नता मेदिनीमपि हरन्त्यरातयः ।

भूधरस्थिरमुपेयमागत माऽवमस्त सुहृद महीपतिम् ॥ ५३ ॥

चञ्चलमिति ॥ किंच, वसु धन नितान्त चञ्चल मेदिनीमप्युन्नता प्रथला अरातयो हरन्ति । मित्र तु न तथेत्याह—भूधर इति । भूधरवत् स्थिरमुपेयमन्विष्य गन्तव्य आगत स्वत प्राप्तमपि महीपतिम् । सर्वधुरीणमित्यर्थ । सुहृद मित्र माऽवमस्त माव-शासीव । भवानिति शेष । अन्यश्लोकगतो 'भवत्' शब्दो विभक्तिविपरिणामेनात्र द्रष्टव्य । अन्यथा मध्यमपुरुष स्यात् । मन्यते कर्तरि मादि छुड् । अलकारस्तु रपत्तिरेक एव । भूधरस्थिरमित्युपमासगत्सकर ॥ ५३ ॥

धन तो आवन्त खपल है [स्थायी नहीं होता], प्रकृत शब्द मुनि को भी अपहरण कर कर लेते हैं । अतः पर्वत के सदृश दृढचित्त, स्वयं समागत विरातसेनापति जैसे मित्र का धन निरन्कार न करे ॥ ५३ ॥

यु मुमुक्षो किं मित्रमग्रहणयाह—

जेतुमेव भवता तपस्येन नायुगानि दधत मुमुक्षर ।

प्राप्स्यते च सकल मन्मथता सगतेन तपस फल त्वया ॥ ५१ ॥

जेतुमिति ॥ भक्ता जेतु नवार्थमेव तपस्यते सप्राप्यते । कमला रामाय—
हत्यादिना चरते कथम् । ततो भाव लट् । कुत । मुमुक्षो भाषार्थिन भाषुषानि न
दधते न धारयन्ति । अतो मित्रसग्रह षाय इति भाव । तथाए किं भवरागमिष
त्येन तत्राह—प्राप्स्यत इति । मन्मथता सह सगतेन त्वया सकल च तपस फल
प्राप्स्यते । अतस्ते सदाऽऽमलरामी युक्त इत्यथ ॥ ५१ ॥

भाव विन्याय ही तपस्यण कर र्हे र । क्योत्रि मुमुक्षु लोच ह्यप्यारण नहीं करते ।
[कत मित्रसग्रह करना आप के लिये निपात भाव दक है] इन विराग मनापिनायक
मेरे स्वामी से आप समय सार्थ्या के फल भी प्राप्त कर ल ॥ ५१ ॥

मन्वर्किंचन कुश्रोपयुज्यते तत्राह—

याजिमूमिरिभरानकानन सन्ति रजनिचयाश्च भरिषा ।

काञ्चनन किमिरारय परिष्या येन न सहते विलङ्घनम् ॥ ५२ ॥

वासीति ॥ तस्य भूपतेयाजिमूमिररवाकर इभराजानां कानन गजोत्पलित्थान
भूरिशो रक्षमिषयाश्च । सतीति शेष । नन्वीह्याश्च किमेहस्मै काञ्चनपरकाण्डाय
कलहायते तत्राह—अस्य काञ्चनेन सावर्मेन परिष्या शरेण किमिव । न किंचित्पयो
जनमस्तीत्यथ । परन्तु केवल विलङ्घनं व्यतिरिक्त न सहते । नाय शरत्पुत्र किम्व
विषेवासहिष्णुदिवर्ष । अत्र प्रथमार्थं समृद्धिमद्भस्तुवगनाहुत्वात्कारः ॥ ५२ ॥

मेरे स्वामी के यहा किमी वस्तु की कमी यहा है । क्योकि उनके पास गुराही भी खान
है मत्तलहनी के जहण है तथा असखरही भी राशि है । इनको बाण के युव । ते हो
क्या लाभ हो सकता है ? केवल कपिनेत्र [निपात] इनके लिये अत्यथ है ॥ ५२ ॥

नन्वीहभ्युष्य किमुपकर्ता तत्राह—

सावलेपमुपलप्सिते परैरभ्युपैति विकृतिं रजस्यपि ।

अर्थितस्तु न महान्समीहते जीवित किमु धन धनायितुम् ॥ ५३ ॥

सावलेपमि त ॥ महान्य रजस्यापि पूलावपि परै सावलेप समर्षम् । उपलप्सित
उपलभ्युमिहे निष्कृषिणे सति विकृतिमस्युपैति । प्रकुप्यतीत्यर्थ । अर्थितो याचितस्तु
जीवित धनायितु धनीकृतम् । स्वजनतापुसुम् । न समीहते मोत्सहते । जीवितमप्या
त्मनो नेच्छति । किंचयित मयच्छतीत्यर्थ । तर्हि धन किम् । धनमात्मन पयितु
धनायितुमिति विग्रह । अत्र इच्छामात्रमर्थं अन्यथा धनमित्यनेन धीमद्वरव स्यात् ।
सुप आत्मन वचत् । असायाहृन्वधनायाहुत्वापिपासागर्षेषु इति निपातना-
दाकारः ॥ ५३ ॥

कोई व्यक्ति यदि उन महान् आत्मा से अभिमान के साथ ठण्ठ लथवा घूल का कण भी लेना चाहे तो वह व्यक्ति उसके क्रोध का पात्र होगा ही। यों यदि कोई व्यक्ति उनसे यात्रा करे तो वे प्राण तक दे देते हैं, धन की तो बात ही क्या ? ॥ ५६ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—

तत्तदीयविशिखातिसर्जनादस्तु वा गुरु यदृच्छयागतम् ।

राघवप्लवगराजयोरिव प्रेम युक्तमितरेतराश्रयम् ॥ ५७ ॥

तदिति ॥ तत् तस्मात् तदीयविकिञ्चस्यातिसर्जनात् प्रत्यर्पणात् । वा युवयो । 'पक्षीचतुर्थीद्वितीयास्यथोर्वाभावौ' इति वामादेश । राघवप्लवगराजयो रामसुग्रीवयोरिव यदृच्छया दैवाहागत गुरु महत् युक्तमनुरूपम् । इतरेतराश्रयमन्योन्यविषय प्रेम सख्यम् । अस्तु ॥ ५७ ॥

अतः उनके उस बाण के लौटा देने से आपका और उनका परस्पर महान् प्रेम [मित्रता] स्व समागत श्री रामचन्द्र तथा बानरेन्द्र [सुग्रीव] की मित्रता की तरह सम्बद्ध हो जायगा ॥ ५७ ॥

ननु शरलोभान्मिथ्याभियुज्यस इत्याह—

नाभियोक्तुमनृत त्वमिष्यसे कस्तपस्विविशिखेषु चादर ।

सन्ति भूभृति शरा हि न परे ये पराक्रमवसूनि वज्रिण ॥ ५८ ॥

नेति ॥ त्वमनृत मिथ्याऽभियोक्तुमभ्याख्यातुम् । ब्रह्मोऽर्थग्रहणाद्ब्रह्मकर्मकता ।

'मिथ्याभियोगोऽभ्याख्यानम्' इत्यमर । अस्मामिरिति शेष । नेष्यसे नेष्टोऽसि । कुत । तपस्वी मुनि शोच्यथ । 'मुनिशोच्यौ तपस्विनी' इति शारदत । तस्य, विशिखेषु क आदर कास्था । न काचिदित्यर्थ । द्वि यस्मात्, नोऽस्माक भूभृति शैले परेऽन्येऽपि शरा सन्ति, ये शरा वज्रिण शक्रस्य पराक्रमवसूनि पराक्रमधनाणि । शौर्यसर्वस्वभूता इत्यर्थ । 'वज्रिग्रहणाद्ब्रह्मादप्यतिरिक्ता इति सूच्यते । अत्र शरेषु पराक्रमसाधनेषु पराक्रमरूपेण वस्तु व्यज्यते ॥ ५८ ॥

हमलोग आप पर भूठ का अपवाद नहीं लगा सकते क्योंकि तपस्वी के वाणों में आस्था ही क्या ? [चल कर दैरिये] हम परत पर हम लोगों के पास बहुत से वाण हैं जी - [वाण] इन्द्र के पराक्रम और सर्वस्वरूप हैं ॥ ५८ ॥

अथ ते शरापेक्षा चेत्तर्हि तथोच्यतामित्याह—

मार्गैरथ तव प्रयोजनं नाथसे किमु पतिं न भूमृत ।

त्वद्विध सुहृदमेत्य सोऽर्यिन्तं किं न यच्छति विजित्य मेदिनीम् ॥ ५९ ॥

मार्गैरिति ॥ अथ अतः तव मार्गैः शरैः प्रयोजनं कृत्य तर्हि भूमृतो गिरे पतिं प्रभु किमु न नाथसे किमिति न याचसे । 'नाथं मातृ याच्योपसापैश्वर्यांशी पु' इति घातोऽर्हत् । न च याच्यामद्गच्छ्या कार्त्तव्याह-त्वदिति । सोऽस्मत्त्वामी तवैव विधा

प्रकृतो यस्य स स्वद्विष स्वादाम् । महानुभावमित्यथ । तथापि मुहुः मित्रभूतम्
अर्थिनमेव लब्धा मेभिर्नीं विजिन्य न यच्छति न ददानि किम् । किं तु दास्यत्येव ।
किं पुनः दानमिति भावः ॥ ५९ ॥

यदि आप को बाणों की ही आवश्यकता है तो हम परतीद [किरान] से क्यों नहीं
माग लेते । आप जैसे याचक भिन को पकड़ के क्या समझें ? ही को जग कर नहीं दे
सकते ? बाण तो एक द्रव्य वस्तु है ॥ ५९ ॥

यदुकम्-स्वद्विषम् (सूत्र ५९) इत्यादि तत्रोपपत्तिमाह—

तेन सूरिरुपकारिताधनं फलुमिच्छति न याचितं वृथा ।

सीदतामनुभवन्नित्यर्थिना वद यत्प्रगयमङ्गवदनाम् ॥ ६० ॥

तेनेति ॥ तेन कारणेन सूरीविद्वान् अत एव उपकारिताधनं उपकारररवमाप्रधन
स किरातभूपतिः । याचितं याचनां वृथा व्यर्थं क्तुं नेच्छति । वृत्तः । यत् येन कारणेन
सीदता हिरयतामर्थिनां प्रगयम-वेदना याचनाम्-दुःखं स्वयमनुभवन्नित्यर्थे वेदं वेति ।
अतो न वैफल्यशङ्का कार्थेत्यर्थः ॥ ६० ॥

हमकिये विद्वान् किरानपत्र जिगरा उपकार ही एक मात्र भन है आप की प्राधना
को रिफ्त नहीं कर सकते क्योंकि वह दु पात्रमही याचनाकारी पुण्यों के रिफ्त मनोरथ
होने पर जो दुःख होता है उसमे वे स्वय परिचय है ॥ ६० ॥

ननु स्वयमङ्गिण किं याचन्मन्यं तत्राह—

शक्तिरथपतिषु स्वयमहं प्रेम कारयति वा निरस्त्ययम् ।

कारणद्वयमिदं निरस्त्यतः प्रार्थनाऽधिकबले निपत्फला ॥ ६१ ॥

शक्तिरिति ॥ अर्थपतिषु विषये शक्तिः सामर्थ्यं स्वयमहं स्वाम्यनुज्ञां विना प्रहर्षं
कारयति । यद्वा निरस्त्ययमपरारथेऽप्यधिकारि निर्वाच्यं प्रमं क्तुं स्वयमहं कारयति ।
प्रबलं प्रियो वा परस्व धनं स्वयं गृह्णातोत्ययः । अन्यथा दोषमाह—इदं पूर्वोक्तं
कारणद्वयं निरस्त्यतस्त्यजगः । पुंस इति शेषः । अधिकबले प्रबले विषये प्राधना तद्व
मत्रिपुत्रा विपत्कलानयकलका । अक्षकस्याप्रियस्य सतः प्रबलधनपशुणात्त फणितारो
मणिग्रहणासाहसवदनर्थाय कश्चपत् इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

भक्तियों से प्रम को तरह से लिया जा सकता है एक तो प्रहोता प्रत्य हो दूसरे उसका
उत्तमे धनिष्ठ प्रम हो । इसकी विपरीत होने से अर्थात् निर्बल और अप्रिय व्यक्ति को
प्रार्थना विपत्तिरूप फल की उत्पादिका है ॥ ६१ ॥

ननु चाकार्यैर्लपन्त्या चाक्षय्यमिमां सन्नाह—

अक्षयवेदमधिगम्य तत्पतं कस्य चेह मुजयीयशालिनः ।

जामदग्न्यमपहाय गीयते तापसेषु चरिताथमायुधम् ॥ ६२ ॥

अक्षयवेदमिति ॥ इह जगति तापसेषु उपस्थितां मध्ये । यतश्च निर्धारणम् इति

ससमी । जमद्वारपत्न्य पुमान् जामद्वन्य । 'गर्गादिभ्यो यञ्' । मम्, अपहाय । पर-
शुराम विनेत्यर्थ । अस्त्रवेद तत्त्वतोऽधिगम्य । भुजवीर्येण शालन्त इति भुजवीर्यशा-
लिन । उभयसपन्नस्येत्यर्थ । शालनक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वात् कत्वानिर्देश ।
कस्य चायुध चरित प्राप्तोऽर्थो येन तत् चरितार्थं सार्थकं गीयते । न कस्यापीत्यर्थ ।
अतस्तवापि तापसत्वादकिञ्चित्करस्य तेन सह सख्यमेव मुख्यमिति भाव ॥ ६२ ॥

इस सतार में परशुराम को झोठ तपस्विणों में कौन ऐसा व्यक्ति है जो अश्वविधा के
सत्त्वों का सन्धक् शान रखते हुए मुन्नाओं में पराक्रम धारण करता है और उसके अश्व को
उपयोगिता का गीत जनता के द्वारा गाया जाता है ? ॥ ६२ ॥

ननु युष्मन्मृगवधशरहरणाम्या द्रोहिणो मम तेन कथं सख्यं स्यादित्याशङ्क्य सत्य
नयापि तावन्मृगवधापराध क्षमिष्यत इत्याह—

अभ्यघानि मुनिचापलात्तथा यन्मृग क्षितिपते परिग्रह ।

अक्षमिष्ट तदयं प्रमाद्यता सवृणोति खलु दोषमज्ञता ॥ ६३ ॥

अभ्यघानीति ॥ त्वया मुनिचापलात् । ब्राह्मणचापस्यादित्यर्थ । क्षितिपतेरस्म-
त्स्वामिन । परिगृह्यत इति परिग्रह । तेन स्वीकृत इत्यर्थ । 'परिग्रहं परिजने पत्न्या
स्वीकारमूल्यो' इति विश्व । यन्मृगोऽभ्यघानि अभिहत इति । हन्ते कर्मणि लुङ् ।
तत् हननम् । अयमस्मत्स्वामी । अक्षमिष्ट सोढवानेव । तथा हि—प्रमाद्यताम्, अवि-
मृश्यकारिणामित्यर्थ । दोषमपराधम् । अज्ञताऽज्ञानिता सवृणोति आच्छादयति ।
नाज्ञस्यापराधो गण्यत इत्यर्थ ॥ ६३ ॥

'ब्राह्मण लोग स्वभावतः चञ्चल होते हैं' हमके कारण यदि आपने मेरे स्वामी के द्वारा
बध किये हुये मृग का जो बध किया है उसे उन्होंने सहन कर लिया क्योंकि जो लोग
विवेकपूर्वक कार्य नहीं करते उनको अज्ञानता उनके द्रोणों को क्षिप्त लेती है अर्थात् अज्ञ
होने के कारण क्षम्य हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

अथ सुहृद्भावेन हितमुपदिशति—

जन्मवेपतपसा विरोधिनी मा कृथा पुनरमूमपक्रियाम् ।

आपदेत्युभयलोकदूषणी वर्तमानमपथे हि दुर्मतिम् ॥ ६४ ॥

जन्मेति ॥ जन्म सङ्कल्पसृष्टि, वेपो जटावल्कलादि, तपो नियम, तेषां विरो-
धिनी विरुद्धाम् । अमूमेवविधानम् । अपक्रियामपकारम् । पुन । इत् परमित्यर्थ ।
मा कृथा मा कुरु । करोते कर्तरि भाक्ति लुङ् । 'वयोवृद्धपर्यवाग्वेपश्रुताभिनयकर्म
णाम् । जाचोस्सदृशी वृत्तिमजिह्वामशया तथा ॥' इति स्मरणात् । उक्तवैपरीत्ये
दोषमाह—आपदिति । हि यस्मात्, अपथे वर्तमानं दुर्मतिम् । पुरुषमिति शेष ।
उभौ लोकौ दूषयति हन्तीति उभयलोकदूषणी । 'तद्धितार्थं—भूत्यादिनोत्तरपदस-
मास' । आपद । एति प्राप्नोति । नमासत्रिपथ 'उभ' शब्दत्वाने 'उभय' शब्दप्रयोग

एव साधु । यदाह कौपट — 'उभादु'गता निस्पमिति निस्पमृणस्यद प्रयोजनं वृत्ति-
विषय उभादुस्य प्रयोगो मा भूत् उभय सा दस्यैव रूप मया स्यान्निपुमयत्र
त्यादि भवति इति ॥ ६४ ॥

परिच्छिन्न वश में जन्म ऋषियों का वप भूय और उपधारण इन सर्वों के विरुद्ध
व्यवहार भाप न करे (अर्थात् कुल देव तथा तपस्या का मर्यादा ना पालन परत इत्
व्यवहार करे) क्योंकि कुमार्गगामी दुःखि पुत्र्य की विपत्ति का दर्शोच्यो है । जिससे
वह पुरप न इस लोक का और न परलोका का रह बना है लोक उभयो ग्या (भोवी वा
कुत्ता न परवा न पाळ वा) इत ब्रह्मण के नैसा होता है ॥ ६४ ॥

यद्युक्तम् अग्न्यानि (ओ ६३) इति तन्वै स्पृष्टयति—

यद्युमिच्छसि पितृभ्र साप्रत सयृतोऽचिन्वयिषुर्दिवीकस ।

दातुमेव पदवीमपि क्षम कि मृगऽङ्ग त्रिशिरः न्यत्रींशः ॥ ६५ ॥

यद्युमिति ॥ साप्रतं संप्रति । संप्रतीदानीमधुना साप्रत तथा इत्यमर । पितृन्
कस्यवादादीन् यद्युमचयितु मेच्छयि । यत सयृत एकान्ते स्थित । तथा दिवीकसो
देवान् । अचिन्वयिपुरप्यचयितुमिदुरपि नास । अतो न पित्रथय हिंसा नापि देव
तार्था । सवाराधने तद्विहितत्वादिति भावः । अथ 'सयत आत्मान गोपायीत इति
श्रुतेरात्मरक्षायमिति चेन्नत्याह—दातुमिति । इ अङ्ग पदवीं माग दानुमव । न तु
हन्तुम् । मुनित्वादिति भावः । समोऽपि योग्यः सद्यपि । कि किमर्थं मृगे विशिरः
न्यत्रींशो निवेशितवान् । विशतेष्यन्तालसुड । अभिधावतो मृगान्पसरणेनवात्म
रक्षणे कर्तव्ये यदवधीस्तथापलमेव । 'न हिंस्यः सखा भूतानि इति श्रुतिनिषेधादि त
भावात् ॥ ६५ ॥

पितरों का आद्र करने की आपस्ये इच्छा नहीं रही होगी क्योंकि आप निर्जन
प्रदेशमें हैं अथवा देवताओं के पूजन करने को अनिच्छा ही है तो भी नहीं (अर्थात्
आप की हिंसा न तो पित्रय है और न देवार्थ) । यदि आपसे अपनीरक्षा के निमित्त उसका
वध किया हो तो सो भी अचिन् नही आप उसे बिना डेह जाइ क्रिये चले जाने देते फिर
आपने उस ब्राह्म पर पाप प्रहार किम लिये नि पा ? इसमें चास्य के सिवाय और क्या
कहा ना उच्यते है ॥ ६५ ॥

किं बहुना परमार्थं श्रूयतामित्याह—

सज्जनोऽसि विजहीहि चापल सवदा क इव वा सहिष्यते ।

वारिधीतिव युगान्तवायव सौमयन्त्यनिमृता शुक्लनपि ॥ ६६ ॥

सज्जन इति ॥ सज्जनोऽसि । अत एव चापलं अपलस्य कर्म विजहीहि त्यज । अहा
हेल्लेंट । आ च ही इतीकारः । सर्वदा क इव वा को वा सहिष्यते । इवशब्दो
वाच्यमाहकरो । 'वा शब्दोऽवधारणे । असहने कारणमाह—वारिधीति । अविशुद्ध-

अपला पुन पुनरकार्यकारिणो गुरुन् वैर्ययुक्तानपि । अन्यत्र, -विद्यालानपि । युगा-
न्तवायव प्रलयपवना वारिधीनिव समुद्रानिष सोभयन्ति । उपमानुप्राणितोऽयम-
थन्तिरन्यास ॥ ६६ ॥

विशेष वार्तालाप से प्रयोजन क्या ? तथ्य बात मुनिये —

आप सज्जन हैं थत आप चपकता का परित्याग कर दें । हमेशा कोई सज्जन नहीं
हरेगा वार वार अनुचित करनेवाले पुरुष वैर्यशक्तियों को भी क्षुभित कर देते हैं बित प्रकार
प्रलयकाल का भौंभानात विशाल समुद्रों को भी क्षुभित कर देता है ॥ ६६ ॥

मन्वय किरात क्षुभित किं करिष्यति, तत्राह—

अश्ववेदविद्यु महीपति पर्वतीय इति माऽवजीगण ।

गोपितु भुवमिमा मरुत्वता शैलवासमनुनीय लम्बित ॥ ६७ ॥

अच्छेति ॥ अथ महीपति । अश्ववेदविद् । निग्रहानुग्रहसमर्थ इति भाव । अत
पर्वते भव पर्वतीय । 'पर्वताश्च' इति द्वाप्रत्यय । इति हेतो माऽवजीगण । वनेचर-
दुष्या माऽवज्ञासोरित्यर्थ । गणयतेर्मादि लुट् । 'ई च गण' इतीकार । नन्वीदवा-
श्वेरिकमर्थमिह वने वसति, तत्राह—गोपितुमिति । मरुत्वता इन्द्रेण । इमा भुव
गोपितु संक्षिप्तम् । 'आयादय आर्धचातुने वा' इति विकल्पात् 'गुणधूप-' इत्यादिना न
आयप्रत्यय । अनुनीय प्रार्थ्य, शैलवास लम्बित प्रापित । 'गण्यन्ते कर्तुंश्च कर्मणः'
इति वचनादणि कर्तुं कर्मणि क्त । 'गतिबुद्धि-' इत्यादिनाऽणि कर्तुं कर्मत्वम् । ६७॥

'यद् कोलमिह की जाति मेरा न्या कर सकता है' यह बात वो श्वय स्वप्न में भी न
सोचें क्योंकि —

ये भूमिपाल (मेरे स्वामी) अश्ववेद के शाता हैं अर्थात् जो चाहे तो कर सकते हैं इ-
नेचर ममक कर तिरस्कार मत कीजिये । इन्द्र ने इस पर्वतस्थली को रक्षा के लिये प्रार्थना
पूर्वक इनको यहा रखा है ॥ ६७ ॥

उपसहरति—

सत्तिचित्तमित् मया मुनेरित्यवोचत वचश्चमूपति ।

वाणमग्रभवते निज विशन्नाप्नुहि त्वमपि सर्वसपद ॥ ६८ ॥

सद्वि ॥ तत् तस्मान्मुनिचापलात् । मुने सवन्धि इद् सृगावधरूपभागो मया
तित्तिचित्त सोढम्, इति वचश्चमूपतिरवोचत । शरद्रोहस्य प्रत्यर्पणमेव प्रतीकार
इत्याह—अग्रभवते पूज्याय स्वामिने । अग्रभवान् स्याक्यात् । निज वाण सदीयमेव
शर विशन् प्रत्यर्पयन्, त्वमपि सर्वसपद आप्नुहि । सख्येनेति भाव ॥ ६८ ॥

'मैंने वन मुनि के शृंगवधका अपराध को क्षमा कर दिया' इस तरह का वचन
द्विदोषात् (मेरे स्वामी) ने कहा है । आप उनके वाण को प्रत्यर्पित करके सम्पूर्ण
सम्पत्तियों को बरलम्ब कीजिये ॥ ६८ ॥

अनु महामैतसकथमव न शोधते, कि पुनस्तम्बूला सपदस्तद्वाह—

आत्मनीनमुपतिष्ठते गुण्यं सभयन्ति त्रिरभन्ति चापद ।

इत्यनफफलेभाजि मा स्म भूदर्थिता कथमिवायसगमे ॥ ६९ ॥

आत्मनीनमिति ॥ आत्मने हित आत्मनीनम् । आत्मस्विकारजनभोगोत्तरण
प्राप्त । उपतिष्ठते सगच्छते । उपार्देवपूजासगतिकरणमित्करणपायसु हात कथ
भ्यादात्मनेफणम् । गुण्यं विवयाद्य समरन्ति भापदश्च त्रिरभन्ति । 'व्याहपरिभ्यो
स्म' इति परस्मैपदम् । इत्यनफफलेभाजि नानाफलेषु पादक भावसंगम साधुमगती ।
अर्थिताश्वेष्टा कथमिवा मा स्म भूत् । सध्या भवयव ॥ ६९ ॥

सम्बन्धसर्पति से अचना नस्वान् होता है विनयात् दुःख प्राप्त होने से तथा भावसर्पति
सम्बन्ध निम्बूला हो जाती है—एक तरह के कनेक फल प्राप्त होने हैं तो फिर देने प्राप्त
करने की चाह किसी की क्यों नहीं होगी ? ॥ ६९ ॥

न चाय दूरे वतस इत्याह—

इत्यतामयमनोकहान्तर तिग्महेतिपृथनाभिरन्वित ।

साद्विधीचिरिव सि घुरुद्धतो भूपति समयसेतुधारित ॥ ७० ॥

इत्यतामिति ॥ तिग्महेतिमिस्तीक्यामुघाभिः । एतिग्माकाशस्यारुपु इति
हेमचन्द्र । पृथनाभिरान्तिमि । साद्विधीचिरिव चम्पू इत्यमरः । अन्वितो भूपतिः ।
साहच्यं ससर्पा वीचयो यस्य स तिग्मु समुद्र इवोद्धत । किंतु समयो मर्यादा सेतु
विषय समयसेतुस्तेन धारितः सन् । इत्येव निर्दिशन्नाह—अयमनोकहान्तरे मुमात्ता
धमि । वतस इति शेषः । इत्यताम् । अनोकह कुट्ट साह्य पलायतो व्रजनागमा
इत्यमरः ॥ ७० ॥

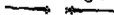
सर्प और वरुण से अत्युच्च समुद्र की तरह उद्धत किरातसिनागदक इष्ट के मध्य से
तत्काल साह्य सम्पन्नता के साथ अवस्थित है । जिन तरह समुद्र अपने मर्यादाके
पुल या उल्लेखन नहीं करवा उसी तरह वह भी अपने वचन के कारण रके हुए है ॥ ७० ॥

अयास्य विज्ञापनमेवाह—

सज्य घनुवदति योऽह्निपतिस्थनीय स्येयास्त्रफन्हरितुरगमपेतुलक्ष्मीम् ।

अस्यानुकूल्य मति मतिनभनेन सख्या मुख समभियास्यसि चिन्तितानि ॥

इति भारविश्रुतौ महाकाव्य किरावाजुनीय त्रयोदश सर्गः ।



सज्यमिति ॥ स्येयान् स्थिरतरः । मिथस्त्विद इत्यादिना यथाज्ञानः । यच्छ्रु
पतिः । हरितुरगमकेतोरिन्द्रधनुसस्य लक्ष्मीं शोभां वचन् । अह्निपति शेष इव समचीन-
स्थूलतरम् । 'स्थूलवृ' इत्यादिना पूर्वगुण्यजाद्विपरलोपी । सह ज्यया सज्यं घनु

बंहति । हे मतिमन् ! अस्य चमूपते मतिमनुकूलयानुकुला कुम् । सख्य कुर्वित्यर्थं । मतिमत्ताया फलमेतदिति भाव । कुत । सख्याऽनेन चमूपतिना हेतुना सुखमक्लेशेन चिन्तितानि मनोरथान् समभियास्यसि प्राप्स्यसि । वसन्ततिलकाष्टम् ॥७१॥
इति किरातार्जुनीयकाव्यन्यास्याया घण्टापथसमाख्याया त्रयोदश सर्ग समाप्त ।



दे प्राज्ञ ! शेषनाग के समान लूल अत्यन्त अविचल भावसे अवस्थित जो किरात सेनापति इन्द्र के भवजा की शोभा को जीवते हुए धनुष धारण किये हुए हैं । उन्हें अपने अनुकूल कीजिये । इनके साथ मित्रता करनेसे सम्पूर्ण अभिलषित मनोरथों को सिद्ध कर सकेंगे ॥ ७१ ॥

त्रयोदश सर्ग समाप्त



चतुर्दशः सर्गः ।

तत किरातस्य वचोभिरुद्धतै पराहता शैल इवार्णवाम्बुभि ।

जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पाण्डव सुदुर्ग्रहान्त करणा हि साधव ॥१॥

तत इति ॥ तत किरातवाक्यान्तन्तरम् । उद्धतै प्रगल्भै किरातस्य वचोभि । अर्णवाम्बुभि शैल इव पराहतोऽभिहतोऽत एव कुपितोऽपि पाण्डवो धैर्यं निर्विकारचिन्तस्व न जहौ न तत्याज । उत्पन्नमपि कोप स्तम्भयामासेत्यर्थं । तथा हि—साधव सज्जना सुदुर्ग्रह घुण्डु हुरासदमप्रतिकुप्यमन्त करण येपा ते सुदुर्ग्रहान्त करणा हि । अर्थान्तरन्यास ॥ १ ॥

अनन्तर जलनिधि के जलसे (अभिहत) पर्वत की तरह किरात के प्रगल्भ वचनों से आहत अर्जुन क्रुद्ध होकर भी धैर्यच्युत नहीं हुए, कारण कि—वैसे सज्जन पुरुषों का हृदय अटन होता है ॥ २ ॥

सलेशमुल्लिङ्गितशात्रवेङ्गित कृती गिरा विस्तरतत्प्रसप्रहे ।

अथ प्रमाणीकृतकालसाधन प्रशान्तसरम्भ इवाद्दे वच ॥ २ ॥

मलेशमिति ॥ सह लेशै सलेश सकल यथा तथा, उल्लिङ्गितमुदमूललिङ्ग कृतम् । लिङ्गैस्तद्वाक्यभङ्गिभिरैव सम्पगवगतमित्यर्थं । शत्रुरेव शात्रव । स्वार्थेऽणप्रत्यय । तस्य इङ्गितमभिप्रायस्तदुल्लिङ्गित येन स । गिरा वार्चा सवन्धिनि विस्तरे तत्त्वसप्रहेऽर्थरूपे । वैभाषिको हन्तैकवद्वाव । कृती कुशल प्रमाणीकृत प्रधानीकृत काल एव साधन येन स । अवसरोक्ति विष्णुरित्यर्थं । अथ पाण्डव प्रशान्तसरम्भ शोभरहित इव वच आददे । उवाचेत्यर्थं ॥ २ ॥

ननु मन्त्रनेतरसक्यमेव च तेचते किं पुनस्तन्मूला सपदस्तत्राह—

आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणा सभवन्ति विरमन्ति थापद् ।

इत्यनकफलमाजि मा स्म भुदर्थिता कथमिनायसगमे ॥ ६९ ॥

आत्मनीनमिति ॥ आत्मने हित आत्मनीनस्य । आत्मनिवचजनमोगोत्तरप
द्वारस्य । उपतिष्ठते संगच्छते । 'उपादेवपूजासगतिकरगामप्रकरणाधिक्येण इति वक्तु
व्याख्यात्मनेपदम् । गुणा विनयापय संभवन्ति थापद्बन्ध विरमन्ति । व्याघपरिभ्यो
रम्' इति परस्मैपदम् । इत्यनेकफलमाजि मावाफलोत्पादक व्यावसयमे सखुसंगतौ ।
अर्थिताऽप्येवा कथमिष मा स्म मूल । सर्वदा भवत्यव ॥ ६९ ॥

सञ्जनसर्पति वै अपना कल्याण होता है, विनयादि गुण प्राप्त होने व नया प्राप्तियों
समूह निर्भूत हो जाती है—यदि तरह के अनेक फल प्राप्त होने हैं तो फिर हमें प्राप्त
करने की चाह किसी की क्यों नहीं होती ? ॥ ६९ ॥

न चाय दूरे वर्तत इत्याह—

इत्यतामयमनोकहान्तरे विगमहेतिपृतनाभिरन्वित ।

साहिधीधिरिव सिंधुरुद्धतो भूपति समयसेतुनारित ॥ ७० ॥

इत्यतामिति ॥ विगमहेतिमिस्तीत्याद्युपायि । 'हेतिर्वाङ्मात्रसूपाद्युपु इति
हेमचन्द्र । पृतनाभिर्वाहिनीभिः । वाहिनी पृतना यम्' इत्यमरः । अन्वितो भूपतिः ।
साहय्यं ससर्पं भीषणो यस्य स सिन्धुः समुद्र इवोद्धत । किन्तु समयो मर्पावा सेतु
दिव स समयसेतुयतेव वारित' सन् । इत्येव निर्दिष्टाह—अयमनोकहान्तरे मुग्धास्त
धनि । वर्तत इति शेष । इत्यताम् । अनोकह—कुटः शाक पलाशी द्रव्यमागमा
इत्यमरा ॥ ७० ॥

सर्पं और तरह से आहुत समुद्र की तरह उन्नत किरातनीनायाक वृत्त क मध्य में
तीर्थय प्राप्त सन्पत्तना के क्षण अवस्थित है । जिस तरह समुद्र अपनी मर्पावाकाय
पुल का उन्नयन नहीं करवा उन्नी तरह वह भी अपने वचन के कारण स्के हुए हैं ॥ ७० ॥

अथास्य विज्ञापनमेवाह—

सद्य धनुवहति योऽहिषतिस्ववीय रथेयास्त्रयन्हनिपुरगमकेतुलक्ष्मीम् ।

अस्थानुक्लथ मति मतिमधनेन सख्या मुख सममियास्यसि चिन्तितानि ॥

इति भारविश्रुती महाकाव्ये किराताजुनीय त्रयोदश सर्ग ।

—११०—

सम्यगिति ॥ स्मेवाश्च स्थिरतरः । मियस्विय इत्यादिना ह्यानेक । यत्सू-
पतिः । हनिपुरगमकेतोरी द्रव्यस्य लक्ष्मीं शोभां अयम् । अहिपतिः शेष इव स्ववीय-
स्थूलतरम् । 'स्मूलदूर' इत्यादिना पूर्वगुणवणादिपरलोपी । सह अथा सम्यं यत्

ननु महाभेदसख्यमेव न रोचते किं पुनस्तन्मूला सपदस्तथाह—

आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणा समवन्ति विरमन्ति चापद ।

इत्यनकफलभाजि मा स्म भूर्धिता कथमिजायसगमे ॥ ६९ ॥

आत्मनीनमिति ॥ आत्मने हित आत्मनीनम् । आत्मनिर्वजनभोगोत्तरपदास्तु । उपतिष्ठते संयच्छब्दे । 'उपादेवपूर्वात्संगतिकरणमिदंकरणपक्षिणु इति वक्तव्यादात्मनेपदम् । गुणा विनचाद्य संभवन्ति आपदश्च विरमन्ति । व्याहपरिम्यो रम्' इति परस्मैपदम् । इत्यनकफलभाजि मानाफलोत्पादक आयसगमे साधुसगतौ । अर्धिताऽपेक्षा कथमिव मा स्म भूत् । सर्वदा भवत्येव ॥ ६९ ॥

सबन्तसंपत्ति से अपना कल्याण होता है, विनवादि गुण प्राप्त होते हैं तथा आपत्तियों तगून निर्मूल हो जाती हैं—इस तरह के अनेक फल प्राप्त होते हैं तो फिर रमे प्राप्त करने की चाह किसी की क्यों नहीं होगी ? ॥ ६९ ॥

न चापददूरे पतत इत्याह—

दृश्यतामयमनोकहान्तरे तिमहेतिपूतनाभिरन्वित ।

साहिधीचिरिव सिंघुरुदतो भूपति समप्रसेतुगारित ॥ ७० ॥

दृश्यतामिति ॥ तिमहेतिभिस्तीक्ष्णायुधाभिः । इतिर्भातास्तुर्घातुः इति हेमचन्द्र । पूतनाभिर्षोऽद्विनीभिः । साहिधीपूतना चम् इत्यनरः । अन्वितोभूपतिः । साहय ससर्पां धीष्यो यस्य स तिन्युः समुद्र इत्येदतः । किंतु समयो मर्यादा सेतु रिव स समयसेतुस्तेन वारितः सन् । इस्तेन निदिशन्नाह—अयमनोकहान्तरे भ्रुमान्त धाने । वतत इति शेषः । दृश्यताम् । अनोकह कुटः शालः पलाशी द्रव्यमगमा इत्यनरः ॥ ७० ॥

सर्व और तरह से आलुल समुद्र की तरह उद्यत किरातसैनानायक पृथक मध्य में तापण शाल संपन्नतेना के साथ अवस्थित है । जिस तरह समुद्र अपनी मर्यादारूप पुल का पहावन नहीं करवा वसी तरह वह भी अपने वचन के कारण स्के हुए है ॥ ७० ॥

अथास्य विज्ञापनमेवाह—

सन्ध घनुर्वहति योऽहिपतिस्थवीय स्थेयाश्चयन्हरितुरगमकेतुस्तदमीम् ।

अस्यानुकूलय मति मविमन्ननन सख्या सुख समभियास्यसि चिन्तितानि ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किराताजुनीय त्रयोदशः सर्गः ।



सन्धमिति ॥ स्थेयान् स्थिरतरः । त्रिविधतर इत्यादिना स्यादेशः । यश्च भूपतिः । हरितुरगमकेतोर्निद्रपञ्चस्य लक्ष्मीं शोभां जयन् । अहिपतिः श्रेय इव स्थवीय स्थूलतरम् । स्थूलतर इत्यादिना पूर्वगुणयणादिपरलोपी । सह अथा सन्धं घनु

वैहति । हे मतिमन् ! अस्य चमूपते मतिमनुकूल्यानुकूला कुह । सख्य कुर्वित्यर्थ ।
मतिमत्तापः फलमेतदिति भावः । कुतः । सख्याऽनेन चमूपतिना हेतुना सुखमन्वले-
शेन चिन्तितानि मनोरथान् समभियास्पसि प्राप्स्यसि । यस्मन्तिलकावृत्तम् ॥७१॥
इति किरातार्जुनीयकाव्यख्याख्यायां घण्टापयसमाख्याया त्रयोदश सर्ग समाप्तः ।



ये प्राज्ञः । शेषभाग के समान स्थूल अत्यन्त अविचल भावसे प्रवृत्तित जो किरात सेना-
पति इन्द्र के भ्रजा की शोभा को जीविते हुए धनुष वारण किये हुए हैं । उन्हें अपने
अनुकूल कीजिये । इनके साथ मित्रता करनेसे सम्पूर्ण अभिलषित मनोरथों को सिद्ध
कर सकेगे ॥ ७१ ॥

त्रयोदश सर्ग समाप्त



चतुर्दशः सर्गः ।

ततः किरातस्य वचोभिरुद्धतैः पराहता शैल इवार्णवाम्बुभिः ।

जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पाण्डव सुदुर्ग्रहान्तः करणा हि साधवः ॥१॥

तत इति ॥ ततः किरातवाक्यान्तरम् । उद्धतैः प्रणवैः किरातस्य वचोभिः ।

(अर्णवाम्बुभिः शैल इव पराहृतोऽभिहतोऽस्त एव कुपितोऽपि पाण्डवो धैर्यं निर्विकार-
चित्तत्वं न जहौ न तत्याज । उत्पन्नमपि कोपं स्तम्भयामासेत्यर्थः । तथा हि—साधवः
सज्जना सुदुर्ग्रहं सुष्ठु दुरासदमप्रतिकुप्स्यन्तः करणं येषां ते सुदुर्ग्रहान्तः करणा हि ।
अर्थान्तरन्यासः ॥ १ ॥

अनन्तर जलनिधि के जलसे (अग्निहत्) पर्वत की तरह किरात के प्रणव वचनों से
थाहत अर्जुन क्रुद्ध होकर भी धैर्यच्युत नहीं हुए, कारण कि—वैसे सज्जन पुरुषों का हृदय
अटल होता है ॥ १ ॥

सलेशमुल्लिङ्गितशात्रवेङ्गित कृती गिरा विस्तरतत्त्वसग्रहे ।

अथ प्रमाणीकृतकालसाधन प्रशान्तसरम्भ इवाददे वच ॥ २ ॥

सलेशमिति ॥ सह श्लेशे सलेश सकल यथा तथा, उल्लिङ्गितसुदुर्भूतलिङ्ग कृतम् ।

लिङ्गैस्तद्वाक्यभङ्गिभिरेव सम्यगवगतमित्यर्थः । शत्रुरेव शात्रवः । स्वार्थेऽणप्रत्ययः ।
तस्य इङ्गितमभिप्रायस्तदुल्लिङ्गितत्वेन सः । गिरा वाचा सबन्धिनि विस्तरे तत्त्व-
सग्रहेऽर्थसंश्लेषे । वैभाषिको द्वन्द्वैकवद्भावः । कृती तुल्यः प्रमाणीकृत प्रधानीकृत काल
एव साधनत्वेन सः । अथसरोचित विद्वद्भित्यर्थः । अथ पाण्डव प्रशान्तसरम्भ
शोभरहित इव वच आददे । उवाचेत्यर्थः ॥ २ ॥

बाकी विस्तार के तब ही सडेपपूर्वक सग्रह करने में निपुण अजुन किरात के बचनों से शूद्र के भविष्य को पूछनाय समक कर तथा समयरूपघाचन को प्रधान मानक (अर्थात् अवतर पात्र) कृष्ण करने के एक ही तैदुष होकरहित की तरह बचन बोले — (अर्थात् उनके हृदय में क्रोध ही मात्रा तो ही परन्तु उसे व्यक्त न करके ही बोले) ॥ २ ॥

सान्त्वपूर्वकमेवाह—

विरिक्वर्णाभरणा सुखश्रुति प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विपाम् ।

प्रवर्तते नाकृतपुण्यकमगा प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥ ३ ॥

विविक्तेति ॥ विविक्ता सयोगादिना अरिच्छा स्फुटोच्चारिता वर्णा अक्षराण्येष आभरणानि यस्या सा । अन्यत्र तु—विविक्तानि शुद्धानि वर्णा रूपमाभरणानि च यस्या सा । वर्णा द्विजादौ शुक्लादौ स्याती वर्णं तु चापरे इत्युभयत्राप्यमरः । सुखा श्रुति अथवा यस्या सा सुखश्रुति । आख्येत्यथ । अन्यत्र—अभूत इति श्रुतिर्वाक । सा सुखा यस्या सा । मञ्जुभाषिणीत्यर्थ । द्विपामपि हृदयानि प्रसादयन्ती । किं पुनः सुहृदामिति भावः । प्रसन्नानि वाचकानि गम्भीराणि अथगुरुणि च पदानि सुसिद्धन्तरूपाणि यस्या सा । अन्यत्र तु—असन्ना विमला गम्भीरपदाऽऽसचरणा सरस्वती वाक् क्षीराल च । तथा चोक्तम्—सरस्वती सरिद्रेदे गोवाग्दे घतयोरपि । क्षीराले च इति । न कृत पुण्यकम येस्तेषां न प्रवर्तते न प्रसरति । किं तु सुकृतिनामेवेत्यर्थ । भवद्वाणी चैवविधेसि चन्यो भवानिति भावः । अत्र काचिन्नायिका वाग्देवता च प्रतीयते । तत्रादौ समासोक्तिरलकारः । विशेषणमात्रसाम्येना प्रस्तुतप्रतीतेः । अत एव न श्लेषः ॥ ३ ॥

सुट (उच्चरित) वर्ण ही जिसके आभूषण हो जो कणकड न हो अर्थात् श्रीभ्रानन्द जनक हो वो शूद्रों के मनको भी प्रसन्न बना देती हो और जिसके छुतिवन्तरूप पद धर्म गौरव शाली हो पैसे वागो का विनास विना सुकृत के नहीं होता ॥ ३ ॥

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चिता मनोगतं वाचि निवेशयन्ति यः ।

नयन्ति तेष्वप्युपपन्नैपुणा गम्भीरमथ कतिचित्प्रकाशताम् ॥ ४ ॥

भवन्तीति ॥ ते पुरुषा विपश्चिता विदुषाम् । विद्वान्विपश्चिदोषण इत्यमरः । मध्ये सभ्यतमा समार्या साधुतमा निपुणतमाः । साधु समर्थो निपुणश्च इति काशिकाशाम् । अर्थात् । ये मनोगत मनसा गृहीतं अर्थं वाचि निवेशयन्ति । वाचोद्गिरन्तीत्यर्थः । तेषु बहुवच्युपपन्नैपुणा समावितकौशला कतिचित्देव गम्भीरं निगूढमर्थं प्रकाशतां स्फुटतां ययन्ति । छोके तावज्ज्ञातार एव दुर्लभा तत्रापि वक्तारः, तत्रापि निगूढाथप्रकाशका । एवमि सन्नमस्तीति श्रुति । वनेचरवाक्यरहस्य ज्ञातमिति स्वयमपि ताच्छ एवेति हृदयम् ॥ ४ ॥

वे दूरव विद्वानों के बीच निपुणता में सनसोध कहे जाते हैं जो वचनगत भाव को

वाणी में स्थापित करते हैं (अर्थात् वाणी से व्यक्त करते हैं) उनमें भी जो अत्यन्त कुशलतासे निगूढार्थ को व्यक्त कर देते हैं । तात्पर्य यह कि एक तो जानने वाले दुर्लभ हैं फिर सब कुछ जानते हुए उसके अज्ञा दुर्लभ हैं । उनमें भी गम्भीर अर्थ के बोध कराने वाले तो अत्यन्त दुर्लभ हैं । परन्तु तुम में ये सब गुण वर्तमान हैं ॥ ५ ॥

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसपद विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चित ।

इति स्थिताया प्रतिपूरुष रूचौ सुदुर्लभा सर्वमनोरमा गिर ॥ ५ ॥

स्तुवन्तीति ॥ किं च, केचिद्गुर्वी महतीमभिधेयसपदमर्थसंपत्तिं स्तुवन्ति । अपरे विपश्चित उक्ते शब्दस्य विशुद्धिं सामर्थ्यं स्तुवन्ति । इति प्रतिपूरुष रूचौ प्रीती स्थिताया व्यवस्थिताया सर्वमनोरमा सर्वेषां शब्दार्थरूचीना पुसा मनोरमा गिर-सुदुर्लभा । खञ्जिरस्तु सर्वमनोरमा उक्तसर्वगुणसपत्त्येति भावः ॥ ५ ॥

कुछ लोग वाणी की वाच्यार्थ सम्पत्ति की प्रशंसा करते हैं, और कुछ लोग शब्द सामर्थ्य की ही प्रशंसा करते हैं इन तरह के भिन्न भिन्न विचार के लोग होते हैं फिर इस प्रकार की वाणी दुर्लभ है जो सर्वप्रिय हो । परन्तु तुम्हारी वाणी तो सबगुण सम्पन्न होने से सर्वप्रिय है ॥ ५ ॥

समस्य सपादयता गुणैरिमा त्वया समारोपितभार भारतीम् ।

प्रगल्भमात्मा धुरि धुर्यं वाग्मिना घनेचरेणापि सताधिरोपित ॥ ६ ॥

समस्येति ॥ धुर वहतीति धुर्यस्तत्सबोधने हे धुर्य ! हे कार्यनिर्वाहक ! 'धुरो यद्दृक्कौ' इति अत्रत्यय । अत एव समारोपितभार हे स्वामिना निहितसध्यादिकार्य-भार । तदाह मनु — 'दूते सधिधिपर्ययौ' इति । इमा 'शान्तताविनययोगीश्यादिकां भारतां वाच गुणैर्विभक्तवर्णत्वादिभिः समस्य सयोज्य प्रगल्भ निर्भोक यथा तथा सपादयता रचयता । व्याहरतेत्यर्थ । त्वया घनेचरेणापीत्यर्थ । सता 'अपि'शब्दो विरोधचोतनार्थम् । आत्मा स्वयं वाग्मिना वाचोयुक्तिपटुनाम् । 'वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी' इत्यमरः । 'वाचो मिमनि' इति मत्वर्थो मिमनिप्रत्ययः । धुरि अग्नेऽधिरोपित । स्थापित इत्यर्थः । 'रुह पोऽन्यतरस्याम्' इति पकारः । अत्र मनु — 'घपुष्मान्चोत-भीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशास्यते' इति ॥ ६ ॥

ये कार्यनिर्वाहक । तथा स्वामी के द्वारा सध्यादिक कार्य के लिये नियुक्त, 'शान्तताविनययोगि' इस पूर्वोक्त वाणी को स्पष्टाक्षरत्वादिक गुणों से युक्त कर निर्भोक होकर बोलने वाले तुमने किरात होते हुए भी व्याख्यानपद्धतियों के समस्त अपनी आत्मा को रखा है अर्थात् तुम वाग्मियों में सबसे बड़कर हो ॥ ६ ॥

वाग्मिनामेवाह—

प्रयुज्य सामाचरित विलोभन भय विभेदाय धिय प्रदर्शितम् ।

तथाभियुक्त च शिलीमुखार्थिना यथेतरन्न्याय्यमिवावभासते ॥ ७ ॥

प्रयुज्यति ॥ शान्तताविनययोगी त्यादिना साम साम्यम् । सामस्तान्त्वमुभे समे हृत्पमर । प्रयुज्य नियुज्य विलोमनप्रलोभन मित्रमिष्टम् इत्यादिनाऽऽचरित सपादितम् । तथा धियो बुद्धेर्विभेदाय न्यामोहनार्थम् 'शक्तिरथपतिषु इत्यादिना भयं प्रदर्शितम् । किंच शिखीमुखार्थिना । न तु न्यायार्थिनेति भाव । त्वयेति शेष । 'नामियोक्तुम् (१३।५८) इत्यादिना तथाऽभिबुक्तं कथित पद्येतरत् न्यायावम्यत् । अम्याम्यमित्यर्थः । न्याय्य न्यायादनपेतमिवावभासत इत्युपमा । अनेन वामिम नामग्रेसरोऽसीति भावः ॥ ७ ॥

'शान्तताविनययोगि' इससे तुमने साम नोपि वा प्रयोग करके मित्रमिष्ट इसलिये प्रलोभन (लालच) दिखलाना है । बुद्धि की भ्रम में डालने के लिये तुमने 'शक्तिरथ पतिषु' इससे भय प्रदर्शित किया है । बाण प्राप्त करने की इच्छा से तुमने इस प्रकार की भाषी का प्रयोग किया है जो संरासर अन्यायपूर्ण होते हुए भी न्यायसंगत सा मान्य पट्टा है ॥ ७ ॥

सत् किमस्य भावः—

विरोधि सिद्धेरिति कर्तुमुद्यतः स पारित किं भयता न भूपतिः ।

हिते नियोज्य खलु भूतिमिच्छता सहायनाशेन नृपोऽनुनीविना ॥८॥

विरोधीति ॥ किंतु सिद्धे फलस्य विरोधि विधातकमिति ब्रह्मसमदास्करन्दनरूप कम कर्तुमुद्यतः स भूपतिनहीपतिभवता । धुर्वेति भावः । किं न वारितो न निवृत्तः । निवारणे हेतुमाह—भूतिमिच्छता इहामुत्र च श्रेयोर्विना सहचरितावर्षनाशौ स्वार्थानर्थौ यस्य तेन सहार्थनाशेन । समानमुखबुद्धेनेत्यर्थः । अनुनीविना मृत्युन नृप स्वामी हिते निवो-यो नियम्यः खलु । अम्यथा स्वामिद्रोहपातकी श्रेयसो अस्त्यस्येति भावः ॥ ८ ॥

सिद्धि में निष्कारक कार्य करने के लिये तत्पर अपने स्वामी को तुमने क्यों नहीं मना किया । दुष्ट-दुष्टभागी अनुवर (दास) का कर्तव्य है कि स्वामी के हित वा कामनासे उसे भले कार्य में नियुक्त करे ॥ ८ ॥

तर्हि नो बाणः क गतः किमस्य वा न्याय्यम् तत्राह—

ध्रुव प्रणाराः प्रहितस्य पत्रिण शिलोक्षये तस्य विमार्गेण नयः ।

न युक्तमत्रार्य-ननातिलह्वन दिशत्यपाव हि सतामतिक्रमः ॥ ९ ॥

ध्रुवमिति ॥ प्रहितस्य प्रयुक्तस्य पत्रिणः शरस्य प्रणाशोऽदृशानं ध्रुव निश्चितम् । प्रहितश्रेयसि भावः । तस्य नष्टस्य पत्रिणः शिलोक्षये शैले । 'अद्रिगोत्रगिरिपावाचल-शैलशिलोक्षया हृत्पमरः । विमार्गेणमन्वेष्ट्य नयो न्यायः । अन्वेष्ट्य विचयनं मार्गेण घृणया घृण हृत्पमरः । अत्र विषये आयजनातिलह्वनं सजातभ्यतिक्रमो न युक्तम् । हि यत्माकारणात् सतामतिक्रमोऽप्याथममर्थं दिशति ददाति ॥ ९ ॥

फेला गया बाण का अन्तर्हित होना कोई अमम्भव बात नहीं। न्याय तो यह है कि हम पर्वत पर उसके अन्वेषण करने में सुजनता का व्यतिक्रम उचित नहीं। क्योंकि सुजनता का लयन करना अमर्षकारी होता है ॥ ९ ॥

यदुक्तम् 'हर्तुमर्हसि' (१३।४१) इति, तत्रोत्तरमाह—

अतीतसख्या विहिता ममाग्निना शिलीमुखा खाण्डवमसुमिच्छता ।

अनादृतस्यामरसायकेष्वपि स्थिता कथ शैलजनाशुगे धृतिः ॥ १० ॥

अतीतेति ॥ खाण्डवमिन्द्रवचनम् अस्तु भवयितुम्, इच्छताऽग्निना ममातीतसख्याः-शिलीमुखा द्वारा विहिता दत्ता । खाण्डवदाहेऽस्ययत्नगीरदानमुक्त भारते । अतोऽमरसायकेष्वपि अनादृतस्यादररहितस्य । भावे क । ततो नञा बहुव्रीहि । मम कथ शैलजनाशुगे किरातघाणे धृतिरास्था स्थिता । न कथचिदित्यर्थ । अतो नापहारसाद्वा कार्येत्यर्थ ॥ १० ॥

खाण्डव (इन्द्र का वन) वन को निगल जाने के अमिलापी अग्नि देव ने मुझे अमस्य शर प्रदान किये हैं । देवताओं के बाणों की भी मुझे कोई आवश्यकता नहीं फिर तुम्हीं वतलाओ कि एक कोलमिल के बाण ले लेने के लिये मेरा विचार कम हो सकता है । तुमने जो 'हर्तुमर्हसि' यह कहा, वह सर्वथा अनुचित कहा ॥ १० ॥

यदुक्तम् 'स्मर्यते तनुष्टताम्' (१३।४२) इत्यादिना सदाचार प्रमाणमिति, तत्रोत्तरमाह—

यदि प्रमाणीकृतमार्यचेष्टित किमित्यदोषेण तिरस्कृता वयम् ।

अयातपूर्वा परिवादगोचर सता हि वाणी गुणमेव भापते ॥ ११ ॥

यदीति ॥ आर्यचेष्टित सचरित प्रमाणीकृत यदि । साधुत्वेनाङ्गीकृत यदीत्यर्थ । तर्हि, अदोषेण दोषाभावेऽपि । 'कच्चित्सज्यप्रतिषेधेऽपि नन्वसमास' इति भाष्यकार । उपलक्षणे वृत्तीया । वय किमिति तिरस्कृता । न युक्तमित्यर्थ । हि यस्मात्, परिवादगोचर परनिन्दास्पदम् । अयातपूर्वा सता वाणी गुणमेव भापते न दोषम् । अतस्ते सृषादोषभाषिणो न सदाचारप्रामाण्यसुद्धिरिति भाव । पूर्व न यातेत्ययातपूर्वा । सुप्सुपेति समास । परत्वात्सर्वनाम्नो निष्ठाया पूर्वनिपात । 'स्त्रिया पुवच्-' इत्यादिना पुवञ्जाव पूर्वलिङ्गता च । अर्थान्तरन्यास ॥ ११ ॥

यदि सज्जनाचरण को प्रमाण मानते हो तो फिर अवगुण के न होते हुए भी मेरी इस प्रकार की अवहेलना तुमने क्यों की ? क्योंकि जो सज्जन-वाणी किसी व्यक्ति की सुगुप्ता करने के लिये कभी प्रवृत्त नहीं हुई वह गुण का ही अभिभाषण करती है (अवगुण का नाम नहीं लेती) ॥ ११ ॥

नन्वप्रत्यक्षा परसुद्धि कथ वुष्टेति निश्चीयते, तत्राह—

गुणापवादेन तदन्यरोपणाद्भृशाधिरुदस्य समस्रस्त जन्तम् ।

द्विषेव कृत्वा हृदय निगूहत् स्फुरन्नसाधोर्विबृणोति वागसि ॥ १२ ॥

घनुष के भारण करने वाले ध्वजिपर उन्होंने दया की है यह किस तरह जाना जा सकता है ? तात्पर्य यह कि—असमर्थ पर दया की जाती है पर जो स्वयं आत्मरक्षा में समर्थ है उसपर दया कैसी ? ॥ १६ ॥

अथ कृपामभ्युपगम्याह—

अथो शरस्तेन मदर्थमुन्मिक्त फल च तस्य प्रतिकायसाधनम् ।

अविचिन्ते तत्र मयात्मसात्कृते कृतायता नत्रधिका चमूपते ॥ १७ ॥

अथो इति ॥ अथो प्ररने । मङ्गलानन्तरारम्भप्रकारास्त्वेव्यथो अथ इत्यमर । तेन नृपेण मदर्थं यथा तथा । अर्थेन सह निष्पत्तमास । शर उन्मिक्तस्त्वक्त । तस्य उन्मिक्तस्य फलं च प्रतिकायस्य प्रतिपद्यस्य साधनं यथ । साधनं निर्धृती मेढे सैव्ये सिद्धौ यथे गतौ इति निरव । अविचिन्तेऽन्नविचिन्ते तत्र तस्मिन्फले मयात्मसात्कृते स्वाधीनीकृते सति । तदधीनवचने इति सातिप्रत्ययः । चमूपतेरधिका कृतार्थता साफल्यं ननु क्लृप्त । स्वायुषस्य पराग्राहानुबन्धपात्रप्रतिपादनायैकहेलया सिद्धिरित्यर्थः । तथाप्यप्य शरलोभ इति कृपालुतायाः सुखान्धपि निहन्ततीति भावः ॥ १७ ॥

अच्छा मैं मानलिया कि किरातनाथ ने मुझपर दया दिखलायी किन्तु—

उन्होंने यदि मेरा उपकार करने के लिये शर प्रक्षेप किया है तो उसका फल जो यह है कि (मेरे) शत्रु का नाश हो—इस प्रकार की फल सिद्धि पूर्वकया सम्प्राप्ति होने पर यदि वाण मुझे प्राप्त हो जाता है तो इसमें किरातनाथ की और अधिक सफलता प्राप्त हो जाती है ॥ १७ ॥

मागैरथ तत्र प्रयोजनम् (१६।५९) इत्यादिना यदुक्तं तद्विराच्यते—

यदाथ काम भवता स याच्यतामिति क्षम नैतदनल्पचेतसाम् ।

कथं प्रसन्नाहरणैपिणा प्रिया परावनत्या मलिनीकृता भिया ॥ १८ ॥

यदिति ॥ स नृप काम भवता याच्यतामिति यदाथ । मामिति शेषः । परावन दल्पचेततां मनस्विना न क्षमं न युक्तम् । कुत । प्रसन्नं बलात् आहरणैपिणामाहतुं निन्दुनाम् । उन्मिषस्य विभितम् इति स्मरणादिति भावः । परावनत्या याच्नादैश्वर्येण मलिनीकृता भिया कथं प्रिया । न कथं विदित्यर्थः ॥ १८ ॥

जो तुमने कहा कि—'वाण को भावस्थता हो तो माँग कायिने' यह मनस्विनों को शीमा नहीं देता । बलात्कार किसी वस्तु के प्रकष्य करने के अनिमित्तियों को किसी की प्रार्थना करके अपनी श्री को दूषित करना मला कन अच्छा लगेगा ॥ १८ ॥

अथ परैद्रितमुदात्तं अयं वक्षपति—

अभूत्तमासज्य पिरुद्धमीहित यत्तादलभ्य तव लिप्सते नृप ।

विज्ञानतोऽपि ह्यनयस्य रीत्रता भवत्यपाये परिमोहिनी मति ॥ १९ ॥

अमृतमिति ॥ तत्र नृपोऽमृतममृतम्, आसज्य । मिथ्याभितुज्येत्यर्थः । 'युक्ते चमादावृते भूतम्' इत्यमरः । अलभ्य लब्धुमशक्य विरुद्ध विपरीतफलकम्, ईदित मनोरथ वरुणाङ्घ्रिपुत्रे लब्धुमिच्छति । न चैतद्विभ्रमित्याह—इह यस्मात्, अनयस्य नुर्नयस्य रौद्रता भयकरत्वं विजानतोऽपि पुरुषस्य मतिर्बुद्धिः । अपाये विनाशकाले परिमोहिनी भवति । परिमुञ्चतीति परिमोहिनी । सपृषादिसूत्रेण साच्छीक्ष्ये धितुष्प्रत्ययः । तथा षोक्तम्—'विनिर्मित केन न दृष्टपूर्वो हेतुः कुर्वतो न च कुत्र वार्ता । तथापि मृष्या रघुनन्दनस्य विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥' इति । तस्माद्विनाशकाले विपरीतबुद्धिर्भवतीति भावः ॥ १९ ॥

गुम्हारे राज्ञा असत्यका प्रयोग कर बलात्कार अत्यन्त विपरीत फलोत्पादक मनोरथ की सिद्धि की कामना करते हैं । दुर्निति की भोगता से परिचित पुरुष की भी बुद्धि विनाशकाल में व्यामोहोत्पादिका होती है । (इसकी पुष्टि में किसी कविका कथन है— किसी ने श्राव तक सुपर्णका शरिण न तो निर्माण किया और न श्राव तक वही सुचने में आया तथा इसके पहले किमीदि देखा भी नहीं वहाँ तक कि उसकी चर्चा मात्र भी न थी यह सब कुञ्ज होते हुए भी रामचन्द्रजी की उसे प्राप्त करने की तुष्णा आ दबोची, कारण इसका यही हो सकता है कि विनाशकाल में बुद्धि विपरीत हो जाती है ॥ १९ ॥

अथ सर्वथा लभ्यते शरस्तर्हि किमनेन, सुष्टु विश्रब्ध वाच्यता शरोऽन्यहेतुवाह—
असि शरा वर्म धनुश्च नोचकैर्विचिच्य किं प्रार्थितमीश्वरेण ते ।

अथास्ति शक्ति कृतमेव याच्यथा न दूषित शक्तिमता स्वयग्रहः ॥२०॥

असिरिति ॥ असि अज्ञ शरा वर्म कवचम्, उचकैरुत्कृष्ट धनुश्च धनुर्वा ते तत्र ईश्वरेण स्वामिना विचिच्य एकैकतो विभज्य किं न प्रार्थितं न याचितम् । येन प्रयोजनं तद्वास्यामीति भावः । नपुसकैकशेषः । अथास्य धीराभिमानिनो नृपस्य शक्तिरस्ति । चेदिति शेषः । याच्यथा कृतमेवालमेव । साध्याभावात् याचितव्यमेवेत्यर्थः ॥ गम्यमानक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीयैत्युक्तं प्राक् । 'कृतम्' इति निषेधार्थमव्ययम् । अत्र शक्तिमता स्वयग्रहो बलाद्ग्रहणं न दूषितः । किंतु भूषणमेव धीराणामिति भावः ॥ २० ॥

अज्ञ, शर, कवच, अथवा सर्वोत्तम धनुष इतमेंमें कोई एक वस्तु तुम्हारे स्वामी अच्छा समझ कर क्यों नहीं माँग लेते ? (मैं सशर्पं देने के लिये प्रस्तुत हूँ) अथवा यदि उनके पास पुरुषार्थ हो तो फिर याज्ञा से क्या प्रयोजन ? बलप्रयोग से ही लेते क्योंकि शक्तिशालियों की वस्तु बलात्कार अपहरण करने में कोई दोष नहीं ॥ २० ॥

'रावकवचपरान्वोरिव' (१३।५७) इत्यादिनोपदिष्ट सख्य प्रत्याचष्टे—

सखा स युक्त कथित कथं त्वया बहच्छ्रयाऽसूयति यस्तपस्यते ।

गुणार्जुनोच्छ्वायविरुद्धवृद्धय प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ॥ २१ ॥

सखेति ॥ स नृप कथ स्वया सुवतो योग्य सखा कथित । न कथयित्कथनीय इत्यथ । कुत । यो नृप तपस्यते तपश्चरते । अनपराधिन इत्यर्थ । 'क्रुधद्रुह इत्या दिना सप्रदानत्वाच्चतुर्थी । यदच्छया स्वैरवृत्त्या । 'यदच्छा स्वैरिता इत्यमर । असू- यति असूयां करोति । 'असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि इत्यमर । प्रत्युत शत्रुरेषाथ मित्याह—हि यस्मात् गुणानामर्जने य उच्छ्राय उत्कर्षस्तस्य विरुद्धा विमुखा बुद्धि र्येषां ते तथा असाधवो दुष्टा' सर्तां सज्जनानां प्रकृत्यभिन्ना' प्रकृत्वा क्षत्रय' । द्विष्टिष पञ्चाहितामिभ्रदस्युषात्रयशात्रय' इत्यमर ॥ २१ ॥

तुमने जो कहा— वे किराताराज आप के लिये उपयुक्त मित्र है ? मित्र सरह रामचन्द्र के लिये सुग्रीव उपयुक्त मित्र थे यह भी ठीक नहीं ? क्योंकि जो तपस्वी पर मनमाना दोषारोप करता है वह सुत सजा कैसे हो सकता है ? क्योंकि असज्जनों की बुद्धि सबमा गुणों के अवन का उल्लेख के विरुद्ध होती है । अतः वे स्वभाव से ही स्वप्नों के शत्रु होते हैं ॥ १ ॥

हीनजातिवृत्तिस्वात् सख्यामह' स इत्याह—

घय क वर्णाभ्रमरक्षणीचिता क जातिहीना मृगजीवितच्छिद ।

सहापकृष्टैमहता न सगत भयन्ति गोमायुसखा न दन्तिन' ॥ २२ ॥

वयमिति ॥ वर्णाभ्रमरक्षणीचिता विशुद्धवृत्तवो घय राजान क । जातिहीना मृगजीवितच्छिदो हिंसाशीविनो ध्याया' क । फलितमाह—अपकृष्टैरुत्तरीत्या जाल्या वृष्या भोक्तृष्टानां सगत सख्य न । अदत इति शेष । तथा हि—दृष्टिनो गजा गोमा युनां शृगालानां सखायो गोमायुसखा न भयन्ति । खयां शिवा भूरिमायगोमायु- मृगधूतका । शृगालवञ्चकक्रोष्टुकेरुकेरवजम्बुका ॥ इत्यमर । अत्र विशेषेण सामान्य समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ २२ ॥

तु हार स्वामी हम लोगों के युक्त सखा कदापि नहीं हो सकते इसका कारण यह भी है कि—

वर्णाभ्रमरक्षणीचिता करने में योग्य नहीं । और निरुद्ध जाति के जीवों की हिंसा में तपस्व तु हार स्वामी नहीं । नीचों के साथ उच्च व्यक्तियों का मित्रता नहीं होती क्योंकि हाथी शृगालों के साथ मैत्री नहीं करते ॥ २२ ॥

नीचसख्य कथमधिष्ठिष्यत इति चेन्नब्राह्—

परोऽवजानाति यदक्षताजहस्तदुन्नताना न विहन्ति धीरताम् ।

समानवीर्यान्वयपीरुपेयु य' करोत्यतिभ्रान्तिमसौ तिरङ्गिया ॥ २३ ॥

पर इति ॥ अज्ञताजहो मोहा'य परोऽवजानाति यत्तत् अवज्ञानम् उन्नतानां महतां धीरतां निर्विकाराचसत्त्व न विहन्ति । न विकारं जनयतीत्यथ । क्रोद्धेव सिंह इत्यति भाव । किंतु समानानि दुर्लभानि वीर्यान्वयपीरुपानि शक्तिवृत्तविविमा येषां

तेषु मध्ये । निर्धारणे सक्षमी । यः कश्चिदित्यर्थः । अतिक्रान्तिमतिक्रमं करोति चेत् ,
असौ सदभजनातिक्रमस्तिरस्क्रिया तिरस्कारः । यथा सिंहे सिंहस्येति भावः ॥ २३ ॥

यदि अशानोपहृतं शब्दं तिरस्कारं करता है तो उससे महान् व्यक्तियों के वैयर्थ्य में न्यूनता
नहीं होती । जो पुरुष बल, वश, और सामर्थ्य में समान है वह यदि अतिक्रमण करे
तो तिरस्कार की बात होगी ॥ २३ ॥

तर्हि नीचे कीरुषी वृत्तिरित्याशङ्क्य सोपपत्तिकमाह—

यदा विगृह्णाति हतं तदा यशः करोति मैत्रीमथ दूषिता गुणाः ।

स्थितिः समीक्ष्योभयथा परीक्षकं करोत्यवज्ञोपहृतं पृथग्जनम् ॥ २४ ॥

यदेति ॥ यदा विगृह्णाति विरुद्धं । पृथग्जनेनेति शेषः । तदा यशो हतं
नास्ति भवेत् । अथ मैत्रीं करोति तदा गुणा दूषिताः । भवेद्युक्तिरिति शेषः । इति उभ-
यथा स्थितिः समीक्ष्य प्रत्यक्षं विस्तर्य, परीक्षको विवेचकं पृथग्जनं नीचजनम्, अव-
ज्ञयाऽनादरेण उपहृतं तिरस्कृतं करोति । उपेक्षत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

नीच व्यक्ति से विग्रह करने से वश का हास होता है अथवा यदि उनके साथ मित्रता
किया जाय तो गुण कर्णक्षित होते हैं । अतः दोनों तरफ की वस्तुस्थिति को विचार कर
परीक्षक को उसकी तिरस्कार करनी चाहिये ॥ २४ ॥

उपसहरन्नाह—

मया मृगान्दन्तुरनेन हेतुना विरुद्धमाक्षेपवचस्तिरिच्यतम् ।

शरार्थमेध्यत्यथ लप्स्यते गतिं शिरोमणिं दृष्टिविषाज्जिघृक्षतः ॥ २५ ॥

मयेति ॥ अनेन हेतुना सधिविग्रहानर्हत्वेन कारणेन मया मृगान्दन्तुर्व्याघस्य सव-
न्धिः । हन्तेस्तन्प्रत्ययः । अत एव 'न लोके-इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । विरुद्धमतिपरु-
षम्, आक्षेपवचस्तिरस्कारवचनं तिरिच्यतं सोढम् । ननु सख्यानङ्गीकारे बलाच्छुर
ग्रहीष्यतीत्याशङ्क्याह—शरेति । अथ शरार्थमेष्यति इष्टीं विषयस्य तस्मात्
दृष्टिविषात् सर्षविक्षेपात् शिरोमणिं जिघृक्षतो ग्रहीतुमिच्छतो गतिं दशा लप्स्यते
प्राप्स्यति ॥ २५ ॥

यही कारण है—मैंने वन्यपशुविधाती के विपरीत अधिचेप वचन को सदा । यदि
चाह लेने के लिये आयेगे तो वही दशा को प्राप्त होंगे जिस दशा को सर्व के नमि लेने
की इच्छा करने वाला प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

इतीरिताकृतमनीलवाजिनं जयाय दूतं प्रतिवर्ज्यं तेजसा ।

ययौ समीपं ध्वजिनीमुपेयुषः प्रसन्नरूपस्य विरूपवच्छुषः ॥ २६ ॥

इतीति ॥ इतीत्यम्, ईरिताकृतमुक्ताभिप्रायम्, धनीलवाजिनं रवेताश्वमर्जुनं
दूतो जयाय तेजसा प्रसायेन अतिवर्ज्यं । अस्मान्निवत्वा क्व गमिष्यसीति भीषवित्त्वे-

व्ययः । ध्वजिनीसुपेसुष-सेनासंगतस्य प्रसन्नरूपस्य । अञ्जनं प्रतीति शेष । विरूपच-
क्षुषान्यम्बकस्य समीपं ययौ ॥ २१ ॥

यह किरातापिराव का दूत अञ्जन के वनतामिभाग को समझ कर घोर उन्हें अयोपरान्त
भी तेज और प्रदान से धरित कर सेना के साथ चले हुये त्रिलोचन भगवान् चकर
(व्याप) के, जो अञ्जन के प्रति प्रसन्नतामक स्वरूप कारण कर रहे थे समीप गया ॥२१॥

ततोऽपवादनं पताकिनीपतेश्चाल निर्द्वादवती महाचमू ।

युगान्तवाताभिहृतेषु कुवती निनादमग्भोनिधिधीचिसहति ॥ २७ ॥

तत इति ॥ तत पताकिनीपतेः सेनापतेः अपवादेनादेशेन । अपवादोऽप्ययादेश
इति सञ्जन । निर्द्वादवती च-वती महाचमू-सेना युगान्तवातैरभिहृता आन्दोलिता
अथ एव निनाद कुवती अग्भोनिधिधीचिसंहतिर्णयोर्मिसमूह इव चचाल ॥ २७ ॥

इसके अनन्तर सेनापति के आदेश से किरातराव की विशाल सेना गम्भीर घोष
करती हुई प्रलयकण्ठ के मन्त्रावाह से प्रेरित होकर जलनिधि के लहरों के समूह की तरह
दोड़ी ॥ २७ ॥

रणाय जैत्रं प्रदिराक्षिब त्वरा तरङ्गितालम्बितकेतुसतति ।

पुरो बलाना सघनाम्बुशीकर शनैः प्रतस्ये सुरभिः समीरणं ॥ २८ ॥

रणयेति ॥ जैत्रैव जैत्रो जयनशीलः । अतुकूल इत्यर्थः । जयतेस्त्वन्ताप्रज्ञादि
स्वात्सार्थेऽप्यत्ययः । तरङ्गित सजाततरङ्ग यथा तथा आलम्बिता अवस्थिता केतुसं
ततयो येन स-सह धनैः सा प्रैरम्बुशीकरैः सघनाम्बुशीकरैः सुरभिः सुगन्धः समी
रणो वायु रणाय त्वरा प्रदिराक्षिब त्वरयक्षिब बलाना सैन्यानां पुरोऽग्रे शनैः प्रतस्ये
प्रस्थितः । यथावित्यर्थः ॥ २८ ॥

(उच लण) जयनशील (अनुकूल) सुगन्धित पवन प्रभृत् जलकण के साथ लहरूपी
पनावाओं को लेकर समान के लिये लीजता है । आदेश करते हुये की मांति उस किरातचमू
के आगे धीरे २ चरा ॥ २८ ॥

जयारथद्वेडितनादमूर्च्छित शरासनन्यातलवारणधनिः ।

आसमवन्मधरराजकुक्षिपु प्रकम्पयन्नामवतस्तरे दिशः ॥ २९ ॥

जयेति ॥ जयारथैवन्दिना जयनवतिशब्दैः श्वेदितनादैः सिंहनादैश्च मूर्च्छितो
धर्षिता शरासनन्यानां अनुपुणानां लज्जारणानां उधाघातवारणानां च धनिर्नृधररा-
जकुक्षिपु विरिगुहासु असंभवन् अमान् । अवकाशमलममान इत्यर्थः । अत एव नां
भुव प्रकम्पयन् । एतेन बलानां बाहुज्यमुक्तम् । दिशोऽवतस्तरे ध्यानसे । अतश्च
संयोतादेगुज- । अत्र मूर्च्छा-पनापस्य विशेषगणत्याऽसंभवनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम्
रूपकं तु गिरिकुक्षिरूपापेक्षया चनेतापेक्षयाधिशोकेरधिकालकारश्च । तेभ्यश्चेयम्

सम्बन्धित्वि व्यञ्जकं चिनोत्याप्यमानोपात्तसूक्ष्माण्यनिमित्ता प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा ।
सैरङ्गाङ्गिभावेन सकीर्यत इति सकर ॥ २९ ॥

बन्दीनर्तो के जय जय कार के सिन्दार से बद्ध होकर प्रत्यक्षा को वन्दार तथा बाल
की छट्छटाहट गिरिराज (हिमालय) की कन्दराओं में न समाकर पृथ्वी को कल्पित करती
हुई वक्षो दिशाओं में गूँज गयी ॥ २९ ॥

निशातरौद्रेषु विकासता गतै प्रदीपयद्भिः ककुभामिवान्तरम् ।

वनेसदा हेतिषु भिन्नविप्रहैर्विपुस्फुरे रश्मिमतो मरीचिभि ॥ ३० ॥

निशातेति ॥ निशातास्वीच्या अत एव रौद्रा भीषणाश्च ये तेषु निशातरौद्रेषु ।
विशेष्यविशेषणयोस्त्वतरविशेष्यत्वविशेष्यत्वाया इष्टत्वाङ्गिशेषणसमास । वने सीङ्गन्तीति
वनेसदा वनेचराणाम् । 'सस्फुरिषु- इत्यादिना क्तिप् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्य
शुक् । हेतिषु आयुषेषु । 'हेति शस्त्रेऽपि पुंस्त्रियो' इति केशव । भिन्नविप्रहै सका-
न्तमूर्तिभिरत एव विकासता विषुत्वरता गतैरत एव ककुभा दिशाम्, अन्तरभवकाशं
प्रदीपयद्भि प्रज्वालयद्भिरेव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । रश्मिमत सूर्यस्य । 'मातुपघायाश्च
मत्तोर्वोऽयवादिभ्य' इति मत्तुपो मकारस्य न ककार । मरीचिभि करै । 'भानु करो
मरीचि शीपुसयो' इत्यमर । विपुस्फुरे वभासे । स्फुरतेर्भावे छिद्र ॥ ३० ॥

अश्रुमाली (सूर्य) को किरणों, जो वनेचरों के तोच्यता के कारण भीषण शखों पर
सक्रान्त होकर विस्तृत हो रही थीं, दिशाओं के अन्तराल को उद्गाहित करती हुई दीप्त होने
लगी ॥ ३० ॥

उद्दूढवक्ष स्थगितैकदिग्मुखो विकृष्टविस्फारितचापमण्डल ।

वितत्य पक्षद्वयभायत बभौ निमुगुंणानामुपरीव मध्यगः ॥ ३१ ॥

उद्दूडेति ॥ उद्दूडेनोद्धतेन वक्षसा स्थगितमाच्छादितमेकमेकतर दिग्मुख येन स ।
विकृष्टमाकृष्टमत एव विस्फारित निर्घोषित चापमण्डल येन स विभु शिव । जायतं
वित्तृत पक्षद्वय पार्श्वद्वय वितत्य स्वमहिम्ना व्याप्य । 'पक्ष साम्यागारुपार्श्वसहायचक्ष-
मितिषु' इति वैजयन्ती । गुणाना मध्यगो मध्यस्योऽपि उपरि स्थित इव बभौ ।
सर्वोद्धतत्वान्तया लक्षित इत्यर्थ ॥ ३१ ॥

शकर भगवान् ने भद्रुष की प्रत्यक्षा को आकृष्ट किया जिससे गम्भीर एवं प्रतिध्वनित
हो उठा । उन्होंने अपने दिशाक वक्षस्थल से एक ओर की दिशा के मुख को अवरुद्ध कर
दिया और विस्तृत पार्श्वद्वय को अपने पैजसे व्याप्त कर दिया । प्रमथ गणों के मध्य में
स्थित होते हुवे वे सबसे उन्नत सुशोभित हुये ॥ ३१ ॥

सुगेषु दुर्गेषु च तुल्यधिक्रमैर्जयादहपूर्विकया यियासुभि ।

गणैरविच्छेदनिरुद्धमावभौ वन निरुच्छ्वासासमिवाकुलाकुलम् ॥ ३२ ॥
सुगेष्विति ॥ सुखेन दुःखेन च गच्छन्त्येविति सुगेषु सुगमेषु दुर्गेषु दुर्गमेषु च ।

समाधिपमवैशेषित्यार्थं । सुदुरोरधिकरणार्थं शो वक्ष्यम् । अत एव दिलोप । मुख्य
विक्रमैर्लाभवात्समसचारे जवाद्देगात् । अहपूर्विकयाऽहमहमिकया । अहपूर्वमहपूर्व-
मित्यहपूर्विका स्त्रियाम् इत्यमर । दिवानुमिर्वातुमिच्छुमि । याते सप्तम्याद्गुण
त्यप । गणे प्रथमैः । मनोऽज्ञादित्वाद्गुणप्रत्ययः । शृपोदरादित्वाद्गुणभावः । गणा
प्रमथसङ्घीषा इति वैजयन्ती । अविच्छेदेन निरुद्धमत एव आङ्गुलाङ्गुलमाङ्गुलप्रका
रम् । प्रकारे गुणवचनस्य इति द्विर्भावः । वन निरुद्धात्स निरुद्धप्राणमिव । आबन्धौ
इत्युत्प्रेक्षा ॥ ३२ ॥

समान बलशाली शिव के गण जो सुगम और दुर्गम पक्ष में समसञ्चरण करत हुए
'न पहले चलना नहीं मैं पहले चलना इस प्रकार की अहपूर्विका भाव से वेगपूर्वक
चलने की इच्छा कर रहे थे । अत वन प्रवेश सर्वत्र अवरोध होकर व्याकुल सा प्रतीत
होने लगा ॥ ३२ ॥

तिरोहित्वाभ्रनिकुञ्जरोयस समस्तुवाना सहसातिरिक्तताम् ।

किरातसैन्यैरपिधाय रेचिता मुच्यं च्य निम्नतयेव भेजिरे ॥ ३३ ॥

तिरोहितेति ॥ किरातसैन्यैस्तिरोहितानि छद्मानि श्वभ्रनिकुञ्जरोधांसि गतकुञ्जत
टानि यासां ता । अत एव मुच्यं । प्रवेशाः सहसातिरिक्ततामुत्तानतां समस्तुवाना
आमुच्यन्ते । तथा अपिवायाच्छाद्य रेचिता रिच्छीकृता मुक्ताः च्य निम्नतया गाम्भीर्येण
भेजिर इव प्राप्ता इवेत्युत्प्रेक्षा । सैन्यैर्वा मुच्यो -यासास्ता उत्ताना प्रतीयन्ते । तैमु-
च्छस्ता एव निम्नाः प्रतीयन्त इत्यर्थ ॥ ३३ ॥

किरातों की सेनाओं से पत्थरों के खड्गों लताकुंड तथा तटप्रदेश आच्छादित हो जाने
के कारण नहीं की भूमि उन्नत दृष्टिगोचर होती थी और अब वे वन स्थली का परिवर्तन
करके जाने बट भाते हैं जो फिर यह यथावत् निम्न दिखलार्थ पड़ती थी ॥ ३३ ॥

पृथूरुपर्यस्तशुद्धल्लताततिर्जधानिलाधूर्णितशालचन्दना ।

गणाधिपाना परितः प्रसारिणी बनान्यथाऽस्त्रीव चक्रर सहति ॥ ३४ ॥

शुद्धिति ॥ शृपुभिर्विशालैरुक्षभिः सविशभिः एवस्ताः शिसा शृद्धत्यो लताततयो
यया सा अपामिडेन वेगमाकृतेनाऽऽधूर्णिता अमिताः शाला सर्जंतरवशम्बुगानि च
यया सा । प्रकारवृक्षयोः साले शालः सर्जंतरुः स्मृतः इति शारदत । परितः
सर्वत्र प्रसारिणी प्रसरणशीला गणाधिपानां सहतिः समूहो पनान्यथाऽस्त्री न्युज्यामीव
चकारेत्युत्प्रेक्षा । अवाच्छरणयोस्तुलीभवति । अवपूर्वाद्भवतेः क्विप् । 'स्थाववाक्ययो-
नुच्च' इत्यमर ॥ ३४ ॥

प्रथम गणों की सचय प्रसरणशील सैन्यने अपने स्थूल शयों के द्वारा सुदूर निरुत्त
रता समूह को नष्ट भ्रष्ट करत हुए तथा अपने वेगोत्पन्न मारत से शाल और चन्दन के
वृक्षों को नकलीरते हुए निपियों को मानो अवाच्य मुञ्च कर दिया ॥ ३४ ॥

अथाष्टमि श्लोकैर्जुन विशेष्यन् गणाना तदभियोगमाह—

तत सदपं प्रतनु तपस्यया मदस्रुतिचामभिवैकवारणम् ।

परिव्रजन्त निधनाय भृशता दहन्तमाशा इव जातवेदसम् ॥ ३५ ॥

तत इत्यादि ॥ तत सदपं सगर्वं सान्त सार तपस्यया तपश्चर्यया । तपस्यते क्यजन्तास्त्रियामप्रत्यये टाप् । प्रतनु कृशमत एव मदस्रुत्या मदक्षरणेन चाम कृशम् । 'घायो म.' इति निष्ठातकारस्थ मकार । एकवारणमेकाकिन गजमिव स्थितमित्युपमा । पुन । भृशता राज्ञा निधनाय नाशाय परिव्रजन्त तेजस्विनमत एव, आशा दिशो दहन्त जातवेदसमभिमिव स्थितमित्युपमालकार । 'कृपीटयोर्निर्बलनो जातवेदास्तानूनपात्' इत्यमर ॥ ३५ ॥

[श्लो० न० ३५—४२ तक का अन्वय एक साथ है । श्लोक न० ४२ के अन्त के दो चरणों में कर्ता, कर्म और क्रिया एक ही साथ हैं, देखिये—'तपस्यते तोयवना घना इव गणा अनीलवाजिन समासेदुरिति, इसते अवशिष्ट पद ३५-४२ के भीतर जो आवे हैं सब अनीलवाजिन (अर्जुन) की विशेषता प्रगट करते हैं ।]

इदंताश्च (अर्जुन) यद्यपि अन्त सार सम्पन्न थे तथापि तपस्साधन से कुछ काय होने के कारण मदक्षरण से दुर्वल गजराज के सदृश अकेले मालूम पड़ते थे । (इसके अतिरिक्त) शत्रु के विनाशार्थं तेज पुत्र को बहान करने से दिशानों को भ्रमसात् करते हुए अग्नि देव के समान प्रतीत हो रहे थे ॥ ३५ ॥

अनादरोपात्तधृतैकसायक जयेऽनुकूले सुहृदीव सस्पृहम् ।

शनैरपूर्णप्रतिकारपेलवे निवेशयन्त नयने बल्लोदधौ ॥ ३६ ॥

अनादरेति ॥ पुनश्च, अनादरेणावगणनयाऽप्राप्तो निषङ्गाहुदृष्टो धृतशैक सायको जेत त, तथाऽनुकूले सुहृदीव जये सस्पृहम् । जयमित्च्छन्तमित्यर्थ । पुनश्च, अपूर्णो न्यून प्रतिकारो धागाहरणप्रत्यर्षणरूपो यस्य स । अत एव पेलवो लघुस्तस्मिन् अपूर्णप्रतिकारपेलवे बल्लोदधौ सेनासमुद्रे शनैरसभ्रमेण नयने दृष्टो निवेशयन्तमिति शीरस्वभावोक्ति । बल्लमुदधिरित्युपमितसमास । 'पेपवासावाहनधिषु च' इत्युदकस्योदादेश ॥ ३६ ॥

उन्होंने अनादर से निषङ्ग से एक धाग निकाल कर हाथ में धारण कर रखा था । विजय काम में अनुकूल मित्र के सदृश उनकी उत्कट इच्छा थी । अत एव उस सैन्यसमुद्र पर, जो कि प्रतिकार करने में न्यूनता के कारण लघु दिखाई पड़रही थी दृष्टि लगावै हुए थे ॥ ३६ ॥

निषण्णमापत्प्रतिकारकारयो शरासने धैर्यं इवानपायिनी ।

अलङ्घनीय प्रकृतावपि स्थित निवातनिष्कम्पमिवापगापतिम् ॥ ३७ ॥

निषण्णमिति ॥ पुनश्च, आपदा प्रतिकारस्य कारणे साधनेऽनपायिनि स्थिरे एव न्यूनैः शरासने धैर्यं ह्य निषण्ण स्थित प्रकृतौ स्वभावे स्थितमपि । निर्विकारमपीत्यर्थः ।

वत एव अलङ्कनीयमनतिक्रमणीयमत एव निवातनिष्कर्म्य वासाभावाच्चिरचलम् ।
निवातावाधवायातौ इत्यमरः । आपगापतिं समुद्रमिष स्थितम् ॥ ३७ ॥

वे आपति निवारण में साधनभूत इव धनुष का साक्षात् धैर्य के समान अवलम्बन करते थे । वे स्वाभाविक रूप से वे तथापि वायु के अभाव दशा में अनिचल सरित्पति (समुद्र) के सदृश अनतिक्रमणीय थे (अर्थात् अनेक थे) ॥ ३७ ॥

उपेयुषी विभ्रतमन्तकक्षुति वधाद्दूरे पतितस्य दृष्टिणः ।

पुरः समावेशितसत्पशु द्विजैः पति पशूनामिव हृतमध्वरे ॥ ३८ ॥

उपेयुषीमिति ॥ पुनश्च अदूरे समीपे पतितस्य दृष्टिणो वराहस्य । श्रीह्यादित्वा-
दिनिप्रत्ययः । वधाद्दूरो उपेयुषीं प्राप्ताम् अन्तकस्यैव यमस्यैव द्युतिस्तां विभ्रतं
धरयन्तम् । तथा च द्विजैर्भास्यैः । अध्वरे वसे । पशुः सवोऽध्वरो घागः इत्यमरः ।
हृतमाहृतं पुरोऽग्रे समावेशितः स्थापितः सत्पशुर्वशीयपशुर्वस्य तम् । पशूनां पतिं
कक्षमिष स्थितम् ॥ ३८ ॥

वे समीप में पड़े हुये वराह के वध करने के कारण स्वयं सम्प्राप्त अन्तका इति धारण
कर रहे थे । तथा आज्ञाओं के मन्त्र द्वारा वध में आमन्त्रित साक्षात् महाबाल (शंकर) के
सदृश जिसके सामने वशोय पशु पना हुआ हो दिखलाई पक रहे थे ॥ ३८ ॥

तिजेन नीतं विजिता यगौरथ गभीरता धैर्यगुणेन भूमसा ।

वनोदयेनेव वनोदयीरुघा समन्धकारीकृतमुत्तमाचलम् ॥ ३९ ॥

तिजेनेति ॥ पुनश्च तिजेन मैसर्गिकेण भूमसा बहुलेन धैर्यमेव गुणस्तेन विजितम-
न्येषां गौरथं गाम्भीर्यं यस्मिन्कर्मणि तथा गभीरतां दुरवगाहत्वं नीतम् । अथ एव
वना साक्षात् उरुवन्म महत्यो वीरुघो लताश्च यस्मिन्स्तेन वनोदयीरुघा वनोदयेन अर-
भ्यप्राप्तुर्भावेन समन्धकारीकृत दुरवगाहीकृतश्च, उत्तमाचलमिव स्थितम् । समन्ततोऽ-
न्धकारो यस्य स इति विग्रहः ॥ ३९ ॥

वे अपने अनिचल धैर्य गण से इतर पुरुषों की गरिमा को नीत कर गहन गाम्भीर्य को
प्राप्त हो गये थे जिससे व गहन और सुदूर विस्तृत लतानान्धुक्त एक नूतन वन के प्रादु-
भाव के कारण अथ वनारान्ध्र उत्तमाचल के सदृश बन गये थे ॥ ३९ ॥

महपभस्कन्धमनूनकन्धर बृहच्छिलावप्रघनेन वक्षसा ।

समुज्जिहीषु जगतीं महामरा महाधराह महतोऽर्जुनाशिव ॥ ४० ॥

महर्षमेति ॥ महर्षमस्य महामरस्य स्कन्ध इव स्कन्धावसी यस्य तम् । उप
मानपूर्वपद्मादुत्तरस्कन्धलोपः । 'अपभो बृषभो वृषः इत्यमरः । 'स्कन्धो मुज्जिहीषो
सोऽग्नी इत्यमरः । अनूनकन्धरं स्थूलप्रीवम् । 'अथ प्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि'
इत्यमरः । बृहच्छिलावप्र महाशिलावत् तद्वत् घनेन कठिनेन वक्षसा उपलक्षितम् ।
महाभगं दुर्हरतिमारवतीं जगतीं अहीं समुज्जिहीषु दुष्टराजकाण्वात् समुद्रतुमिष्युष

अत एव महतोऽर्णवाजगतीं समुक्लिहीर्षुमुक्तविशेषणविशिष्ट च महावराहमिव स्थितम् । अर्थसाधन्यादियमुपमा न श्लेष, शब्दमात्रसाधन्येण तस्य विधानादिति रहस्यम् ॥ ४० ॥

उनके स्वरूप प्रदेश वलीवर्द (गवेन्द्र) के सदृश थे तथा उनकी श्रीवा स्थूल थी । पत्थरों की चट्टान के सदृश उनका वक्षस्थल था । अत वे विशाल समुद्र से अतिशय भाराक्रान्त पृथ्वी के उच्चार करने के लिये शूकरावतार विष्णु के सदृश मालूम पड़ रहे थे ॥ ४० ॥

हरिन्मणिश्याममुदग्रविग्रह प्रकाशमान परिभूय देहिनः ।

मनुष्यभावे पुरुष पुरातन स्थित जलादर्श दृष्याशुमालिनम् ॥ ४१ ॥

हरिवृत्ति ॥ पुनश्च, हरिन्मणिश्याम मरकतमणिश्यामलम् । उदग्रविग्रहमुदारभूर्ति देहिन सत्त्वान् परिभूय तिरस्कृत्य प्रकाशमानम् । जलमेवाऽऽदर्शो मुकुटस्तारिमन्, अशुमालिन सूर्यमिव । मनुष्यभावे मनुष्यरूपे स्थित पुरातन पुरुषम् । यो बदरीतपोवननिवासी नारायणसदृशरो नरो नाम स एवायमित्यर्थ ॥ ४१ ॥

उनके शरीर का वर्ण मरकत मणि के सदृश था । उनकी आकृति लदार थी । वे वठेर प्राणियों को तिरस्कृत कर प्रकाशित ही रहे थे । मनुष्य रूप में स्थित बदरीकावनवासी साक्षात् नारायण के अवतार में तथा जलरूप दर्पण में प्रतिबिम्बित भगवान् भास्कर के सदृश थे ॥ ४१ ॥

गुरुक्रियारम्भफलैरलङ्कृतं गतिं प्रतापस्य जगत्प्रमाथिनः ।

गणा समासेदुरनीलवाजिन तपात्यये तोयधना घना इव ॥ ४२ ॥

गुर्विति ॥ गुरुभि क्रियारम्भाणां फलैरलङ्कृतम् । सफलकर्मारम्भमित्यर्थ । जगत्प्रमाथिनो जगद्विजयिन प्रतापस्य तेजसो गतिं स्थानम् । अतोऽस्य बहूनामेकलक्ष्यत्व च युज्यत इति सदर्माभिप्राय । पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टम्, अनीलवाजिन श्वेताश्वमर्जुन गणा प्रमथाद्य तपात्यये तोयधनास्तोयभरिता । वार्षिका इत्यर्थ । घना मेघा इव । महाफलमिति शेष । समासेदु । अवापुरित्यर्थ । कुलकम् ॥ ४२ ॥

वे कार्व्यारम्भ के महान् फलों से विभूषित थे । वे विश्वविजयी तेज के आश्रय थे । इसतरह के पूर्वकथित विशेषणसम्पन्न शुभ्र अश्ववाहन अर्जुन के समीप वर्षाकाल के जलभाराक्रान्त अश्वव नील मेघ के सदृश प्रमथ गण पहुँचे ॥ ४२ ॥

यथास्वभाशसितविक्रमाः पुरा मुनिप्रभावचततेजस परे ।

ययु क्षणादप्रतिपत्तिमूढता महानुभाव प्रतिहन्ति पौरुषम् ॥ ४३ ॥

यथास्वमिति ॥ पुरा पूर्वम् । स्व स्वमवतिक्रम्य यथास्वम्, अहमेवैन जेष्यामीति आशसिता काङ्क्षिता कथिता वा विक्रमा यैस्ते परे शत्रवो मुनिप्रमवात्तततेजसो हतप्रभावा सन्त क्षणादप्रतिपत्तिमूढता मोहान्धता ययु । तथा हि—महानुभावोऽतिप्रताप पौरुष पुरुषस्य चेष्टित प्रतिहन्ति नाशयति ॥ ४३ ॥

शुद्धी (प्रमथणा) ने पहिले अपने अपने बल पराक्रम के अनुसार (अर्थात्
 न ही शत्रु को जीता' इस प्रकार) कहने लगे। पश्चात् उसी अजुन के प्रभाव से हीण
 बल होकर किङ्कर्तव्य विमूढ हो गये (अर्थात् वह नहीं समझ सके कि क्या करना
 चाहिये) क्योंकि प्रहार को अनिश्चिना पुरुष के द्वारा विवेचित भाव को नष्ट
 कर देती है ॥ ४३ ॥

तत प्रजह्ये सममेव तत्र तैरपेक्षितान्यो-यत्रलोपपत्तिभि ।

महोदयानामपि सङ्घच्युत्तिता सहायसाध्या* प्रदिशन्ति सिद्धय ॥ ४४ ॥

तत इति ॥ तत एकैकस्याशक्तौ । अपेक्षिता वाञ्छिताऽन्योन्यबलोपपत्तिरन्योन्य
 शक्त्यवष्टम्भो ये । तैः प्रमथै । तत्राजुने । क्रियाधारत्वात्सप्तमी । सम युगपन्वै प्रजह्ये
 प्रहृतम् । भावे लिट् । तथा हि—सहायसाध्या* सिद्धय* कार्यसिद्धयो महोदयाना
 मपि महानुभावानामपि । सङ्घन वृत्तिर्भाषारो येषां तेषां भावस्तथा तां सङ्घच्युत्तितां
 संमूयकारितां प्रदिशन्ति । अतो गणानामपि संमूयकारित्वे न दोष इति भावः ॥४४॥

“सके अनन्तर सब सेना के बीरों ने एक एक करके अपने बल की परीक्षा कर एक
 साथ होकर अजुन पर आक्रमण (प्रहार) किया। काय की सिद्धिया सब सहायक
 सान्नी की ओर लक्ष्य हैं अतः वे महाजुबाराँ की भी सहायक से नाम लेने की
 अनुमति देती हैं ॥ ४४ ॥

किरातसैन्यादुरुचापनोदिता सम समुत्पेतुरुपात्तरहस ।

महायनादुन्मनस खगा इव प्रवृत्तपत्रध्वनय शिखीमुखा* ॥ ४५ ॥

किरातेति ॥ उरुभिर्बृहन्निर्भाषैर्नोदिता प्रक्षिता उपात्तरहस प्रासवैणा प्रवृत्तपत्र
 ध्वनय* सवातपत्रस्थना* शिखीमुखा वाणा* । महायनादुन्मनस* कापि गन्तुमुस्तुका ।
 तथा उरुविशेषणविशिष्टाश्च खगा* पक्षिग इव । किरातसैन्यात् सम समन्तत* समु
 त्पेतु ॥ ४५ ॥

जिनप्रकार विह्वलन कहीं भी गमन करने की इच्छासे करने की क्रिया में प्रवृत्त पक्षों
 के निलन के साथ महायन से एक ही माथ लड़ रहती हैं वही तरह विशाल कार्मुक
 (धनुष) से प्ररित होकर बाण अपने पुष्ट निलन के साथ साथ प्रबल वेगपूर्वक शर-सेना
 से एक ही साथ छूट पड़े ॥ ४५ ॥

गभीररग्रेषु शूरा महीवृत्* प्रतिस्वनेरुन्नमितेन सानुपु ।

घनुर्निनादेन जवाद्रुपेयुषा विभियमाना इव दध्नुर्विषा* ॥ ४६ ॥

गभीरेति ॥ गभीररग्रेषु गभीरगङ्गरेषु महीवृत्* सानुपु ये प्रतिस्वनास्त्वैर्बृश
 मुष्भिनेनोत्वारितेन शार्धोक्तेन जवाद्रुपेयुषा प्रासवता घनुयो निनादेन विवि
 यमाना विद्रीर्षमाणा इव इध्वनुष्वर्णि चक्रु ॥ ४६ ॥

पर्वत के शिखरों को गम्भीर गुफाओं से प्रतिध्वनित होकर वृद्धि को प्राप्त तथा प्रवल वेगयुक्त मनुष्य के रव से दिशाओं इस प्रकार ध्वनित हुई मानों वे विदीर्ष हो गईं ॥४६॥

विधूनयन्ती गहनानि भूरुहा तिमिरोहितोपान्तनमोदिगन्तरा ।

महीयसी वृष्टिरिधानिलेरिता रव वितेने गणमार्गणावलि ॥ ४७ ॥

विधूनयन्तीति ॥ भूरुहा गहनानि वनानि । 'अद्वयस्थ विपिन गहन कानन वनम्' इत्यमर । विधूनयन्ती कम्पयन्ती तिमिरोहितानि छादितानि उपान्तानि प्रान्तानि नमो-
अन्तरिद्विगन्तराणि च यथा सा । गणमार्गणावलि प्रमथशरसदृति । अनिलेन वायुना । ईरिता प्रेरिता । महीयसी वृष्टिरिव रव वितेने विस्तारयामास ॥ ४७ ॥

शकर भयवान् के गणों के साथक राजि ने (वृष्टों के) बनों को कम्पित करती हुई तथा आकाश और दिशाओं के उपान्त को आच्छादित करके पवनप्रेरित मुशळधारा वृष्टि की तरह दुमुलध्वनि करने लगी ॥ ४७ ॥

त्रयीमृतूनामनिलाशिन सत' प्रयाति पोष वपुषि प्रहृष्यत ।

रणाय जिष्णोर्निदूषेव सत्वरं धनत्वमीये शिथिलेन वर्मणा ॥ ४८ ॥

प्रयोमिति ॥ ऋतूना त्रयीं पन्मासान् । कालाध्वनोरत्यन्तसयोगे द्वितीया । अनिलाशिनो वायुमण्डकस्य । क्लृप्तस्येत्पथे । सत, तथापि रणाय रणं कर्तुं प्रहृष्यत उत्सहमानस्य । 'क्रियार्थोप-' इत्यादिना चतुर्थी । जिष्णोरर्जुनस्य वपुषि पोषमुपचय प्रयाति गच्छति सति शिथिलेन । प्रथममिति शेष । वर्मणा कवचेन विदुषेवानन्तरकरणीय जानतेवेत्युत्प्रेक्षा । सत्वरं शीघ्रं धनत्व दृढत्वम् । ईये प्राप्तम् । अन्यथानुपयोगादिति भाव । इण कर्मणि लिट् ॥ ४८ ॥

तीन ऋतु पर्वन्त अर्थात् ज महीने पर्वन्त वायुमण्डल के द्वारा प्राणरक्षा करते हुए (अथ पव) दुर्बल तथा समान करने के लिये उत्प्राहित अर्जुन का शरीर वृद्धि को प्राप्त होने लगा पश्चात् कृशता के कारण जो कवच ढीला पड़ गया था वह शीघ्र ही शरीर के परिणाम का हो गया मानो वह अनन्तरकरणीयता को जानता था ॥ ४८ ॥

पतत्सु शस्त्रेषु वितत्य रोदसी समन्ततस्तस्य धनुर्दुधूषत ।

सरोषमुल्केव पपात भीषणा बलेषु दृष्टिविनिपातशसिनी ॥ ४९ ॥

पतत्सिति ॥ शस्त्रेषु रोदसी घ्रावापृथिव्यौ । 'घ्रावापृथिव्यौ रोदस्यौ' इत्यमर । समन्ततो वितत्य व्याप्य पतत्सु सत्सु धनुर्दुधूषत कम्पितुमिच्छत । व्यासकालयत इत्यर्थ । धूज सन्नताच्छतृप्रत्यय । 'स्वरतिसृत्तिसूयतिप्लूवितो वा' इति विकल्पादिभाव । तस्यार्जुनस्य सवन्धिनी । भीषत इति भीषणा । नन्यादित्वात्स्युः । विनिपातशसिनी विनाससूचिका दृष्टिकक्षविशेषणा उल्केव बलेषु सरोष यथा तथा पपात ॥ ४९ ॥

झर्रों, पृथ्वी और आकाश के अन्तगलको सर्वत्र व्याप्त करके प्रहार करने पर गाण्डीव

अनुप के कर्मनामिलानी अर्जुन की कोषपूर्ण भयोत्पादक इष्टि जो विष्वस की ध्वजा दे रही थी प्रमथ सैय पर मथसत्क उत्कारात (तारा इत्या) की तरह पड़ी ॥ ४९ ॥

दिश समूहजिव विक्षिपन्न प्रभा रवेराकुलयजिनानिलम् ।

मुनिश्चाल स्यकालवारुण च्छितिं सशैला चलयन्निवेपुमि ॥ ५० ॥

दिश इति ॥ स्यकाल- कस्यात्काल इव । सर्वत प्रलय करुण स्य कस्यान्त इत्यादि इत्यमर । दारुणो रौद्रो मुनिरर्जुन । इपुमिर्भाजि । दिश समूहजिव एकत्र समाहरजिव । अथवा तासां पारद्वान म स्पादिति भाव । रवेः प्रभा विक्षिपन्न इव प्रक्षिपन्न । अथवा सा कथं न दृश्यत इति भाव । तथा अनिलं वायुमाकुलयन्निपुनिरन्तराल आधूर्यजिव । तस्य तथा यतिविधातादिति भाव । स शैलां चिति चलयन्निव कम्पयान्त्व । तथा सशैलादिति भाव । चचाल गतिमकरोत् । सर्वत्र इव शब्द उपेक्षायाम् ॥ ५ ॥

प्रलयकाल के सङ्घट्ट स्वरूप अर्जुन ने अपने नाणों से शिवाओं को आकुञ्चित करते हुये की माति धर्म की किरायों को दूर प्रक्षिप्त करते हुए की माति वायु की गति का अनुभव कर उसे व्याकुल करते हुए की तरह और पर्वतों को लिये दिये हुए पृथ्वी को कम्पित करते हुए रणजिरे में रतस्तन धूमने लगे ॥ ५ ॥

विमुक्तमाशसितशत्रुनिर्जैरनेकमेकावसर धनचरै ।

स निर्जघानायुधमन्तरा शरै क्रियाफल काल इवातिपातित ॥ ५१ ॥

विमुक्तमिति ॥ अशसितः काङ्क्षित शत्रुनिर्जयो वैस्तै । अहमहमिकया शत्रु विजिगीषन्तिल्यर्थ । धनेचरैरेकावसर समकालम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । विमुक्तं प्रयुक्तमनेक बहु धायुधम् । आतावेकवचनम् । सोऽर्जुन क्रियाफलमतिपातितोऽति क्रान्त काल इव । अतिक्रान्तकालस्य कमणो निष्कलवाविति भाव । अन्तरा मध्ये शरैर्निर्जघान ॥ ५१ ॥

मैं ही देवक सङ्घट्ट की शोर्टिंग रत प्रकार की आकाशा करने किरातों ने शिव के गणों के) एक साथ शस्त्र प्रहार किया । वे (अर्जुन) क्रियाफल के अतिक्रमण करके समय की तरह भीष भीष में शरों की प्रहार करने लगे ॥ ५१ ॥

गतै परेपामविभावनीयत्वा निवारयद्विर्विपदं विदूरगै ।

शूरां बभूवोपचितो बृहत्फलै शरैरुपायैरिव पाण्डुनन्दन ॥ ५२ ॥

गतैरिति ॥ पाण्डुनन्दनोऽर्जुनः परेपामविभावनीयतां लघुप्रयोगात्, अथवा प्रयोगात् अदृश्यतामप्रकारयता च गतैर्विपदमर्थ निवारयद्विर्विदूरगैर्दूरलक्ष्योपरमण्डलप्रविष्टैश्च बृहत्फलैरायतामैमहालाभश्च । 'फलं बाणाप्रलाभयो' इति शास्त्रता । शरैरुपायै सामाहिनिरिव शृङ्गमुपचितः प्रहृदो बभूव । अत्र शब्दमात्रसाधन्यात् प्रहृष्टप्रहृतयोः । उपमेति केचित् ॥ ५२ ॥

अर्जुन ने बाणवर्षा से प्रमथ गणोंको विवश कर दिया अर्थात् उन्हें सबत्र बाण ही बाण दृष्टि पोकर होने लगे । अत वे सशय अस्त हो गये । जिस प्रकार साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार नीतिया गूढप्रयोग के कारण अलक्षित रहती हैं, (शत्रु उसको समझ नहीं पाता है) विपत्ति प्रतिकार करने में समर्थ होती हैं और परराष्ट्र मण्डल में प्रविष्ट होकर महान् लाभ कराती हैं जिससे पुरुष अम्युदय को प्राप्त होता है । उसी प्रकार अर्जुन के शरक्रिया पान्थ के कारण शत्रु के द्वारा दुविभाविनीय थे, विपत्ति निवारण में समर्थ थे; दूरगत लक्ष्य तक पहुँच जाते थे, और उनमें तीक्ष्ण फल लगे हुए थे जिससे अर्जुन अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हुए ॥ ५२ ॥

दिव पृथिव्या ककुभा नु मण्डलात्पतन्ति विम्बाद्रुत तिग्मतेजस ।
सकृद्विकृष्टादथ कार्मुकान्मुने शरा शरीरा दिति तेऽभिमेनिरे ॥५३॥

दिव इति ॥ शरा दिवोऽन्तरिक्षात् पृथिव्या भूगोलाद्वा ककुभा मण्डलात्तु दिशा मण्डलाद्वा, अत तिग्मतेजसोऽर्कस्य विम्बाद् मण्डलाद्वा, अथ वा सकृद्विकृष्टात् कार्मुकाद्वा, मुने शरीराद्वा पतन्तीति ते गणा अभिमेनिरे ज्ञातवन्त । अन्यथा कथमसी विश्वमन्तर्धान्य शरा समाभ्यन्त इति भाव । अत्र सर्वत्र शरसपातदर्शनात् समाभ्यन्त्या पृथिव्यादीनामन्यतमीस्यापादानत्वोऽपेक्षा । सा च प्रतीयमाना व्यञ्जकाप्रयोगात् 'नु'शब्दादयस्तु सन्त्ये ॥ ५३ ॥

'ये बाण आकाश से, पृथिवी से, दिशाओं के मण्डल से, प्रखरकिरणमाली के विम्ब से, अथवा दस तपस्वी के शरीर से क्षिप्वा एक ही वाट भनुष की प्रत्यञ्चा के आकृष्ट करने से गिर रहे हैं' ऐसा किरात सैन्य ने माना ॥ ५३ ॥

गणाधिपानामत्रिधाय निर्गतै परासुता मर्मविदारणैरपि ।

जवादतीये हिमवानघोमुखै कृतापराधैरिव तस्य पत्रिभिः ॥ ५४ ॥

गणेति ॥ मर्मविदारणैरपि । मर्मस्थानान्येव विदारयन्निरपीत्यर्थ । गणाधिपान्तं परासुता मरण अविधायकृत्वा निर्गतै । तेपाममर्त्यत्वादिति भाव । तस्य मुने-पत्रिभि शरै कृतापराधैरिव स्वामिकार्याकरणात् सापराधैरिवेत्युपेक्षा । अघोमुखै-सद्भि जवाद्दिमवानतीयेऽतिशयक्रमे । तत्र प्रविष्टमित्यर्थ । लजितस्य क्वचिन्निलयनमुचितमिति भाव ॥ ५४ ॥

अर्जुन के बाण मर्मभेदी होने पर भी प्रमथ गणों के प्राण को संहार करने में अतमर्थ और (प्रमथ गण अमर होते हैं ॥ अत बाणविद्ध होकर जीवित रहे) अपराधी की तरह (लज्जा से) ध्वनत मुख होकर बड़े वेग के साथ हिमालय को पार कर गये । अर्थात् हिमालय में कहीं क्षिप गये लज्जा उसको (वाणों को) दस लिये आई कि वे तो अमोघ थे परन्तु देवताओं के अमर होने के कारण वे कुद न कर सके । अत स्वामी का कार्य

सात्म न करने के कारण वे अपराधी बन गये। यही कारण था कि वे नीचे मुख कर परा-
श्री कन्दरा में कनी क्षिप्त गये। (लम्बित व्यक्तियों की भी यही दशा होती है) ॥ ५४ ॥

द्विपा क्षतीर्या प्रथमे शिलीमुखा विभिद्य देहावरणानि चक्रिरे ।

न तासु पेटे विशिखै पुनमुनेररुतुदत्व महता ह्यगोचर ॥ ५५ ॥

द्विपामिति ॥ प्रथमे । प्रथममुष्ण इत्यथ । शिलीमुखा मुनिवारा द्विषां वैह चर
णानि कर्माणि विभिद्य या क्षती प्रहारान् चक्रिरे तासु क्षतिषु पुन' पश्चात्प्रयुक्तैमुने
विशिखैर्न पेटे न पतितम् । विष्टपेवणदोषापादाविति भावः । तथा हि—अस्तुदत्व
पीकितपीडन महतां सतामगोचरोऽविषय हि । सम्स्त' पीडितपीडां न कुर्वन्सीत्यर्थः ।
न हन्त्याह्वयसन्नप्राप्तं नार्तं नातिपरिचतम् इति निषेधस्मरणादिति भावः । अरुमण
शुद्धीति अस्तुद् । प्रणोऽस्त्रियामीर्मह इत्यमरः । विश्वरुहोस्तुद् इति खरम
स्यम' । अरुहिंपद्वजन्तस्व मुम् इति मुमागम ॥ ५५ ॥

परिके के छोड़े हुये तरखी (अजुन) के बाण तनुप्राण का मे-न करके शत्रुओं पर
शिक गये थे पुन वसे जग पर प्रहार न किये क्योंकि महाजुनाब लोग पीकित को पीका
नही देते ॥ ५५ ॥

समुम्भिता यावदराति नियती सहैव चापान्मुनिबागसहति ।

प्रभा हिमाशोरिव पङ्कनाबलि निनाय सकोचमुमापतेश्चाम् ॥ ५६ ॥

समुम्भिताति ॥ यावन्तोऽज्ञातयो यावदराति । 'यावदवधारणे इत्यध्वयीभाव ।
यावदराति यथा तथा समुम्भिताऽज्ञातिसमर्क्षयथा मुक्ता मुनिचापात्सह समूय पृथ
निर्यती निष्कामन्ती । तादृक तस्य कौशलमिति भावः । याते' शतारे डीप । मुनिबा-
गसहतिरुमापतेश्चाम् हिमाशो प्रभा पङ्कनाबलित्विव सकोच निनाय प्रापयामास । बुहा
दिपाठाश्रयतिर्द्विकमकः ॥ ५ ॥

भित तरह चन्द्रमा ही 'दोतना उरव होने के साथ ही कमलवन को सङ्कुचिण कर
कर देती है वसी तरह अजुन के बाणों की सशक्ति (समूह) शत्रु सक्ष्मा के अनुकूल प्रविष्ट
हो गये अर्थात् धनुष से निकलने ही चकर भगवान् की सेना को सङ्कुचिण कर काजी ॥ ५६ ॥

अनिद्वामोजिष्ठममोचमरुतम क्रियासु बह्वीषु पृथक्स्विनयोजितम् ।

प्रसेहिरे सादयितु न सादिता शरीयमुत्साहमियात्य विद्विष ॥ ५७ ॥

अजिष्ठमिति ॥ अजिष्ठ स्वरूपतो गत्या वाऽवकम् । अन्यत्र तु विद्वारयावप्रवृत्तो
न भवतीत्यजिष्ठस्तम् । अजिष्ठमोजस्विन सारवत्तम सेमिष्ठ च । उभयत्रापि अजि
स्वि'शब्दाद्विचन्तादिष्ठन् । विन्मवोलुक् इति लुक् । टिलोपस्य । अमोचमव'ध्य
अह्वमं निरन्तरव्यापारेऽप्यव्यभिच बह्वीषु क्रियासु शेषवनेवनपातनादिकर्मसु प्रयुक्त
अदेम नियोजितम् । कर्मानुप्राप्येव विनियुक्तमित्यर्थः । अस्व मुने शरीयमुत्साहमौत्सु
क्यमिव । शरीरस्य स्थायिर्दलं प्रयत्नविशेषमित्येव । सादिता' कर्षिता विद्विष

शत्रव सादयितुं प्रतिकर्तुं न प्रसेहिरे न शेकु । तस्योत्साहवदेव शरवर्षं दुर्धर्ममभूदिति भाव ॥ ५७ ॥

इनके (पाण्डुपुत्र के) नाखलमूह, जो देखने में तथा गमन करने में भी बक न थे, ओज पूर्ण थे, लक्ष्य पर चूकने वाले न थे, क्षेदन, भेदन और पातन कर्म में नियुक्त किये गये थे, विपद् में पकड़ कर प्रतिकार करने में शक्त भी असमर्थ हो गये ॥ ५७ ॥

शिवध्वजिन्य प्रतिबोधमग्रतः स्फुरन्तमुप्रेषुमयूखमालिनम् ।

तमेकदेशस्थमनेकदेशागा निदध्युरकं युगपत्प्रजा इव ॥ ५८ ॥

शिवोत् ॥ अनेकदेशागा नानादेशस्था शिवध्वजिन्यो हरसेना । उप्रेषवो मयूखा-
इत्येवमितसमास । अन्यत्र तु, -उप्रेषव इव मयूखा इति मयूरव्यसकादित्वात्समास ।
तेषा मालाऽस्यास्तीति त इद्रेषुमयूखमालिनम् । ब्रीह्यादित्वादिनि । एकदेशस्थमेक-
त्रैव स्थित त मुनिमकं प्रजा इव युगपत् प्रतिबोध बोध बोध प्रति । 'अव्यय
विभक्तिः' इत्यादिना प्रत्ययै वीप्सायामव्ययीभाव । अग्रत स्फुरन्त निदध्युर्वदृष्टु ।
यथैकोऽर्क एकत्रैव स्थितोऽपि नानादेशस्थानामपि प्रतिपुरुष ममैवाप्रे वर्तत इति
युगपत् प्रतीयते तद्ब्रह्माणवर्षी मुनिरपि प्रतिबोध तथैव प्रत्यमादित्यर्थ ॥ ५८ ॥

शकर भगवान् की सेनामें अनेक स्थल में रहती हुई भी, एकस्थान स्थित तपस्वी
(अर्जुन) से, जो सर्व की प्रखर फिरकों के सङ्घ तीक्ष्ण नाणों के समूह को धारण कर
रहे थे, प्रत्येक बौद्ध के समञ्च रक्षणरूप करते हुए इस प्रकार देखा जित प्रकार सप्तारी
(शीग) तप नाथ के सङ्घ प्रखर फिरणपुञ्जवारी सर्व को एक स्थान में स्थित होने पर
भी (जो अहाँ रहवा है वहाँ से) अपनेर सामने देखते हैं ॥ ५८ ॥

मुने शरीरघेण तदुग्रहसा बल प्रकोपादिव विध्वगायता ।

विधून्ति भ्रान्तिमयाय सङ्घिनीं महानिलेनेव निदाघज रज ॥ ५९ ॥

मुनेरिति ॥ प्रकोपात् अमर्षादिव विष्वक् समन्तात् । आयताऽऽगच्छता, उग्र
हसा तीव्रवेगेन मुने शरीरघेणोक्तविशेषणेन । महानिलेन वात्यया निदाघज ग्रीष्मोत्थ
रज इव । विधून्ति ज्वलत तत् बल ग्रीष्मधाना सैन्य सङ्घिनीमनुवन्धिनीम् ।
अधिच्छिन्नामिति धावत् । भ्रान्तिमनवस्थानम् । श्याय प्राप ॥ ५९ ॥

कुपित के तरह चतुर्दिक विस्तार करते हुये, प्रबलवैग सम्पन्न अर्जुन के सावकणमूह से
सङ्घुष्य शकर को सेना प्रणल वायु (बवंडर) से उत्पापित निदाघकाल की धूलि की तरह
ज्याकार भ्रान्तिमती होने लगी ॥ ५९ ॥

अथ त्रिभिर्विशेषकमाह—

तपोबलेनैव विधाय भूयसीस्तनूरदस्या स्विदिधून्निरस्यति ।

अमुष्य मायाविहतं निहन्ति न प्रतीपसागत्य किमु स्वमायुधम् ॥६०॥

तप इत्यादि ॥ ५९ मुनि । तपोबलेन तप सामर्थ्येन भूयसीर्वह्नी । अदृश्या-

स्वनूरात्मनः शरीरानि विधाय च्छ्वा इषुभिरस्यति स्विद् चिषति किम् । अथवा
अमुष्वात्स्य मुने । मायया विहृतं प्रतिहृत एव स्वकीयमित्ये वायुर्ध्वं प्रतीर्यं प्रति
कूलम् । आगत्य । प्रत्यावृत्तोपयः । नोऽस्माकं निहृति किमु । नास्तिनिग्रहण-
इत्यादिसूत्रेण कर्माणि यथी । शेषाविवक्षायां तु द्वितीया ॥ ६ ॥

अन्य अर्थों के इस्तकौशिक को देख कर किरातवाहिनी अनेक प्रकार के सशय्यरूप अग्ने
में मूलने लगी—

क्या वह वपस्वी अपने तरोवट से अलक्ष्य अनेक शरीर निर्माण करके वायुग्रहण कर
रहा है ? अथवा हम लोगों का ही वायु इसकी माया से प्रतिहृत होकर हम लोगों पर प्रहार
तो नहीं कर रहा है क्या ? ॥ ६ ॥

इता गुणैरस्य भयेन वा मुनेस्तिरोहिता स्विद्यहरन्ति देयता ।

कथं न्यमी सततमस्य सायका भयन्त्यनेके जलधेरिद्योमय ॥ ६१ ॥

इता इति ॥ यद्वा—अस्य मुनेर्गुणैः शान्त्यादिभिः इता आकृष्टा । यथीकृता
इति यावद् । भयेन दारेण वा । अयाद्रिभ्यस्य पूर्वस्पर्यं । देवतास्तिरोहिता सत्यं
प्रहरन्ति स्विद् । तच्छ्रुत् । अन्वयः । अस्य मुनेः । अमी सायका जलधेरिद्योमय इव
कथं नु सततमनेकेऽसक्या भवन्ति । एतद्योयमन्वसवसत्समवेन न सम्भवतीत्ययः ।
[एक शब्दस्यैकधोये कृते एक इति रूपमिति केचित् । सु शब्दस्यन्यार्यं] ॥ ६१ ॥

(कुछ समझ में नहीं आता) ऐसा तो नहीं है कि इस वपस्वी के जल दमादि गुणों
से अथवा मय से यथीकृत देवता लोग ही अलक्ष्य होकर प्रहार करते हैं ? यदि ये सब वायु
नहीं हैं तो फिर तच्छ्रुत् की असस्य शरीरों के सहाय रन्की ये वायु कैसे अनेक हो रहे हैं ॥ ६१ ॥

जयेन कश्चिद्विरमेद्य रणाद्भवेदपि स्वस्ति चराचराय वा ।

तताप कीर्णा नृपसूनुमार्गै रिति प्रतर्काकुलिता पताकिनी ॥ ६२ ॥

जयेनेति ॥ कश्चिद्व्यं रणाजयेन विरमेत् । अस्माकित्वा कश्चिद्व्यं पुद्गमुपसंहरे
इतिवर्थः । अपि चराचराय स्वस्ति भवेत् कश्चिद् । अपि स्थावरअङ्गम जयय विरमे
दित्ययः । 'अपि'शब्द संभावनायाम् । प्रार्थनायां लिङ् । इति प्रतर्काकुलिता पूर्वोक्ता
ये प्रतर्कास्ती आकृलिता विह्वला । अत्र सहेतुक विशेषमाह—नृपसूनुमार्गैरिद्विजुनवाजै-
कीर्णां विद्या पताकिनी सेना । किरातपतेरिति शेषः । तताप तार्थं प्राप ॥ ६२ ॥

यदि यह (वपस्वी) निजयथाय कर समाप्तते विरत हो जाय तो स्वायत् और जङ्गम (मा
थिमात्र) वा कल्याण हो जायैग (अथवा यह सबका नाश कर देगा) राजपुत्र अमुनके माथों
से बिह्व प्रमथ मागोय सेना उक्त प्रकार के रक्त-नितर्क में प कर सन्तप्त होने लगी ॥ ६२ ॥

अमर्षिणा कुत्समित्त्र समाश्रय अन्वोद्धतेनेव हित प्रिय वच ।

यत्कीयसा वद्विधिनेव पीठप यत्न निरस्तं न रराज जिद्रुना ॥ ६३ ॥

अमर्षिणैति ॥ अमर्षिणः श्रेयक्ता समाश्रयं शान्तिसाध्यं कृतमित्त्र । समाश्रयं

हि कृत्य सामर्थ्यनिरस्यते, तच्च निरस्त न शोभते । मदीन्द्रसेन पुसा हित प्रिय बचो
निरस्त तिरस्कृतमिव । यथा बलीयसा बलवचरेण विधिना दैवेन निरस्ता पीरुयमिव ।
बलीयसा दैवेन प्रतिहतपुरुषण्यापारस्य निष्फलत्वादिति भावः । तथा जिष्णुनाऽर्जु-
नेन निरस्ता क्षिप्त बल किरातसैन्येन न रराज । माळोपमा ॥ ६३ ॥

जित प्रकार क्रीपी पुरुष से निरस्त शान्तिसाध्य कार्य की तरह, मदीन्द्रसेन पुरुष से
त्यक्त कल्याणप्रदविणी और श्रीवामिदाम वचन की तरह, और प्रबल भाग्य से प्रतिहत
पुरुषार्थ की तरह अर्जुन से श्वस्त शनरसेना शोभित न हुई ॥ ६३ ॥

प्रतिदिश प्लवगाधिपलक्ष्मणा विशिखसहतितापितमूर्तिभिः ।

रविकररूपितैरिव वारिभिः शिखरैः परिमण्डलता दधे ॥ ६४ ॥

प्रतिदिशमिति ॥ प्लवगानामधिपोऽचीशो लक्ष्मी यस्य तेन वानरचिह्नैः । 'कपि-
प्लवङ्गप्लवग' इति, 'चिह्न लक्ष्म च लक्षणम्' इति चामर । अर्जुनेन विशिखसहति-
तापितमूर्तिभिरिति । विशिखा धाणास्तेषा सहत्य समूहा । 'क्षिया तु सहतिर्बृन्दम्'
इत्यमर । ताभिस्तापिता पीडिता मूर्तयो देहा येषा तैस्तथाभूतैः । शरनिकरकर्तित-
कलेवरैरित्यर्थः । शिखरैः प्रमथसैन्यैः कर्तुमि, रविकरेण गल्पितैः सूर्यकिरणशोपितै-
रारिभिरुदकैरिव प्रतिदिश दिक्षु परिमण्डलता । परितश्चक्राकारमण्डलतेति यावत् ।
दधेऽधारि प्रतिदिश मण्डलाकारेण स्थितमित्यर्थः । धाण कर्मणि छिद् । आतपताश्च
हि नीर परिभ्रमति तद्वन्मुनिपीडित सैन्य बध्नामेत्यर्थः । द्रुतविलम्बित छन्द — 'द्रुत-
विलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

शिवसेना कपिध्वज के शरजाल से पीडित होकर सूर्य की किरणोंसे कणक क्षीण होते
हुए जल की तरह चारों तरफ से वृत्ताकार (गोल) बन गई ॥ ६४ ॥

प्रविततशरजालच्छन्नविश्वान्तराले विधुवति धनुराविर्भण्डलपाण्डुसूनी ।
कथमपि जयलक्ष्मीर्भीतभीता विहातु विपमनयनसेनापक्षपात विषेहे ॥ ६५ ॥

इति भारविक्तौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये चतुर्दश सर्गः ।

प्रविततेति ॥ प्रविततानि विलुतानि यानि शरजालानि सै छद्ममाच्छादित
विश्वान्तराल येन तस्मिन्ध्वरसमूहपूरितद्रष्टाण्डोदरे पाण्डुसूनी अत एव अपवि-
मण्डलमाविर्भूतमण्डल धनु । आविर्भूत मण्डल यस्य धनुष इति वृत्तौ भूतार्थस्यानु-
प्रवेशात् 'भूतशब्दस्याप्रयोगः । विधुवति कम्पयत्यास्फालयति सति भीतभीतेव
भोतप्रकारेण जयलक्ष्मीर्विजयश्री कथमपि केनचित्प्रकारेण । महता कष्टेन वा ।
विपमनयनसेनापक्षपात शिवसैन्यानुराग विहातु त्वनतु विषेहे । शशाफेत्यर्थः ।
माकिनीवृक्षम् । लक्षण तूक्ष्मम् ॥ ६५ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां चतुर्दश सर्ग समाप्तः ॥

पाण्डुनन्दन (अर्जुन) के सबलोग्नापी शरसूह से अश्लिष विष के अन्तराल पूर्व हो जाने पर अतुष्टावृत्ति यज्ञ का सञ्चालन करते रहने पर निजयकल्पमी धरती हुई महाभू एव के साथ 'अम्बुज (शिर) सेता से जनुताम को छोड़ने में समर्थ हुई (अर्थात् निजसेता भीषण क्षमाम करने पर भी अन्त में पराशित ही हुई) ॥ १५ ॥

अशुन दिनवनामक यज्ञस्य सर्व समाप्त

पञ्चदश सर्ग ।

अथ भूतानि वार्त्रभरारेभ्यस्तत्र तत्रसु ।

भेजे दिश परित्यक्तमहेष्वासा च सा चम् ॥ १ ॥

अर्थात् ॥ अथानन्तरम् । तत्र रणे भूतानि सर्वप्रणिन । वृत्र हतवानिति वृत्र-
हेन्द्रः । महाभ्रूणवृत्रेषु हिम् । तस्यापत्य पुमान् वार्त्रभोऽर्जुन । तस्यापत्यम्
इत्यप्रत्यय । तस्य शरैभ्यस्तत्रसुर्विभ्यु । 'वाक्शुभ्रमुत्रसाम्' इति विक
रुपादेत्वाभ्यासलोपामाव । सा चमूक्ष । इषयोऽत्यन्त पुनिरितीष्वासा चनूषि ।
'चनुष्वापोऽतमिष्वासा' इति हेमचन्द्रः । अकतरि च कारके सञ्जायाम् इति
करणे घन् । परित्यक्ता महान्त इष्वासा यथा सा । परित्यक्तापुधेत्यर्थ । दिशो भेजे ।
पलायाचक इत्यर्थः । अत्र भूतत्राससैनापलायनयोः समुच्चयकथनात्त्रिचविष्य
क्रियासमुच्चयोऽर्थकार । गुणक्रियायीगपद्य समुच्चय इति सामान्यलक्षणम् । तस्य
समर्पेन सप्तष्टिः ॥ १ ॥

वृत्राह्वरविधातो के पुत्र (अर्जुन) के नाशों से वरा के सग जीव अन्तु भवभीत हो गये । किराताधिनाथ (शरर) की सेना भी वही २ यज्ञों का परित्याग कर गान गई ॥१॥

अपरपद्भिरिवेशान् रणाञ्जिववृते गणैः ।

मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु सभ्रमध्वजित मन ॥ २ ॥

अपरपद्भिरिति ॥ गणैः प्रमथैः । ईष्टान् स्वामिन धियम् । पुरोवर्तिनिति भाव ।
अपरपद्भिरिव रणाञ्जिववृते निवृत्तम् । भावे हिम् । तथा हि-कृच्छ्रेषु व्यापस्तु सभ्रमेण
साप्यसेन अध्वित तसम् । 'संभ्रम साप्यसेऽपि स्यात्' इति धिरव । मनो मुह्यत्येव ।
अथ पुरोवर्तिनोऽप्यध्वान्प्रपपद्य इति भाव ॥ २ ॥

प्रमथ गव (पुरोवर्ति) श्ली जपमान् को न देखते हुए संभ्रम से पराङ्मुख हो गये क्योंकि अपाति के समय में निर्मोपकाऽकान्त मन व्याकुल हो ही जाता है ॥ २ ॥

स्वष्टिहताशसया तेषा पराङ्मुखतया सया ।

आयिवेरा कृपा फेती कृतोर्चवर्षानर भरम् ॥ ३ ॥

लम्बितेति ॥ लम्बिता ध्वस्ता आवासा जयाशा यस्यास्तया तेषा गणाना
सबन्धिन्या तथा । अतिसनिकुट्टयेत्यर्थं । पराङ्मुखतया रणवैमुख्येन । पलायनेने-
त्यर्थं । केतौ ध्वजे कृत आरोपित उच्चैरुन्नतो वानरो हनुमान् येन त नर पुरुषम् ।
कपिध्वजमित्यर्थं । कृपा करुणा । आविवेश । तदीचदुर्दशा दृष्ट्वा स कृपाविष्टोऽभू-
दित्यर्थं । यमकालकार ॥ ३ ॥

विजयकी आशा के प्रति निराश होकर वन प्रमथ गणों की सयाम से पराङ्मुखता को
देख कपिकेतन (अर्जुन) को दया ने आच्छ कर लिया ॥ ३ ॥

ननु शत्रुषु कथं करुणा तत्राह—

आस्थामालम्ब्य नीतेषु वश क्षुद्रेष्वरातिषु ।

व्यक्तिमायाति महता माहात्म्यमनुकम्पया ॥ ४ ॥

आस्थामिति ॥ आस्था यत्नमालम्ब्य । 'आस्था त्वालम्बनास्थात्म्यत्वापेक्षासु
कथ्यते' इति विश्व । वश नीतेषु क्षुद्रेषु दुष्टेषु अरातिषु शत्रुषु विषयेऽनुकम्पया
कृपया महता वीराणां माहात्म्यं महादुर्भावत्वं व्यक्तिं स्फुटयाम् । आयाति प्राप्नोति ।
स्ववीर्यनिर्जितेष्वरातिष्वपि करुणा भूषणमेव महतामिति भाव ॥ ४ ॥

शत्रुओं के आघार नीच शत्रुओं को आधीन कर लेने पर भी दया करने से महादुर्भागों की
उदारता व्यक्त होती है ॥ ४ ॥

स सासि सासुसू सासो येयायेयाययायय ।

ललौ लीला ललोऽलोल शशीशशिशुशी. शशन् ॥ ५ ॥

(एकाक्षरपद ।)

स सासिरिति ॥ सहासिना वर्तमान सासि सलङ्ग असू सुवन्ति प्रेरय-
न्वीत्यसुसुचो वाणा । 'पू प्रेरणे' इति धातो 'सलृद्धिप-' इत्यादिना क्तिप् । असु-
सुभि सह वर्तत इति सासुसू सवाण । अरयन्ते क्षिप्यन्ते शरा अनेनेत्यासो
धनु । 'अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्' इति धञ् । आसेन सह वर्तत इति सास
सचाप । सर्वत्र 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहि । येषा यातव्यां यान-
साध्या अयेया अयातव्या यान त्रिनैव साध्या । 'अचो यत्' इति यत्प्रत्यय ।
येयाश्च अयेयाश्च येयायेया, तेषा हयानामाये स्वर्णगजादिलाभे याति प्राप्नोतीति
येयायेयायय । अय शुभावहद्वैध यातीत्ययय । येयायेयाययश्चास्ती अयचञ्चेति
येयायेयायययय । याधातोरुभयत्रापि 'धातोऽनुपसर्गे' कः इति कप्रत्यय ।
अतो लळति बिलसतीति लळ । 'लळ बिलासे' पचाणच् । अलोऽलोऽचपल ।
शशिन ईश शिवस्तस्य शिशु स्कन्दस्त शृणाति हिनस्तीति शशीशशिशुशी ।
क्तिप् । शशन् प्लुतगतिं कुर्वन् । 'अक प्लुतगतौ' इति धातो शशप्रत्यय । सोऽर्जुनो
लीला शोभा ललौ प्राप । 'ल आदाने' कर्तरि क्तिच् ॥ ५ ॥

सासि = तलवार (पाश्र्व) लिये हुए साश्वत् = अश्व (प्राण) को जो प्रेरणा करे वह अश्वत् अर्थात् राज । अश्वत् के सहित अर्थात् हाथ में बाण लेकर सास = (आस = धनुष) आसके सहित अर्थात् धनुष लेकर वैवायेयवायवायव = वैव = यान के द्वारा साश्व अवेव = जो यान के बिना ही साश्व है । वैवायेय यानमाश्व और अयानसाश्व आये = होना हाथी, इत्यादि के लामाश्व जो जाता हो । अदव = शुभावह माश्व को जो प्राप्त करता है । लल = [लल विजामे भासु से बना है] रसलिये रसका अर्थ है शोभा सम्पन्न मलील = म[लील ५ = न] लोल = चञ्चल अर्थात् शान्त शशीशाशशुशो = [शशि = चन्द्रमा ईश = स्वामी शिशु = बालक शी = मारनेवाला] चन्द्रमा के स्वामी [शकर] के पुत्र को मारनेवाला [मजुन] शशन = प्लुतगति से गमनकारी लीला = शोभाको कर्त्तव्य प्राप्त हुआ ।

वह अजुन हाथ में खण्ड्य राज और गण्डीव धनुष को धारण करता हुआ यानसाश्व तथा अयानसाश्व दोनों प्रकार के स्वर्ण गजकूप लाम को प्राप्त करनेवाला तथा सुन्दर माश्व को प्राप्त शोभा सम्पन्न गम्भीर [शान्त] अजुन बितने चन्द्रमा के स्वामी [शकर] के पुत्र [पदानन] को मार मगाया था प्लुतगति से गमन करता हुआ परमशोभा को प्राप्त हुआ [अर्थात् उस क्षण वह अनुपम शोभा को प्राप्त हुआ इस श्लोक के प्रत्येक चरण में एक ही प्रकार के अक्षर हैं अतः ऐसी रचना को एकाक्षर पाद कहते हैं ॥ ५ ॥

प्रासजिह्व यतश्चैतान् मन्दमेवान्वियाय स ।

नातिपीडयितु ममानिच्छन्वि हि महौजस ॥ ६ ॥

प्रासेति ॥ सोऽजुन । प्रासजिह्व भवविलह यथा तथा यतो वच्छ्रुत । पलाय मामानित्वर्थ । पृतान् शयान् मन्दमेव । अन्वियायानुजगाम । तथा हि—महौजसो महाजुभावा भवानतिपीडयितुं नेच्छन्ति ॥ ६ ॥

अजुन ने अथ से विह्वल होकर आगे हुए उन प्रमगणों का अनुसरण मन्दगति से ही किया क्योंकि महान परात्मशाली [उदार] व्यक्ति अत्यन्त दुखियों को पीडित नहीं करते ॥ ६ ॥

अथापि इसता साचिस्थितेन स्थिरकीर्तिना ।

सेनान्या ते जगदिदे किञ्चिदायस्तचेतसा ॥ ७ ॥

(निरोहणम्)

अपेति ॥ अथापि । अथानामित्वर्थ । इसता उन्न-दर्शनात्मयमानेन साचिस्थितेन तद्विवारणाय तिबगम्यस्थितेन । तिर्यगर्थे साचि स्थिर इ-यमर । स्थिरकीर्तिना । स्वयम्भद्रवादिभि भाष । किञ्चिदीपत् आयस्तं सिद्धं चेतो यस्य तेन स्वकीयगणमहादीपतिब्रविष्टेन सेनान्या स्कन्देन । 'पार्वतीनन्दन स्कन्द' सेनानी

रश्मिभूर्गुह' इत्यमर । ते गणा प्रमथावयो जगदिर उक्ता । औष्ठयवर्णाभावा-
द्विरोष्ठयमेतत् ॥ ७ ॥

सेना को भागते हुए देख उसे रोक रखने के लिये तिरछे से खड़े होकर शिवकुमार
[स्वामिकांतिक], जिगकी कीर्ति अचिचल है, सेना के आगे मन्दहास करते हुए कुछ खिन्न
होकर प्रथम गणों से बोले । इस श्लोक में ओष्ठ से उच्चारण होने वाले वर्ण एक भी नहीं
आये हैं इन लिये इने 'निरोष्ठय' रचना कहते हैं ॥ ७ ॥

अथैकविंशतिभि श्लोकै र्कन्दुवाक्यमेवाह—

मा विहासिष्ट समर समरन्तव्यसयत ।

क्षत क्षुण्णासुरगणैरगणैरिव किं यश ॥ ८ ॥

(पादान्तादियमकम्)

मा विहासिष्टेत्यादि ॥ रन्तव्य रमण प्रीडा । बहुलग्रहणाद्भावे तस्यप्रत्यय ।
सयत्प्रदम् । 'समुदाय क्षिप सयत्समित्वाविसमित्युध' इत्यमर । समे रन्तव्य
सयती येषा ते समरन्तव्यसयत तुल्यप्रीडासगरा इति तेषा सवोधनम् । यूय समर
सग्राम मा विहासिष्ट न त्यजत । जहातेर्माहि लुब् । मध्यमबहुवचनम् । क्षुण्णा
पराजिता असुरगणा यैस्तै । भङ्गिरिति शेष । अगणैरिव गणैरिवोऽन्यैरिव किं
किमर्थं यश क्षत नाशितम् । नैतद्युक्तमहाशूराणा भवात्पानामित्यर्थ ॥ ८ ॥

[अथे प्रमथगणा । आप लोगों के लिये खेल और युद्ध समान है क्योंकि आपलोगों ने
राक्षसों के समूह को मर्दन करके छोड़ा है फिर गणों से इतर देवता, राक्षस तथा मनुष्यों
की तरह सग्राम से विरत होकर आप लोग क्यों अपने पक्ष को कलङ्कित करते हैं ? वीरों के
लिये यह उचित नहीं है ॥ ८ ॥

विवस्वदशुसश्लेषद्विगुणीकृततेजस ।

अमी वो मोघमुद्गूर्णा हसन्तीव महासय ॥ ९ ॥

विवस्वदिति ॥ विवस्वदशुसश्लेषेण सूर्यकिरणसपर्केण द्विगुणीकृतानि उत्तेजितानि
तेजांसि येषा ते तथोक्ता मोघव्यर्थं उद्गूर्णा उधता । 'गुरी उधमने' इति धातो
कर्मणि क्त । वो युष्माकम् । अमी महासय खड्गा हसन्तीवैस्तुषेत्ता । किं पलाय-
मानाना खड्गैरिति हास ॥ ९ ॥

ये बड़े बड़े खड्ग, [तलवार], जो सूर्य की किरणों के सपर्क से द्विगुण प्रकाशित
हो रहे हैं तथा व्यर्थ ही ऊपर की उठे हुये हैं, आप लोगों की दशा पर हँसते हुए की तरह
नालम पद रहे हैं ॥ ९ ॥

यनेऽवने वनसदा मार्गं मार्गमुपेयुषाम् ।

वाणैर्बाणै समासक्त शङ्केऽश केन शाम्यति ॥ १० ॥

नत इति ॥ वनसर्वा वनेनरणात् । अथने रक्षके वने मार्गं मृगशब्धिभिन मार्गं
पन्धानम् । उपेयुषाम् । पलायमानानामित्यर्थ । शुष्माकमिति शेष । बाणो ज्वलिते
वामस्तीति तैर्वापैर्ज्वलित्युक्ते । वण सहाय्ये इति धातोयम् । ततः शर्षावाशिन्य
इत्यध्यात्म्यः । मन्त्रकत्वाद्भवयोरभेः । उक्तं च रक्षयोर्दक्षयोस्तद्भवयोरभयोरेति ।
सशिन्दुकाशिन्युक्तयोः स्मारभेदेन कल्पनम् ॥ इति । बाणैः शरैः समासक समास
श्रितं अथ दुःखं तद् केन शान्भवीति सङ्गः । केनोपायेन शान्भवेति विधा
रवामीत्यर्थः ॥ १ ॥

आपणौग वननिवासिणो के रक्षक [वाता] इत् वन मे मृगो के मार्गं का अनुसरण
करते हुए भागे वा रहे व ले फिर वन शम्भकारी बाणों के साथ साथ आने वाला दुःख किस
उपाय से घात होगा ? मुझे इस बात का अर्थ सचेत है ॥ १ ॥

पातितोत्तुत्तुभादात्स्यै सद्दत्तायतकीर्तिभिः ।

गुर्वी कामापद् हतु कृतमावृत्तिसाहसम् ॥ ११ ॥

पातितेति ॥ पातितं अशितं उत्तुत्तुभादात्स्यमुच्यतेमाधो वैश्वे संख्या आहता
आयता विस्तृता कीर्तयो वैश्वे । शुष्माभिरिति शेष । कां गुर्वीमापद् हन्तुम् । न
कांचिद्वृत्तित्यर्थः । आवृत्तिर्गुहादिवृत्तिः सैव साहसं कृतम् । अतः पापदमत्र किंभि
रत्कम्स्तृतिमान् । तदुक्तं मनुना अस्तु मीत परावृत्त सहभावे ह्यन्ये परैः । अर्तु
पददुष्कृतं किञ्चिन्नर्तव्यं प्रतिपद्यते ॥ यथास्य सुकृतं किञ्चिदुत्तरार्थमुपाश्रितम् । अर्तु
तत्सवमात्से परावृत्तस्य तु ॥ इति ॥ ११ ॥

आप छोणों ने अपने गौरव पर ध्यान न देकर अपनी सुदूर-व्यापिनीकीर्ति को
ध्वस्त करने निश्च मगान् आपणिके प्रतिकार के लिये समाप्त से विमुक्त होने का
सङ्कल्प किया ॥ ११ ॥

नासुरोऽय न वा नागो धरसस्थो न राजस ।

नां सुप्रोऽय नवाभोगो धरणिस्थो हि राजस ॥ १२ ॥

(गौमृशिकावम्)

नेति ॥ किञ्च अथमसुरो दीव्ये न । नागो नागराशो वा पञ्चवर्षं न । धर इव
सखा मय्य स धरसस्थैर्वतकारः । महाबधरपत्ता इत्यमरः । संस्था ग्वत्रस्था
प्रणिधिसमाप्याकतस्त्रमुपुः इति वैजयन्ती । राजसो न । किन्तु अर्थं सुखयतीति
मुखः । सुखमाप्य इत्यर्थः । नवाभोगोऽभिनवप्रसक्तः । महोस्त्राह इत्यर्थः । नाभोगो
बलवत्कृत्र पूजतापतपोरपि इति विरक्तः । धरणिस्थो मृतकवाही दृष्टिसो रजोगुण
प्रधानो वा पुरुषो हि । कमिभानुप इत्यर्थः । पुरुषां पूर्या मरः । अनुप्या मानुषा
मर्षा मनुजा मानका मरा इत्यमरः । अतो न पलायनमुचितमिति भावः । गौमृशि
कावम्—'वर्णानामेकहृदयं धराकावतरमपयोः । गौमृशिकेति तस्याङ्गुष्करं तद्दिशे

विदु ॥' इति लक्षणात् । पुरुषकोट्यद्वयेऽर्धद्वय क्रमेण विद्विष्यैकान्तरविनिमयेन वाचने ऋकनिष्पत्तिरित्युद्धार ॥ १२ ॥

यह पुरुष दानव, नाग, पहाड़ और राजस इनमें से कोई भी नहीं है । महान्-वस्ताह-शाली होने को आशङ्का हो तो यह भी नहीं है किन्तु भूमिचारी रव्योष्णी मनुष्य है अत एव वह संरक्षतापूर्वक विज्ञित किया जा सकता है ॥ १२ ॥

मन्दमस्यन्निपुलता घृणया मुनिरेव व ।

प्रशुदत्यागतावज्ञ जघनेषु पशूनिव ॥ १३ ॥

मन्दमिति ॥ एष मुनिर्घृणया कृपया । इषु कृता शास्त्रामिव मन्दमस्यन् शिष्यो वो बुष्मान् पशूनिवागतावज्ञ यथा तथा जघनेषु प्रशुदति चोदयति । किमत पर कष्टमस्तीति भाव ॥ १३ ॥

यह तपस्वी कृपा करके हरी हरी शास्त्रार्थों के सदृश वाग प्रखिप्त करते हुए [हरी हरी शास्त्र के खाने के अलक्ष्य से समागत] पशु को भीति जघन प्रदेश में प्रहार करता है, इससे बढ़कर और कष्ट क्या हो सकता है ? ॥ १३ ॥

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।

नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥ १४ ॥

(एकाक्षर ।)

नेति ॥ पदच्छेदस्तावद्—न ना ऊमनुन्न नुन्नोन ना अना नानानना ननु । नुन्न अनुन्न मनुन्नेन भा अनेना नुन्ननुन्ननुत् ॥ अथ योजना—हे नानानना नानाप्रकाराभ्याननानि येषा ते । नानाविधास्या इत्यर्थ । अनेन निकृष्टेन नुन्नो विद्व ऊमनुन्नो य स ना न पुरुषो न । तथा नुन्न ऊनो येन स नुन्नेनो ना पुरुषोऽना ननु अपरुष खलु । ऊनाङ्गीत पलायमानस्तु किं वक्तव्यमिति भाव । किंच, नुन्न इव स्वामी यस्य स नुन्नेन । स न भवतीति ननुन्नेन । ननुन्नस्य 'न'शब्दस्य सुप्सुपेति समास । स नुन्नो विद्वोऽपि अनुन्नोऽविद्व एव । यूयमनुन्नस्वामिकत्वाद्नुत्ता एवेति भाव । तथा नुन्ननुन्ननुदतिज्ञेन नुन्ना नुन्ननुन्नास्तान्नुदतीति नुन्ननुन्ननुत् । अतिपीडितपीडको ना पुरुषोऽनेना निर्दोषो न भवतीति, किंतु सद्दोष एवेति । 'नार्त नातिपरिच्छतम्' इति नियेचादित्यर्थ । अथ तु नैतावद्य इति । न पलायितव्यमिति भाव । अथमेकव्यञ्जन । अन्त्यस्तकारस्तु न दोषावह, 'नान्त्यवर्णस्तु भेदक' इत्यभ्यनुज्ञानात् ॥ १४ ॥

हे नानानना । = अनेकविध मुलधारी, । ऊमनुन्न = तीव्रविचार का, ना न = पुरुष नहीं है, नुन्नेन ना अना = न्यूनता का विधाती पुरुष अथवा पुरुषसे भिन्न कोई देवता है, ननुन्नेन = अस्विका स्वामी विद्व न हो, यह नुन्न = (यद्यपि) विद्व किवा

(तथापि) अविद्व की तरह है तु ननु न्वनुत् = अत्यन्त व्यथा से आक्रान्त को व्यथितकारी पुरुष अनेतान् = निर्दोषो नहीं होता किन्तु दोषी होता है ऐसा वह पुरुष नहीं है ।

इ विविध मुद्रवालो (प्रमथ गथो) यह छुद्र विचार का पुरुष नहीं है । यह न्यूनता (दुर्गारं) का लघुल नष्ट करने वाला पुरुष से अतिरिक्त कोई देवता है । विविध होता है कि इतका स्वामी भी है (अगारा घुमकर नहीं है) । यह गणोसे आहत है तथापि अनाहत की तरह प्रतीत होता है । अ यत्न व्यथा से आक्रान्त पुरुष को व्यथित करना दोषान्वह होता है इस दोष से भी वह पुरुष मुक्त है । (अत एव से विमुक्त होकर भागना नहीं शक्य) ॥ १४ ॥

वरं कृतध्वस्तगुणादत्यन्तमगुण पुमान् ।

प्रकृत्या ह्यमणि श्रेयात्राज्ञकारश्च्युतोपल ॥ १५ ॥

धर्मिति ॥ कृता पूर्वध्वस्तादिता पश्चाद्भवस्ता नष्टास्ते कृतध्वस्ता । एवकाल-
हत्यादिना समाप्त । कृतध्वस्ता गुणा यस्य तस्मात् पुंसः । अत्यन्तमतिबाधेनालुप्तो
विगुणः पुमान् वरं भगविस्रयः । किंचिद्विय इयर्थः । 'वरं क्लीबं मन्त्रिमये
हृद्यमन्' । तथा हि—प्रकृत्या स्वभावेन । अमणिर्मणिरहितोऽलंकारः श्रेयान् ।
च्युतोपलो अक्षरलो न भेयान् । उपलः प्रस्तरे रत्ने इति किरकः । पलाथिगु
समरादक्षमर एव धर्मिति भावः । अत्र समासविपवाहोपयो प्रतिबिम्बकरणा-
दुपहान्तालंकारः ॥ १५ ॥

जो पुरुष मुक्तो को प्राप्त करता है और पश्चात् उसे नोही नष्ट कर डालता है ऐसे पुरुष की अपेक्षा निर्गुणीपुरुषकृष्ण अच्छा होता है । पहले से ही आभूषण में रत्न अतिथि के विषय मान्यमान नसिक अच्छा है परन्तु रत्नमयित होने के पश्चात् वे रत्न वस्तु खान से वस्तु हो जाय तो वह आभूषण शीमा को नहीं पाता है (अर्थात् शुद्धचेर से भाग जाने की अपेक्षा मुक्त में न खाना हो अच्छा है) ॥ १५ ॥

स्वन्दना नो चतुरगा सुरेभा वा विपत्तयः ।

स्वन्दना नो च तुरगा सुरेभा वा विपत्तयः ॥ १६ ॥

(समुद्रकः ।)

स्वन्दना इति ॥ स्वन्दने प्रवन्तीति स्वन्दना अचना । स्वन्दनारथा नो सन्ति ।
मन्त्रादित्वात्सु । चतुरं यच्छन्तीति चतुरगाः । तुरगाश्च अरवा नो सन्ति । सुरेभा-
शोभनगृहणा । सुरेभा वा सुरप्रमात्र नो सन्ति । अविपत्तयो विपत्तिरहिता विप
त्तयो वा विविष्टा पदातीयो नो सन्ति । अतो न अंत्यव्यमिति भावः । अत्र पूर्वोक्त
राधयतामां विशीपजानां किलोप्यानां चोद्देशोद्देशरथीयूताना यथासंख्यसबन्धा
नुक्रममाद्यथासंख्यालंकारो यमकेन संयुक्तः ॥ १ ॥

इस पद्य के उत्तरार्द्ध के सम्पूर्ण पद पूर्वार्द्ध की भांति हैं अर्थात् पूरे छन्द में एक एक पद दो दो बार आये हुए हैं ।

योगनामक—स्वन्दना = स्वन्दन्ते इति स्वन्दना अर्थात् वेगवान्, स्वन्दना = रथ, चतुरगा = चतुर (अञ्ची चाल से) (गा = चउने वाले) दुरगा = घोड़े, सुरेगा = सुन्दर वृष्टण वाले, सुरेगा = पैरावत, अविपत्तय = विपत्ति से हीन, विपत्तय = विशिष्ट पैदल सिपाही ।

इस पुरुष के पास वेगशाली रथ, अञ्ची चाल का घोडा, सुन्दर गर्जनकारी पैरावत हाथी तथा सुसज्जित पैदल सिपाही इन सब में से एक भी नहीं है ॥ १६ ॥

भवद्भिरधुनारातिपरिहापितपौरुषै ।

हृदैरिवार्कनिष्पीतै प्राप्त पद्भो दुरुत्तर ॥ १७ ॥

भवन्निरिति ॥ अधुनाऽरातिभि परिहापितानि ह्याजितानि पौरुषाणि वैस्ती-
र्भवन्नि । अर्कनिष्पीतैरर्केण सशोपितैर्हृदैरिव । दुरुत्तरो दुस्तर पद्भ इव पद्भो
दुष्कीर्तिरूप प्राप्त ॥ १७ ॥

आप लोगों का पुरुषार्थ इस समय शत्रु के द्वारा भगा दिया गया है जिसके कारण आप लोग सभ्रं भगवान् की किरणों के द्वारा सुखाये हुए जलाशय (तालाब) की तरह हो गये हैं । और एक दुस्तर कर्म में फँस गये हैं । अर्थात् अयश के पात्र बन रहे हैं ॥ १७ ॥

वेत्रशाककुजे शैलेऽलेशैजेऽकुशशात्रवे ।

यात् किं विदिशो जेतुं तुजेशो दिवि कित्तया ॥ १८ ॥

(प्रतिलोमानुलोमपाद ।)

वेत्रेति ॥ वेत्राणि वशा फलिन्वो वा शाका बर्बरश्च कुजा वृषा यस्मिस्तस्मिन्
वेत्रशाककुजे । शत्रुणा दुःप्रवेरय इत्यर्थ । 'वेत्र वशाफलिन्वोश्च' इति विश्व । 'शाक
बर्बरवर्धका' इत्यमर । लेशेन स्तोकेनाप्येजते कम्पत इति लेशैश्च । स न भवतीति
अलेशैजस्तस्मिन् । अत्यन्ताकम्पन इत्यर्थ । 'एज कम्पने' । पचाष्यच् । न कोकते
नादत्त इत्यकुको ग्रहणासमर्थ शात्रवो यस्मिस्तस्मिन् अकुशशात्रवे । 'कुश आह्वाने' ।
पचाष्यच् । शैले पर्वते । केवा भाव किंता कुत्सितता तयोपलक्षिता सन्त । 'कुत्सा-
प्रभावितर्केषु शेषे किंशब्द इष्यते' इति शारदत । विदिशो जेतुं यात् गच्छत किम् ।
याते सप्रले लोट् । मध्यमपुरुषवहुवचनम् । दिवि स्वर्गेऽपि । तुजेश इति तेषां
सबोधनम् । तुजन्त इति तुजा हिंसका दैत्या । 'तुजि हिंसायाम्' पचाष्यच् । तेभ्यो
दैत्येभ्य ईक्षत इति तुजेश । ईशो किप् । तेभ्योऽपि शाक्ता इत्यर्थ । स्वर्गेऽप्यसुर-
विजयिना पुष्पाकमत्र बुद्धस्यले बुद्धशत्रौ पलायनमनुभितमिति भाव ॥ १८ ॥

यात्, फलशाली वृक्ष और भी अनेक प्रकार के वृक्षों के मरे हुए, रेणु मात्र भी टस से भस न करने वाले पक्षी पर जहाँ शत्रु कुल्ल कर नहीं सकता, क्या

मन्वय न चळतीति कर्म ज्ञायते तच्चाह —

तनुवारभसो भास्वानधीरोऽविनतोरसा ।

चारुणा रमते जय्ये क्रोऽभीतो रसिताशिति ॥ २३ ॥

(प्रतिभोमानुलोमन रलीइयम्)

तन्विति ॥ तनुमाहृणोत्पान्छाद्यतीति तनुवार वर्म । कर्मण्यम् । तेन वमस्ति भासत इति तनुवारमस । मस हीही । पचाष्व् । भास्वान् तेजस्वी चारुणा भारवताऽविनततेनोन्नतेन । उरसा चङ्गस्थलेनोपलङ्घित । पृथविधोऽपि अभीतो षपरद्वितो रसितेन शब्दिद्वतेनैवारन ति प्रसतीति रसिताशी तस्मिन् । रवेणैव विश्व प्राणहारिणीत्यथ । आभीक्ये गिति । जन्ये युद्ध । युद्धमात्योपन जन्यम् इत्यमर । अभीतो निर्भीक सन् क्रो रमते कः क्रोडति । यदि रमते तद्भवमेवेति भावः । निर्भय सचारादेवास्य निश्चलत्वं निश्चीयत इत्यथ । पूर्वश्लोकस्याथ प्रतिभोम ॥ २३ ॥

कवच से झञ्जोभिन और तेनका पुरुष जिसका बंध स्वयं रम्य और उन्नत है तथापि धैर्य की मूलता के कारण निर्भीक होकर हीन ऐसा व्यक्ति है जो स्व माय से विश्वसाहकारी समाम मे सेलेग (अग्नि सेव्या है जो यही तपस्वी) ॥ २३ ॥

अथ पञ्चभिः कुलकमाह—विभिन्नत्वादिभिः—

विभिन्नपातितार्थीयनिकुञ्जरथपरमनि ।

हृत्क्षिपनगच्छतृधिराम्बुनदाकुले ॥ २४ ॥

आहव विक्षिपति—विभिन्नानि विदारितान्यत एव पातितान्यरथीया अरथ समूहाः । पूषकात्— इति समास । सैररथमग्नौर्निदृशानि रथानां वस्त्रानि यस्मिंस्तथोक्तः । 'बुन्दे त्यस्वीधमारव्यस्य इत्यमर' । केशारवान्या यन्ध्यावन्वतरस्याम् इति क्षप्रत्ययः । हृत्वास्ताद्विता द्विपा गजा एव नया शौलाः । 'शौलबृहौ जगावगौ इत्यमर । तै' इत्यानि वक्षितानि । छीवते कर्मणि कः । 'छवो' मृदुनुनासिके च' इत्युलदेशः । तानि कृधिराम्येवाम्बुनि तेषां नदौ प्रवाहैराकुले व्याह ॥ २४ ॥

युद्ध स्थल के रथों का मार्ग काकर गिरे हुए घोड़ों के डेर से अवलम्ब हो बाठा है । पर्वतकार आहत हाथियों के शरीर से नगी की बलघारा के मृदुल रक्त सचार से नद बरने लगता है जिससे युद्ध स्थल व्याह हो जाता है ॥ २४ ॥

देवाकानिनि कावादे याहिकास्यस्वकाहि वा ।

काकारेभमरे काक्य निरभमव्ययमस्वनि ॥ २५ ॥

(सप्तशोभम् ।)

देवेति ॥ पुनश्च देवानाऽनघयुहीययत्युक्ताहवतीति देवाकानी तस्मिन् देवा कानिनि । कन हीही इति पातोष्यभ्ताग्निनि । यद्वा—के शब्दे इति पातोराहृ पूर्वस्य भारे यदुदि आकारं आष्यन्मीपद्भवमिति यावत् । देवानां तद्गतीत्यर्थः ।

कावाद् ईषद्वादी वाक्छह । 'ईषदर्थे' इति 'कु'शब्दस्य कावेश । तद्वृत्ति कावादे ।
अर्शावादिभ्योऽञ् । वाहिका पर्यायेण रणमारोद्ग्रहणम् । वहे पर्याये धात्वर्थनिर्देशे
प्युक्ष्वक्यम् । वाहिकया क्रममातरणक्रियया सुष्ठु शोभन यथातयाऽस्वकान् परानाजि-
हीतेऽभियुक्तं । योनयतीति यावत् । वाहिकास्वस्वकाद्वास्तस्मिन् । योद्धृधर्मो युद्ध-
उपचर्यते । 'ओद्वाद् गतौ' इति धातोर्विच्प्रत्यय । 'सोमपा'शब्दवत्प्रक्रिया । 'वा'
शब्दार्थे ॥ क मदीदकमाकिरन्तीति काकारा मदस्वाविण । किरतेराद्पूर्वात्क
मंग्यन् । पृषविधा इभमरा गजघटा यत्र तस्मिन् काकारेभमरे । काका इव काका
गर्गा इति लक्षणया तेषामामन्त्रणम् । निस्वा निरुःसाहा भन्वा सोरसाहास्ता-
नुमयान्वायन्ति सवृण्वन्तीति निस्वभण्यव्या । 'व्येञ् सवरणे' । 'आतोऽनुपसर्गे'
क' । तैर्वभस्ति भासत इति निस्वभण्यव्यभस्वास्तस्मिन् । भण्येभ्योऽपि दृश्यन्ते'
इति कनिप । सर्वतो भ्रमणात्सर्वतोभद्रास्पर्शश्चिन्नबन्ध । यथाह दण्डी—'तद्विदु सर्वतो-
भद्र भ्रमण यदि सर्वत' इति । उद्धारस्तु—चतुष्कोष्ठे चतुरङ्गबन्धक्रमेणाद्यपदिक्-
चतुष्टये पादचतुष्टय बिलिख्यानन्तरपदिक्चतुष्टयेऽप्यत्र क्रमेण पादचतुष्टयलेखने प्रथ-
मासु षतसु पदिक्षु प्रथम पाद सर्वतो वाच्यते, द्वितीयादिषु द्वितीय इत्यादि ॥

रणस्थल देवताओं को भी प्रोत्साहित कर देता है । इसमें वाक्छह बहुत धोखा भीबा
होता है । दूसरे लोग भी जी जीद कर इसमें कार्य करते हैं । मदसानी हाथियों की कटाते
तयामस्थल व्याप्त रहता है । इनमें असाही निरसाही दोनों प्रकार के लोगों को जी जान
से लटना पड़ता है । वस्तुतः यह श्लोक शब्द चित्र है महिनाभी गका से सहायता
लीभिधे ।) ॥ २५ ॥

प्रनृत्तशववित्रस्ततुरगाच्चिप्रसारथौ ।

मारुतापूर्णतूणीरविक्रुष्टहतसादिनि ॥ २६ ॥

प्रनृत्तेति ॥ प्रनृत्तशवैभ्यो नृत्यक्यन्धैभ्यो विग्रस्तै छुभितैस्तुरगैराक्षिता अवधूताः-
सारथयो यत्र तस्मिन् । तथा मारुतेनापूर्णैर्व्यासैस्तूणीरैर्निक्रुष्टैर्विक्रुष्टा शब्दायमाना
हतास्ताडिता सादिनस्तूरङ्गिका यत्र तस्मिन् । पाठान्तरे मारुतापूर्णतूणीरैर्विक्रुष्टा-
भाकर्षिता अतएव हता मारिता सादिनोऽश्ववारा यत्र तस्मिन् ॥ २६ ॥

रणक्षेत्र में वीरों के शिर विच्छिन्न होने से थक तड़ फड़ाने लगते हैं जिसे देखकर घोड़े
भयभीत होकर सवारों को फेंक देते हैं और वे उसी युद्धस्थल में पड़े हुए रहते हैं । रण
भूमि में पड़े हुए वीरों के निपक्ष अब हवा से पूर्ण हो जाते हैं तो उससे ध्वनि निकलती है
उस ध्वनि से आकृष्ट होने पर आहत अमारोही भी वहीं पड़े हुए रहते हैं ॥ २६ ॥

ससत्त्वरत्तिदे नित्य सदरामर्षनाशिनि ।

त्पराधिककसन्नादे रमकत्वमकर्षति ॥ २७ ॥

(अर्धभ्रमक ।)

द्वेयुत्प्रेषा । आशा दिष्टो ध्वनयन् शब्दयुक्ता कुर्वन् दध्वान शब्दमकरोत् ।
दिशस्तु ककुभ काष्ठा आशाश्च हरितश्च ता इत्यमरः ॥ ३३ ॥

शुक्र के अक्षुण्ण पर बाणप्रक्षेप करने पर अत्रगण (धनुज) की टहलार से पूर्व इन्द्रकील पवत ने मानी विदीय होते हुए मण्डूक दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए शब्द किया ॥ ३३ ॥

तद्गणा ददृशुर्भीम चित्रसस्या इवाचला ।

त्रिस्मयेन तपोयुद्ध चित्रसस्था इवाचला ॥ ३४ ॥

(द्विचतुर्थमक्षरम् ।)

तद्विति ॥ भीम तपोहरपाण्डवयो । तत् प्रसिद्ध युद्ध गणा प्रमथाक्षिप्रसस्या-
क्षिप्राकारा अचला शैला इव । तथाक्षिप्र आलेख्ये संस्था स्थितिर्येषां ते चित्रसस्या
क्षिप्रलिखिता इव अचला आश्चर्यवशाद्विभ्रता सन्तो विस्मयेन ददृशुः ॥ ३५ ॥

प्रमथ गण औ चित्राकार पहा के सदृश थे अर्जुन और शुक के भोजन युद्ध की
विचलित के तरह निभल होकर आश्चर्य पूर्वक देखने लगे ॥ ३५ ॥

परिमोह्यमाणेन शिञ्जालाघवलीलया ।

जैष्णयी विशिखलेणी परिजह्ने पिनाकिना ॥ ३६ ॥

परीति ॥ शिञ्जालाघवलीलयाऽभ्यासपाटवातिस्रयेन हेतुना परिमोह्यमाणेन
भ्यामोह्यता । अणावकर्मकाङ्क्षितवत्कृत्वात् इति परस्मैपदे प्राप्त नपादमि इत्या
दिना तप्प्रतिषेधादात्मनेपदं ज्ञानच । गैर्विभाया इति कृत्स्वस्य नस्य चाणत्वम् । पिना
किना हरेण जिष्णोरर्जुनस्यैव जैष्णयी विशिखलेणी बाणसघात परिजह्ने निरस्ता ॥ ३६ ॥

अभ्यासनैपुण्य की अतिशयिता के कारण मन्मोहित करते हुए शुक भगवान् ने
अक्षुण्ण के बाणरामि (सर सहति) को काट डाला ॥ ३६ ॥

अवद्यन्पत्रिण शभो सायकैरथसायकैः ।

पाण्डव परिचक्राम शिञ्जया रणशिञ्जया ॥ ३७ ॥

(आद्यम्लयमकम् ।)

अवद्यन्निति ॥ पाण्डवोऽर्जुन । अवसायकैरथसायकैः । एतेष्वन्त्याण्डुलप्रत्ययः ।
सायकैर्वाणि शभो पत्रिण शरान् । अवद्यन् अण्डयन् । धत्ते घातुप्रत्ययः । शीत
रथनि इत्येकारलोपः । शिञ्जया शङ्खु प्रमदितुमिच्छया । उत्साहेनैत्यथ । रणे
शिञ्जयाऽभ्यासेन च परिचक्राम । उत्साहेनैपुण्याम्प्रां चकारित्यर्थः ॥ ३७ ॥

अक्षुण्ण अठवारी बाणों से शर भगवान् के बाणों को लक्षित करते हुए उत्साह और
रणचातुरी से समरक्षेत्र में घूमने लगे ॥ ३७ ॥

चारचुञ्चुक्षिरारेची चक्रक्षीररुचा रुचः ।

पचार रुचिरश्चरु चारैराचारचञ्चुरः ॥ ३८ ॥

(इष्यत् ।)

चारैरिति ॥ चारैर्गतिविशेषैर्विक्त इति चारचुञ्जु । 'तेन विस्रष्टुञ्जुञ्चणपौ' इति तु
 झुप्प्रत्यय । चिरमारेचयति रिक्तीकरोति शत्रूनििति चिरारेची । चञ्चतञ्चलतञ्चरस्य
 यत्कलस्य रुचा प्रभया । रोचत इति रुच शोभमान । 'हृगुपध-' इति क । रुचि
 र । सुन्दर । अञ्चूर्यते मृश चरतीति चञ्चुर । चरतेर्थेऽन्तात्पचाद्यच् । 'चरफलोश्च'
 इति नुमागम । 'यङोऽचि च' इति षडो लुक् । आचारस्य युद्धव्यवहारस्य चञ्चुरो
 मृशमाचरित स मुनिश्चारु यथा तथा चारैश्चक्रादिवन्धैर्गतिविशेषै । चचार । 'चार
 प्रियाल्लृष्टे स्वाद्गतौ बन्धापसर्पयो' इति विश्व ॥ ३८ ॥

चारचुञ्जु अथात् गति विशेष से युक्त, चिरारेचो अर्थात् अधिक समय में शत्रुको रिक्त
 करने वाले, चञ्चकोररुचास्व अर्थात् फहराते हुए भूखंपत्र की कान्ति से शोभित होते
 हुए, चार अर्थात् सुन्दर आचारचक्र अर्थात् युद्ध के पूरे अभ्यासी अर्जुन चक्रबन्धादि
 अनेक रणकालिकी गति से समराक्षण में परिभ्रमण करने लगे ॥ ३८ ॥

स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीक धुनान स बृहद्बलु ।

धृतोल्कानलयोगेन तुल्यमशुमता बभौ ॥ ३९ ॥

स्फुरदिति ॥ स मुनिरर्जुन स्फुरन्ती पिशाङ्गी पिशाङ्गवर्णा मौर्वी ज्या यस्य तत्त-
 थोक्तम् । 'नद्युतश्च' इति कप्प्रत्यय । बृहद्बलुर्गाण्डीय धुनान कम्पयन् । उत्कैवानल-
 स्तेन धृतो योगो येन तेन । अशुमताऽर्केण सूर्येण तुल्य बभौ । उपमा । ३९ ॥

अर्जुन उस बृहद् (विशाल) गाण्डीय वन्य को—बिसकी भयङ्गा कपिश वर्णों की
 थी—कम्पित करते हुए लम्बा रूप अग्नि से सयुक्त सूर्य के समान सुशोभित होने लगे ॥ ३९ ॥

पार्थवाणा पशुपतेरावब्रुर्विशिखावलीम् ।

पयोमुच इवारन्ध्रा सावित्रीमशुसहतिम् ॥ ४० ॥

पार्थेन । पार्थवाणा अर्जुनशरा पशुपतेर्विशिखावलीं शरसघातम् । सवितुरिय
 सावित्री ताम् । अशुसहतिं किरणसमूहम् । अरन्ध्रा निविडा पयोमुचो मेघा इव ।
 आवमुस्तिरोदधु ॥ ४० ॥

अर्जुन के बाण ने चन्द्रशेखर (शकर) प्रेरित शर सहति को इस प्रकार आच्छादित
 कर लिया जिस प्रकार सूर्य के किरणपुष्पों की घने घने बादल आच्छादित कर लेते हैं ॥ ४० ॥

शरवृष्टिं विधूयोर्वीमुदस्ता सव्यसाचिना ।

रुरोध मार्गजैर्मार्ग तपनस्य त्रिलोचन ॥ ४१ ॥

शरेति ॥ त्रिलोचन शिव । सव्येन सचते समवैतीति तेन सव्यसाचिनाऽर्जु-
 नेन । उदस्ता चिन्तामुर्वी महती शरवृष्टिं मार्गजै शरैर्विधूय निरस्य तपनस्य रवेर्मार्ग-
 स्तोधावमे ॥ ४१ ॥

शकर भगवान् ने पार्थ के द्वारा प्रक्षिप्त प्रचुर शर वर्षण को निरस्त कर के अपने शरों
 से सूर्य भगवान् के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया ॥ ४१ ॥

तेन यातेनिरे भीमा भीमार्जनफलानना ।

न नानुकम्प्य विशिखा शिखाधरजवासस ॥ ४२ ॥

(शृङ्खल यमकम्)

तेमेति ॥ तेन शिवेन भीमा भयकरास्तथा भियो भयस्य मार्जं विरासस्तदेव फल प्रयोजन येषां ता याननान्यप्राणि येषां ते भीमाजनफलानना । तथा शिखाधरा मयूरास्तेषु जातानि शिखाधरानि बहोणि सानि वासासीव वासांसि पञ्च येषां ते शिखाधरानि मयूरपक्षिण इत्यथ । विशिखा बाण । अनुकम्प्य कृपां कृत्वा न म्याते निर हति न । कि अनुकम्प्यैवेत्यर्थ । अनुशिशुत्वाद्धिति भाव । सभाभयनिपेयने द्वी प्रविषेधामित्युक्तम् ॥ ४२ ॥

शर भयवान के द्वारा शासनक वाय विनये समभाग भय के दूर करने में मफल थे तथा शिखी (मयूर) से लक्ष्म बह (पिछ) उनके लिये बल रूप में दया का परि-त्याग करके ही चारों तरफ व्याप्त हो गये ऐसा नहीं कि तु दया न युक्त हो रे ॥ ४२ ॥

शुविद्यद्गामिनी तारसरावमिहतभ्रुति ।

हेमीपुमाला श्युभे विद्युतामिव सहति ॥ ४३ ॥

(गूढचतुर्थपाद)

शुविद्यविति ॥ सां स्वर्ग विद्यन्तरिच च शामिनी व्यापित्री शुविद्यद्गामिनी । द्विती याप्रकरणे श्रिताविषु गम्पानी । गुपसवयानाच्छमस्त । तारेणोक्षितरेण सरावेण भावे न विहता निद्रा कृतय कृपां यथा सा लभोक्त । हेमी हेममयी ह्युमाका शिवसरा चरिर्विद्युता सहति विद्योक्तविशेषणा विद्युन्माकेव । श्युभे चतुर्थपादवर्णनां त्रिपाद्य सभवाद्गूढचतुर्थपाद्भाद् ॥ ४३ ॥

शर भयवान के द्वारा प्रविष्ट सुरण मयी शण्डसहति जो कि मन्तराल आकाश पथ में सञ्चरण कर रही थी अपने वक्त्रर स कण कुहरस्य आचरण को भेदन करती हुई (कान क पर्दे को काट टाकती हुई) निरका के समूह के साथ देवाम्यमान होने लगी ॥ ४३ ॥

त्रिलहृथ पत्रिणा पङ्क्ति भिन्न शिवशिलीमुखे ।

उयायो दीयसुपात्रित्व न चकम्पे कपिध्यज ॥ ४४ ॥

त्रिलहृथति ॥ शिवशिलीमुखे पत्रिणा पङ्क्ति निजशरावलि त्रिलहृथातिक्रम्य भिन्नो विद कपिभ्वजोऽशुनो ज्वाह प्रशास्तम् । शृङ्गप्रसस्पयोर्ज्यावान् इत्यमर । वीथ सखम् । उपाभित्वावस्थाव न चकम्पे न चञ्चाल । किन्तु ता सञ्चलत्वा विन्ध्य ॥ ४४ ॥

श र भयवान न शर्मा ने अशुन के बाण जाठ को भाव कर (काटकर) उन्हें विद न दिया । शिव न कपिभ्वज (शत्रु) वक्त्र पराक्रम का भाषा ल एपभूमि स विच र न न पुने (किन्तु उ ई म न क ते रहे) ॥ ४४ ॥

जगतीशरथो युक्तो हरिकान्तः सुधासितः ।

दानवर्षी कृताशसो नागराज इवावभौ ॥ ४५ ॥

(अर्धत्रयवाची)

जगतीति ॥ अर्धत्रयवाची श्लोकोऽयम् । तत्रादौ जगराज इति पदच्छेदमाश्रित्य प्रथमोऽर्थोऽभिधीयते—(१) ईशस्य रणे युक्तः शक्तः । अन्यत्र,—जगतीशरणेभूरुचने युक्त स्थितः । विधिनेति शेषः । हरिः सिंह इव कान्तो मनोहरः । अन्यत्र,—हरिणा सिंहाना कान्त आवासदानादियं । सुष्ठु दधाति पालयति प्रजा इति सुधा । क्लिबन्तः । असितः कृष्णवर्णः । ततो विशेषणसमासः । अन्यत्र,—सुधाच्छेदद्वयविशेषस्तद्वत् सितो धवलः । दानवर्षी बहुप्रदः कृताशसः कृतजयाभिधायः । अन्यत्र,—दानवैर्द्वैत्यैर्जगतिभिः इना कामेन न च कृताशसा नानाफलभिःलाभो यस्मिन्स ना करोऽर्जुनः । जगराजो हिमवानिव जगत्प्राथम्यावभाषित्येकोऽर्थः ॥ (२) ॥ अथ ऐरावतसाम्यमुच्यते—जगतीं युष रयन्ति तन्नुकुर्वन्तीति ते जगतीणां राक्षसास्तेषां रणस्तत्र युक्तो विहितसमर्थः । हरिकान्तः इन्द्रप्रियः । उभयत्रापि समानमेतत् । सुधासितोऽमृत स्वच्छः । एकत्र,—शीलतः, अन्यत्र,—वर्णत इति विवेकः । दानवर्षी धनप्रदो भद्रवाची च । कृताशसः उभयत्र कृत-जिगीषुः । पार्थो नागराज इव ऐरावत इव । आद्यभाविति द्वितीयोऽर्थः ॥ (३) ॥ अथ शेषोपम्यमुच्यते—जगतीशरणे भूरुचने युक्तो नियुक्तः । दैवेनेति शेषः । 'शरणं गृह्णन्निद्रा' इत्यमरः । हरिकान्तः कृष्णप्रियः । उभयत्रापि युक्त्यम् । सुष्ठु दधातीति सुधा । दत्तुमेति केचित् । एकदेशग्रहणात् समुदायग्रहणम् । तत्र सितो बद्धः । 'पिञ्ज-वन्दने' च । अन्यत्र,—सुधयाऽमृतेन सितो बद्धः । अमृतप्रिय इत्यर्थः । दाववाश्च शक्यश्च (ईलंघनीश्च ताभिः) तैः कृताशसो विहितप्रशसः । उभयत्रापि युक्त्यमेतत् । सोऽर्जुनो नागराज शेष इवाद्यभाविति तृतीयोऽर्थः ॥ ४५ ॥

इयं श्लोकः में तीन प्रकार के अर्थ भासित होते हैं । उनका क्रमशः उल्लेख किया जाता है —

(१) जगराजपक्षीया योजना—जगतीशरथे युक्त हरिकान्त सुधासित दानवर्षी कृताशसः ना जगराज इव आवभौ ॥

जगति=रथ सघार में ईशरथे=शकर मगधान् के रण में युक्त =समर्थ हरिकान्त = सिंह के समूह मनोहर सुधासित =जवा का पालक कृष्ण वर्ण दानवर्षी=भूरुर परिमाण में दान के द्वारा कृताशसः=अथ की अभिलाषा रखते हुये नामुरष (कर्जुन) इन्हीं सब विशेषणों से युक्त जगराज=शैलों के राजा हिनाल्य की तरह, जो जगतीशरथे युक्त = पृथ्वी की रक्षा करने के लिये मर्या के द्वारा निर्मित (पहाड़ों के कारण पृथ्वी जगद् बगह से कूटी हुई है) ऐसा विद्वान् का सिद्धान्त है), सिद्धों को आवासस्त्यान प्रदान करने से प्रिय है, द्वारा एक तरह का लेपद्रव्य (चूना) है उसके समान पलक वर्ण है, अनेक प्रकारके राजों

तेन व्यातेनिरे भीमा भीमार्जनफलातना ।

न नानुकम्प्य विशिखा शिक्षाधरजवासस ॥ ४२ ॥

(श्रुत्वा यमकम्)

तेनेति ॥ तेन शिष्येन भीमा भयकरास्तथा भियो भयस्य मार्जन निरासस्तदेव कळ प्रवीजन येषां तान्मानमान्ययाणि येषां ते भीमाननफलातना । तथा शिक्षाधरा मयूरास्तेषु ज्ञातानि शिक्षाधरज्ञानि यदाणि तानि वासांसीव वासांसि यथा येषां ते शिक्षाधरजामि मयूरपक्षिण इत्यर्थः । विशिखा बाणाः अनुकम्प्य कृपां कृत्वा न व्याते निर इति न । किं त्वनुकम्प्यैवेत्यथ । अनुजिह्वुत्वाविति भावः । समाख्यनिषेधने ही प्रतिषेधावित्युक्तम् ॥ ४२ ॥

शहर भगवान के द्वारा प्राप्तजनक बाण बिनके भयभाग भय के दूर करने में मफल थे तथा शिखी (मयूर) से उत्पन्न वह (पिच्छ) उनके किये बन्ध कथं वे दया का परि-त्याग करने ही चारों तरफ म्यास हो गये पैमा नहीं किन्तु दया म युक्त हो वे ॥ ४ ॥

शुषियद्गामिनी शरसरपविहृतभ्रुति ।

ह्रीभीपुमाला शुशुभे विधुतामिध सहति ॥ ४३ ॥

(गूढचतुर्थपाद)

शुषियद्विक्ति ॥ सा स्वरा विवदन्तरिष्ठ च गामिनी व्यापिनी शुषियद्गामिनी । द्वितीयाप्रकरणे शिवादिषु गम्पानीनामुपसख्यानारसमास । शारेणोद्धितरेण संरावेण शारे न विहता निद्रा भ्रुतय कणा यथा सा तथोक्ता । ह्रीं ही हेममयी ह्रीपुमाला शिवशरा वलिर्विधुता सहतिरिवोक्तविशेषणा विधुन्मालेव । शुशुभे चतुर्थपादवर्जानां त्रिपाद्या समवाद्गूढचतुर्थपादमाहुः ॥ ४३ ॥

शहर भगवान के द्वारा प्रचित श्रवण मयी शपसहति जो कि मातराळ भाकाश पय में सखरप का रही थी अपने उचस्तर से वष पुहरस्य आवरण की भेदन करती हुई (कान के पं की पाइ टाळती हुई) विजली के समूह के सृष्ट शैराप्यमान होने लगी ॥ ४३ ॥

विलह्वच पत्रिणा पक्षिक् भिज शिवशिलीमुखै ।

यावो दीर्यमुपाभित्य न चकम्प कपिध्वज ॥ ४४ ॥

विलह्ववति ॥ शिवशिलीमुखै पत्रिणा पक्षिक् निजशरावलि विलह्वयातिकम्प भिजा विद्ध कपिध्वजाऽनुनो ज्याप प्रशस्तम् । इन्द्रप्रशास्यशोर्भायान् इत्यमर । दीय सखम् । उपाभित्यावस्थापय न चकम्पे न चञ्चल । किन्तु सा-सदृशवतस्या वित्यय ॥ ४४ ॥

शहर भगवान ने बाणों में अनुन के बाण जान को जीत कर (काटकर) उन्हें विद्ध व िया । फिर वे कपिध्वज (अमर) उत्पन्न पराक्रम का आधार ल रथयुधि से विव न्ति न पुत्रे (किन्तु उन्हें स-न काते रहे) ॥ ४ ॥

जगतीशरणे युक्तो हरिकान्त सुधासितः ।

दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवावभौ ॥ ४५ ॥

(अर्धत्रयवाची)

जगतीति ॥ अर्धत्रयवाची श्लोकोऽयम् । तत्रादौ अगाराज इति पदच्छेदमाश्रित्य प्रथमोऽर्थोऽभिधीयते—(१) ईशस्य रणे युक्तं शक्तं । अन्यत्र,—जगतीशरणे भूरक्षणे युक्तं स्थितं । विधिनेति शेषः । हरिः सिंह इव कान्तो मनोहरः । अन्यत्र,—हरिणा सिंहाणा कान्तं भावासदानात्प्रियं । सुष्ठु दधाति पाठयति प्रजा इति सुधा । क्विबन्तः । असितं कृष्णवर्णं । ततो विशेषणसमासः । अन्यत्र,—सुधाच्छेदपद्मव्यविशेषस्तद्वत् सितो धवलः । दानवर्षी बहुप्रदं कृताशंसं कृतक्यामिलापः । अन्यत्र, दानवैर्दैत्यैर्ऋषिभिः इना कामेन न च कृताशंसा नामाकलामिलापो यस्मिन्स ना नरोऽर्जुनः । अगाराजो हिमवानिव जगत्यावभावल्लोकोऽर्थः ॥ (२) ॥ अथ ऐरावतसाम्यमुच्यते—जगतीं मुध रयन्ति तन्कुर्वन्तीति ते जगतीशा राक्षसास्तेषां रणस्तत्र युक्तो विहितसमर्थः । हरिकान्त इन्द्रप्रियः । उभयत्रापि सम्मानमेतत् । सुधासितोऽमृत स्वच्छः । एकत्र,—शीलत्, अन्यत्र,—वर्णत् इति विवेकः । दानवर्षी धनप्रदो भवन्नाथी च । कृताशंस उभयत्र कृत-क्षिणीपः । पार्थो नागराज इव ऐरावत् इव । आवभाविति द्वितीयोऽर्थः ॥ (३) ॥ अथ क्षेपीपम्यमुच्यते—जगतीशरणे भूरक्षणे युक्तो नियुक्तः । दैवेनेति शेषः । 'शरणं गृह्णन्ति' इत्यमरः । हरिकान्तं कृष्णप्रियः । उभयत्रापि सुलभम् । सुष्ठु दधातीति सुधा । वसुधेति केचित् । एकदेशग्रहणात् समुदायग्रहणम् । सत्रं सितो बद्धः । 'षिष्ठं यन्धने' कः । अन्यत्र,—सुधयाऽमृतेन सितो बद्धः । अमृतप्रिय इत्यर्थः । दानवाश्च ऋषयश्च (ईर्लक्ष्मीश्च तामि) तैः कृताशंसो विहितप्रशंसः । उभयत्राति सुलभमेतत् । सोऽर्जुनो नागराज शेष इवावभाविति तृतीयोऽर्थः ॥ ४५ ॥

इन श्लोक में तीन प्रकार के अर्थ भासित होते हैं । उनका क्रमशः उल्लेख किया जाता है —

(१) अगाराजपक्षीया योजना—जगतीशरणे युक्त हरिकान्त सुधासित दानवर्षी कृताशंस नागराज इव आवभौ ॥

जगति=रस ससार में ईशरणे=शकर भगवान् के रण में युक्त =समर्थ हरिकान्त = सिंह के सदृश मनोहर सुधासित =प्रजा का पाशक कृष्ण वर्ण दानवर्षी=अचुर परिमाण में दान के दाता कृताशंस=अथ ही अमिलापा रखते हुए भा=रुप (अर्जुन) इन्हीं सब विशेषणों से युक्त अगाराज=रौलों के राजा हिनालय की तरह, जो जगतीशरणे युक्त = पृथ्वी को रक्षा करने के लिये महा के द्वारा निर्मित (पहाड़ों के कारण पृथ्वी जगह जगह से स्ती हुई है ऐसा विद्वानों का सिद्धान्त है), सिधों को आवासस्थान प्रदान करने से प्रिय है, सुधा एक तरह का उपद्रव्य (चूना) है उसके समान धवल वर्ण है, अनेक प्रकारके राजों

का प्रजाता है और जिसने देव और ऋषि लोग अनेक फल प्राप्त करने की अभिवाचा रखते हैं सुशोभित हुये ॥

(२) नामराजपक्षीया योजना—पूर्वोक्तविशेषणविशिष्ट. नागराज=देवावत इव भावभो भगनी=पक्षीको अर्थात्=एक नरे शक्ति भगतीयास्त्रैर्पारये युक्त. अर्थात् राक्षसों के संज्ञान में समक दोनों पक्षमें वही अर्थ है हरिकान्त=रन्द्रका भिष (अजुन और देवावत दोनों हैं) सुवासित=अमृत के समान स्वच्छ, अजुन पक्षमें शील्ये कारण स्वच्छ और परावत पक्ष में वय स्वच्छ (शुभ्र) दानवर्षा=वन प्रगल्भ और देवावत पक्ष में मदस्तादी कृतायास=दोनों पक्ष में विन्दे=युक्त है पार्थ नागराज=देवावत की तरह सुशोभित हुये ॥

(३) तृतीयपक्षीया योजना—उक्तविशेषणमन्त्र स अजुन नागराज इव शेष नाग इव भावभो ॥

भगनीशरये=इषी की रक्षा करने में युक्त = निष्क हरिकान्त=श्री कृष्णभिय नामैः देवप्रभये नाममानस्य प्रकृत इत परिभाषा से सुवासित=अमृत में तथा हुआ अथवा अमृत के द्वारा तथा हुआ अर्थात् अमृतभिय दानवर्षाकृतायास=देव ऋषि और ई=भगनी के द्वारा प्रवासित वह अजुन नागराज अहिराज (शेष) के समान सुशोभित हुये ॥ ४५ ॥

विफलीकृतयज्ञस्य शतवागस्य रामुना ।

गाण्डीवधन्वन खेभ्यो निष्क्राम हुतारान् ॥ ४६ ॥

विफलीति ॥ शंभुना शतवागस्य अत एव विफलीकृतयज्ञस्य निष्कलयप्रसव्य गाण्डीवधनुसस्य तस्य गाण्डीवधन्वनोऽजुनस्य । 'वा सञ्जायाम्' इत्यनङ्गादेशः । खेभ्य द्विद्वयस्येभ्यः । खमि-प्रये सुखे स्वर्गे इति विरयः । हुतारानोऽग्निः । निष्क्राम निष्क्रान्तः । क्रोधादिति भावः ॥ ४६ ॥

विफलीकृत (शक्र) के द्वारा शार्प के अत हो जाने पर सम्पूर्ण विफळ प्रवास वाले गाण्डीवधारी अजुन के शत्रुओं से अग्नि की ज्वाला निकल पड़ी ॥ ४६ ॥

स पिशाङ्गजटापलिं किरन्नुरु तेज परमेण मन्मुना ।

वसिन्तोर्पाधिजातवेदसा हिमशैलेन सम विदिद्युते ॥ ४७ ॥

स इति ॥ पिशाङ्गजटापलिं पिशाङ्गजटापलिः परमेणोत्कृष्टन मन्मुना क्रोवेन । उरु महत्तज्ज किरन् विदिपनूसोऽजुनो उचिता शीपधवस्तणज्योतीष जातवेदा इवाग्निश्च वसिन्स्तेन हिमशैलेन सम तस्य हिमाद्रिरिव विदिद्युते हिमाद्रिवस्तुसुभ इति विम्वप्रतिविम्बभावोपमा ॥ ४७ ॥

वपिष वर्ण जटावधारी अजुन उत्कृष्ट शीप के द्वारा अपने महान् तेज की विद्यरत्ने रूप दिवालय के सदृश जो अहिनिश जागृत्यमान और विषा तथा शशाभि से प्राप्त रहता है शोभित होने लगे ॥ ४७ ॥

शतशो विशिखानवधते भृशमस्मै रणवेगशालिने ।

प्रथयन्ननिवार्यवीर्यता प्रजिघायेषुमघातुक शिव ॥ ४८ ॥

शतश इति॥ शिव शतशो विशिखानवधते स्रण्डयते रणवेगशालिने रणसस्मसो-
भिनेऽस्मै पार्थाय भृशमत्यर्थम् । अनिवार्यवीर्यताम् । निजामिति श्लेष । तस्मै प्रथयन्
दर्शयन् । किं तु अघातुकममारकम् । 'लय पत'—इत्यादिना हन्तेःकञ् । ह्युम् ।
जातावेकवचनम् । प्रनिघाय प्रयुयुजे । 'हि गतौ इति घातोर्किट् । 'हिरचङि इति
कृत्यम् ॥ ४८ ॥

भगवान् शूरी ने सैकड़ों शरों को स्रण्वित करते हुए सग्राम के वेग से भृशोमित उस
शूरी को अपने अनतिक्रमणीय पराक्रम का आभास दिसलाते हुए उन बाणों से, जो
धातुक नहीं थे, प्रहार किया ॥ ४८ ॥

शमोर्धनुर्मण्डलत प्रवृत्त त मण्डलादशुमिवाशुभर्तु ।

निवारयिष्यन्विदधे सितारव शिलीमुखच्छायावृता धरित्रीम् ॥ ४९ ॥

शमोरिति ॥ सितारवोऽर्जुन शमोर्धनुर्मण्डलतो भर्तुर्बलयात् प्रवृत्त निष्कान्त
तमिषुम् । अशुभर्तुरकंस्य मण्डलात् प्रवृत्त अशुमिष । अत्रापीषुवज्जातावेकवचनम् ।
निवारयिष्यन् निवारयितुकाम । क्रियार्थक्रियाया लृटि तस्य सन्नदेश । धरित्रीं मुख
शिलीमुखाना द्वाया शिलीमुखच्छायम् । 'द्वाया बाहुस्ये' इति नपुंसकत्वम् । तेन
वृता व्याता विदधे कृतवान् । शरजालच्छायावृता धरित्रीमकरोदित्यर्थ । उपमा
लकार ॥ ४९ ॥

शुभ्रतुरजमवाहन (अर्जुन) ने शर के घनुष (अशपन) मण्डल से निस्सृत बाण से,
जो कि स्रमण्डल से निस्सृत शिरण के छट्टश बा, रक्षा के लिये बाणों की छाया से पृथ्वी
को ढँक लिया ॥ ४९ ॥

घन विदार्यार्जुनबाणपूग ससारबाणोऽयुगलोचनस्य ।

घन विदार्यार्जुनबाणपूग ससार बाणोऽयुगलोचनस्य ॥ ५० ॥

घनमिति ॥ अयुगलोचनस्य विषमनेत्रस्वेनस्वालोचनस्य । लोच्यतेऽसौ लोचन ।
कर्मणि ल्युट् । न लोचनोऽलोचनस्तस्य अलोचनस्वात्प्राप्तुपज्ञानविषयस्य सम्बन्धी
प्राते बल बाण शब्दस्ताम्या सारबाणाम्या शिरशब्दाम्या सह वर्तत इति ससारवा-
न । ववयोरनेद इत्युक्तम् । न युज्यते कुत्रापील्ययुक् सन्नरहित । क्रिप् । बाण धार ।
जातावेकवचनम् । घन सान्द्र अर्जुनस्य बाणपूग शरजाल विदार्य विभिष्य घन निबिड
विदार्यो भूमिकृष्णाम्बुतो कृताविरोपा अर्जुना ककुभवृहा बाणा नीलसैरेयका पूग
कमुकालेपात् । 'विभाषा वृक्ष-' इत्यादिना ह्यन्वैकवजाव विदार्यार्जुनबाणपूग
ससार । विवेकेश्वर्य । 'स्रगती' । यद्वा, तदानामेव युगलोचनस्यार्जुनस्य ससारे
त्यर्थ ॥ ५० ॥

अथाहुः शानतिपथं अर्थात् शान्तपथं त्रिलोचन भग इन् दारुण का वाण्य श्री वि सार
 पूष वा गौर सर सराह् श्री ध्वनि कर रहा था अजुन के अक्षय्य वाणस्यति की वाटकार
 बिना कही बके हुये अर्जुन नामिना कता किष्टी और पूगोफळ के धने कुओं को विदीर्ष्य
 करते हुये वही में प्रविष्ट कर गया भयवा वही समय तुगलोचन अजुन का वाण्य श्री भला ॥
 इह श्लोक मे प्रथम और द्वितीय के समान तृतीय और चतुथ चरण है परन्तु इत्येवपूर्व
 ह मल्लीनाह की टीका पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है ॥५॥

रुजन्महेपून्बहुवाशुपतिनो गृह् शरीरैरपवारयन्विश ।

चलाचलोऽनेक इय क्रियावशान्महर्षिसचैर्बुबुधे घनजय ॥ ५१ ॥

रुजन्मिदमिदि ॥ बहुवाशुपतिनं श्रीप्रमापततो महेपून् गृह् शरीरैश्चैव मज्जयन् ।
 तथा दिशाम्पवारयन्नाच्छादयन् । क्रियावशात् बुद्धकर्मोपेतया । चलाचलो
 ऽतिच्छन्नो भ्रमंजयोऽस्तु नो महर्षिसचैरनेको बहुविध इव सुशुभे दारो ॥ ॥ ५१ ॥

अनेक प्रकार से पतनशील शिव के वाणों को व्यर्थ करते हुए बार बार वाण्य पुओं से
 दिशामों को आवृण करते हुए बुद्ध की गति के कारण भयत चञ्चल अर्जुन महर्षियों के
 धारा अनेक दिखे गये ॥ ५१ ॥

विक्रशमीयुजगतीशमार्गणा विक्रशमीयुर्जगतीशमार्गणा ।

विकारामीयुर्जगतीशमार्गणा विक्रशमीयुर्जगतीशमार्गणा ॥ ५२ ॥

(महायमकम् ।)

विक्रशमिति ॥ जगतीशस्य पृथिवीपतेरस्तु नस्य मागणा चाणा विकारां प्रसारम् ।
 ईयुः । तथा जगति श्लोक ईशमागणां संशुधरा विकारां विषमगतिम् । ईयुः ।
 मत्रमीयुरित्यर्थः । तथा जगतीं इत्यस्मि तन्कुर्वन्तीति जगतीशा दानवाः । जातोऽनुप
 सगं कः । ताम्भारवन्तीति जगतीशमार । जियतेष्वन्ताकिप । से च से गणा प्रम
 वाः जगतीशमार्गणा विकारमुक्तात् ईयुम् । ईयुः । प्रापुरित्यर्थः । अहो देवेऽन्यस्य प
 राक्रमप्रसर इति विस्मयादिति भावः । तदानीं मार्गयन्तीति मार्गणा अन्वेषका ।
 कर्तवि वयुर् । जगतीशस्य श्रेष्ठोक्तमाशस्य मार्गणा अन्वेषकाः शिवाग्रहारी देवर्ष्यादयो
 कीर्ता पञ्चिर्णा काशो गतिरत्रेति विकारमाकाशम् । ईयुः । विरूपयेति भावः ॥ ५२ ॥

जगतीश = पृथ्वीके स्वामी अर्जुन के, मार्गण = वाण्य विकार = विह्वारको ईयु =
 प्राप्त हुए अर्थात् अर्जुनके वाण्य धारो तरफ फैल गये । जगति = लोकमें ईशत्व = राकारके,
 मार्गणा शर विकार = विषम गतिकी प्राप्त हो गये अर्थात् सन्निव हो गये । जगती
 पृथ्वी इत्यत्र तन्कुर्वन्ति इति जगतीशा दानवा अर्थात् पृथ्वीको जो सुप्त करे अर्थात्
 दानव लोग । वान् मारयन्ति जगतीशमार अर्थात् दानवों की नाश करनेवाके से च ते गया
 पुरीक विदीपन बुद्ध को प्रमत्तगण विकार = बलकाको ईयु = प्राप्त हुए अर्थात् जाण्य में
 पड गये । मागवन्ति इति मार्गणा = अन्वेषकारो जगतीशस्य = त्रिभुवनवधि शिव के

अन्वेषक विकास = नीना = पक्षियोंकी काश = गतिको अर्थात् आकाशमें प्राप्त हुए । शकर भगवान्को देखनेके लिये उनके भक्त लोग आकाशमें उपस्थित हुए ।

अर्जुनके अस्खल नाभ सर्पत्र न्यास होगये जिससे शकर भगवानके नाभ खण्डित कर दिये गये इस प्रकारके अर्जुनके रथ कौशलको देख दानवापक्षारी शरके गण आश्चर्यमें पड गये—अनुभवं यह अलौकिक सामर्थ्य है । शकर भगवान और तपस्वी अर्जुनके युद्धको देखनेके लिये शकरके भक्तलोग आकाशमें आ पहुँचे ॥ ५२ ॥

संपश्यतामिति शिवेन वितायमान लक्ष्मीवत्. क्षितिपतेस्तनयस्य वीर्यम् ।
अङ्गान्यभिन्नमपि तत्त्वविदांमुनीना रोमाञ्चमञ्चिततरं विभरावभूवु ॥५३॥
इति भारविकृतौ महाकाव्ये किराताजुनीये पञ्चदशः सर्गः ।

संपश्यतामिति ॥ इति इत्थं शिवेन वितायमान विस्तार्यमाणम् । 'तनोतेर्यकि' इति त्रैकविपक आकारादेशः । लक्ष्मीवतो जयश्रीमतः । 'माहुपधापा-' इत्यादिना मतुपो मस्य वकारः । क्षितिपतेस्तनयस्यार्जुनस्य वीर्यं शौर्यं संपश्यता तत्त्वविदामपि हरेरशावतारोऽयमिति विहुपामपि । किमुतान्येषामिति भावः । मुनीनामङ्गानि गात्राणि । अभिन्नमविरलम् । अञ्चिततरमतिरुचिरतर रोमाञ्च रोमहर्षं विभरावभूवुर्वभु । 'भीही-' इत्यादिना विकल्पादात्मत्यय ॥ ५३ ॥

इति किराताजुनीयकाव्यव्याख्याया षण्टापद्यसमाख्याया पञ्चदश सर्ग समाप्तः ।

जयश्री सम्पन्न पराधिपकुमार (अर्जुन) के पराक्रम को, जो कि शकर भगवानके द्वारा विस्तृत हो रहा था, देखते हुए 'यह अर्जुन विष्णुके भय है' इस रदत्यके बात तपस्वियोंके अङ्ग अविरल और अत्यन्त रम्य रोमाञ्च (रोमहर्ष) को धारण करने लगे अर्थात् वे लोग रोमाञ्चित ही उठे ॥ ५३ ॥

पञ्चदश सर्ग समाप्त

षोडशः सर्गः ।

तत' किराताधिपतेरलक्ष्मीमाजिक्रिया वीक्ष्य विवृद्धमन्युः ।

स तर्कयामास विचिक्ततर्कञ्चिर विचिन्वन्निति कारणानि ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततोऽनन्तर किराताधिपते सवन्धिनीम् । अलक्ष्मीं गुर्धाम् । आजिक्रिया रणकर्म वीक्ष्य विवृद्धमन्युर्विवृद्धकोपो विचिक्तो निष्कलङ्कस्तर्क उहो ज्ञान वा यस्य सोऽहं न कारणानि रणभराशक्तिकारणानि विचिन्वन् विमृशन् । इति इत्थं वचनं न्यायप्रकारेण तर्कयामासाम्बुहितवान् ॥ १ ॥

अनन्तर किरातापीड (शंकर भगवात्) की मर्तो रणचतुरीको देय अत्रु नका
श्वेदानक यदक कडा । विदुदादुमानकारी अत्रु न बहुत देरतक कारणोंका विचार करते हुये
तर्न विवक करते लगे ॥ १ ॥

अत्र अथोविशसिद्धोऽकैर्बितकमेवञ्च—

मदधुतिश्यामितगण्डलेस्यां कामन्ति विक्रान्तनराधिरुद्धा ।

सहिष्णुो नेह युधाममिद्धा नागा नगोच्छ्वायमिनाक्षिपन्त ॥ २ ॥

नैत्यादि ॥ इहास्मिन्पुत्रे मदधुतिभिर्नदधुतिः श्यामा कृता इति श्यामिता
गण्डलेजा कपोलभागा येषां ते विक्रान्ता पराक्रमे कुचन्तः। कतरि च । 'शूरो वीरश्च
विक्रा' इत्यमरः । शीर्नरैरधिहृदा सहिष्णुको रणधरश्चमा युधां बुधानामभिद्धा ।
सिद्धिता इत्यर्थः । हृद्योगात्कर्मणि षष्ठी । किंच मगान्नामुच्छ्वाय पर्वतानामौद्यत्यम् ।
पत्र तेनोपसृत्यस्य समासो नोपसृष्टात्प्रत्ययः । किणीमुवोऽनुपसर्गो इत्यत्रानुप
सर्ग इति निषेधात् । आक्षिपन्त प्रतिषेधयन्त इव विग्रहाः । तथोक्तता इत्यर्थः । नागा
गता इह सदप्यमे न कामन्ति च चरन्ति । यथा बुधान्तरेष्विति शेषः । एवमुत्तरप्रति
सधश्च द्रष्टव्यम् । तथापि कथं मे शक्तिहासोऽयमिति सर्वत्र ताव्ययार्थः ॥ २ ॥

इस रणधरने समामके भारको उद्वन करनेमें समर्थ बुद्धाच शिक्षित किये एवं और
पत्रकी लंछाईस्य मी शिरकारकारी द्वायी तिनके कपोल मदधरणसे काले पश्यते हैं
नगा बिनपर पराक्रमों शूरवीर अवस्थित हैं नहीं विचरते हैं जैसा अन्य समान-धेवने
विचर रहे थे । और यह समझमें नहीं आता—मेरी शक्तिका भाव इतना कम क्यों हो
गया है ॥ २ ॥

विचित्रया चित्रयतेय मित्रा रुच रवे' केतनरत्नमासा ।

महारथीधेन न सजिरुद्धा पयोद्वयन्द्रध्वनिना धरित्री ॥ ३ ॥

विचित्रेति ॥ विचित्रया नामाकर्षण्य केतनानां इवानि तेषां आसा प्रमया मित्रा
सबक्षितां रवे रुच कान्ति चित्रयता विचित्रवर्णां कुर्वता इव स्थितेतेति केतनीध्वत्य
निमित्तोपसृष्ट्या । पयोद्वय द्रध्वनिना मेषगन्त्रीरथोपेण महतां रथानामोपेण समूहेन
धरित्री न सजिरुद्धा माधुवा ॥ ३ ॥

असा हि भीरुद्वये शीता भा वैद्य यह रणभूमि उद्वेगसे सृष्ट अन्तोर निर्बोणकारी
रुच रवे रमोके समूहसे क्ये पताकाभोमें धरित्री विविध रत्नोकी किरणोंसे निर्मित होनेके
कारण स्वयंकी किरणोंको चित्र विचित्र वर्णका बना देता है अन्धध मी नहीं है ॥ ३ ॥

समुत्ससत्प्रासमहोर्मिमाल परिरुक्कुरथामरफेनपञ्चिक ।

विभिन्नप्रयादमिहावतोति नाश्रीयमाश्रज जलधेरिवाध्म ॥ ४ ॥

समुत्ससविति ॥ इह युद्धे प्रासां कुन्तः । प्रासस्तु कुन्तः इत्यमरः । ते महोर्मय
इव तेषां माला समुत्ससन्त्यो यत्र तत् समुत्ससत्प्रासमहोर्मिमालम् । आम्नादि

फेना इव चामरफेनास्तेषा पङ्क्तय परिपुङ्गवश्चामरफेनाया पङ्क्तयो यत्र तत्-
थोक्तम् । अरधीपमश्वसमूह । 'धृन्दे त्वरधीपमाश्ववत्' इत्यमर । जलधेरम्भ इव
विभिन्नमर्यादमुन्मर्यादमुच्छङ्खल यथा तथा, आशा विश्वो नातनोति नापृणोति ॥ ४ ॥

चमचमाते हुये भाले वृक्ष हरकके सदृश और स्फुरण करते हुए चमर फेनराशिके
सदृश है । इनसे युक्त भश्वों के समूह, जो समुद्रीय जल के सदृश हैं, इस समाम में
जुम्ह हो कर उच्छृंखलतापूर्वक दिशाओं को क्यों नहीं व्याप्त करते हैं ? ॥४ ॥

इताहतेत्युद्धतभीमघोषै समुष्मिता थोड्ढ भिरभ्यमित्रम् ।

न हेतय प्राप्ततडिच्चिषः खे विवस्वदशुज्वलिता. पतन्ति ॥ ५ ॥

हेतेति ॥ इत प्रहरत । आहत विध्यत । इन्तेर्लोऽ । मध्यमपुरुषबहुवचनम् ।
'अनुदात्तोपदेश-' इत्यादिनाऽनुनासिकलोप । आहतेत्यत्र कर्मण प्रयोगासम्भवेऽपि
हन्ते स्वाभाविकसकर्मकत्वस्थानपावात् । अकर्मकत्वस्य चात्राविदक्षितत्वेन कर्मवृत्त्यैव
तन्निवृत्ते 'आहो यमहन' इतिनाऽनेपदम् । इत्येषमुद्धता प्रगदभाभीमाश्च घोषा
येषा तै । थोड्ढभिर्योषै । अर्ग्यमित्रमभिघ्नानभि समुष्मिता मुक्ता विवस्वतोऽशुभि ।
प्रतिफलितैरिति भाव । उज्वलिता क्षीपिता अत एव प्राप्तास्तडिता त्विष इव त्विषो
याभिस्ता हेतय शस्त्राणि । खे न पतन्ति । समुच्छसन्तो न हरयन्त इत्यथ । 'हेत
स्यादायुषे' इति विश्व ॥ ५ ॥

इत रणभूमिमें 'मारो' काठे ।' इस प्रकारके घुमुरवकारी योद्धाओंके द्वारा शत्रुओं
पर प्रक्षिप्त शक आकाशमें सूर्यकी किरणोंसे छड़ीत हो विध्वस्तता की कान्ति धारण करते
हुये अब नहीं गिर रहे हैं (अथ रणक्षेत्र में ऐसा होता था) परन्तु नहीं कहा जा सकता
कि इस निर्बलताका क्या कारण है ? ॥ ५ ॥

अभ्यायत सततधूमधूञ्च व्यापि प्रभाजालमिवान्तकस्य ।

रजः प्रतूर्णारिचरथाङ्गनुन्न तनोति न व्योमनि मतारिश्वा ॥ ६ ॥

अभीति ॥ अभ्यायतो वीरान्दन्तुमभ्यागच्छत । इण शतप्रत्यय । अन्तकस्य
कालस्य सधन्वि सतत सतत धूमधूञ्च व्यापि व्यापक प्रभाजालमिव स्थित प्रतूर्ण-
वैगवज्जिरश्चै रथाङ्गै रथचक्रैश्च युञ्ज प्रेरित रजो मातरिश्वा मरुत् । व्योमन्यन्तारिषे
न तनोति न विस्तारयति ॥ ६ ॥

यह परम वीरों का वध करनेके लिये समागत यमराजके प्रमापुत्रकेसदृश सर्वदा धूमके
सदृश धूत्रधूँको, वैगशाली घोड़े और रथके पहियोंके द्वारा संचूर्णित सर्वत्रव्यापिनी
धूलकी आकाशमें फैला नहीं रहा है (जैसा अन्य लढावयोंमें होता था । फिर क्या कारण
है मेरी शक्ति कमश क्षीय होती जाती है ?) ॥ ६ ॥

भूरेणुना रासमधूसरेण तिरोहिते वत्मनि लोचनानाम् ।

नास्त्यत्र तेजस्त्रिभिरुत्सुकानामहि प्रदोषं सुरसुन्दरीणाम् ॥ ७ ॥

भूरेणुनेति ॥ अथाहने रासनो गर्दभस्तद्भूसरेणोपस्थाप्यना । रासनो गर्दभ-
खर इत्यमरः । ईषत्पाण्डुस्तु धूमरः इति च । भूरेणुना रजया लोचनानां वत्मनि
चक्षुर्मांशं तिरोहिते सति तेजस्त्रिभिसोऽरिषु षरिषु । उत्सुकानाम् । धीवरणार्थं
मागतामामित्यर्थः । मसितोत्सुकान्धां वृत्तौ च इति विकल्पावृत्तौ च । सुरसुन्दरी-
णामहि विवसत् पुर मनेषो रात्रिमुख भावितः । अन्धकारकथादं श्रेस्तिरोधानात्त्रिभ्रम
स्यादिति भावः ॥ ७ ॥

इस सुन्दरों यह भी तो नहीं है—गरदभके सङ्घ भूमि-व न्याही वृत्तिते त्रेत्रोके मार्ग जब
अररर हो जाते हैं तो दिनों ही धीवरणाय अक्षयिष्ठन हररमणियोंके लिये प्रदोष काळ
हो जाता है ॥ ७ ॥

रथाङ्गसंकोडितमरवहेषा वृद्धन्ति मत्तद्विपष्टु'हितानि ।

सवपयोगादिव मूर्च्छितानि ह्याद् निगृह्णन्ति न दुन्दुभीनान् ॥ ८ ॥

रथाङ्गेति ॥ रथाङ्गसंकोडित रथचक्रवृत्तितम् । अरवानां हेपा हेपितानि
शन्दितानि । अरवानां हेकाहपाच निरथम इत्यमरः । वृद्धन्ति महाभित मत्तद्विपष्टां
वृद्धितानि । वृद्धित कदिगर्हितम् इत्यमरः । सवपयोगादिव परस्परसम्बन्धादिव
मूर्च्छितानि वृद्धिं गतानि सन्ति । वपुस्तकमवपुस्तक- इत्यादिना मपुस्तककोश- ।
दुन्दुभीनां श्रेणीनां ह्याद् निर्वोषम् । एवाननिर्वोषनिह्याद् इत्यमरः । न निगृह्णन्ति
न तिरस्कृष्यन्ति ॥ ८ ॥

इस सुन्दरों रथोंके पहियोंका अन्ध घोड़ोंकी दिनदिनाहट और मतवाले शम्भियोंकी
गम्भीर शिन्धक को अन्वो-व रथदिके कारण वृद्धिको प्राप्त हो जाते हैं नेरो (नगरी) के
निर्वोषको तिरस्कृत नहीं कर रहे हैं ॥ ८ ॥

अस्मिन् यथापौदपलोलुपानामरातिभि प्रत्युरस क्षतानाम् ।

मूर्च्छान्तराय मुहुदच्छिनसि नासारशीत करिशीकराग्भ ॥ ९ ॥

अस्मिन्निति ॥ अस्मिन् रणे मश-पौदपरोळोलुपानां शुष्णामत पुष अरातिभि-
प्रत्युरससुरासि । प्रतेशरसः सप्तमीस्थात् इति समासान्तः । क्षतानां विद्वानां
सवन्निव मूर्च्छितान्तरायो रजविभ्रस्तम् । आसारशीत वर्षाभाराशीतलम् ।
धारासपात आसार इत्यमरः । करिणां शीकर पुष अग्भ कर्षं शुष्णोच्छिनसि
अ भाषयति ॥ ९ ॥

इस रणस्थलमें कौर्क्ष और पुष्पाणके जोभी लक्ष हरन प्रदेशमें विद्व शीरोकी भूष्णां
रूप समाप्तविजकी वर्षानणके समान शीतल शम्भियोंका शीकर (अन्धक्य) वाष्पार दूर
नहीं कर रहा है (तथापि न मात्रम क्यो यह दशा होतो है) ॥ ९ ॥

असृङ्गन्दीनामुपचीयमानैर्विदारयद्भिः पदवीं ध्वजिन्या ।

उच्छ्रायमायान्ति न शोणितौघैः पङ्कैरिवाश्यानघनैस्तटानि ॥ १० ॥

अव्यगिति ॥ असृङ्गन्दीना तटान्युपचीयमानैरुपचय नीयमानैस्तथा ध्वजिन्या पदवीं विदारयद्भिर्दुःसचारा कुर्वन्ति । 'विदूरयद्भिः' इति पाठे विदूरा दूरसचारा कुर्वन्ति । आशयाना इष्टच्छुष्का । 'सयोगादेरातो धातोर्थन्वत्' इति श्यायतेर्निष्ठात्वम् । घना सान्द्रास्तैः । आश्यानघनैः शोणितौघैः पङ्कैरिवोच्छ्राय दृष्टिं नायान्ति न प्राप्नुवन्ति ॥ १० ॥

रथिर को नदियों के तट दृष्टिको सम्प्राप्त रत्नाशि का कीचड, जो कि सेना के तला को तोड़ रहा था, भोजन शुष्क कीचड के डेर से जींचे तो हम युद्ध में नहीं हो जाते हैं ॥१०॥

परिच्यते वक्षसि दन्तिदन्तैः प्रियाङ्कशीता नभसः पतन्ती ।

नेह प्रमोहः प्रियसाहसाना मन्दारमाला विरलीकरोति ॥ ११ ॥

परीति ॥ इह रणे दन्तिदन्तैर्गजदन्तैः परिच्यते ताडिते वक्षसि नभसः पतन्ती प्रियाया अङ्क इव शीता शीतला सुखकरी मन्दारमाला । सुरैर्मुक्तैः शेष । प्रियसाहस्येप्येता प्रियसाहसानाम् । यतो गजाम्बियाधिनामिति भावः । प्रमोहं प्रहारमूच्छ्रां न विरलीकरोति नमन्दीकरोति । नापनयतीति यावत् ॥ ११ ॥

इस युद्ध में शत्रुओं के दात से पिटीय वीरों के वक्षस्थल पर कामिनी के अङ्क के सदृश शीतल मन्दार की माला, जो देवताओं से मुक्त होकर आकाश से गिरती है, उन वीरों की, जो साहस प्रिय हैं मूच्छ्रांको न्यून नहीं करती ॥ ११ ॥

निपादिसनाहमग्निप्रमौघे परीथमार्यो करिशीकरेण ।

अर्कस्त्रिपोन्मोलितमभ्युदेति न खण्डमाखण्डलकार्मुकस्य ॥ १२ ॥

निपादीति ॥ करिणा शीकरेण पुष्करतुषारेण परीथमाणे व्याप्यमाने निपादिनो हस्त्यारोहा । 'हस्त्यारोहा निपादिन' इत्यमरः । तेषा सनाहा क्वच्यन्ति तेषा मग्निप्रमौघे रत्नाद्युजाळे । अर्कस्य त्रिपा तेजसा । उन्मीलितमुपादितम् । आखण्डलकार्मुकस्य इन्द्रधनुषः । आखण्डल सहस्राक्षः इत्यमरः । खण्ड नाम्युदेति ॥१२॥

महावर्तों (धात्री के सवारी) के कवच में अटित रथों के किरणपुञ्ज शत्रुओं के शुष्क से निस्तृत जलकण से ग्राह्य हो सखों की किरणों से सन्वलित इन्द्रधनुष के खण्ड की भाँति इस युद्ध में खण्ड नहीं होता है (जैसा अन्य युद्ध में होता था) ॥ १२ ॥

महीभृता पञ्चवतेव भिन्ना विगाह्य मध्यपरवारयेन ।

नावर्तमाना निनदन्ति भीममपा निघेराप इव ध्वजिन्यः ॥ १३ ॥

महोति ॥ पञ्चवता सपक्षेण महीभृता मैनाकेनेव परवारणेन क्षत्रियजेन मध्यं विगाह्य प्रविश्य भिन्ना क्षोभिता ध्वजिन्यः सेना । 'ध्वजिनो वाहिनी सेना' इत्यमरः ।

अर्षा विधेः सागरस्य । आप इव । आवर्तमाना भ्रमन्त्यः सत्य । स्वाद्वावर्तोऽभ्रमसो
 भ्रमः इत्यमरः । भीम म निनद्वन्ति ॥ १३ ॥

विष अकार सपक्ष येनाक पक्ष ने वेन के साथ समुद्र के बीचोबीच गिरकर समुद्र के जल
 को भिन्न कर दिया था और यह अभिमत होकर गम्भीर पर्वत करने लगा था उसी तरह शत्रु
 के हाथी पैदा के बीच में पड़कर उसे भिन्न कर दिया पुनः सेना अभिमत होकर समुद्र ध्वनि
 जैसा अन्य युद्ध में होती थी इस युद्धक्षेत्र में तो वैसा नहीं होगा है फिर मेरी इस दशा का
 क्या कारण है ? ॥ १३ ॥

महारथाना प्रतिदन्त्यनीकमधिस्यदस्यन्दनमुत्थितानाम् ।

आमूलखनैरधिभन्थुनेव मातङ्गहस्तीप्रियते न पन्था ॥ १४ ॥

महारथानामिति ॥ प्रतिदन्त्यनीक दम्तिसेन्य प्रति । अनीक तु रणे सैन्ये इति
 विश्व । अधिस्वदा महारथाः स्वहना रथा यत्र सत्तथा । रहस्तरसी तु रथाः स्वाह
 इत्यमरः । उत्थितानां प्रस्थितानां महारथानां रथिकविशेषणान् । अस्मान् सारथिं
 चामयाम् रथन्थुष्वेत यो नरः । स महारथसयः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः ॥ इति
 छत्रपात् । पन्था मार्गं चामूलाद् खनैरिच्छन् । मातङ्गहस्तीर्नागकर्म । अतिभन्थुनाऽ
 त्तिच्छोभेनेव न प्रियते न निरुध्यते ॥ १४ ॥

महारथियों की सेना को प्रति बिसमं महान् (प्रबल) बैरागी रथ थे युद्धार्थ प्रस्थान
 किया । महारथियों के मार्ग का अन्वेषण हाथियों के समूह विच्छिन्न युद्ध के द्वारा अत्यन्त
 कोष के साथ भी तो (इस युद्ध में) नहीं होता ॥ १४ ॥

धृतोत्पलापीड इष प्रियाया शिरोरुहाणा शिथिल कलाप ।

न बहभार पतितस्य शङ्कोर्निपाविवक्षस्यलमासनोति ॥ १५ ॥

धृतैति ॥ पतितस्य वक्षसि भ्रमन्त्य शङ्कोस्तोभरस्य संभन्धी । वा पुंसि शक्य
 शङ्कुर्ना सवका तोमरोऽस्त्रियाम् इत्यमरः । बहभारस्तन्मूलवद्धो छान्दमपिरुद्ध
 कलापो छत्रसपलापीडः कुवलययोद्धरो यस्मिन् स प्रियाया सवन्धी शिथिलः सस्त
 शिरोरुहाणा कलापः केशपाश इव निपादिनो हस्त्यारोहस्य वक्षश्चक मातनोति
 न न्याप्नोति ॥ १५ ॥

वक्षस्चक पर पडे डूबे प्रिया के शिथिल केश पाश बिसमं कमल पुष्प उगावा
 हुआ हो वो तरह बीरों के वक्षस्चक में बसे हुए वरले के मूल में धूँ इष शिथी
 पिन्ध (और पक्ष) इस युद्ध में और युद्ध की माँति वक्षस्चक को आहत तो नहीं करते है
 (वदा बात है कुत्र भी समझ में नहीं आती ?) ॥ १५ ॥

उभ्रमत्सु सहर इवास्तसस्यमहाय तेजस्विषु जीवितानि ।

लोकत्रयास्वादनलोलजिह्व न ध्याददात्थाननमत्र सत्यु ॥ १६ ॥

उज्ज्वलस्त्विति ॥ अत्र आहवे । सहारे कल्पान्त इव तेजस्विषु वीरिषु । अस्तसंख्यम-
सक्य यथा तथा, अह्नाय झटिति । 'द्राग्नदित्यक्षसाह्वय' इत्यमर । जीवितान्यु-
ज्जस्सु त्वजसु सत्सु सुत्सुलोकत्रयस्थास्वादाने भक्षणे लोका गृध्नुजिह्वा यस्मिस्तत् ।
आनन न व्यादवादि न विवृणोति । 'आहो दोऽनास्यविहरणे' इत्यत्रानास्यविहरण
इति निषेधात् परस्मैपदम् ॥ १६ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य सग्राम में मुझे अहाँ (अन्तर प्राप्त हुआ है) मैंने देखा है—
प्रलयकाल के समान युद्ध में बड़ी शीघ्रता के साथ नसस्थ वीर जब अपने प्रान्त का
परिस्थान कर रहे थे उस क्षण मृत्यु तीनों लोक के जोनों के प्राणरक्षा रस के आत्वादन से
बल्ल विज्ञानुक्त मुण्ड को खूब मनमाना खोल देतो थी परन्तु इस युद्ध में वह ऐसा नहीं
करती है (इसमें क्या रहस्य है पता नहीं ?) ॥ १६ ॥

सत्यमेव, तथापि किमेतच्छुत्सितम्, तत्राह—

इय च दुर्वारमहारथानामाक्षिप्य वीर्यं महता बलानाम् ।

शक्तिर्ममावस्यति हीनयुद्धे सौरीव ताराधिपघाम्नि दीप्ति ॥ १७ ॥

इयमिति ॥ इय मम शक्तिश्च दुर्वारा पराक्रमिणो महारथा येषु तेषा महता
बलाना वीर्यमाक्षिप्य निरस्य ताराधिपघाम्नि चन्द्रतेजसि । सूर्यस्यैव सौरी ।
'सूर्यतिष्यागस्यमत्स्याना भ उषधाया' इति स्त्रिया जीप् । यकारस्य लोप ।
वीरिषु हीनयुद्धे किरातरणे । अवस्यत्यवसीदति । पृतनं विरुद्धमत्यद्भुत चेति
भाव । 'योऽन्तकर्मणि' इति घातोर्लट् ॥ १७ ॥

यह मेरी रथशक्ति महान् पराक्रमी महारथियों की विशाल सेना के वीर्य को निरस्त
कर देती थी इस युद्धस्थल में सूर्यसम्बन्धिनी दीप्ति जिस प्रकार शशकान्धन के मण्डल में
प्राप्त होकर बेचारी बनी रहती है वही प्रकार यह किरात के साथ सग्राम में प्राप्त होकर
अवस्य हो रही है ॥ १७ ॥

माया स्वित्पा मतिविभ्रमो वा ध्वस्त नु मे वीर्यमुताहमन्य ।

गाण्डीवमुक्ता हि यथापुरा मे पराक्रमन्ते न शरा. फिराते ॥ १८ ॥

मायेति ॥ एषा शक्तिहासरूपाः माया स्वित् देवताचोभय भास । मतिविभ्रमो
दुर्द्धिचिपर्ययो वा । अथवा मे वीर्यं ध्वस्त नष्ट तु । उताहमन्योऽर्जुनो न वा । कुत ।
हि यस्मात्, गाण्डीवमुक्ता मे शरा यथापुरा यथापूर्वम् । परिपन्थिष्विवेत्यर्थ ।
फिराते न पराक्रमन्तेऽप्रतियन्धेन प्रयतन्ते । 'उपपराभ्याम्' इति वृत्तावात्मनेपदम् ।
शुचिरप्रतिबन्ध ॥ १८ ॥

यह शक्ति हास-रूपात्मिका माया तो नहीं है, अथवा मेरी बुद्धि में ही पथर तो नहीं
पड़ गया है क्योंकि मेरा सारा बल ही हीन हो गया है । वह भी सम्भव ही सकता है कि—

में अर्जुन ही नहीं हूँ क्योंकि गाण्डीव से प्रक्षिप्त मेरे बाण जिसप्रकार पहले पराक्रम करते थे वैसा ही किरात के विषय में पराक्रम नहीं दिखानते कि द्वि युग केर कैंते हैं ॥१८॥

पुंस पद मध्यममुत्तमस्य द्विषेव कुर्वधनुष प्रणादै ।

नून तथा नैप यथास्य वेप प्रच्छन्नमप्यूह्यने हि चेष्टा ॥ १९ ॥

पुंम इति ॥ किंच उत्तमस्य पुंस पुत्रपोत्तमस्य मध्यमं पदमाकाश धनुष प्रणादै । उपसर्गादिसमासेऽपि णोपदेशस्य इति णत्वम् । द्विषा कुर्वन्निव विदारय निव दिशत स एष किरातो नून तथा तथाभूतो न । कीदृशस्तत्राह—अस्य पुरुषस्य यथा यथाभूतो वेप । वर्तत इति शेषः । वेपत एवाय किरातो न स्वरूपत इत्ययम् । युतः । हि यस्मात्, चेष्टा ग्यापारः प्रच्छन्नमपि निगूढमपि स्वरूपम् । ऊह्यते सकंयते । सस्या स्वभावाद्ब्यभिचारादिति भावः ॥ १९ ॥

यह पुरुष धनुष को प्रकृष्ट ठंडार से नारायण के मध्यम स्थान (आकाश) को विदीर्ष करके दो भाग करते हुए को तरह मालूम पड़ता है यह किरात अवश्य जैसा इसका वेप इष्टिगोचर हो रहा है वैसा नहीं है अर्थात् वेप भूषा से हो व किरात है स्वरूपत तो कोई अन्य ही क्योंकि कर्तव्यानुष्ठान युक्त वस्तु के प्रकाशन करने में समर्थ होता है ॥ १९ ॥

अथ धनुर्भिश्चष्टामेवाचष्टे—

धनु प्रबध्धनित रुपेव सकृद्विकृष्टा विततेव मौर्वी ।

संधानमु कपमित्र व्युदस्य मुष्टेरसभेद इघापर्गे ॥ २० ॥

धनुरिति ॥ धनु रुपेव प्रबधेनाभिच्छेदेन स्थितम् । धनते कर्तरि कः ।

मौर्वी च सकृद्विकृष्टा विततेवैकवाराकर्षणादेव विततेव स्थिता । संधान बाणसंधान मुक्त्तर्प त्सावुद्धरण व्युदस्येव यर्जयित्वा । किमु कृतमिति शेषः । अपवर्गे बाण मोचेऽपि मुष्टेरसंभेदोऽसंघटनमेव । मुष्टिबध्ध विनैव बाणमोच कृत इवेति इस्तलायवोक्तिः ॥ २० ॥

श्रीध के साथ ही ही पुरुष के धनुष में अविच्छिन्न ध्वनि निकलने लगती है । एक बार के खींचने से धनुष की मत्वज्ञा माभूम पड़ता है पीची हुई रह जाती है (वस्तुतः बार बार बाण छोड़ने के लिये खींची जाती है परंतु पता नहीं चलता) बाणों का संधान इस प्रकार से हो रहा है जैसे तूणोरसे निवाला हो नहीं जा रहा है स्वयं निकलते हुए की तरह है । बाण मोक्ष के विषय में ही कहना ही क्या ? मुष्टि तो बांधना ही नहीं पड़ता (अर्थात् बाण का आदान और मोक्ष बड़े लक्ष्य के साथ हो रहा था) ॥ २० ॥

असाधवष्टब्धनतौ समाधि शिरोधराया रहितप्रयास ।

घृता धिकारास्त्यजता मुसेन प्रसादलक्ष्मी शशालाञ्जनस्य ॥ २१ ॥

असाधिति ॥ किंच असाधवष्टरथौ शिरोधरवस्थापितौ च तौ मतौ साधवष्टब्धनतौ शिरोधराया कंधराया समाधि संस्थानविशेषैश्च रहित प्रयासो यस्य स लथोक्तः ।

निःप्रयास इत्यर्थ । तथा विकारास्त्यजता । अमृतत्वाद्यविकारेणेत्यर्थ । मुखेन
काशालान्छ्वनस्य इन्द्रो प्रसाव्लक्ष्मीर्धृता । असंभवस्तथन्वो निदर्शनालकार ॥ २१ ॥

इस किरातराज के कवे अविचल और मुक्के हुए हैं । प्रीति भी सस्मान विशेष से
अविचल है किसी प्रकार का प्रवास विदित नहीं होता है । मुखमण्डल पर किसी
प्रकार की विकृति नहीं है जिससे शशाङ्क (चन्द्रमा) की प्रसन्नतारुपी शोभा दायी
हुई है ॥ २१ ॥

प्रहीयते कार्यवशागतेषु स्थानेषु विष्टब्धतया न देह ।

स्थितप्रयातेषु ससौष्टवश्च लक्ष्येषु पात सहस्र शराणाम् ॥ २२ ॥

प्रहीयत इति ॥ तस्य देह कार्यवशेन प्रयोजनवशेन आगतेषु स्थानेष्वालीढादि-
स्थानकेषु विष्टब्धतया स्थिररसपा कर्मा न प्रहीयते न त्यज्यते । किंतु स्थिर इव
तिष्ठतीत्यर्थ । सुष्ठु भाव सौष्टव लाभम् । उद्गात्रादित्वादम्प्रत्यय । तेन सह
वर्तमान ससौष्टव शराणा पातश्च स्थितान्यचलानि प्रयातानि चलानि तेषु स्थित-
प्रयातेषु चलाचलेषु लक्ष्येषु विषये सहस्र प्रकारम् ॥

इसका शरीर सग्रामस्थल में प्रयोजनवश पितरा बदलते समय विचलित नहीं होता
किन्तु श्लथ्म रहता है । चल और अविचल उभयविध लक्ष्यों पर लापय के साथ इनका
बाणप्रक्षेप भी एक समान है ॥ २२ ॥

परस्य भूयान्विवरेऽभियोग प्रसह्य सरक्षणमात्मरन्ध्रे ।

भीष्मेऽप्यसंभाव्यमिद् गुरौ वा न संभवत्येव वनेचरेषु ॥ २३ ॥

परस्येति ॥ किंच, परस्य विवरे रन्ध्रे । अल्पेऽपीति शेष । भूयान् भूयिष्ठ प्रसह्य
क्षदिति अभियोगो ज्ञातृत्वम् । परस्य रन्ध्रज्ञातृत्वात्प्रहारोयोग इत्यर्थ । आत्मतो
रन्ध्रे विवरे । अल्पेऽपीति शेष । प्रसह्य क्षदिति सरक्षण शोपन च । भूयिष्ठमिति
शेष । इव इय भीष्मेऽपि गुरौ वा द्रोणे वापि असंभाव्य तुर्वितर्ष्य वनेचरेषु न
संभवत्येव । अतो नाय किरास, किञ्चेष तिरहितवेष कोऽप्यमानुष पुरुष इति भाव ॥

शत्रु में यदि अल्पमात्र की भी क्षति देल पाते हैं तो उसके सम्पूर्ण क्षिद्रों को जान लेते
हैं । अपना दोष यदि अधिक भी है तो उसे क्षीत्र ही गौपन कर देते हैं वे दोनों कार्य
(शत्रु के अल्प दोष से उसके सम्पूर्ण क्षिद्रों को जान लेना और अपने अधिक से अधिक
दोषों का निगूहन कर लेना) भीष्म पितामह तथा आचार्य द्रोण में असंभावित सा है
फिर लक्ष्मी जाति में तो इसकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती । अतः यह किरास नहीं
है किन्तु अपना वैष क्षिपाये हुये कोई देवता या दानव है ॥ २३ ॥

अप्राकृतस्याहवदुर्मदस्य निवार्यमस्यास्त्रबलेन वीर्यम् ।

अल्पीयसोऽप्यमयतुल्यवृत्तेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धि ॥ २४ ॥

ससद्विष । गणाना प्रतिभा प्रज्ञाशक्ति सैव गुणस्तस्य निरास प्रतिभाद्यय विदधे चक्रे ॥ २७ ॥

वह घोर निद्रा समा के समान प्रसवणों को ही सबसे पहले हठान प्राप्त करके बृहता की पबति का विनाश करती हुई प्रसव गर्भों के बुद्धि शक्ति रूप गुणों का नाश कर दिया (अर्थात् सब की सब सेना निद्रा मिलीन हो गई) ॥ २७ ॥

गुरुस्थिराण्युत्तमवशाजत्वाद्विज्ञातसाराण्यनुशीलनेन ।

केचित्समाश्रित्य गुणान्वितानि सुहृत्कुलानीव धनूपि तस्थु ॥ २८ ॥

गुर्विति ॥ केचिदुत्तमवशाजत्वात् वशी वेषु कुल च । 'वशो वेणी कुले च' इति विश्व । गुरुणि महान्वि स्थिराणि छदानि च गुरुस्थिराणि । अनुशीलनेन परिचय-बलेन विज्ञात सारो ब्रह्म वेषां तानि गुणैर्मौर्वीभि शौर्षादिभिश्च अन्वितानि धनूपि सुहृत्कुलानि मित्रकुलानीव समाश्रित्य तस्थु । धनूप्यवहस्य निदधुरित्यर्थ ॥ २८ ॥

सेना के कुछ लोगों ने उत्तम जाति के वीर से उत्तम होने के कारण पुष्ट प्रत्यक्ष से युक्त तथा विशाल धनुषों का, जिसकी पुष्टता पर अनुशीलन करने के कारण भरोसा था, अवलम्बन लेकर जहाँ के वहाँ बैठ गये जिसप्रकार वृत्त वस्तु में जन्म लेने वाले तथा परिचय के कारण जिसका हृदय विदित था ऐसे गुणयुक्त सत्जन कुल के आधार पर लोभ स्थिति प्राप्त कर लेते हैं ॥ २८ ॥

कृतान्तदुर्घृत्त इवापरेषा पुर. प्रतिद्वन्द्विनि पाण्डुवाश्रे ।

अतर्कित पाणितलाभिपेतु क्रियाफलानीव तदायुधानि ॥ २९ ॥

कृतान्तेति ॥ कृतान्तदुर्घृत्ते दैवदुःखेष्टित इव । 'कृतान्तो । यमसिद्धान्तदैवाकुश-रुधर्मसु' इति विश्व । पाण्डुवाश्रे पुर प्रतिद्वन्द्विनि प्रतिबुद्धवर्तिनि सति तदा तस्मिन्काले । अपरेषामायुधानि क्रियाफलानीव कृण्यद्विफलानीव अतर्कितमविचारितमेव पाणितलाभिपेतु ॥ २९ ॥

जिस प्रकार दैव विनेहिन नहीं जाना जा सकता उसी तरह पाण्डुपुत्र (अर्जुन) का अथ त्रिपक्षी बनकर पुरीवर्ती (सामने) था अथम्भावित क्रिया फल के सदृश क्षेत्र लोगों के हाथ से विना विचार किसे ही शल छूटकर गिर पड़े (अर्थात् मान्य के पलटा खाने पर कुशादि सन्ध्या फल नष्ट हो जाते हैं जिनके नष्ट होने की कभी सम्भावना नहीं रहती) ॥ २९ ॥

असत्यलौ केचिदभिन्नवैर्या स्कन्धेषु संश्लेषवता तरुणाम् ।

मदेन मीलन्नयना सलील नागा इव सस्तकरा निपेतु. ॥ ३० ॥

असेति ॥ अभिन्नधैर्यास्तदानीमप्युत्तधैर्या केचिदसश्लैरसमागौ सह संश्लेष-ता सगच्छता तरुणा स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु मदेन मीलन्ति नयनानि येषां ते नागा गजा इव सस्तकरा सस्तहस्ता सन्त सलील निपेतुर्निपण्ण ॥ ३० ॥

अथ भी कुछ लोग वैश्विच्युत न होकर कबे से सञ्चित वृक्षों के प्रकाण्डों के आधार पर मर के कारण भासते निमीलित करते हुये लीलापूर्वक हाथ ढोलकर हाथी के समान खड़े हो गये ॥ ३ ॥

तिरोहितेन्दोरथ शम्भुमूध्न प्रणम्यमान तपसा निवासै ।

सुमेरुशृङ्गादिव विम्बमार्क पिशाङ्गमुच्चैरुदियाय तेज ॥ ३१ ॥

तिरोहितेति ॥ अथ तिरोहितेन्दो किरातमायया छत्रचन्द्रात् शम्भुमूध्न सकाशात् । सुमेरुशृङ्गात् अर्कसंबन्धि विम्बमिव । तपसा निवासैस्तापसैः प्रणम्यमानमभिवन्द्यमान पिशाङ्ग तेज उच्चैरूर्ध्वम् । उदियाय प्रकटीवमूष । तच्च न चात्रमिति भावः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार की परिस्थिति की विषयवस्थापर शंकर भगवान् के उलट से जो चन्द्रमा से भाङ्गन रहता है सुमेरु शिखर से सूर्य सम्व भी विम्ब के समान पिङ्गल वक्ष का तेज पुञ्ज जिसे तपस्वी लोग इस समनकर प्रणाम कर रहे थे ऊपर को उन्मथ हुआ ॥ ३१ ॥

छाया विनिर्धूय समोमयीं ता तत्प्रस्य सवित्तिरिवापविद्याम् ।

ययौ विकास द्युतिरिदुमौलेरालोकमभ्यादिशती गणोभ्य ॥ ३२ ॥

छायामिति ॥ इन्दुमौलेद्युतिः कान्ति । तस्यस्य सवित्तिस्तस्वज्ञानम् । अपविद्या अपविद्यामिव तां समोमयीं छायां जिज्ञां विनिर्धूय निरस्य गणोभ्य आलोकं वस्तुप्रकाश चिर अभ्यादिशती वितरती विकास विस्तारं ययौ ॥ ३२ ॥

शंकर भगवान् की यह प्रति उस आभकारमयो घोर निद्राकी रम प्रकार दूर करती हुई निद्राप्रकार तत्वज्ञान अपविद्या (अज्ञान) का नाश करता है प्रमथणों के लिये प्रकाश की उजवना देती हुई सबत्र प्रसरण करने लगी ॥ ३२ ॥

त्विया तति पाटलिताम्बुबाहा सा सर्वत पूर्वसरीय सख्या ।

निनाय तेषा द्रुतमुल्लासन्ती विनिद्रता लोचनपङ्कजानि ॥ ३३ ॥

त्वियामिति ॥ सर्वत पाटलिताः पाटलीकृता अम्बुबाहा यथा सा तमोका त्विषां तेजसां तति । पूर्वां शरतीति पूर्वसरी । पूर्वं कर्तति इति उपत्यये ङीप् । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वज्ञाव' इति पूर्वां शब्दस्य पुनर्भाव । सध्या प्रातःसंध्ये च उल्लासन्ती प्रसरन्ती तेषां गणानां लोचनपङ्कजानि द्रुतं विनिद्रतां विकासं निनाय ॥ ३३ ॥

तेज की राशि को सबत्र प्रमथणों की लोहित वक्ष में परिवर्तित कर दी थी प्रभाव काशीन धर्म्या के सङ्घ प्रसार करती हुई उन प्रमथणों के नेत्रकमलों को क्षीत्र भी प्रसुटित कर दी (अर्थात् वे लोग अपने २ नेत्र खोले) ॥ ३३ ॥

पृथग्निघान्यन्नरिणमबुद्धां राज्ञाणि मूय प्रतिपेदिरे ते ।

मुक्ता वितानेन बलाहकना ज्योतीपि रम्या इव दिग्बिम्बागा ॥ ३४ ॥

पृथगिति ॥ अस्त्रविरामेण प्रस्वापनास्त्रोपरमेण बुद्धा विनिद्रास्ते गणा बलाहकानां
वितानेन मेघपटलेन मुक्ता शत एव रम्या द्विमिवभागा दिगन्ता ज्योतीषि भक्तव्रा-
णीष । 'ज्योतिस्ताराभिभाज्यालाहकप्रकाशरभात्मसु' इति वैजयन्ती । पृथग्विधानि
नानाविधानि शस्त्राणि भूय प्रतिपेदिरे । जगद्गुरित्पर्य ॥ ३४ ॥

प्रस्वापनास्त्र के उपद्रवोपशमनान्तर ने शकर भगवान् के प्रथमपण निद्रा का परित्याग
कर फिर इसप्रकार अनेक शस्त्र धारण करने लगे जिसप्रकार मेघों के पटली से मुक्त
दिशाओं तथा विदिशाओं निमल होकर फिर नक्षत्रों को धारण कर लेती हैं ॥ ३४ ॥

द्यौरुजनामेव दिश प्रसेदु स्फुट विसस्त्रे सवितुर्मयूखै ।

स्य गतायाभिव यामघत्या पुन समीपाय दिन दिनश्री ॥ ३५ ॥

द्यौरिति ॥ तदा यामवत्या रात्रौ स्य गताया विभातायामिव द्यौरन्तरिषम् ।
उज्जनामेव ऊर्ध्वमुत्पपातेवेत्युपेक्षा । दिश प्रसेदु । सवितुर्मयूखै स्फुट स्पष्ट विसस्त्रे
विस्तृतम् । भावे छिद्र । दिनश्रीर्धन्यकान्ति पुनर्दिन समीपाय सज्जगाम । अत्र वैय-
धिकारण्येन गुणक्रिययो समुच्चयेन समुच्चयोऽलकार । तस्य च समुच्चमनोऽपेक्षया
'द्वय'शब्दवाच्ययामुपवेशलक्षण सक्र । द्विप्रसादो गुण । शेषा क्रिया ॥ ३५ ॥

अर्जुन के अन्धकाराद्य के दमिष्ट होनेपर जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार होनेपर
आकाशरूप ध्यानरण इद भाता है और दिशाओं स्वच्छ हो जाती हैं मानो बसों प्रकार
दिशाओं निमल हो गईं, सर्व भगवान् की किरणों चारों तरफ प्रसार कर गईं, पुन दिवस-
लक्ष्मी ने दिन का आश्रय ग्रहण किया ॥ ३५ ॥

महास्त्रदुर्गे शिथिलप्रयत्न दिग्दारणेनेव परेण रुग्ये ।

मुलङ्गपाशाभ्युजवीर्यशाली प्रबन्धनाय प्रजिघाय जिष्णुः ॥ ३६ ॥

महास्त्रेति ॥ भुजवीर्यशाली जिष्णुरर्जुने महास्त्र प्रस्वापनास्त्र तद्दुर्गमिव
तस्मिन् महास्त्रदुर्गे दिग्दारणेनेव दिग्दारेनेव परेण शत्रुणा शिथिलप्रयत्नमवप्रधासं
यथा तथा शूणे भग्ने सति । 'शूणे भग्ने' कर्मणि क्त । 'ओदितश्च' इति निष्ठात-
कारस्य लत्वम् । प्रबन्धनाय प्रकर्षेण बन्धनाय भुजङ्गा एव पाशास्तान् ।
प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ ३६ ॥

दिव्यशू के द्वारा दुर्गमेव की भांति घोड़े ही परिश्रम में शत्रु के द्वारा स्वापनास्त्र के
दमिष्ट हो जाने पर अर्जुन ने, जिसकी भुजाओं पराक्रमपूर्वक थीं, शङ्खसेना को पूर्णतया
रथ से के छिद्र सर्पकृप पाश का प्रहार किया ॥ ३६ ॥

जिह्वाशवान्युल्लसयन्त्यजस्र लसत्तडिल्लोलविपानलानि ।

त्रासान्निरस्ता भुजगेन्द्रसेना नभश्चरैस्त्वपदवीं विवब्रजे ॥ ३७ ॥

जिह्वेति ॥ लसन्त्यस्तदिल्लोका विद्युच्चञ्चला विपानला विपानयो येषु तानि जिह्वा-

जब भी कुछ लोग भैरवविन्दुत न होकर कथे से संलिप्त पृथ्वी के प्रकाण्डों के आकार पर मद के कारण आँखें निमोहित करते हुये लीलापूर्वक हाथ ढोलकर हाथी के समान खड़े हो गये ॥ ३ ॥

तिरोहितेन्दोरथ शंभुमूर्ध्नि प्रणम्यमान तपसा निवासै ।

सुमेरुशृङ्गादिव बिम्बमाक पिशाङ्गमुच्चैरुदियाय तेज ॥ ३१ ॥

तिरोहितेति ॥ अथ तिरोहितेन्दोः किरातमायया छद्मचन्द्रात् शंभुमूर्ध्नि सका-
रात् । सुमेरुशृङ्गात् अर्कसंघनिधि बिम्बमिव । तपसा निवासैस्तापसै प्रणम्यमानमभि-
यन्धमान पिशाङ्ग तेज उच्चैरुप्यम् । उदियाय प्रकटीयभूव । तच्च व चान्द्रमिति
माय ॥ ३१ ॥

इस प्रकार की परिस्थिति की विवभावस्थापर शंकर भगवान् के ललाट में जो चन्द्रमा से आच्छन्न रहता है सुमेरु शिखर से सूर्य सम्बन्धी बिम्ब के समान पिशाङ्ग वर्ण का तेज प्रकट भित्ति तपस्वी लोग ध्ये सममकर प्रणाम कर रहे थे ऊपर को उदय हुआ ॥ ३१ ॥

छाया विनिधूय तमोमयीं ता तत्त्वस्य सचिच्चिरिवापविद्याम् ।

ययौ विकास द्युतिरिन्दुमौलेरासोक्कमभ्यादिशती गयोभ्य ॥ ३२ ॥

छायामिति ॥ इन्दुमौलेद्युति काङ्क्षित । तत्त्वस्य संवित्तिस्तच्छज्ञानम् । अपविद्या
मविद्यामिव तां तमोमयीं छायां निद्रां विनिधूय विरस्य गणेभ्य आलोकं वस्तुप्रकाशं
चिर अभ्यादिशती वितरन्ती विकास विस्तार ययौ ॥ ३२ ॥

शंकर भगवान् को यह प्रति उन अन्धकारमयी घोर निद्राको इस प्रकार पूर करती हुई विद्यप्रकार तत्त्वज्ञान अविद्या (अज्ञान) का नाश करता है प्रमथगणों के किये प्रकाश की छवना देती हुई सबत्र प्रसरण करने लगी ॥ ३२ ॥

त्विया तति पाटलिताम्बुबाहा सा सर्वत पूर्वसरीव संख्या ।

निनाय तेषां द्रुतमु ससन्ती विनिद्रता लोचनपङ्कजानि ॥ ३३ ॥

त्वियामिति ॥ सर्वतः पाटलिता पाटलीकृता अम्बुबाहा यथा सा तथोक्ता त्वियां
तेजसां तति । पूर्वां सरतीति पूर्वसरी । 'पूर्वं कर्त्तरी' इति टप्रत्यये ङीप् । 'सर्वनाम्नो
वृत्तिमात्रे पुंश्रजाव' इति पूर्वां शब्दस्य पुंश्रजाव । संख्या भावसंख्येव उक्तसन्ती
प्रसरन्ती तेषां गणानां लोचनपङ्कजानि द्रुतं विनिद्रतां विकासं निनाय ॥ ३३ ॥

तेज की राशि जो सर्वत्र भेदवन्धकों को ओहित कथ में परिवर्तित कर ही की प्रभाव
कालीन संख्या के सङ्घ प्रसार करती हुई उन प्रमथगणों के नेत्रकमलों को शीघ्र ही
प्रस्तुति कर दी (अर्थात् वे लोग अपने २ नेत्र छोले) ॥ ३३ ॥

पृथग्विधान्यस्त्रनिरामबुद्धां शस्त्राणि भूय प्रतिपेदिरे ते ।

मुक्ता वितानेन बलाद्दधना ज्योतीषि रम्या इव दिग्बिभागा ॥ ३४ ॥

पृथगिति ॥ अस्त्रविरामेण प्रस्वापनास्त्रोपरमेण बुद्धा विनिद्रास्ते गणा बलाहकाना
वितानेन मेघपटलेन मुक्ता अत एव रम्या दिग्बिभागा दिगन्ता ज्योतीषि चन्द्रा-
णीव । 'ज्योतिस्ताराग्निभाज्बालाहकप्रकाशरमात्मसु' इति वैजयन्ती । पृथग्विधानि
नावाविधानि शस्त्राणि भूय प्रतिपेदिरे । जगृहुरित्यर्थ ॥ ३४ ॥

प्रस्वापनास्त्र के उपद्रव्योपशमनान्तर वे शरूत भगवान् के प्रथमपक्ष निद्रा का परित्याग
कर फिर इसप्रकार अनेक शस्त्र धारण करने लगे जिसप्रकार मेघों के पटलो से मुक्त
दिशावें तथा विदिशावें निमग्न होकर फिर नक्षत्रों को धारण कर लेती हैं ॥ ३४ ॥

शौरुन्ननामेव दिश प्रसेदु स्फुट विसस्त्रे सवितुर्मयूखै' ।

क्षय गतायामिव यामवत्या पुन समीचाय दिन दिनश्री ॥ ३५ ॥

शौरिति ॥ तदा यामवत्या रात्रौ क्षय गताया विभातायामिव शौरन्तरिक्षम् ।
उन्ननामेव ऊर्ध्वमुत्पपातेवेत्युपेक्षा । दिश प्रसेदु । सवितुर्मयूखै स्फुट स्पष्ट विसस्त्रे
विस्रुतम् । भावे छिद् । दिनश्रीर्वचकान्ति पुनर्दिन समीचाय सजगाम । अत्र धैय-
धिकरण्येन गुणक्रिययो समुच्चयेन समुच्चयोऽलकार । तस्य च समुज्जमनोऽपेक्षया
'इव'शब्दवाच्ययानुप्रवेशालक्ष्य सकर । दिक्प्रसादो गुण । शेषा क्रिया ॥ ३५ ॥

अर्जुन के अन्धकारास्त्र के लण्डित होनेपर जिस प्रकार रात्रि के व्यतीत होनेपर
आकाशरूप आवरण हट जाता है और दिशावें स्वच्छ हो जाती हैं भावी उसी प्रकार
दिशावें निर्मल हो गईं, सूर्य भगवान् की किरणों चारों तरफ प्रसार कर गईं, पुन दिवस-
लक्ष्मी ने दिन का आश्रय ग्रहण किया ॥ ३५ ॥

महास्त्रदुर्गे शिथिलप्रयत्न दिग्वारणेनेव परेण रुग्णे ।

भुलङ्गपाशान्भुजवीर्यशाली प्रबन्धनाय प्रजिघाय जिष्णु ॥ ३६ ॥

महास्त्रेति ॥ भुजवीर्यशाली जिष्णुर्जुनो महास्त्र प्रस्वापनास्त्र तद्दुर्गमिव
तस्मिन् महास्त्रदुर्गे दिग्वारणेनेव दिग्गजेनेव परेण शत्रुणा शिथिलप्रयत्नमल्पप्रयासं
यथा तथा रुग्णे भग्ने सति । 'रुजो भङ्गे' कर्मणि क । 'भोदितश्च' इति निष्ठा-
कारस्म नत्वम् । प्रबन्धनाय प्रकर्षेण बन्धनाय भुजङ्गा एव पाशास्तान् ।
प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ ३६ ॥

दिग्गज के द्वारा दुर्गमेद को माति घोंटे ही परिश्रम में शत्रु के द्वारा स्वापनास्त्र के
लण्डित हो जाने पर अर्जुन ने, जिसकी मुजाबे पराक्रमपूर्ण थी, शत्रुसेना को पूर्णतया
बाध देने के लिए सर्परूप पाश का प्रहार किया ॥ ३६ ॥

जिह्वाशतान्युल्लसयन्त्यजस्र लसत्तडिल्लोलविधानलानि ।

त्रासाभिरस्ता भुजगेन्द्रसेना नभश्चरैस्तत्पदवीं धिवज्रे ॥ ३७ ॥

निह्वेति ॥ लसन्तस्तडिल्लोला विशुभ्रलला विधानला विधानयो येषु तानि जिह्वा-
२४ कि०

गर्भ के कुड्डल के पक्षों से बलित वायु अनेक गत को धारण करते हुए अपने वेग से वृक्षों को शुष्क लणपुञ्ज के सदृश जमथ कराता हुआ आकाश में डे गया ॥ ४४ ॥

मनश्चिन्ताभङ्गनिभेन पञ्चाग्निरुध्यमान निकरेण भासाम् ।

व्यूढैरुरोभिश्च विनुद्यमान नभः ससर्पेव पुर खगानाम् ॥ ४५ ॥

मनश्चिन्तेति ॥ मनश्चिन्ता धनुविशेषस्तस्या मङ्गरद्वेदस्तन्निभेन तत्सदृशेन भासो निकरेण कान्तिपुञ्जन पञ्चाग्निगो निरुध्यमानमाग्निप्रमाणं व्यूढैर्विज्ञातै उरोभिर्बद्धो निभः । उरो नस्त च वक्षश्च इत्यमरः । विनुद्यमान प्रेथमाण नभः खगानां गह्वानां पुरः ससर्पेव ससारेव । उत्तरोत्तरदेशतिरोधानेन गच्छतां खगानामपूर्वोऽपि पुरोमाया साधरयात्पूववदृपलम्भसामतया नभस एव क्षेत्रनात्पुरः ससर्पेवेत्युच्येत् ॥ ४५ ॥

मनश्चिन्ता के लक्ष के सदृश कान्ति पुञ्ज से आवृत आकाश को विशाल दक्षस्थल से घेरित हो रहा था गर्भों के आगे आगे प्रसपथ करते हुए को ज्ञानि ज्ञात होता था ॥ ४५ ॥

दरीमुखैरासवरागताश्च विक्रासि रुक्मच्छदधाम पीत्वा ।

जवानिलाघूर्णितसानुजालो हिमाचलः क्षीव ह्वाचकम्पे ॥ ४६ ॥

दरीति ॥ जवानिलेनाघूर्णितानि अमितानि सानुजालानि यस्य स हिमाचलः । भासयत्य रागो रक्ता तद्गत् ताम्बु । गुणयोर्बोधमानोपमेयभावः । विक्रासि विक्रस्वर रुक्मच्छदा सुवर्णपक्षास्ताख्यास्तेषां धाम तेजो दरीमुखे क्षीव दरीमुखैः पीत्वा क्षीयो मत्त ह्वाचकम्प आचचाळ । उपमाभ्यापितेषमुच्येत् ॥ ४६ ॥

वह हिमालय निम्नके शिखर बेगानिल से भ्रान्तिमान हो रहे थे अपने कन्दरारूपी मुख से मन्त्रों के सदृश लोहित तथा भास्वर ध्रुवर्ष पक्ष के तेज को पान कर मन्त्रामय व्यक्ति के समान लड़ खटाने लगा अर्थात् गर्भों के पक्षों के वेग से भ्रमणित हो उठा ॥ ४६ ॥

प्रवृत्तनक्तं दिवसंधिदीप्तैर्नभस्तल गा च पिशङ्गयद्भिः ।

अन्तर्हितार्कैः परित पतद्भिश्छाया समाचिच्छिपिर वनानाम् ॥ ४७ ॥

प्रवृत्तेति ॥ नक्त च दिवा च नक्तन्दिनम् । अचतुर- इत्यादिना सप्तम्यर्थं दृष्टोत्प्रेष्यययोद्भूतैकवक्त्रावनिपाते समाधान्तः । छद्मणया त्वहोरात्रमाश्रयाची । प्रवृत्तं प्रावृत्तौ को नक्तदिवस्य सधि सध्या तद्भूतैः शोभितैः । नभस्तलं गां मुखं च पिशङ्गयद्भिः पिशङ्गयद्भिः । अन्तर्हित आच्छादितोऽर्को वैस्ते पतद्भिः पश्चिभिः परितः सवतो वनानां छाया समाचिच्छिपिरे समाचिच्छः । अन्तर्हितस्य तेजाप्रवेशात्प्यन्तर्हिता इत्यथ ॥ ४७ ॥

उन विरक्तमौ ने जो रात्रि और दिन के सन्धिभाग के तरह देदीप्यमान हो रहे थे सूर्य को भाषदादिन कर आकाश और पृथ्वी को कणित वय में रक्षित करते हुए गर्भों की भाषा को बरत उभर प्रक्षित कर िया अर्थात् उनके पक्ष के तेज से वे अन्तर्हित हो गए ॥ ४७ ॥

स भोगिसङ्घ. शममुप्रधान्ना सैन्येन निन्ये विनतासुतानाम् ।

महाध्वरे विष्यपचारदोष कर्मान्तरेणैव महोदयेन ॥ ४८ ॥

स इति ॥ स भोगिसङ्घ सर्पसमूह उग्रधात्रा तेजस्विना विनतासुताना तार्क्ष्य-
क्षिणा सैन्येन महाध्वरे महाक्रतौ विष्यपचारदोष कर्मसखलनदोषो महोदयेन महासा-
मर्थ्येन, अथवा महता फलेन । तन्मूलेन प्रकृतक्रियासिद्धेरिति । कर्मान्तरेण प्रयश्चि-
त्तेनेव शम शान्तिं निन्ये प्रापित ॥ ४८ ॥

जिसप्रकार महान् वश में विधिविधान की म्यूनतारूप दोष को प्रायाश्चित्त के द्वारा
शमन कर देते हैं वसीप्रकार परम तेजस्वी विनता कुमारों की सेना के द्वारा सर्पसमूह
शमन को प्राप्त हो गया ॥ ४८ ॥

साफल्यमस्त्रे रिपुपौरुषस्य कृत्वा गते भाग्य इवापवर्गम् ।

अनिन्धनस्य प्रसभ समन्यु समाददेऽस्त्र ज्वलनस्य जिष्णुः ॥ ४९ ॥

साफल्यमिति ॥ अस्त्रे सर्पास्त्रे । भाग्ये प्राग्भवीवे शुभे कर्मणीव । रिपुपौरुषस्य
रिपुपराक्रमस्य साफल्य कृत्वा, अपवर्गमवस्तान समाप्तिं गते सति । स्वनिवृत्त्या
परसाफल्यात्सफलीकरणोपचार । समन्यु सक्रोधो जिष्णुरर्जुनोऽनिन्धनस्येन्धनं
विनैवोत्पादितस्य ज्वलनस्य ज्वलनप्रदीपक अक्षमाप्नोयास्र प्रसभ क्षीम समाददे
जग्राह ॥ ४९ ॥

गन्मान्तीय शुभकर्म के सदृश सर्पास्त्र के समाप्त हो जाने पर अर्जुन ने क्रुद्ध होकर
इन्धनादि सामग्री के बिना ही प्रज्वलित होने वाला दाबकास (अश्विनाथ) को बठाया ॥ ४९ ॥

ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च कीर्णैर्ज्वालासटैर्लङ्घितमेघपङ्क्ति ।

आयस्तसिंहाकृतिरूपपात प्राण्यन्तमिच्छन्निव जातवेदा ॥ ५० ॥

ऊर्ध्वमिति • ऊर्ध्वं तिरश्चीन तिर्यक । 'बिभाषाध्वेरविक्रियाम्' इति सप्रत्यय ।
अधश्च कीर्णैर्विस्तृतैर्ज्वाला एव सटा केसरा । 'सटा जटाकेसरयो' इति विश्व । सै,
लङ्घितमेघपङ्क्तिश्चरतिक्रान्तजलदाडि । आयस्तस्य लङ्घनोद्यतस्य सिंहस्वेवाकृतिर्यस्य
स जातवेदा अग्नि प्राण्यन्त प्राणिना सहरमिच्छन्निवोत्पपात ॥ ५० ॥

लङ्घन के लिये उषतसिंह की आकृति के सदृश अग्निदेव अपने ज्वाला रूप केसर से उपर,
और नीचे, अगल-वगल (सर्वत्र) न्यास कर तथा मेघमण्डल का अतिक्रमण करके भागों
प्राणिमात्र की जीवनश्रीला समाप्ति कर देने की इच्छा से उपर को प्रज्वलित हो उठे ॥ ५० ॥

मिच्छेव भाभि सवितुर्मयूखाञ्ज्वाल विध्वग्विसृतस्फुलिङ्ग ।

विशीर्यमाणाश्मनिनादधीर धर्नि वितन्वन्नकृश कृशानु ॥ ५१ ॥

मिच्छेति ॥ भाभिस्तेजोभि सवितुर्मयूखान् किरणान् । 'किरणोऽसमयूखाश्च-'
इत्यमर । मिच्छेवामिहत्वेन विध्वक् समन्ताद्विसृता स्फुलिङ्गा यस्य स । स्फुलिङ्गो-
दयस्य मयूखाभिपातहेतुक्त्वमुच्छेते । 'त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्निर्कण' इत्यमर. । अकृशो

अनु कृशानुबद्धि । विशीयमाणस्य विदलतोऽभ्रमनो निनादमिव धीरमुद्रत ध्वनि
वितम्बन् अज्वाल ॥ ५१ ॥

प्रकाश राशमिनि ध्वनी दीप्ति से सर्व को विरसों को द्विज भिन्न करके सर्वत्र
विनगरिषों को बिलेरते हुए तथा बिदाल होते हुए पत्थरों को लक्ष्य ग भीर ध्वनि करते
हुये चलने लगा ॥ ५१ ॥

चयानिग्राहीनिव तुङ्गशृङ्गान् कश्चित्पुराणीष हिरण्मयानि ।

महावनानीय च किशुकानां ततान यद्धि पयनानुवृत्त्या ॥ ५२ ॥

चयानिति ॥ यद्धि पयनानुवृत्त्या वायुवशेन चयानिव हिरण्मया प्राकारामिव ।
अथ समूहे प्रकारे इति विरथ । तुङ्गशृङ्गानदीमिव कश्चिद्विरण्मयानीति द्वाब्धिना
यत् इत्यादिना विपातनास्साधु । पुराणि नगराणीव तथा किशुकानां पलाशत
रूपाश्च । पलाशे किशुक पर्ण इत्यमरः । महावनानीय । पुष्पितानीति शेष ।
ततान वितस्तार । तदाकारेण अज्जालेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

वह अग्नि बायु की सहायता से उच्च शिखरतमपन्न फलमाला की तरह कहीं वहाँ
सुदूर निर्मिग नगर की भाँति और कहीं वहाँ विकसित पलाश के बनों के लक्ष्य रूप धारण
कर चलने लगा ॥ ५२ ॥

सुदुश्चलत्पल्लवलोहिनीभिरुच्चै शिखाभि शिखिनोऽवलीढा ।

तलेषु मुक्ताविरादा बभूवु सान्द्राञ्जनरमामरुच पयोदा ॥ ५३ ॥

सुदुरिति ॥ सान्द्राञ्जनरमामरुचो घनकञ्जलरयामारुच पयोदा सुदुश्चलत्पल्लव
ता पल्लवलोहिण्यो लोहितवर्णाश्च तामिभ्यल्लवपल्लवलोहिनीभि । वर्णवजुदा
पातोपचातो च इति दीप् । तकारस्य नकार । शिखिनोऽम् । उच्चैश्चताभि शिखा-
भि र्वालाभिः । अवलीढा । दृष्ट्वा इत्यर्थः । अत एव तलेषु अयोभागेषु मुक्ताविरादा
मौक्तिकवयला बभूवु । अल्लसोपजादिति भावः । अयस्वरूपपोरखी तलम्
इत्यमरः ॥ ५३ ॥

अपन्त रूपवर्ण के मेषों का प्रयोग अग्नि की ज्वालाओं से जो इतरत प्रचलित
नृग किञ्चल्य के लक्ष्य लोहित वय की भी दृश्य होकर स्वात्मिक के लक्ष्य
रूप हो गये ॥ ५३ ॥

लिलिच्छतीय क्षयकालटीद्रे लोक विलोलाचिपि रोहितारवे ।

पिनाकिना हूतमहाम्बुयाहमस्त्रं पुन पाशसूत प्रगिन्ये ॥ ५४ ॥

लिलिच्छतीवति ॥ क्षयकालटीद्रे क्षयान्तकालवज्रयावद्दे विलोलाचिपि अज्जाले
रोहितारव इवचनः । रोहितारवो वायुस्रज इत्यमरः । लोक लिलिच्छति छेदुमिच्छति
त्रिषसति सतीव । लिङ्ग सञ्जन्ताच्छ्रमत्पय । पिनाकिना पुनर्हृता आहृता
आकारिता महाम्बुयाहा यत् तत् । पाशानृगो बलमत्तः । अस्त्र प्रगिन्ये प्रयुक्तम् ॥ ५४ ॥

इस प्रकार प्रलयकाल के सदृश भयावह अग्नि की अत्यन्त चञ्चल ज्वालायें धकधकाती हुई ज्योंही संसार को चटनी के सदृश चाट जाने की इच्छा कर रही थीं झुकर मगवान् ने उस पर वर्षाण्ड का प्रयोग किया जो अपनी महान् जलदभावाओं को साथ लिये हुए था ॥ ५४ ॥

ततो धरित्रीधरतुल्यरोधसस्तडिल्लतालिङ्गितनीलमूर्तय ।

अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीरप. प्रसक्त मुमुचु. पयोमुच ॥ ५५ ॥

तत इति ॥ ततो वरुणास्त्रप्रयोगानन्तर धरित्रीधरतुल्यरोधस पर्वतसमप्रान्ता । 'रोध स्यात्प्रान्तकूलयो' इति विरय । तद्विह्वलाभिरालिङ्गिता नीलमूर्तयो नीलाङ्गानि येषां ते पयोमुचो मेघा अधोमुखा आकाशसरिविच निपतन्तीति अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनी । 'कर्तव्युपमाने' इति णिनि । अपो जलानि प्रसक्तमनुबन्धमविच्छिन्न यथा तथा मुमुचु । इत प्रभृति वसस्थावृत्तम् ॥ ५५ ॥

वरुणास्त्र के प्रयोग करते ही पर्वताकार मेघ, जिनकी कृष्णकान्ति विद्युच्छता के द्वारा आलिङ्गन की गई थी, (अर्थात् जिनमें विजली क्षण-क्षण पर चमकती रही थी) नीचे की तरफ प्रवाहित होती हुई आकाश नदी की तरह अधिच्छिन्न जल धाराभिर्वर्षण करने लगे ॥

पराहृतव्वस्तशिखे शिखावतो वपुष्यधिच्छिन्नसमिद्धतेजसि ।

कृतास्पदास्तप्त इवायसि ध्वनिं पयोनिपाता प्रथमे वितेनिरे ॥ ५६ ॥

पराहतेति ॥ पराहता अभिहता जतो ध्वस्ता निर्वापिता शिखा ज्वाला यस्य तस्मिन् पराहृतव्वस्तशिखे । अधिच्छिन्न प्रहारित नाशितम् । ताडितमिति यावत् । अत समिद्ध इदिति प्रदीप्त तेजो यस्य तस्मिन् । शिखावतोऽधोर्वपुषि स्वरूपे । तस्तेऽयसि लोह इव कृतास्पदा कृतस्थितय । 'वास्पद प्रतिष्ठाधाम्' इति निपात । प्रथमे पयोनिपाता जलपाता ध्वनिं वितेनिरे विस्तारयामाहु ॥ ५६ ॥

धारापात के गिरते ही अग्नि की ज्वाला के क्षान्त हो जाने पर तथा आस्यार के प्रहार से क्षण मात्र के लिये बर्धित हो जाने पर सतत लोहे के पत्र पर पड़ते हुये जल धारा की तरह ध्वनि सर्वत्र फैल गई ॥ ५६ ॥

महानले भिन्नसिताभ्रपातिभि समेत्य सद्य. कथनेन फेनताम् ।

व्रजद्भिभराद्रैन्धनवत्परिच्छद्य जलैर्वितेने दिवि धूमसतति ॥ ५७ ॥

महानल इति ॥ महानलेऽग्नौ भिन्नानि खण्डितानि सिताभ्राणीव पतन्तीति भिन्नसिताभ्रपातिभि । 'कर्तव्युपमाने' इति णिनिप्रत्यय । अत एव सद्य कथनेन पाकेन फेनता समेत्य प्राप्य परिच्छद्य नाश व्रजद्भिर्जलैराद्रैन्धनवत् जार्जकाष्टैस्तुल्यम् । 'तेन तुल्य क्रिया चेदिति' इति कतिप्रत्यय । दिवि गगने धूमसततिर्वितेने विस्तारिता । फेनादिकमाद्रैन्धनेऽपि तुल्यम् ॥ ५७ ॥

उस प्रचण्डाग्नि में खण्ड खण्ड होकर गिरनेवाले शुभ वादलों के सदृश धतपारा

गिरकर शीघ्र ही वकित होने के कारण केन बनकर नाश को प्राप्त होती हुई गोले माण के समान आकाश में धुवों का ढेर रण गयी ॥ ७ ॥

स्वकेतुभिः पाण्डुरनीलपाटलैः समागता शक्रधनुःप्रभामिदम् ।

असंस्थितामादधिरे विमानसोर्विचित्रचीनाशुकचारुता त्विष ॥१८॥
स्वकेतुभिरित ॥ पाण्डुरनीले पाटलैश्च पाण्डुरनीलपाटलैर्विचित्रैः स्वकेतुभिर्धूमैः
समागता सगता । अत एव शक्रधनुष प्रभामिदम् इन्द्रधनुषतिभाजो विभावसो
रप्रेस्त्विषोऽसंस्थितामस्विरा विचित्रस्य चीनाशुकस्य पट्टवस्त्रविशेषस्य चारुता
मादधिरे वृष्टुः ॥ ५८ ॥

अग्नि की कान्ति ने कपिश कृष्य तथा लोहित वण के धुवों से दास होकर इन्द्रधनुष की शोभा को धारण करती हुई विचित्र वण के पुपुर्वाह वस्त्र की धारता को जो रण गन्टा करती है धारण किया ॥ ५८ ॥

जलौघसमूच्छ्वनमूर्च्छितस्वन प्रसक्तविद्युल्लसितैधितद्युति ।

प्रशान्तिमेप्यधृतधूममण्डलो बभूव भूयानिर सत्र पावकम् ॥ १९ ॥

जलौघेति ॥ जलौघानामुदकप्रवाहाणां समूच्छ्वनेन मेलनेन मूर्च्छितस्वनं प्रवृद्ध
योपम् । मूच्छ्वन मेलने प्रोक्तं वृद्धौ मूर्च्छितमेव वा इति सञ्जनम् । प्रसक्तैः सगतीर्विद्युता
तच्छिन्नानां लसितैः स्फुरणैरधिता धर्षिता द्युतिवस्य स एतधूममण्डलो जलघाता
व्यभूवधूमपटल पावक प्रशान्तिमेप्यन् तत्र देशे भूयानिव बभूव । भूयास्तथा
स्थापित इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

उप रणस्थल में मखी व प्रचण्डाग्नि जलप्रवाह के सम्पर्क से छनछनाहट की ध्वनि करता हुआ तथा त्रिजली के चमक जाने से और अधिक कान्ति से स पत्र होना हुआ वर्षापान से उत्पन्न धूमसमूह से व्याप्त होकर दुम्भते समय अनेक मालूम पड़ने लगा ॥५९॥

प्रवृद्धसिन्धुर्मिषयस्यवीयसा चयैर्विभिन्ना पयसा प्रपेदिरे ।

उपात्तसंध्यारुचिभिः सरूपता पयोदनिच्छेदलयैः कृशानवम् ॥ ६० ॥

प्रवृद्धेति ॥ प्रवृद्धाणां सिन्धोः समुद्रस्य ऊर्जाणां चया राशय इव स्ववीयसां
स्फूर्तराणां पयसा चयैः पूरैर्विभिन्ना विच्छेपिता कृशानवोऽग्नय उपात्तसंध्यारुचिभिः
प्राप्तसंध्यारामैः पयोदानां विच्छिद्यन्त इति निगद्यदा विच्छिद्या विच्छिष्टा ये उवा
शाच्छास्ते सरूपतां समागरूपतां प्रपेदिरे इत्युपमा ॥ ६० ॥

वृद्धि को प्राप्त समुद्र की लहरों के समूह के सङ्घट्ट ढेर के ढेर जलसमूह से जगह जगह विभाजित अग्नि-पुत्र ने छायाच्छा की शीति को प्राप्त मेघके स्तररत्न पड़े हुए डकटों के मईश स्वस्व धारण किया ॥ ६० ॥

उपैत्यनन्तद्यविरप्यसशय विभिन्नमूलोऽनुदयाय सद्ययम् ।

तथा हि तोयीपनिभिप्रसंहति स इक्ष्यनाह प्रयवी परामभवम् ॥६१॥

उपैतीति ॥ अनन्तकृतिर्महातेजा अपि विभिन्नमूलो नष्टमूलोऽस्यैव यथा तथा अनुव्याय पुनरनुत्थानाय सद्यः नाशम् । उपैति । तथा हि—तोयौघेर्विभिन्ना सहति सघातो यस्य स तथोक्त हृद्यवाहोऽग्नि पराभव नाश प्रययौ । विशेषेण सामान्य-समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार जटके छिन्न-भिन्न होने पर महान् तेजस्वी भी अवश्य नाश को प्राप्त हो जाता है उसीप्रकार जल समूह के नष्ट हो जाने पर बह्प्रचण्ड पावकाख पराभूत हो गया ॥ ६१ ॥

अथ विहितविधेयैराशु मुक्ता वितानैरसितनगनितम्बश्यामभासा घनानाम् । विकसदमलधाम्नाप्राप नीलोत्पलाना श्रियमधिकविशुद्धा वह्निदाहादिवद्यौ ॥

अथेति ॥ अथ अग्निनिर्वाणान्तरम् । विहितविधेयै कृतकृत्यै । असितनगस्याज्ज-नाद्रेनितम्ब कटकस्तद्वत् श्यामभासा घनाना वितानै पटलैर्मुक्ता शौराकाशो वह्निदा-हादिधेत्युद्येहा । विकसन्ति च तानि अमलधामानि स्वच्छकान्तीनि च तेषा नीलोत्पलानामधिकविशुद्धामत्युज्ज्वला श्रिय प्राप । निदर्शनालकार ॥ ६२ ॥

पावकाख के शान्त होने पर अजनगिरि के सदृश श्यामकान्तिधारी मैवपटलों से, जो अपने कर्तव्यपालन में सफल व जूटकारा पाकर अन्तरिक्ष वह्निदाह के कारण विकसित तथा निर्मलधामनि सम्पन्न नीलोत्पल की अत्यन्त स्वच्छशोभा (निर्मल श्री) को प्राप्त हुआ ॥ ६२ ॥

इति विविधमुदासे सव्यसाची यदस्त्र बहुसमरनयज्ञ साद्विष्यन्नरातिम् । विधिरिव विपरीत पौरुष न्यायवृत्ते सपदि तदुपनिन्ये रिक्तता नीलकण्ठ ॥

इतीति ॥ बहुसमरनयामनेकरणोपायान् जानातीति बहुसमरनयज्ञ । 'अतोऽनुप-सर्गे क' इति कप्रत्यय । न तु 'इगुपध-' इत्यादिनाऽऽकारान्तात् 'अनुपपदात्कर्मो-पपदो भवति विप्रतिषेधेन' इति वार्तिकव्याख्याने भाष्यकारेण 'अर्थज्ञ'शब्दमुदाह-ृत्यास्य 'अर्थज्ञ'शब्दस्य कर्मोपपदत्व दर्शितम् । सव्यसाची अर्जुन । अरातिं किरात-पतिं साद्विष्यन् । अवसादयितुकाम सन्नित्यर्थ । क्रिपार्थक्रिवाथा लुटि तस्य शत्रा-देश । इति पूर्वोक्तप्रकारेण विविध यदस्त्रमुदासे । प्रकृत्वानित्यर्थ । 'उपसर्गादस्यत्यु-खोर्वेति वाच्यम्' इत्यात्मनेपदम् । विपरीतो विधिः प्रतिकूल देवम् । 'विधिर्विधाने दैवेऽपि' इत्यमर । न्यायेन भीत्या वृत्तिर्घर्तन यस्य तस्य नीतिनिष्ठस्य पौरुषमिव नील-कण्ठ शिव सपदि सत् अस्त्र रिक्तता न्यर्थताम् । उपनिन्ये । सद्गतवानित्यर्थ । मालिनीवृक्षम् ॥ ६३ ॥

अनेक-विध-सप्राप्त-नीतिनेता सव्यसाची (अर्जुन) ने शत्रुको बिकल करने की कामना करते हुए अनेक प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग किया मात्र के विपरीत होने

पर न्यायनिष्ठ पुरुष के पुत्राद्य की तरह शंकर भगवान् ने शीघ्र ही सर्वों को ब्यथ कर
 विना अर्थात् अर्जुन के द्वारा प्रसक्त सभी भस्त्र को शंकर भगवान् ने लुब्ध लुब्ध
 कर दिया ॥ ६२ ॥

वीतप्रभायतनुप्यतनुप्रभाय प्रत्याचकाच्छु जयिनीं मुजनीर्यलक्ष्मीम् ।
 अरत्रेषु भूतपतिनापहृतेषु जिष्णुर्पिप्यतापिनकृतेव जलेषु सौक ॥ ६४ ॥
 इति भारविश्रुतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये षोडशः सर्गः ।

वीतेति ॥ भूतपतिना शत्रुना । अनुमहीप्यतेति शेषः । अस्तेष्वपहृतेषु ससु
 वर्तिष्यता उच्यते सहस्रगुणे विवर्तिष्यता दिनकृता सूर्येण जलेष्वपहृतेषु ससु
 लोक इव वीतप्रभायो गताल्लमहिमा । अम्यत्र गतशक्तिः । अत एव तनु चीनो
 वीतप्रभास्तनुः तथाऽप्यतनुप्रभावो निसगत सामर्थ्यादधिकः । अम्यत्र - उद्योग
 वात् । ततो जिष्णुरर्जुनो जयिनीं लक्ष्मीं लब्धवान् । जिह्वि हस्यादिनेभिप्रत्ययः । मुज
 नीर्यलक्ष्मीं मुञ्चपराक्रमसंपदम् । उभयत्रापि पुरुषकारमिति भावः । तत्काळमुचि
 तामिति शेषः । प्रत्याचकाच्छु । प्रत्याहृतुमिषेत्त्वयः । यथा लोको नद्यादिवत्ता
 पहातेऽप्युपायान्तरेण कृपादिना क्षीयतुमिच्छति तद्वत्प्रच्छापापहातेऽपि मुञ्चवलेनैव
 जेतुमिषेवेति भावः । अस्मत्तिलककृतम् ॥ ६४ ॥

इति किरातार्जुनीयकव्यम्याख्यायां षोडशसर्गसमाख्याया षोडशः सर्गः समाप्तः ॥

—*—

अनुकम्पा करने की नामना से शंकर भगवान् के द्वारा अर्जुन के स पूर्ण अर्कों के
 दानिष्ठ ही जाने पर यद्यपि अर्जुन क्षीणशक्ति हो गये तथापि अपने अमित पराक्रम से
 अस्त्र में सहस्रगुण विवरण करने की अभिलाषा से सर्व भगवान् के द्वारा समस्त जल के
 क्षोषण करने पर सत्तार के शीघ्र की तरह जो कृपात्ति के जल से भी अपनी क्षति की रक्षा
 कर सके व विजयिनी अर्जुन की पराक्रमलक्ष्मी से भीतने का अभिलाषा निवे अर्थात्
 अर्जुन मुञ्च अर्जुन वा अस्त्रम् छोड़ कर स्वयं महामुद्र के लिये तयार हो गये ॥ ६४ ॥

॥ शोच्यते सर्गे समाप्तः ॥

—*—

सप्तदशः सर्गः ।

अथ पद्मभिः पार्श्वं विशेषयन् पद्मभिः कुलकमाह—अयेत्यादिभिः—

अथापदामुद्धरणक्षमेषु मित्रेण्विवास्त्रेषु तिरोहितेषु ।

धृतिं गुरुश्रीगुरुणाभिपुण्यन् स्वपौरुषेयोश्च शरासनेन ॥ १ ॥

अथ जयलक्ष्मीप्रत्याकाङ्क्षानन्तरम् । आपदामुद्धरणक्षमेषु आपत्तिवारणसमर्थेषु ।
अस्त्रेषु प्रस्वापनाविषु तादृशेषु मित्रेष्विव तिरोहितेष्वन्तर्हितेषु सस्य गुरुणा महता
स्वपौरुषेणेव तादृशेन शरासनेन धृतिं धैर्यम् । अभिपुण्यन् वर्धयन् । अद्यापि धनुषि
पौरुषे च सति कियानय किरात इति धैर्यमवलम्बमान इत्यर्थः । अत एव गुरुश्री-
भृशुद्देशोभासपत्तिः । 'पद्मा मा लक्ष्मी श्रीर्निगाद्यते' इति शाश्वत ॥ १ ॥

(इति श्लोक से ६ तक) अन्वय परस्पर सम्बद्ध है । अन्तिम पद्य के दो चरणों
में कर्ता 'पार्श्व' और क्रिया 'आशयसे' हैं, जो पद पार्श्व के विशेषण हैं ।

आपत्ति के प्रतिहार करने में समर्थ मित्र की भांति स्वापनादि अस्त्रों के छिपित होजावे
पर अर्जुन अपने महान् पराक्रम के सदृश गण्डीव धनुष के द्वारा धैर्य धारण करते हुए
प्रचुर श्रीसम्पन्न हुए ॥ १ ॥

भूरिप्रभावेण रणाभियोगात्प्रीतो विजिह्वश्च तदीयबृद्ध्या ।

स्पष्टोऽप्यविस्पष्टवपुःप्रकाश सर्पन्महाधूम इवाद्रिवह्नि ॥ २ ॥

भूरीति ॥ पुनश्च, भूरिप्रभावेण महानुभावेन सह रणाभियोगात् युद्धलाभात्
प्रीतः, तदीयबृद्ध्या शत्रुबृद्ध्या विजिह्वो विश्वश्च तथा स्पष्टो दीप्या प्रज्वलन्प्य-
विस्पष्टो वपुः प्रकाशो यस्य स । कुतः । सर्पन् प्रसरन् महान्धूमो यस्य स सर्पन्महा-
धूमोऽद्रिवह्निरिव स्थितः ॥ २ ॥

वे (अर्जुन) महान् व्यक्ति के साथ युद्धलाभ से तो प्रसन्न थे परन्तु शत्रु के उत्कर्ष से
उनकी मुखकान्ति म्यान प्रतीत हो रही थी । वे दीपित से उद्भासित हो रहे थे तो भी
पर्वतस्य आग्नि के सदृश, जिसमें धूम ही का आधिपत्य रहता है, अप्राशित ही प्रतीत
हो रहे थे ॥ २ ॥

तेज समाश्रित्य परैरहार्यं निज महन्मित्रमिषोरुधैर्यम् ।

आसादयन्नस्त्रलितस्वभाव भीमे भुजालम्बमिवारिदुर्गे ॥ ३ ॥

तेज इति ॥ पुनश्च, परैरभिरहार्यसमेध निज स्वकीय महत्तेजो धैर्य मित्रमिव
समाश्रित्य । अत एव भीमे भयानकेऽरिरेव दुर्गं तस्मिन् अरिदुर्गे शत्रुसकटे ।
अस्त्रलितस्वभावमचलशीलमुरु महत् धैर्यं भुजालम्बमिव हस्तावष्टम्भमिव आसाद-
यन् प्राप्नुवन् । ईदृशे सकटेऽपि महावीर्यत्वाद्द्वैर्यमायजन्नित्यर्थः ॥ ३ ॥

व शत्रुओं के द्वारा अनतिक्रमणीय अपने महान् बलवान् मित्र को समान आक्रम

भीषण शङ्ख-शकट क समक्ष द्वारा के द्वारा के समान जबिचल नवान् धैर्य को प्राप्त कर रहे थे ॥ २ ॥

यशोचितत्यादमिमात्तवस्था सप्राप्तया सप्रियतामसुभ्यम् ।

समक्षमादित्सिधया परेण वध्वेव कीर्त्या परितप्यमान ॥ ४ ॥

वशेति ॥ पुनश्च अमिमानी ममताशुद्धिस्तइत्या । विपद्यतया कर्मणि कर्तृषोपचारः । अमिमानी स्वश्रेनेत्वर्थः । अन्यत्र - कुलशीलायमिमानवत्या । यशोचितत्वात् स्वकुलाशु क्त्वत्वात् । असुभ्यम् प्राणेष्वेव सप्रियतां संग्रहया परेण शत्रुणाऽऽद्यो समीपे समक्षमव्यग्रतः । अमयीमाधे शरत्प्रसृदित्य इति समासान्तदृष्ट्याप्यय । लादाशु प्रहीतुमिहवाऽऽदित्सिधया । आजिहीर्षितमेत्वथ । आहपूर्वाद्वाते सन्नन्नाल्कर्मणि च । वध्वेव कीर्त्या हेतुवा परितप्यमान । कर्तारि शान्च हेतौ इति तृतीयः । कन्ववा शोच इतिवत् ॥ ४ ॥

विस प्रकार उलम वश में जन्म लेने के कारण अमिमानी गतिनी पत्नी को प्राणों से जो बन्दन ही पर्य हो आख के सामने शत्रु के द्वारा अपहरण की जाती हो उसी प्रकार वे जन्म प्राणों से प्रिय कीर्ति को शत्रु के द्वारा अपहरण होते हुए वसे भी रक्ष्य भवने आर्षों के सामने देकर सत्त्व हो रहे थे ॥ ५ ॥

पति नगानामिव बद्धमूलमुन्मूलयिष्यस्तरसा विपद्यम् ।

लघुप्रयत्न निगृहीतवीर्यस्त्रिभागैर्गणवेग इवेश्वरेण ॥ ५ ॥

पतिमिति ॥ पुनश्च नगानां पतिं हिमवन्तमिव बद्धमूल विपद्यं शत्रुं तरसा बलेन । उन्मूलयिष्यन् उत्पाटयिष्यन् । किंच त्रिभिर्मातृगणक्षीति त्रिभागैर्गणैः । उत्तरपर्वसमासः । तस्या वेग इव । ईश्वरेण कणुमयसमस्त्वप्यासं यथा तथा निगृहीतवीर्यं प्रतिबद्धशक्तिः । इत्याकाशकिरिति भावः । पुरात् किञ्च हिमाद्रिविदल-बाध रागनालसप्तं यद्वाप्रवाहं गङ्गाधरो निमज्जतामूदेन निजमाह्वेति पौराणी कथा शङ्खदित्यर्थः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार त्रिपथा (गङ्गा) के वेग जो भवने प्रायः पराक्रम से बद्धमूल तथा पृथ्वीन पर्वतपार हिमालय की रसातल में पशुना देने को हटा कर रहा था शकट भवतान् के द्वारा विना प्रयास के ही अपरुद्ध कर दिया गया उसी प्रकार शकर के द्वारा अजैत वा पराजित भी अपरुद्ध कर दिया गया था ॥ ५ ॥

सस्कारवत्त्वाद्रभयत्सु चेत प्रयोगशिक्षाणामुपयोषु ।

नय यथायैषु शरेषु पाय शरेषु भारथायमियारारसि ॥ ६ ॥

सस्कारेति ॥ एकमूल पार्थ संस्कारवत्त्वात् संस्कारवत्त्वात्सना । अन्यत्र - सापुत्रम् । असापूर्ता प्रयोगनिर्णयविति भावः । अथवा संस्कारो ऽभुत्ववित्तइत्वात्

चेतो रमयसु । प्रयोग सधानमोक्षादि शिक्षाभ्यासो गुणस्तदाहितोऽतिशयो मीर्वा
या, अन्यत्र तु,—प्रयोगोऽभियुक्त्यवहार शिक्षाभ्यासो गुणा स्वस्वस्थानकरणाद्य
श्लेषप्रसादादयो वा ते भूषण येषा तेषु । यथा यथामूला अर्था येषा तेषु यथार्थेषु ।
अन्यत्र,—नियतार्थेषु । शृणन्ति हिंसन्सीति शरास्तेषु जयम् । तस्मिन्निहकत्वात्तदा-
भारत्वविवक्षाया सप्तमी । शब्देषु पदेषु भाव प्रवृत्तिनिमित्त सामान्यादि स एव
अर्थस्तमिव । आशङ्कते आशङ्काम् । शास्त्रिणसत्त्वोराङ्पूर्वपोरिच्छायाभ्यासनेपद-
मुपसक्त्यानात् । यथा शाब्जिका शब्दैरर्थं साधयन्ति तद्वदय शरैर्जय साधयितु-
मित्येतेत्यर्थं ॥ ६ ॥

उपन्युक्त विशेषणों से सम्पन्न अर्जुन अपने बाणों के आधार पर शब्दों के अपार मानार्थ
की तरह विजय की अभिलाषा करने लगे । जिस प्रकार शब्द सत्कार के कारण प्रयोगार्थ
होते हैं (असाधु शब्दों के प्रयोग से प्रत्यक्षय होता है) वन्तित प्रयोग को शिक्षारूप गुण
ही उसके भूषण है और यथार्थ (शब्दानुकूल अर्थ प्रतिपादन) में समर्थ होते हैं उसी प्रकार
बाण भी वित्तशिक्षना के अनुकूल होने के कारण चित्त को प्रसन्न रखते हैं अर्थात्—उरसाह
की शक्ति में समर्थ होते हैं, इनके सधान और मोक्षादि की शिक्षा का अभ्यास ही गुण है,
जो विभूषित करता रहता है । दशा श्रु बाण का अर्थ है शिक्षा करना—अतः शर शिक्षाकारी
होते हैं यथा नाम तथा गुण प्रत्यक्ष रूप से इनमें सर्वावलि हो जावा है ॥ ६ ॥

भूय समाधानविवृद्धतेजा नैव पुरा युद्धमिति व्यथावान् ।

स निर्बन्धामास्रममर्षनुन्न विष महानाग इवेक्षणाम्याम् ॥ ७ ॥

भूय इति ॥ भूय पुनरपि समाधानेन युद्धाय मनोष्यवस्थापनेन विवृद्धतेजा-
प्रवृद्धप्रताप पुरा पुरातन युद्धमेवमित्थ क्षणित्वात्कर नाभवत्, इति हेतोर्व्यथावान्
परितापवान् सोऽर्जुन ईक्षणाभ्या इक्षिन्या महानागो महासर्पो विषमिषामर्षनुन्न
कोषोत्थापितम् । अस्त्रमधु निर्बन्धाम निर्बन्धार । सात्त्विकाना रससाधारभ्याद्भ्रौंशेऽ
अद्भुयोक्ति । 'स्तम स्वेदोऽय रोमाञ्ज स्वरमेदोऽय वेपथु । वैवर्ण्यमग्न्यु प्रलय इत्यष्टौ
सात्त्विका मता' ॥ ७ ॥

'पिता युद्ध कभी नहीं हुआ था' इत प्रकार के दुःख से सतत अर्जुन पुन युद्ध के लिये
निश्चय कर प्रवल तेज से प्रदीप्त होकर महानाग के समान, जो अपने दृष्टि से विष नमन
करता है, कोष से अपने नेत्रों से ललविन्दु गिराने लगे ॥ ७ ॥

तस्याहधायासविलोलमौले सरम्भताम्रायतलोचनस्य ।

निर्वापविष्यन्न्रिव रोपतप्त प्रक्ष्मापयामास मुख निदाघ ॥ ८ ॥

तस्येति ॥ आहवायासेन युद्धायासेन विलोलमौले अस्तकेदाबन्धस्य । 'चूदा
किरीट केशाश्च सयता मौल्यस्त्रय' इत्यमर । सरम्भताम्रे कोपाक्षणे आभवे विसृते
लोचने यस्य । 'सरम्भ सभ्रमे कोपे' इति विश्व । तस्यार्जुनस्य । रोपतप्त मुख

मौल्य गुण-सकृत् न सम्यक् हाथ के सहारा क समान अविचल महात् धैर्य को प्राप्त कर रहे थे ॥ ३ ॥

वशोचितत्वाद्भिमानवस्या समाप्तया सप्रियतामसुभ्य ।

समक्षनादित्सतया परेण वध्येर कीर्त्या परितप्यमान ॥ ४ ॥

वशेति ॥ पुनश्च अभिमानो ममतादुद्दिस्तद्वन्त्या । विषयतया कमलि कभूकोपचार-
कभिमानास्परिनेत्यर्थ । अन्यत्र - कुलश्रीलाघमिमानवयवता । नसोचितत्वाद् स्वकुलानु-
रूपत्वाद् । असुभ्य- प्राणेभ्योपि सप्रियतां समाप्तया परेण शत्रुष्वाऽप्यगो समीपे
समक्षमक्षयप्रथ । अभ्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्य- इति समासान्तद्वयप्रत्यय । भावार्थं
प्रहीतुमिष्टयाऽऽदित्सितया । आशिर्हीयितयेत्यर्थ । नाहपूर्वाद्वाते ससन्ताकर्मणि
कः । वध्येर कीर्त्या हेतुना परितप्यमान । कर्तारि क्षान्तव हेतौ इति तृतीया ।
कन्यया शोक इतिवद् ॥ ४ ॥

मित्त प्रकार च नश में नश देने के कारण अभिमानशक्तिनी वनी की प्राणी से
भी बदर हो गई हो भाव क सामने शत्रु के द्वारा अपहरण की जाते हो वसी प्रकार वे
अव्यक्त प्राणी से मिय कौत्सि को शत्रु क हाथ अपहरण होते हुए उस भी तप्य करने भावों
के सहाने देखकर सन्तप्त हो रहे थे ॥ ४ ॥

पतिं नगानामिव बद्धमूलमुन्मूलयिष्यस्तरसा विपक्षम् ।

सधुप्रयत्न निगृहीतधीर्बाह्यमागंगावेग इवेत्स्वरण ॥ ५ ॥

पतिमित्त ॥ पुनश्च नगानां पतिं क्षिप्तवन्तमिव बद्धमूल विपक्षं शत्रुं तरसा
वधेन (वन्मूलयिष्यन् उरपाद्यिष्यन् । किंच त्रिभिर्मांतीगच्छन्तीति विभाग्या गद्वा ।
उत्तरपदसमासा । सस्या वेग इव । ईश्वरेण सधुप्रयत्नमक्षयमयास यथा तथा
निगृहीतधीर्बाह्यं प्रतिषेद्धशक्ति । हुताश्वशक्तिरिति भाव । पुरात् किञ्च क्षिमात्रिविदु-
बाध नगानात्पत्न्यं गद्वाप्रवाह गद्वाधरो निगज्जगद्भ्येन निगपाद्वेति वीरानी कथा
उद्भवित्यर्थ ॥ ५ ॥

मित्त प्रकार विपक्ष (यज्ञ) के वेग जो करने प्रकृत पराक्रम से बद्धमूल तथा
पशुहीन परंतवारं विनाश की रसातल में पड़ना देने की इच्छा कर रहा था शत्रु
अपवाह के द्वारा विना मयास के ही अवक कर दिया गया वसी प्रकार शत्रु के हाथ
मर्दुन का पराक्रम भी अवक कर लिया गया था ॥ ५ ॥

संस्कारवर्षाद्भूमयत्सु चेत प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु ।

जय यथार्थेषु शरैषु पार्थ- शब्देषु भार्याथिव्याशरसे ॥ ६ ॥

संस्कारेति ॥ वृत्तमूल पार्थ संस्कारभावात् संस्कारविवशस्यता । अन्यत्र -
साधुत्वम् । नसाध्यां प्रयोगनिषेधादिति भाव । अथवा संस्कारे श्युत्परिस्तद्व्याप्य

चेतो रमयत्सु । प्रयोगे सधानमोहादि शिक्षाऽभ्यासो गुणस्तदाहितोऽतिशयो मौर्धा
 वा, अन्यत्र तु,—प्रयोगोऽभियुक्त्यवहार शिक्षाऽभ्यासो गुणा स्वस्वस्थानकरणावय
 श्लेषप्रसादादयो वा ते भूषणं येषां तेषु । यथा यथाभूता अर्था येषां तेषु यथार्थेषु ।
 अन्यत्र,—नियतार्थेषु । शृणन्ति हिंसन्तीति शरास्तेषु जयम् । तन्निर्वाहकत्वात्तदा-
 धारत्वविवक्षायां सप्तमी । शब्देषु पदेषु भाव प्रवृत्तिनिमित्त सामान्यादि स एव
 अर्थस्तमिव । आशाशसे आचकाङ्क्षे । शास्त्रिकसध्यासाङ्पूर्वयोरिच्छायांमात्मनेपद-
 सुपसख्यानात् । यथा शास्त्रिका शब्दैरर्थं साधयन्ति तद्द्वय शरैर्बन्ध साधयितु-
 मियेपेत्यर्थं ॥ ६ ॥

उप-युक्त विशेषणों से सम्पन्न अर्जुन अपने बाणों के आकार पर शब्दों के अपार भावार्थ
 की तरह विजय की अभिलाषा करने लगे । जिस प्रकार शब्द सस्कार के कारण प्रयोगार्थ
 होते हैं (अर्थात् शब्दों के प्रयोग से अर्थवाच्य होता है) उचित प्रयोग की शिक्षारूप गुण
 ही उसके भूषण हैं और यथार्थ (शब्दानुसूल अर्थ प्रतिपादन) में समर्थ होते हैं उसी प्रकार
 बाण भी चित्तवासना के अनुकूल होने के कारण चित्त को प्रसन्न रखते हैं अर्थात्—उत्साह
 की दृष्टि में समर्थ होते हैं, इनके सधान और मोहादि की शिक्षा का अभ्यास ही गुण है,
 जो विभूषित करता रहता है । यथा श्च पाशु का अर्थ है बिंसा करना—अतः शर हिंसाकारी
 होते हैं यथा नाम तथा गुण अत्यन्त रूप से इनमें सर्पाटित हो जाता है ॥ ६ ॥

भूय समाधानविवृद्धतेजा नैव पुरा युद्धमिति व्यथावान् ।

स निर्ववाभामभ्रमर्षनुन्न विप महानाग इवेच्छुणाभ्याम् ॥ ७ ॥

भूय इति ॥ भूय पुनरपि समाधानेन युद्धाय मनोज्वलस्थापनेन विवृद्धतेजा-
 प्रवृद्धप्रताप पुरा पुरातन युद्धमेवमित्य शक्तिसादकर नाभवत्, इति हेतोर्व्यथावान्
 परितापवान् सोऽर्जुन ईच्छुणाभ्या दृष्टिभ्या महानागो महासर्पो विषमिवामचंचुक्त
 क्रोभोत्थारितम् । अक्षमश्रु निर्ववाम निर्जगार । सात्त्विकानां रससाधारण्याद्भेदेऽ
 भूद्वयोक्ति । 'स्तम स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभेदोऽथ वेपथु । वैषर्ष्यमभ्रु प्रलय इत्यष्टौ
 सात्त्विका मता ' ॥ ७ ॥

'पैसा युद्ध कभी नहीं हुआ था' इस प्रकार के दुःख से सतप्त अर्जुन पुनः युद्ध के लिये
 निश्चय कर प्रबल तेज से प्रदीप्त होकर महानाग के समान, जो अपने दृष्टि से विष वमन
 करता है, क्रोध से अपने नेत्रों से जलविन्दु गिराने लगे ॥ ७ ॥

तस्याहवायासविलोलमौले सरम्भतान्नायतलोचनस्य ।

निर्वापयिष्वन्निव रोपतप्त प्रह्लापयामास मुख निदाघ ॥ ८ ॥

तस्येति ॥ आहवायासेन युद्धयासेन विलोलमौले सस्तम्भेदवन्धस्य । 'चूदा
 किरिट केशाश्च समता मौल्यस्त्रय' इत्यमर । सरम्भताञ्च क्रोधाह्ने आयते विसृते
 लोचने यस्य । 'सरम्भ सभ्रमे क्रोधि' इति विश्व । तस्यार्जुनस्य । रोपतप्त मुख

निदाघो धर्मा निर्वाणविषयश्च शिशिरीकरिष्यस्त्रियेषुष्येष्टा । प्रधापयामास सिपेष ।
स्वेद अनयामासेत्यथ । खातेर्मि वविकल्पाद्भवदविकल्प ॥ ८ ॥

युद्ध के परिश्रम से न के केवल पंखे पंखे तथा क्रोध के कारण उनके विशाल नेत्रों ने आगे के सङ्घट्ट भरण तथा पारण किया । क्रोधान्न ने सतत उनके मुखको शोणन करने के लिये ही मानों स्वयं विन्दुओं सिद्धन करने लगी अर्थात् उनके मुखमण्डल पर समकण नजरने लगे ॥ ८ ॥

क्रोधाघकारान्तरितो रणाय भ्रूमेदरेणा स वभार तिल ।

घनोपहृष्ट प्रभवाय वृष्टेरुर्ध्वाशुभनीरिव विग्मररिम ॥ ९ ॥

क्रोधेति ॥ क्रोधोऽन्धकार इव सेनाम्भरित अहृत सोऽर्जुनो घनोपहृष्टा मेघा-
घृतस्तिम्भरदमी रविदृष्टे प्रभवाय वषणाथ तिल ऊर्ध्वाशुना रात्रीरिव । अक्रस्योर्ध्वा
शुभेक्षोदये वृष्टिच्छिन्नमित्वागमः । रणाय रणप्रवृत्तये तिलस्त्रिसक्या भ्रूमेदो भ्रूमद्वस्तस्य
रेखा वभार ॥ ९ ॥

शोषान्धकार से आन्ध्र अर्जुन ने अहृतपटलाच्छदक एव की तरह जो वृष्टि के लिये ऊपर छिद्रणों की पत्तियों को धारण करता है, सप्रामाण भ्रूमङ्गिका का तीन रेखाओं को धारण किया अर्थात् जिस प्रकार एव की ऊपर छिद्रणों वृष्टि की घटना होती है उसी प्रकार अर्जुन के भ्रूमेद के ऊपर जो क्रोध के कारण तीन रेखाएँ बन गई थीं उनसे सूचना होता था कि वे युद्ध के लिये उत्सुक हैं ॥ ९ ॥

स प्रथ्वनभ्याम्बुदनादि चाप हस्तेन दिङ्नाग इवाद्रिशृङ्गम् ।

बलानि शंभोरिपुभिस्तताप चेत्तासि चिन्ताभिरिवारारीर ॥ १० ॥

स इति ॥ सोऽर्जुनोऽम्बुद्वज्जदीति अम्बुदनादि । 'कर्तुर्बुपमाने इति गिति ।
चाप दिङ्नागो दिङ्नागोऽद्रिशृङ्गमिव हस्तेन करेण प्रथ्वनभ्य ध्वजधित्वा शम्भोबलानि
सैभ्यानि । शंभोरोऽम्बुद्वज्ज कामभेतासि बुधमनासि चिन्तानि प्रेभोजनभ्यानैरिव ।
इपुभिस्तताप तापयामास । तपतिः सकर्मक । अत्र 'इपुभाच्' स्त्रीलिङ्गः । अन्ययो
पमानोपमेययोश्चिच्छिन्नतादोषात् । पत्नी शेष इपुद्वयो इत्यमरः ॥ १० ॥

जिस तरह कामरूप विषयचिन्तारूप बाणों से युधकों के मन को सन्तप्त करता है उसी प्रकार अर्जुन मेघ के सङ्घट्ट सम्भोर शोषकारी शम्भोव से शिवाग्र को भाँति जो अपने मुख से पहाड़ के चिखरों को भ्रान्ति करता है शरों की वर्षा कर शकर भयवान् की सेनाको सन्तप्त करने लगे ॥ १० ॥

सद्वादितेवाभिनितिष्टुद्धौ गुणाम्यसूयेव विपक्षपाते ।

अगोचरे वागिव चोपरमे शक्ति शरणा शितिकण्ठकाये ॥ ११ ॥

सद्वादितेति ॥ अभिनितिष्टा पादभित्तिता वृद्धियस्य स तस्मिन् अभिनितिष्टुद्धौ
शक्तिनिहितमती विपक्षे सद्वादिता प्रानागिच्छार्थसमर्थकत्वेव । न हि सम्यगभ्यस्तसार्ध

प्रति सद्वाचपि काकोतीति व्याचक्षते केचित् । अन्ये स्वमिनिविदुद्वावाग्रहाविष्टचित्ते
विषये सद्वादिता हितोपदेशत्वमिव । न ह्याग्रही हितं गृह्णातीति भावः । विषयभाते
चीतरामे विषये गुणाम्यसूया गुणासहिष्णुतेषु । स हि समदर्शी द्विपन्तमपि न द्वेषीति
भावः । जगोचरेऽज्याह्नमनसगोचरे ब्रह्मणि चागिव । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य
मनसा सह' इति श्रुतेरिति भावः । शराणां शक्तिं क्षितिकण्ठकायै शिवशरिरे विषये
उपरम उपरता । तस्याश्चोभ्यमहिमावाहिति भावः । 'विभाषाकर्मकात्' इत्यस्य वैक
ल्पिकत्वात्पञ्च आत्मनेपदम् । अत्र माछोपमा ॥ ११ ॥

आग्रह बुद्धिसम्पन्न पुरुष में हित की बातों का उपदेश जिस प्रकार न्यून हो जाता है
विरक्तपुरुषों के विषय में गुणों के प्रति ईर्ष्या विसप्रकार स्थान नहीं प्राप्त करती और
इन्द्रियों से परे परब्रह्म के विषय में जैसे वाणी मूक हो जाती है वसी प्रकार नीलकण्ठ
(शकर भगवान्) के शरीर में अर्जुन के शरों की शक्ति विफल होने लगी ॥ ११ ॥

उमापतिं पाण्डुसुतमगुञ्जा शिलीसुखा न व्यथयावभूवुः ।

अभ्युत्थितस्याद्रिपतेनितम्बमर्कस्य पादा इव हैमनस्य ॥ १२ ॥

उनेति ॥ पाण्डुसुतेन प्रयुञ्जा प्रक्षिप्ता शिखी जल्प्य मुखे येषां तेशिलीसुखा चाणा
उमापतिं शिवम् । अभ्युत्थितस्याभ्युत्थितस्य । अद्रिपतेनितम्ब कटकम् । हेमन्ते
भवस्य हैमनस्य । 'सर्वत्राण्ये तलोपक्ष' इत्यप्रत्ययस्तकारलोपश्च । अर्कस्य पादा
रश्मय इव । 'पादा रश्म्यश्चिन्नुपांशा' इत्यमरः । न व्यथयावभूवुः । 'मध्ये स्थित-
स्यास्तुमता समूहमर्कस्य' इति पाठान्तरे मध्ये स्थितस्य हैमनस्वार्कस्य पादा किरणा
वस्तुमता प्राणिना समूहमिषेति न तु समुत्पादयानामासुरिति योजना ॥ १२ ॥

अर्जुन के द्वारा प्रक्षिप्त बाण शिव भगवान् को उस प्रकार व्यथित न कर सका,
जिसप्रकार हैमन्तकालीन वर्षा की किरणें अत्यन्त ऊँचे हिमालय के नितम्ब को नहीं
व्यथित कर पाती हैं ॥ १२ ॥

सप्रीयमाणोऽनुचभूव तीव्र पराक्रम तस्य पतिर्गणानाम् ।

विषाणभेदं हिमवानसहस्रं वप्रानतस्येव सुरद्विपस्य ॥ १३ ॥

समिति ॥ गणानां पतिं शिव । तीव्र तस्यार्जुनस्य पराक्रम कमे रोषसि आनतस्य
परिणतस्य । तदग्रहारिण इत्यर्थः । सुरद्विपस्थास्तस्य विषाणभेदं दन्तप्रहारं हिम
वानिभ्यः सप्रीयमाणं सहस्रम्, अनुचभूवानुभवति स्म । तस्याश्चोभ्यरवाद्दनुमिष्टुत्वा-
चेति भावः ॥ १३ ॥

दन्तप्रहारवारी पैरावत के असन्न दन्तप्रहार को हिमालय की तरह प्रमथण्यों के
रथानों शकर भगवान् प्रवृत्त होने हुए उस अर्जुन के तीव्र पराक्रम का अनुभव करने लगी।

तस्मै हि भारोद्धरणे समर्थं प्रदास्यता बाहुमिव प्रतापम् ।

चिर विपेहेऽभिभवस्तदानीं स कारणानामपि कारयेन ॥ १४ ॥

सस्मै हीति ॥ तस्मै पार्याप भारस्व भूभारस्व उद्धरण उद्धरणे समर्थ प्रताप
वाहुमिव । अपद्यन्तयेति शेष । ज-यथा भारोद्धरणस्य हुष्करत्वादिति भावः ।
सप्रताप प्रभावश्च पञ्चज कोशदण्डजम् इत्यमरः । प्रवास्यतावितरिष्यताकारणानां
महादीनामपि कारणेन जनकेन देवेन सोऽभिभवोऽर्जुनपरिभवः । तदानीं चिरं चिपैहे
सोढः । वास्वत्त्वादिति भावः ॥ १७ ॥

उस अर्जुन को पृथ्वी का भार धरण करने में समर्थ प्रताप को मुगलम्ब के समान
विगरण करते हुए कारणों के कारण पृथ्वी सृष्टिके उत्पादक महादिक के भी जनक शकर
भगवान् अजनईत परामत्र का सहन करते रहे ॥ १४ ॥

अथ त्रिभिर्भगवदभिप्रायमाविष्कुर्वन्भुवि कक्षापकमाह—

प्रत्याहृतौजा कृतसस्त्रवेगं पराक्रम ज्यायसि यस्तनोति ।

तेजासि भानोरिव निष्पतन्ति यशासि वीर्यज्वलितानि तस्य ॥ १५ ॥

प्रत्याहतेति ॥ प्रत्याहृतौजा परेण प्रतिहतबलं सन्नपि कृतसस्त्रवेगं कृतोत्सहा
तिशायं सन् यः पुमान् यार्यासि स्वस्मात्प्यधिके पराक्रम तनोति तस्य पुंसो भानोर
कंस्य तेजासीव वीर्येण शौर्येण अछितानि प्रकाशितानि यशासि निष्पतन्ति । जज्ञ-
वन्तीत्यर्थः । हीनस्याधिकाभियोगो यशस्कर इति भावः ॥ १५ ॥

शत्रु के दारु क्षीण पराक्रम होने पर भी उत्साह शक्ति का अवलम्बन छोटे हुए
जो पुरुष अपने से अधिक बलशाली पुरुष के साथ विक्रम प्रदर्शन करता है उस पुरुष
के यश को शौर्य से प्रशंसमान रहते हैं स्वयं की किरणों के समान विखील होते हैं ॥१५॥

तत किमिल्वत आह—

दृष्टावदानाद्बभ्यतेऽरिलोकं प्रध्वसमेति व्यधिताश्च तेजः ।

तेजोविहीनं विजहाति द्युप शान्तार्चिष दीपमिव प्रकाशः ॥ १६ ॥

दृष्टति ॥ दृष्टमवगन्त महत्कर्म यस्य तस्मात् दृष्टावदानाद्दृष्टपौरुषात् । अरिलोक-
शत्रुजनो बभ्यते विभेति । व्यधिताञ्जीतात् तेन प्रध्वस नाशम् । द्युति । तेजोविहीनं
द्युप उत्साहः शान्तार्चिष निर्वाणज्वाल दीप प्रकाश इव विजहाति त्यजति ॥ १६ ॥

त्रिप्त पुरुष का पुरुष र्थ प्रवक्ष्य दिव्यार्चं पञ्चा है उनमें शत्रुर्ण अस्त रहता है लर्भाव
भवभीत होकर तेवदष्ट हो जाता है हतप्रण होने पर उन्हाह उठे इन प्रकार बाग देता
है जिन प्रसार ११५६ के ज्वाला के निर्वाण हो जाने पर प्रकाश उसका परिष्ठाण
कर देता है ॥ १६ ॥

तत प्रयात्यस्तमन्तदलोप स जप्यताया पदवी जिगीषोः ।

गन्धेन जेतु प्रमुखागतस्य प्रतिद्विपस्येय मतङ्गजीघः ॥ १७ ॥

तत इति ॥ ततो द्युपहाप्यन्तरम् । अस्ती चयं गती मन्त्रावलोपी मदगर्भी यस्य
सोऽरिष्ठाका गन्धेन मद्गन्धेन अनुभवनशीलस्य । शीलार्थे वृत्तत्ययः । प्रमुखागत

स्याभिमुखागतस्य प्रतिद्विपस्यान्यो मतङ्गजौघो मत्पराजसमूह इव शिगीपोर्नायकस्य जय्यताया पदवीं प्रयाति प्राप्नोति । विजिगीषणा जेतु शक्यो भवतीत्यर्थ । 'सुख-जय्यौ शक्याय' इति निपात । अत्र श्लोकद्वये उपायसि पराक्रमकरणादीना पूर्वपूर्व-स्योत्तरोत्तर प्रति कारणत्वकथनात् कारणमालाख्योऽलङ्कार । लक्षणं तूक्तम् ॥ १७ ॥

पुन लसाद् से परित्यक्त होकर वह पुण्य अभिमानिवा को छोड़ देता है और नयार्भरापी शत्रु के विजय का इस तरह लक्ष्य बन जाता है जिसतरह मदगर्भ से सम्मुच्च समुपस्थित जये-बु गनराज को हाथियों का सङ्घ विजयी बनने का सुभवसर प्रदान करता है ॥ १७ ॥

एव प्रतिद्वन्द्विपु तस्य कीर्ति मौलीन्दुलेखाविशदा विधास्यन् ।

इयेष पर्यायजयावसादा रणक्रिया शमुरनुक्रमेण ॥ १८ ॥

एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या प्रतिद्वन्द्विपु प्रत्यर्थिषु मध्ये तस्यार्जुनस्य मौलीन्दुले खाविशदा कीर्ति विधास्यन् करिष्यन्, अनुक्रमेणाविपर्यासेन पर्यायेण जयोऽवसादो भङ्गश्च तौ जयावसादौ यस्या ता पर्यायजयावसादा रणक्रियाश्च । इयेषेच्छति स्म । जयानन्तर भङ्गो भङ्गानन्तर जय इति पर्यायार्थ । तस्य विपर्यासोऽन्यतरनैरन्तरार्थ तदभाषोऽनुक्रम इत्यपौनस्यत्वम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार शकर भगवान् विपक्षियों के बीच उस भङ्गुन की कीर्ति को स्वकीय ललाट पट्टस्थ चन्द्रलेखा के सदृश शुभ्रवर्ण करते हुए क्रमशः कमी गयी तो कभी पराजय रूप युद्धक्रिया के इच्छुक हुए ॥ १८ ॥

मुनेर्विचित्रैरिषुभि स भूयान्निये वश भूतपतेर्बलौघ ।

सहात्मलाभेन समुत्पत्तद्भिर्जातिस्वभावैरिव जीवलोक ॥ १९ ॥

मुनेरिति ॥ मुनेर्विचित्रैरिषुभि स भूयान् असख्यो भूतपतेर्बलौघ आत्मलाभेन जन्मना सह समुत्पत्तन्निराविर्भवद्भि । आजन्मसिद्धैरित्यर्थ । जातयो गौत्वमनुष्यत्वा-दय, स्वभावा जातिनियता धर्मास्ते जातिस्वभावैर्जावलोक प्राणिजातमिव वक्ष निन्ये नीत । कर्मणि लिट् । प्राणिनो जातिधर्मानिव शणा मुनिपराशातिक्रमितु शेकु रित्यर्थ । कलापकम् ॥ १९ ॥

आजन्म सिद्ध जातियों के धर्म के द्वारा ससारी लोग की तरह अर्जुन के विविध प्रकार के बिलङ्घन अस्त्रों के द्वारा मृताधिनाभ (शकर) का सेनासमूह वश्यता को प्राप्त हो गया अर्थात् शकर भगवान् का हैनिकु वर्ण अर्जुन के लक्ष शत्रुओं का अतिक्रमण न कर सका ॥ १९ ॥

वितन्वतस्तस्य शरान्धकार प्रस्तानि सैन्यानि रव निशेमु ।

प्रवर्षत सततवेपथूनि क्षपाधनस्येव गवां कुलानि ॥ २० ॥

वितन्वत इति ॥ प्रस्तानि सैन्यानि सततवेपथूनि निरन्तरकम्पानि गवां कुलानि

कथं बहिराकारभेद कारणाभावदिति चेन्न विप्र हस्याह—इदं पूर्वोक्तम् । आकारवै-
षम्यं च भेजे । किंतु केनापि कारणेन न कुप्यतीत्यर्थं । ननु निर्विकारे कुत आकारभे-
दस्तत्राह—महता वृत्तिश्रेष्ठा दुर्लक्ष्यचिह्ना दुर्ग्रहहेतुका हि ॥ २३ ॥

अपि शंकर भगवान् की आकृति में विकाररूप परिवर्तन हो गया था तथापि अर्जुन
के प्रति उन्हें क्रोध न हुआ । परम पुरुष में विकार वहाँ ? केवल आकारमात्र में यह
विषमता थी । महान् व्यक्तियों का भाव किसी विषय विशेष से व्यक्त नहीं हो पाता ॥२३॥

वैषम्यमैवाह—

विस्फार्यमाणस्य ततो भुजाभ्यां भूतानि भर्त्रा धनुरन्तकस्य ।

भिन्नाकृतिं ज्या ददृशु स्फुरन्ती क्रुद्धस्य जिह्वामिव तप्तकस्य ॥ २४ ॥

विस्फार्यमाणस्येति ॥ ततोऽनन्तरं भूतानि भर्त्रा भूतपतिना । भृञ्जस्तुप्रत्यय ।
अत एव 'न लोक— इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेध । भुजाभ्याम् । कर्तृकरणयोस्तृतीया ।
विस्फार्यमाणस्याकृप्यमाणस्य धनुरन्तक इव तस्य धनुरन्तकस्य सवन्धिर्गी स्फुरन्ती
चलन्तीमित एव भिन्ना द्विधेय दृश्यमानाऽऽकृतिर्यस्यास्ताऽप्या धनुरगुण क्रुद्धस्य तप्तकस्य
नागविशेषस्य जिह्वामिव ददृशु । द्विधाभावाद्भयकरत्वाच्चेति भावः ॥ २४ ॥

स्वामी शंकर भगवान् के भुजाभ्यां से आकृत किये जाते हुए वृक्ष सदृश धनुष की
स्फुरण करती हुई प्रत्यक्षाको (डोरी), जो भिन्नाकृति धारण कर रही थी, कुपित तप्तक की
रूप लपातो हुई जिह्वा के सदृश सब लोगों ने देखा ॥ २४ ॥

सव्यापसव्यध्वनितोऽचाप पार्थ किराताधिपमाशशङ्के ।

पर्यायसपादितकर्णतालं यन्ता राज व्यालमिवापराद्ध ॥ २५ ॥

सव्येति ॥ पार्थ सव्यापसव्याभ्यां वामदक्षिणतन्निभ्यां ध्वनितं नादितमुग्रचाप
येन तं किराताधिपम् । अपराद्धं यन्ता पर्यायेणाप्यौपपद्येन सपादितं कर्णयो-
स्ताळ आस्फालनं येन तं व्यालं दुष्टम् । 'भेद्यच्छिद्रं शते व्यालं' इत्यमरः । राजमि-
वाशशङ्के । तप्तापचातुर्दशानाद् दुर्जयं क्रोऽप्ययमनर्थकरश्चेति सङ्कितवानित्यर्थः ॥२५॥

अभिप्रायः महाराज हाहावान् बारी बारी से दोनों फर्णतालों को संचालन करते हुए
दुष्ट हाथों के प्रति आशुद्धा करता है उस प्रकार अर्जुन वाम और दक्षिण उभय
गति से धनुष को नियोजित करते हुए सवराधिनाथ (शंकर) को देवकर आशङ्का
करके सगे ॥ २५ ॥

निजग्निरै तस्य हरेपुजालौ पतन्ति वृन्दानि शिलीमुखानाम् ।

ऊर्जस्विभि सिन्धुमुखागतानि यादासि यादोभिरिवाम्बुराशे ॥ २६ ॥

निजग्निर इति ॥ हरेपुजालौस्तस्यार्जुनस्य पतन्ति आगच्छन्ति शिलीमुखाना
शरणा वृन्दानि । ऊर्जस्विभि प्रबलैः । अम्बुराशेर्वादीभिर्जलप्रादैः सिन्धुमुखेन नदी-
मुखेन आगतानि यादासीव निजग्निरै हतानि ॥ २६ ॥

समुद्र के बरिष्ठ (भोजन) जन्तुओं के द्वारा स्रोतस्त्रिनियों (नदियों) के मुख से समागत जलसन्तु की भाँति शकर भगवान् के वैगद्यालो माणसमूर्हों से उस भजन के व्यतनशील शरों के समूह ताडित किये गये अर्थात् विन्न-भिन्न कर दिये ॥ २६ ॥

विभेदमन्त पद्मीनिरोध विष्वसन चायिदितप्रयोग ।

नेताऽरिलोक्येषु करोति यद्यत्तत्तच्चकारास्य शरपु शम् ॥ २७ ॥

विभेदमिति ॥ अन्तर्विभेद व्यूहविरलेषणमुपजाप च पद्मीनिरोध मार्गं एव प्रतिषेधनम् अन्यत्र तु-आसारप्रसारप्रतिषेध विष्वसनं सखनं दुगलुण्ठनवाह-दिक चेत्यादि यद्यनेता नायको जिगीषु । अविदितप्रयोग सवृत्तमन्त्रत्वादविज्ञातो पावप्रयोग सन् अरिलोक्येषु शत्रुकुलेषु करोति तत्तच्छमुरविदितप्रयोगोऽज्ञातबाण सधानमोचादिक सन् अस्याङ्गुनस्य शरेषु चकार कृतवान् । कर्त्तारि लिट् । श्लेषालङ्कारः ॥ २७ ॥

जिम प्रकार सेनानायक अ वसे अपरिचित उपाय प्रयोग वाला होकर शत्रु समूह के विषय में भेदनीति का प्रयोग करता है यातायात मार्ग का अवरोध करता है और किले को तो-टा-जग-पुना कर नष्ट-अष्ट कर देगा है वसी प्रकार शकर भगवान् ने अन्य स अपरिचित उपाय प्रयोग (अज्ञात बाण सधान मोचादि) वाला हो व्यूह की तिनर विवर कर दिया बाणों को बीच से काट टाला ॥ २७ ॥

सोढायगीतप्रथमायुधस्य क्रोधोऽमृतैर्वै गितया पतद्भिः ।

छिन्नैरपि त्रासितबाहिनीकैः पतेते कृत्तार्थैरिव तस्य बाणैः ॥ २८ ॥

सोऽपि ॥ सोढानि परैरवगीतानि गहितानि प्रथमायुधानि सर्वोत्कृष्टबाणा यस्य तस्याङ्गुनस्य सय-धभिः क्रोधोऽमृतैः एवबाणवैकल्यात्क्रोदेन त्यक्ते । अत एव वेगितया वेगेन पतद्भिर्गतिं कुर्वन्नि अत एव छिन्नैरपि त्रासिता बाहिन्यो यैस्तैरत एव कृत्तार्थैरिव बाणैः पतेते । भावे लिट् । वस्तुतस्त्वकृत्तार्था एवेत्यथ ॥ २८ ॥

अर्जुन ने जिन बाणों का प्रयोग किया था सर्वा का प्रसार अगवान् शकर ने किया जिनमें उनके द्वारा अ यत् क्रोध के साथ प्रचिन बाण वेग में उड़ते हुए शकर भगवान् का धोर में लक्षित कर शिथे गये तथापि उनकी धनाओं को प्रस्त करते हुए मकलाभूत की तरह गिरने लगे बन्तुन विद्वन् २८ ॥

अलङ्कृतानामृजुतागुण्येन गुरुपन्थि गतिमास्थितानाम् ।

मतामिरापराणि मागणाना भङ्ग स निष्पोधृतिमुन्मत्ताय ॥ २९ ॥

अलङ्कृतानामृजुतागुण्येन गुरुपन्थि गतिमास्थितानाम् अलङ्कृतानां गुरुमिपुत्रविद्यागुरुमिर्षमहागुणमिथ उपदिष्टां दक्षिणां गतिं गमनमाचार च आस्थितानां प्राज्ञानां मार्गानां चाराणां सदां साधूनामिथ । अचरत्त्वग्रन्थी । अन्यत्र-अत्र

स्तावे । अकाण्ड इत्यर्थ । 'पर्यं स्यादुत्सवे ग्रन्थौ प्रस्तावे लक्ष्मणान्तरे' इति विश्व । स ईश्वरकृतो भद्ररक्षेदो भद्रसन च जिष्णोरर्जुनस्य कस्यचिजित्वरस्य च । 'जिष्णु' शक्ते भनजये । जित्वरे' इति विश्व । घृतिं धैर्यम् । उन्ममाथ । जहारेत्यर्थ । अकाण्डे साधुविपत्तिदर्शनादिव धारमद्रवर्शनाद्यैर्भङ्गोऽभूदित्यर्थ ॥ २५ ॥

जिस प्रकार सज्जन पुरुष का, जो विनम्रता से अलक्षित रहता है, तथा धर्मशास्त्र द्वारा प्रदर्शित पथपर अपनी जीवन यात्रा को गवलम्बित रखता है, धैर्य भागन्तुक विपत्ति से छूट जाता है उसी प्रकार सरलता के गुणों से सम्पन्न तथा धनुर्विद्याविशारद शुरुकों के द्वारा प्रदर्शित गति के अनुसारी बाणों के खण्डन ने अर्जुन के धैर्य को मथ टाला अर्थात् उनका धैर्य छूटने-छूटने हो गया ॥ २५ ॥

बाणच्छिदस्ते विशिखा स्मरारेरवाङ्मुखीभूतफला पतन्त ।

अखण्डित पाण्डवसायकेभ्य कृतस्य सद्य प्रतिकारमापु ॥ ३० ॥

वाणेति ॥ बाणच्छिद्व पार्थशरच्छेदिनस्ते स्मरारेर्विशिखा अवाङ्मुखीभूतफला-विमुखाप्रा विकलाश्च सन्त पतन्त पाण्डवसायकेभ्य । क्रियाप्रवृत्ताद्यतुर्थो । पाण्ड-वसायकाना कृतस्य फलमद्रूपस्य स्वकर्मण सद्योऽखण्डित प्रतिकारमापु । अत्यु-त्कट कर्म सद्यो वर्त्तयतीति भाव ॥ ३० ॥

कामदेव के शत्रु शंकर भगवान् के बाण, जो अर्जुन के बाणों को छिन्न मिन्न कर रहे थे, अत एव उनके अग्रभाग में लगे हुए फल मुबकर टूटें हो गये थे और किसी २ के निकल कर गिर गये थे, अर्जुन के शरों पर गिरते हुए अपने किये हुए कर्मों के अखण्डफल को प्राप्त कर लिये ॥ ३० ॥

पुनर्जुनस्य जयमाह—

चित्रीयमाणानतिलाघवेन प्रमाथिनस्तान्भवमार्गणानाम् ।

समाकुलाया निचखान दूरं बाणान्त्रजिन्या हृदयेष्वराति ॥ ३१ ॥

चित्रीयमाणानिति ॥ अरातेरर्जुन । अतिलाघवेनातिशीघ्रत्वात् चित्रीयमाणाश्चि-त्रमाश्रयं कुर्वाणान् । 'नमोवरिवक्षित्रल वयत्' । भवमार्गणाना प्रमाथिन खण्डयत तान् बाणान् । समाकुलाया सधुभिताया ध्वजिन्या सेनाया हृदयेषु दूर गाढ निचखान निखातवान् ॥ ३१ ॥

अर्जुन ने हस्तलाघव से (बाण के आह्वान और प्रक्षेप रूप क्रियाकुशलता से) आश्रयमें बाल देने वाले बाणों को, जो शंकर भगवान् के शरों को खण्डित कर रहे थे, अस्तम्यस्त सेना के वक्षस्त्रल में गाढ दिया ॥ ३१ ॥

तस्यातियत्रादतिरिच्यमाने पराक्रमेऽन्योन्यविशेष्येन ।

हन्ता पुरा भूरि पृपत्स्ववर्ष निरास नैदाध इवान्धु मेघः ॥ ३२ ॥

तस्येति ॥ तस्याञ्जनस्य पराक्रमेऽतिपदाद्धेतो । अन्योन्यस्य विशेषेणातिघ्नव
करणेन । अतिरिच्यमान उत्कृष्यमाणे सति पुरां हुन्ता त्रिपुरविनयी हरो भूरि
प्रभूत वृष-इवर्षं बाणवपम् । वृषरूबाणाविशिला इत्यमर । निदाये भवो मैदायो
मेयोऽञ्जुबाडोऽञ्जु जलमिव निरास मुग्धोच । अस्पतेलिड । निदाय इहण वर्णत्या
तितीव्रत्वद्योतनायम् ॥ ३२ ॥

अपन्त परिभ्रमपूर्वकं सप्राप्तं करते करते भवन के पराक्रम की शिथिलता होने ।
त्रिपुरविनयी भगवान् शूलो ने प्रीणम कालिक मेघको जलवृष्टि सहित बाणवृष्टि कर
प्रारम्भ कर दिया ॥ ३२ ॥

अनामृशन्त कचिद्वच मर्म प्रियैपिणाऽनुग्रहिता शिवेन ।

सुहृत्प्रयुक्ता इव नमवादा शरा मुनेः प्रीतिकरा बभूवुः ॥ ३३ ॥

अनामृशन्त इति ॥ प्रियैपिणा प्रियचिकीर्षुणा शिवेनानुग्रहिता प्रयुक्ता अथ
एव कचिवेव मर्मानामृशन्तोऽप्रशन्त शरा सुहृन्मिन्न सोऽपि प्रियैपी तेन प्रयुक्ता
उच्चारिता नमवादा शिववादा व मुनेरनु मत्त्व प्रीतिकरा प्रीतिजनका बभूवुः ॥ ३३ ॥

भजुन के सुमन्त्रिक शर भगवान् के द्वारा प्रदत्त बाण उनके मन्त्रियों को कहीं भी
कण न पहुंचाते हुए भिन के द्वारा प्रयुक्त परिहास वचनों की भांति दुःखद न होकर प्रीति
जन होने लग ॥ ३३ ॥

अत्रैः सम्भानामतिरेकिणीं वा परयन्निपूणाभपि तस्य शक्तिम् ।

विपादवह्न्यवशं प्रमाथी स्वमाललम्बे बलमिदुमौलि ॥ ३४ ॥

अत्ररिति ॥ अत्रैः स्वायुधैः समाणा इत्ययम् । अतिरेकिणीं ततोऽधिकीं वा
तस्य मुने । इपूणाभपि शाक पर्यन् विपादनेतेसाहमन्नेन बह्मन्यानि निर्वाच्यानि
बलानि सैन्यानि यस्य स प्रमाथी वायुमदन इन्दुमौलिर्माहादेव स बलमालम्बीय महि
मानम् । आलम्ब्ये स्वसामध्यमवलयितवान् ॥ ३४ ॥

शश्वत्मानं पद्मवृष्ट भगवान् शंकर ने भजुन ने शायो की शक्ति को स्वकीय शरो
के समान भवता व से भी अधिक देयर उ साहमन के कारण सेनाओं को नीमते हुए
भयने नामध्वं वा आश्रय दिया ॥ ३४ ॥

ततस्तपोनीयसमुद्रतस्य पारं यियासो समराणस्य ।

महपुनालापरिलानि जिष्णारकं पयासीन समाचचाम ॥ ३५ ॥

तत इति ॥ ततो अर्द्धमयानुभावात्तन्तर इवस्तपोनीयांशो ससुद्रतस्य अगहनस्य
ममर पद्मवागवस्तस्य पारमन्तं विषामोर्जिगीमिपाजिष्णोरतुनस्य अलिलानि महपुना
लानि समप्रवागममूहान् । अर्द्धं सूय पयासीय जलनीन समाचचाम सजहार ॥ ३५ ॥
भगवान् मराचिमा १ के द्वारा जगशोक की भांति शर भगवान् ने अपनी शक्ति

के श्वक करने के अनन्तर तपस्वा और पराक्रम से प्रगल्भ तथा समर समुद्रके पारगत होने के भविष्यो भर्जुन के सम्पूर्ण शरसमूह का भावमान कर लिये ॥ ३५ ॥

रिक्ते सविस्त्रम्भमथाजुंनस्य निषङ्गवक्त्रे निपपात पाणि ।

अन्यद्विपापीतजले सतर्षं मतङ्गजस्येव नगाश्मरन्ध्रे ॥ ३६ ॥

रिक्त इति ॥ अथ बाणान्तरधानानन्तरम् । अजुंनस्य पाणि करो रिक्ते बाणशून्ये निषङ्गवक्त्रे तूणीरमुखेऽन्यद्विपेन राजान्तरेण भापीतजले पीततोये नगस्याचलस्या श्मरन्ध्रे शिखार्ते । प्रदर इत्यर्थः । सतर्षं सत्पुष्पं यथा स्वात्तया मतङ्गजस्य पाणि-
लक्षणया कर इव सविस्त्रम्भ सम्येव बाणा इति सविश्वास निपपात ॥ ३६ ॥

पर्वत के पथरों के दरारों में पूर्य जल को नव्य हाथी के द्वारा शोषण कर लेनेपर उस स्थान के बल पानके अम्भासी हाथी की तरह, जो जल की सत्ता पर विश्वास करते हुए अपने घूट से उसे ट्योलता है, अजुन का हाथ श कर के द्वारा बाणशोषण के अनन्तर रिक्त तरकश को हाथ की सत्ता का विश्राम करते हुए ट्योलने लगा ॥ ३६ ॥

च्युते स तस्मिन्निषुधौ शरार्थाद्भ्रुवस्तार्थसारे सहसेव बन्धौ ।

तत्कालमोघप्रणय प्रपेदे निर्वाच्यताकाम इवाभिमुख्यम् ॥ ३७ ॥

च्युत इति ॥ शरा एव अधो धन तस्मात् । च्युते अष्टे तस्मिन्निषुधौ निषङ्गे सहसा ह्यदिति भ्रुवस्तार्थसारेऽकारणे नष्टधनसारे बन्धाविव तत्काले मोघो वितथ प्रणय प्रीतिर्यस्य स । तत्कालकृतम्यर्थप्रार्थन । पूर्वं कृतार्थ एवेति भावः । स पाणि । निर्वाच्यता कृतज्ञत्वापवादराहित्य कामयत इति निर्वाच्यताकाम । 'शीलि कामिमध्याचरिभ्यो ण, स ह्वेत्युत्प्रेक्षा । आभिमुख्य प्रपेदे । यथा कश्चित्कृतज्ञस्तत्कालेऽकृतोपकारमपि बन्धु पूर्वापकारस्मरणानुन पुनरनुवच्चाति तद्वदित्यर्थः ॥३७॥

तरकश की सम्पत्ति तो शाय ही है । उनके नष्ट हो जान पर भी अजुन का हाथ उस क्षण विफल मनोरथ रहता है तो भी उसके पूर्वकृत उपकारों की कृतज्ञता प्रकट करने के लिये उस व्यक्ति की तरह जो आत्मीय बन्धु के उपकारों की कृतज्ञता प्रकट करने के लिये उसके सर्वस्वापहार दशा में भी उसके समक्ष उपस्थित होता है, तरकश के सम्मुख उपस्थित हुआ ॥ ३७ ॥

आघट्टयामास गतागताभ्या सावेगमप्राङ्गुलिरस्थ तूणौ ।

विधेयमार्गे मतिरुत्सुकस्य नयप्रयोगाविव गा जिगीषो ॥ ३८ ॥

आघट्टयामासेति ॥ अस्य मुने । अत्र चासावद्गुलिश्चेत्प्रगाङ्गुलि । 'हस्ताघ्राग्रह-
स्तयोरुण्णुगुणिलोर्मेदाभेदात्' इति वामन । विधेयमार्गे कर्तव्यान्वेपण उत्सुकस्य प्रवृत्तस्य गा मुव जिगीषोर्नायकस्य मतिर्युद्दिर्नय पादरूप्य प्रयोग उपायस्ती नय-
प्रयोगाविव तूणी निषङ्गी सावेग ससन्नम् । 'इष्टानिष्टागमाज्ञाने आवेगश्चित्तसन्नम्' इति शाश्वत । गतागताभ्या सात्तायाताभ्यामावापोद्वापाम्या चाऽऽघट्टयामास ।

तस्येति ॥ तस्याजुनस्य पराक्रमेऽस्तिवत्तादसौ । अन्योऽस्य विशेषीवातिशय
करणेन । अतिरिच्यमान उत्कृष्यमाणे सनि पुरां हस्ता त्रिपुरविजयी हरो भूति
प्रभूत वृषाकपर्वं वाणवपम् । वृषस्कवाणनिशिक्षा इत्यमरः । निदाघे मजो नैदाघो
मेघोऽभ्युवाहोऽभ्यु अलमिव निरास मुमोच । अत्यतेरिष्ट । निदाघ इत्यण
तितीक्ष्णोत्तनाथम् ॥ ३२ ॥

अथ व परिभ्रमपूर्वकं समाप्त करते करते अजन के पराक्रम की शिथिलता होने पर
त्रिपुरविजयी भगवान् चूकी ने प्रीम्भ काशिक मेवकी जलवृष्टि सदृश वापवृष्टि करना
मारम्भ कर लिया ॥ ३२ ॥

अनामृशान्त कचिदेव ममै प्रियैपिणाऽनुप्रहिता शिवेन ।

सुहृत्प्रयुक्ता इव नमवावा शारा मुने प्रीतिकरा बभूवु ॥ ३३ ॥

अनामृशान्त इति ॥ प्रियैपिणा प्रियधिकीषु वा शिवेनानुप्रहिता प्रयुक्ता अत
एव कचिदेव ममैनामृशान्तोऽस्पृशान्त शारा सुहृन्मिधं सोऽपि प्रियैपि तेन प्रयुक्ता
उधारिता ममैवादा प्रियवादा व सुवैरस्य नस्य प्रीतिकरा प्रीतिजनका बभूवु ॥ ३३ ॥

अजुन के शुभचिन्तक शकर भगवान् के द्वारा प्रेरित वाण धनुके समस्यकों की कधी भी
कष्ट न पहुँचाते हुए मित्र के द्वारा प्रयुक्त परिहास वचनों की भाँति दुःखद न होकर प्रीति
प्रदा होने लगे ॥ ३३ ॥

अस्त्रै समानामतिरेकिणीं वा परयन्निपूणामपि तस्य शक्तिम् ।

विपाद्यक्तव्यवला प्रमाथी स्वमाललन्धे बलमिदुमीति ॥ ३४ ॥

अस्त्रैरिति ॥ अस्त्रै स्वायुधै समानां इत्याम् । अतिरेकिणीं ततोऽधिक्यं वा
तस्य मुने । इपूणामपि शक्तिं परयन् विपादेनोत्साहभङ्गेन बलम्यानि निवाध्यानि
यत्नानि सैव्यानि अस्त्र स प्रमाथी अनुमदन इत्युमीर्लिर्महादेव एव बलमागीय महि
मानम् । आललन्धे स्वसामर्थ्यमवलम्बितवान् ॥ ३४ ॥

अनुमदन शत्रुवृद्ध भगवान् शकर ने अजुन के बायो की शक्ति की स्वकीय शरो
के समान भयवा कष्टों को अधिक देखकर व साहस के कारण सेनाओं को कीसते हुए
अपने सामर्थ्य का आशय किया ॥ ३४ ॥

ततस्तपोधीयसमुद्धतस्य पार धियासो समारणवस्य ।

महेषुजाला यस्त्रिष्ठानि जिष्णोरर्कं पयासीय समाध्वचाम ॥ ३५ ॥

तत इति ॥ ततो महिमप्रादुर्भावानन्तरं देवस्तपोधीयान्यै समुद्धतस्य प्रगल्भस्य
समर एवाणैवस्तस्य पारमन्त धियासोत्रियमिपोर्जिष्णोरर्कस्य अस्त्रिष्ठानि महेषुजा
लानि समप्रधानसमूहान् । अर्कः ध्रुवः पयासीय जलानीय समाध्वचाम सज्जहार ॥ ३५ ॥

भगवान् बरीचिमाली के द्वारा जलधोषण की भाँति शकर भगवान् ने अपनी महिमा

के पृथक् करने के अनन्तर तपस्या और पराक्रम से प्रगल्भ तथा समर समुद्रके पारगत होने के अनिलाद्यो अर्जुन के सम्पूर्ण शरसनूह का आचमन कर लिये ॥ ३५ ॥

रिक्ते सविस्त्रम्भमथार्जुनस्य निवङ्गवक्त्रे निपपात पाणि ।

अन्यद्विपापीतजले सतर्पं मतङ्गजस्येव नगाश्मरन्ध्रे ॥ ३६ ॥

रिक्त इति ॥ अथ बाणान्तर्धानानन्तरम् । अर्जुनस्य पाणि करो रिक्ते बाणशून्ये निवङ्गवक्त्रे तूणीरमुखेऽन्यद्विपेन गजान्तरेण आपीतजले पीततोये नगस्याचलस्या रमरन्ध्रे क्षिणगतौ । प्रवर इत्यर्थः । सतर्पं सतृष्ण यथा स्वाच्छया मतङ्गजस्य पाणि-
लक्षणाया कर इव सविस्त्रम्भ सन्त्येव बाणा इति सविश्वास निपपात ॥ ३६ ॥

पर्वत के पथरों के दरारों में पूर्ण जल को बन्य षापी के द्वारा शोषण कर लेनेपर उस स्थान के जल पानके अभ्यासी हाथी की तरह, जो जल की सत्ता पर विश्वास करते हुए अपने घड़ से उसे टटोळता है, अर्जुन का हाथ शरके के द्वारा बाणशोषण के अनन्तर रिक्त तरकश को बाण की सत्ता का विश्वास करते हुए टटोळने लगा ॥ ३६ ॥

च्युते स तस्मिन्निधुधौ शरार्थाद्दुध्वस्तार्थसारे सहसेव बन्धौ ।

तत्कालमोघप्रणय प्रपेदे निर्वाच्यताकाम इवाभिसुख्यम् ॥ ३७ ॥

च्युत इति ॥ शरा एव अर्थो धन तस्मात् । च्युते अष्टे तस्मिन्निधुधौ निषेद्रे सहसा झटिति ध्वस्तार्थसारेऽकाण्डे नष्टधनसारे बन्धायिव तत्काले मोघो वितथ प्रणय प्रीतिर्यस्य स । तत्कालकृतन्ययप्रार्थन । पूर्वं कृतार्थं पुनैति भावः । स पाणि । निर्वाच्यता कृतज्ञत्वापवादरहित्य काम्यत इति निर्वाच्यताकाम । 'श्रीकि-
कामिभद्रयाचरिभ्यो ण, स इवेत्युत्प्रेक्षा । आभिसुख्य प्रपेदे । यथा कश्चित्कृतज्ञस्त-
त्कालेऽकृतोपकारमपि बन्धु पूर्वोपकारस्मरणात्पुन पुनरनुबध्नाति तद्वदित्यर्थः ॥ ३७ ॥

तरकश की सम्पत्ति तो बाण ही है । उनके नष्ट हो जान पर भी अर्जुन का हाथ उस क्षण विकल मनोरथ रहता है तो भी उसके पूर्वकृत उपकारों की कृतकता प्रकट करने के लिये उस व्यक्ति की तरह जो आत्मीय बन्धु के उपकारों की कृतकता प्रकट करने के लिये उसके सर्वस्वापहार दश में भी उसके समक्ष उपस्थित होता है, तरकश के सम्मुख उपस्थित हुआ ॥ ३७ ॥

आघट्टयामास गतागताभ्या सावेगमद्राहुत्तिरस्य तूणी ।

विधेयमार्गे मतिरुत्सुकस्य नचप्रयोगाविव गा जिगीषो ॥ ३८ ॥

आघट्टयामासेति ॥ अस्य मुने । अत्र चासावद्बुद्धिश्रेयद्राहुक्ति । 'हस्ताप्राग्रह-
स्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्' इति वामन । विधेयमार्गे कर्तव्यान्वेषण उत्सुकस्य प्रवृत्तस्य या मुख जिगीषोर्नायकस्य मतिर्बुद्धिर्नैव पाहगुण्य प्रयोग उपायस्तौ नच-
प्रयोगाविव तूणी निष्क्री सावेग ससन्नम् । 'इष्टानिष्टागमाज्ञाने भावेगश्चित्सन्नम्' इति शास्वत । गतागताभ्या यातायाताभ्यामावापोद्वापाभ्या चाऽऽघट्टयामास ।

अन्यत्र शु-वितर्कयामास । शरभहृणाय पुनःपुनस्तूणयोः पाणि व्यापारयामासेत्यर्थः ॥
 विसररह पृथ्वी के नीचे वा भूमिगतो और कर्ष-यानुष्ठान में वत्साहो पुत्र की
 बुद्धि बाहुष्य प्रयोग में लगती है फिर वहाँ से पराबमुख हो जाती है अर्थात् अनेक प्रकार
 के तरु वितरु करती है उसी तरह अजुन का हाथ वेग के साथ निषङ्ग एक गमनागमन करता
 था और सपट होता था ॥ ३८ ॥

वमार शून्याकृतिरर्जुनस्ती महेपुधी धीतमहेपुजाली ।

युगान्तसशुष्कजली विजिह्व पूर्वापरौ लोक इवाम्बुराशी ॥ ३९ ॥

वमारोति ॥ शून्याकृतिरिष्टनाशास्त्रिस्तेजस्कूपोऽशुभ । तौ धीतमहेपुजाली
 बीताभि वताभि महेपुजालाभि ययोस्ती महेपुधी महानिपङ्गी विजिह्व शून्यो लोको
 युगान्ते सशुष्कजली । शुष क इति निष्ठातकारस्य ककारः । पूर्वापरावम्बुराशी
 समुद्राविष वमार ॥ ३९ ॥

तरुकर से शक्तिशाली बाण चने गये जिनसे अर्जुन इतमम हो गये । रिक्त तूणो के
 अजुन न के वही प्रकार भारय किया विसरप्रकार मलय काल की प्रचण्ड-बाला से शुष्क
 पूर्वाध और पश्चिमीध दोनों समु-नों को समार वत्त होकर धारण करता है ॥ ३ ॥

तेनानिमित्तेन तथा न पार्यस्तयोयथा रिक्ततयाऽनुतेपे ।

स्वमापद् प्रोक्ष्य विपत्तिमन गोचन्ति सन्तो ह्युपकारिपक्षम् ॥ ४० ॥

तेनेति ॥ पाथस्तयोस्तूणयो रिक्ततया हेतुना यथाऽनुतेपे ह्युक्तोच तथा तेनाभि
 मित्तेन बाणव्ययकूपेण दुर्निमित्तेन न शुभोच । तथा हि—सन्त- स्वमापद् प्रोक्ष्य
 विपक्ष्य विपत्तिमप्रमुपकारिणां पक्ष वर्गं शोचन्ति । स्वल्पसनापेक्षया परकीयव्यसन
 नैव सतामनुतापकमित्यय ॥ ४ ॥

अजुन को निषङ्गों के रिक्त होने से जो सन्ताप हुआ वह स-ताप बाण के नाश रूप
 दुर्निमित्त से नहीं हुआ क्योंकि महा मा लोग अपनी विपत्ति पर ध्यान न देकर विषमस्त
 उपकारी वर्ग पर विशेष ध्यान देते हैं (अर्थात् अपने दुःख की अपेक्षा दूसरों वा दुःख
 महारामा लोगों को अधिक सताकरते होता है) ॥४ ॥

प्रतिक्रियायै विधुर स तस्मात्कृच्छ्रेण विश्लेषमियाय इस्त ।

पराङ्मुखत्वेऽपि कृतोपकारात्तुगीमुरान्मित्रकुलादियाय ॥ ४१ ॥

प्रतीति ॥ प्रतिक्रियायै विधुरः प्रतिकर्तुमसमर्थः । तुमर्थाच्च भाववचनात् इति
 चतुर्थी । अजुनस्य स इत्त पाणि । पराङ्मुखत्वेऽपि तस्मात्कृच्छ्रेण कृतो
 पकारात्तस्मात्तुगीमुखान्मित्रकुलादियाय साधु कृतञ्च ह्य । आर्य साधुजुहीनयो
 इति विरवः । कृच्छ्रेण म्हाकृष्टेन विश्लेषमियाय । गौरादित्वात् तूण हाव्यान्कीय ॥

प्रतिक्रिया में अतमर्थ अजुन का हाथ विपक्ष मनोरथ होता था तथापि इन तूणों
 के मुख से पूरा उपकारी मित्त से सखन पुरव की तरह बड़े बट के साथ विमुक्त हुआ ॥४१॥

पश्चात्क्रिया तूण्युगस्य भर्तुर्जज्ञे तदानीमुपकारिणीव ।

सभावनायामधरीकृताया पत्यु पुर साहसमासितव्यम् ॥ ४२ ॥

पश्चादिति ॥ तदानीं भर्तुं स्वामिन । कर्तारि पत्नी । पश्चात्क्रिया पृष्ठत करण तूण्युगस्वोपकारिणीव उपकारिकेव जज्ञे । जाता । तथा हि—सभावनाया स्वयोग्यतायाम् । अधरीकृतायामफलीकृताया पत्यु' स्वामिन पुरोऽय आसितव्यमासित स्थिति । बहुलप्रहणाद्भावे तन्व्यप्रत्न्य । साहस न क्षम न योग्यम् । भर्त्रा सभावितस्याक्सरेऽनुपकर्तुरनुजीविनस्तत्तामुख्यमनुचितमित्यर्थं ॥ ४२ ॥

अजुन का वरकशों को पीछे रखना उस काल उन (वरकशों) के लिये उपकार हो गया क्योंकि अनुकर धर्म से जितनी सम्भावना की जाती है उसमें न्यूनता आ जाती है उस समय स्वामी के सम्मुख उसका अवस्थान साहस मात्र ही होता है ॥ ४२ ॥

त शमुराक्षिप्रमहेषुजाल लोहै शरैर्मर्मसु निस्तुतोद ।

हृतोत्तर तत्त्वविचारमध्ये वक्तव्य दोषैर्गुरुभिर्विपक्षम् ॥ ४३ ॥

तमिति ॥ शमुराक्षिसानि आहतानि महेषुजालानि यस्य त मुनि तत्त्वविचार-मध्ये वादमध्ये हृतोत्तर निरुत्तरीकृत विपक्ष प्रतिवादिन वक्ता वादी गुरुभिर्दोषैर्निग्रह-स्थानैरिव लोहैर्लोहमयै शरैर्मर्मसु निस्तुतोद व्यथयामास ॥ ४३ ॥

शकर भगवान् ने इन तरह से अर्जुन के अस्व सगृहों को टपटित करके पुन लोह-निर्मित बाणों से इनके पर्यस्थानों को इस प्रकार व्यथित करने लगे किन्तु प्रकार तत्त्वविचार के विषय में विवाद करते हुए विपक्षी को उचित उत्तर न देने पर निरुत्तर होना पड़ता है और उस समय विवेका वक्ता बड़े दोषदानों के द्वारा उसे व्यथित करता है ॥ ४३ ॥

जहार आस्मादचिरेण वर्म ज्वलन्मणिद्योतितहैमलेखम् ।

चण्ड पतङ्गान्मरुदेकनील तद्धित्यत खण्डमिधाम्बुदस्य ॥ ४४ ॥

जहारेति ॥ किंव, अस्मान्मुने । अधिरेण क्षीप्र ज्वलन्मणिद्योतितहैम-सौवर्ण्यो लेखा यस्य तत्तयोक्ष धर्म कवचम् । चण्डो मरुत् पवन पतङ्गाव सूर्याव । एकनील केवलकृष्णवर्णम् । 'एके मुख्यान्वकेवला' इत्यमर । तद्विस्वतस्तद्विषक्त-स्थान्मुदस्य खण्डमिव जहार । तदा भगवन्मायया मुक्तकन्धुको मुनिर्मैधनिमुक्त सूर्य इव विदीपे इति भाव ॥ ४४ ॥

इतना ही नहीं किन्तु शकर भगवान् ने अर्जुन से कवच को, जिसमें दीप्तमणियों की प्रभाप स्वर्ण की रेखाएँ मलक रश्मी थीं ऐसे अपहरण कर लिया जैसे प्रचण्ड वायुवेग विदबुलतासम्पन्न कृष्ण वर्ण के मेघों के खण्डों को उड़ाकर सूर्य से दूर कर देता है क्योंकि बालू द्वारा वादलों के डकड़ों को उग्रा दिये जानेपर सूर्य पुन प्रकाशित हो उठता है उसी तरह शकर भगवान् के द्वारा कवच के अपहरण कर लेने पर अर्जुन सुशोभित हो उठे ॥ ४४ ॥

अथ युग्मेनाह—

विकोशनिर्घोततनोमहासे' फणावतश्च त्वचि विच्युतायाम् ।

प्रतिद्विपावद्धरुप समञ्च नागस्य चाक्षिप्तमुखज्ज्वदस्य ॥ ४५ ॥

विकोशेति ॥ सोऽर्जुन । तनुं प्रायत इति तनुत्र धर्म । नातोऽनुपसर्गे कः इति कप्रत्यय । तेन विना । विकोशः कोशाद्गुदघतो निर्घोततनु शाणोश्छेदमूर्ति । तनो विशेषणसमास । तस्य विकोशनिर्घोततनोमहासेर्महास्रस्य तथा त्वचि विच्युतायां स'या फणावतश्च मुक्तवञ्जकस्याहेश्च प्रतिद्विपे प्रतिगज भावद्वयो बद्धकोपस्य समञ्च प्रतिगजस्याप्र आक्षिप्तमुखज्ज्वदस्य निरस्तमुखावरणस्य नागस्य गजस्य च ॥

जो शोभा कोष से निकले हुए राज की कञ्चु (केवली) से निमुक्त आरराज की प्रतिपत्नी के निर्मित मृद हाथी के समझ मुपाशुण्डन को दूर प्रलेप बिदे हुए गजराज की ॥ ४५ ॥

विबोधितस्य ध्वनिना धनाना हरेरपेतस्य च शैलर'प्रात् ।

निरस्तधूमस्य च रात्रिबह्वेयिना तनुत्रेण रुचि स भेजे ॥ ४६ ॥

विबोधितस्येति ॥ धनानां ध्वनिना गजितेन विबोधितस्य । शैलर'प्रात् कद रात् । अपेतस्य निष्कान्तस्य हरे तिहस्य च । तथा निरस्तधूमस्य गतधूमस्य रात्रिबह्वेश्च रुचि शोभा भेजे । एतेनास्य सीधग बवैरनिर्घातनस्वरणद्रुमत्वमनस्वित्स्वते जतिवशा युक्तानि । अत्र रुचिमिव रुचिमिति सादरयाचेपादसमनद्रस्तुसवन्धी विद शनालकारो मालया ससृष्ट ॥ ४६ ॥

धर्मों का गम्भीर गजन की मुक्कर कन्दरा से बहिनिसून तिह की तथा धूम से रहिन रात्रिबह्वेय के अग्नि की होती है बही शोभा कवच के विना अनु न कीहुई ॥ ४६ ॥

अचित्तायामपि नाम युक्तामनूष्रवा प्राप्य तदीयकृच्छ्रे ।

मही गतो तात्रिपुधी तदानीं विवप्रतुश्चेतनयेव योगम् ॥ ४७ ॥

अचित्तायामिति ॥ तदानीं कवचपतनसमये मही गताविपुधी निपट्री अचित्तायामप्यवतनत्वेऽपि तदीयकृच्छ्रे स्वामिष्यसने सुखं शोभयाम् । नाम किल । अक्षिचिक्करत्वादिति भाव । अनूर्ध्वतामबाह्मुखस्य प्राप्य चेतनया प्राणिसाधारणज्ञानेनेव योग सन्नय विवप्रतुरिवेतुत्पदा । अचेतनत्वेऽप्यबाह्मुखत्वादिचेतन धमयागतिरिति भाव ॥ ४७ ॥

कवच पतन के समय भूमि पर पड़े हुए तरकों ने अचेतन होते हुए भी अपने स्वामी को विवप्रवस्था में महापणा करने में अगम्य होकर नीचे की तरफ मुड़ करके चेतन पण्यों को दिव्य रूप में दिखा दिया ॥ ४७ ॥

स्थित विशुद्धे नभसीव सत्त्वे धाम्ना तपोवीर्यमयेन युक्तम् ।

शस्त्राभिघातैस्तमजस्रमीशस्त्वष्टा विवस्वन्तमिवोल्लिलेख ॥ ८५ ॥

स्थितमिति ॥ विशुद्धे निर्मले नभसि सत्त्वे सत्त्वगुणे स्थित तपोवीर्यमयेन तपो-
वीर्याभ्यामागतेन धाम्ना तैजसा युक्त तमज्जुंनम् । ईशस्त्वष्टा विश्वकर्मा विवस्वन्त
सूर्यमिवाजस्र भिरन्तर शस्त्राभिघातैः शस्त्रकर्षणैः । उल्लिलेख तत्तत् ॥ ४८ ॥

शंकर भगवान् शस्त्रास्य प्रहार से सत्त्वगुण में स्थित तथा तपस्या और पराक्रम के
द्वारा प्राप्त प्रताप से युक्त अजुंन को निर्मल आकाश में स्थिा सूर्य को विश्वकर्मा की तरह
झीळने लगे ॥ ४८ ॥

सरम्भवेगोज्ज्वलवेदनेषु गात्रेषु बाधिर्यमुपागतेषु ।

मुनेर्बभूवागणितेपुराशैर्लौहस्तिरस्कार इवात्ममन्यु ॥ ४६ ॥

सरम्भेति ॥ सरम्भवेगेन सन्नमासिज्ञयेन उज्ज्वलवेदनेषु त्वक्कु खेषु गात्रेषु
बाधिर्यं स्तैमित्यमुपागतेषु सत्सु न गणिता इपुराशयो येन तस्य अगणितेपुराशे-
र्मुनेरजुंनस्य आत्ममन्यु स्यकोपो लोहस्य विकारो लौह कार्णायस तिरस्क्रियत
आच्छाद्यतेऽनेनेति तिरस्कार कन्तुक इव बभूव । रोषवशात् किञ्चित्प्रहारदुःखमज्ञा-
सीदित्यर्थ । क्रोधैकवर्मणा वीराणा किमन्यैर्लौहभारैरिति भाव ॥ ४९ ॥

अजुंन के शरीर में क्रोध के वेग से वेदना मालूम नहीं पटती थी, और उनका शरीर
जहनुल्य हो गया था जिसके कारण बाणों के डेर का उन्हें कुछ भी ध्यान न था । उनका
क्रोध लोहनिर्मित कवच का काम करने लगा ॥ ४९ ॥

अथ युग्मेनाह —

ततोऽनुपूर्वायतवृत्तबाहु श्रीमान्छरल्लोहितदिग्धदेह ।

आस्कन्ध वेगेन विमुक्तनाद क्षितिं विधुन्वन्निव पार्ष्णिघातैः ॥ ५० ॥

तत् इति ॥ ततोऽनन्तरम् । अनुपूर्वौ पूर्वमनुगतौ गोपुच्छाकारी आवती दीर्घौ
वृत्तौ वर्तुलौ च बाहु यस्य स श्रीमान् शोभावान् छरल्लोहितदिग्धदेह स्वदुधि-
रल्लसगात्र । पार्ष्णिघातैश्चरणतलाघातैः । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ खिया पार्ष्णिर
धस्तयो' इत्यमर । क्षितिं विधुन्वन् प्रकम्पयाश्च वेगेनास्कन्धाभिद्रुत्य विमुक्तनाद-
सोऽजुंन ॥ ५० ॥

इसके अनन्तर गाय के पूँछ को तरह लम्बी और गोल मुखावान् तथा धीसम्पन्न
अजुंन ने जिनका शरीर परिलक्ष्य करते हुए खिर से क्षित था, चरण तलाघात से भूमि
को कम्पित करते हुए और वेग से दौडकर गम्भीर गर्जन करते हुए ॥ ५० ॥

साम्य गतेनाशनिना मघोन शशाङ्कखण्डाकृतिपाण्डुरेण ।

शम्भु विभित्सुर्धनुषा जघान स्तम्भ विपायोऽन महानिवेभ ॥ ५१ ॥

साम्यमिति ॥ मघोन इन्द्रस्य भगनिना वज्रण सह सार्ग्यं गतेन वज्रकल्पेन
शशाङ्कस्य एण्ड शकल तस्येवाकृतिर्यस्य । तद्दृष्टकमित्यथ । पाण्डुर च । तद्देवेति
भाव । तेन शशाङ्कण्डाकृतिपाण्डुरेण धनुषा शंभु विभिसुर्मैसुमिच्छु' सन् । महामि
भोगजो विपाणेन दग्धैः स्तम्भमिव जघान ॥ ५१ ॥

इन्द्र-वज्र की समानता को प्राप्त तथा चन्द्रमा की खण्ड भाङ्गति के सदृश पीले
रंग के धनुष से भेदन करने की अभिलाषा से मगवाले हाथी की तरह जो अपने दाँत से
खम्भे पर प्रहार करता है शकर भगवान को मारा ॥ ५१ ॥

रयेण सा सनिदधे पतन्ती भवोद्भवेनात्मनि चापयष्टि' ।

समुद्धता सिन्धुरनेकमार्गा परे स्थितेनौजसि जहु नेव ॥ ५२ ॥

इत्येति ॥ रयेण वेगेन पतन्ती सा चापयष्टिर्भवस्य संसारस्योद्भव उत्पत्तय
स्मात्तेन भवोद्भवेन ईश्वरेण पर ओजसि परमे ज्योतिषि स्थितेन जहुना राजर्षिणा
समुद्धताऽऽयुक्तान्नेकमार्गा त्रिस्रोता सिन्धुर्गद्वात्मनि सनिदधे सम्यहनिहिता ।
अन्तर्निष्ठावितेत्यथ ॥ ५२ ॥

जिस प्रकार परम तेजस्वी जहुराजर्षि ने समुद्धत त्रिपथगा गङ्गा को अपने में विलीन कर
लिया उसी प्रकार अजु न के द्वारा प्रक्षिप्त वेग से गिरते हुए धनुषक को सृष्टि के स्रजन
वर्त्ता शर भगवान ने अपने आप में विलीन कर लिया ॥ ५२ ॥

विकामुक' कमसु शोचनीय परिच्युतौदाय इवोपचार ।

विचिञ्चिपे शूलभृता सलील स पत्रिमिदूरमदूरपातै' ॥ ५३ ॥

विकामुक इति ॥ विकामुको भद्रचापोऽत एव परिच्युतौदार्यो दानवर्जित उप
चार' सत्कार इव कमसु रणक्रियासु कृत्येषु च शोचनीय' शोच्योऽपूज्यश्च सत्पाव
ष्टम्भेनाभद्रचित्तवाच सौऽजु न' शूलभृता शिवेन सलील सहेक यथा तथाऽदूर
पातैरतिगाढप्रहारै' पत्रिमि शरैर्दूरमत्यन्तं विचिञ्चिपे युष्म' ॥ ५३ ॥

अजु न वा धनुष नष्ट हो गया । उनकी दशा बिना दान के स नार की सी हो गई ।
रणत्रिवा के योग्य नहीं रहे । शैव की मात्रा उनमें वर्तमान थी इसीसे वे हताश नहीं थे ।
उन्हें शकर भगवान ने अपने तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से बन्नी सल्लाहा से दूर फेंक दिया ॥ ५३ ॥

उपोढकल्याणफलोऽभिरक्षन् धीरव्रत पुण्यरणाभ्रमस्थ' ।

नपोपरासैरिय सयतात्मा तेपे मुनिस्तैरिपुभि शिष्यस्य ॥ ५४ ॥

उपोऽति ॥ उपोढमासङ्ग कल्याणफलमखलाभरूप स्वर्गादिक च धर्म्य स धीर
व्रतमाहवाद्निवृत्तिरूप तीव्र' सपञ्च अभिरक्षन् पाळयन् पुण्यो यो रण' एवाभ्रमरतत्र
तिष्ठतीति पुण्यरणाभ्रमस्यः सयतात्मा निवमित्तचित्तो मुनिरजु न कश्चित्पत्नी च तै
शिष्यस्य महादेवस्य । इपुभि' शरैः । जपोपवासैरिव सेपे तस्य । सपते' कर्मणि लिट् ॥

जिस प्रकार पवित्र आश्रम में निवास करके निवमो की रक्षा करता हुआ भित्तैरिव

वक्त्रवी जग, उपवासादि कर्तव्यानुष्ठानों के द्वारा शकर भगवान् को तपस्या करता है उसी प्रकार अर्जुन, जिनके अस्त्रलाभ का समय अत्यंत निकट था, रथ में वीरजत का पालन करते हुए जितेन्द्रिय बन शकर के उन वाणों के द्वारा भगवान् शूली को तपश्चर्या करने लगे ॥ ५४ ॥

ततोऽग्रभूमि व्यवसायसिद्धे सीमानमन्यैरतिदुस्तर स ।

तेजःश्रियांमाश्रयमुत्तमांसि साक्षादहकारमिवाललम्बे ॥ ५५ ॥

तत इति ॥ ततश्चापान्तर्धानानन्तरम् । सोऽर्जुनोऽग्रभूमिं विपदि गन्तव्यस्थानम् । शरण्यमित्यर्थः । कुत । व्यवसायसिद्धेर्युद्धोद्योगसिद्धे सीमानमवधिम् । साधकतममित्यर्थः । अन्यै परै । अतिदुस्तर दुरतिक्रम तेज श्रिया प्रतापसपदाभाशयम् । हेतुमित्यर्थः । उत्तमांसि महाखड्गम् । 'सन्महत्-' इत्यादिना समासः । साक्षादहकार सविग्रहमभिमानमिवाललम्बे जग्राह ॥ ५५ ॥

अब अर्जुन के पास विशाल एक खड्ग के सिवा बचा ही क्या था, धनुष ही तो आधार था वहश कर भगवान् में अन्तर्हित हो गया अतः उन्होंने उत्तम असकी शरण ली । विपत्ति—पड़ने पर वही जीवन निर्वाह का स्थान था, उद्योग सिद्धिकाचरमउपाय था, अन्य व्यक्ति उसे शक्तिक्रमण नहीं कर सकता था, तेज की सम्पत्ति का आधार था, और वह साक्षात् मूर्तिधारी अहङ्कार ही था । अर्थात् उन्होंने विशाल खड्ग हाथ में लिया ॥ ५५ ॥

शरानवद्यञ्जनवद्यकर्माचचार चित्र प्रविचारमार्गै ।

हस्तेन निखिंशामृता स दीप्त साकंशुना वारिधिरूर्मिणोव ॥ ५६ ॥

शरानिति ॥ कर्माऽगर्हकर्म । 'अवद्यप्य—' इत्यादिना निपातः । शरानवद्यञ्जनवद्यञ्जन् वीरो निखिंशामृता खड्गयुक्तेन हस्तेन साकंशुना अर्कांशुसहितेन ऊर्मिणा तरङ्गेण वारिधिरिव दीप्तो दीपित सोऽर्जुन प्रविचारमार्गै खड्गिवा गतिभेदैश्चित्र यथा तथा चचार ॥ ५६ ॥

जिस तरह समुद्र धूल की किरणों से ससक्त तरंगों से दीप्त होकर हिलोरे लेता है उसी प्रकार निष्कलङ्क अर्जुन वाणों का सञ्चन करते हुये तथा हाथ में चमकदार तलवार ग्रहण करने के कारण दीप्त होते हुए अनेक प्रकार के पतैर चले लगे ॥ ५६ ॥

यथा निजे वर्त्मनि भाति भाभिरङ्गायामयश्चाप्सु सहस्ररश्मिः ।

तथा नमस्याशु रणस्थलीषु स्पष्टद्विमूर्तिर्दृष्टो स भूतै ॥ ५७ ॥

यथेति ॥ भाभिर्दीप्तिभिरुपलक्षितः । 'स्यु प्रभास्युच्चिस्वित्त्वाभाभारच्छविद्युतिदीप्तय' इत्यमरः । सहस्ररश्मिर्भक्तो यथा निजे वर्त्मनि नभसि छायायामय प्रतिबिम्बरूप सन्, अप्सु स्पष्टद्विमूर्तिर्भाति तथा सोऽर्जुनो नभसि अकाशे रणस्थलीषु च स्पष्टे द्वे मूर्ती यस्य स स्पष्टद्विमूर्ति सन् भूतैर्गणैर्दृष्टो दृष्टः । यथैकोऽर्को नभस्यप्सु घातेक इव

हरयते तथा सोऽपि विवि सुवि चाशुसचाराद्यौगपत्प्रभादेवैकोऽप्यनेक इव गगैः ६
इत्युच्यते ॥ ५७ ॥

जिन प्रकार प्रभा से उपलब्धिन एव आकाश भाग में स्थित होते हुए जल के मध्य प्रतिबिम्बित होकर स्पष्ट रूप से हो (अर्थात् एक आकाश में और एक जल में) दिखाई पड़ता है वही प्रकार अजुन अपने पैरों के मार्ग में स्थित होकर शीघ्रगति के कारण सुदक्षेत्र में और आकाश में दोनों जगह स्पष्ट रूप से छकर भगवान् ने गणों के द्वारा देखे गये ॥ ५७ ॥

शिवाप्रणुन्नेन शिखीमुखेन त्सरुप्रदेशादपवर्जिताङ्ग ।

उत्पलप्रसिस्तस्य पपात पायोधनस्य यप्रादिव वैधुतोऽग्नि ॥ ५८ ॥

शिवेति ॥ शिवेन प्रणुञ्च' सिस्तसेन शिखीमुखेन त्सरुप्रदेशात् मुष्टिप्रदेशमवधि कृत्वा । त्सरु अङ्गादिमुष्टौ स्यात् इत्यमर' । अपवर्जिताङ्गो सुनविप्रहोऽसि अङ्ग' । तस्याजु नस्य पाणे करात् । धनस्य मेघस्य यपात्तटात् । वैधुतो विपु त्सर' ध्यग्निरिव 'बलन्' पपात ॥ ५८ ॥

अजुन का तलवार छकर भगवान् के द्वारा मक्षिमन्थ से मुष्टिप्रदेश से कटकर चमकती हुई उनके हाथ से इस प्रकार गिरी जैसे मेषमण्डल से विजुली की आग गिरती है ॥ ५८ ॥

आक्षिप्तपापावरणोपुजालरिच्छन्नोत्तमासि' स मृधेऽवधूत' ।

रिक्त प्रकाशश्च बभूव भूनेरुत्सादितोद्यान इय प्रदश ॥ ५९ ॥

आक्षिप्तति ॥ आक्षिप्तान्यपद्धतानि पापावरणोपुजालानि धनुवमवाणसमुहा यस्य स क्षिप्तोत्तमासिल्लनमहापङ्क्तो मृधे रणे । मृधमात्कन्दन संख्यम् इत्यमर' । अव धूतो निरस्त' सोऽजु न उत्सादितमुत्पादितमुद्यान यस्य स भूने' प्रदेशो भूमिभाग इव रिक्त' शून्य प्रकाशो निःसवाधश्च । हरय इति भाषत् । बभूव ॥ ५९ ॥

अजुन के धनुष कवच और तलों के समूह रूपरूप हो चुके उत्तम दायन को क्षिप्त कर दिया गया इस प्रकार अभिमूल होकर व इस प्रकार शून्य हो प्रकाशपूर्ण हो गये जिन प्रकार क्यान (राग) के का टालने पर भूमिमा प्रदेश सत्ता तथा प्रकाश पूर्ण हो जाता है ॥ ५९ ॥

स एवदन्म प्राप्य परादमपवान् भुजद्वितीयोऽपि रिजेतुमिच्छया ।

ससन्न वृष्टिं परिहृष्यपादपा द्रवतरेपा पयसामिवारसनाम् ॥ ६० ॥

स इति ॥ परात् परस्माच्छब्दो । पूर्वोऽभ्यो भवम्यो वा इति विकल्पान्न स्मादात्वा' । एवदन्म मन् प्राप्य अमपवान् सोऽजु नो भुजद्वितीयो भुजमात्रसहाय' सन्नपि विजेतुमिच्छया द्रव्येय इतराणि तेषा द्रवतरेपा कटिमान्वा पयसामिव । हरकणामिवत्पय । अरममो सचन्धिनीं परिहृष्या अभा' पादपा यथा सा ता वृष्टिं ससन्न । अरमभिव्रचानेत्पर्य ॥ ६० ॥

अनुन की इस तरह की दुर्दशा हुई तवापि उन्हें श्लोथ न भाया । उनका सहायक भव उनके भुजाओं के अतिरिक्त कोई नहीं रहा । वे विन्ध्य की कामना से पत्थरों के द्वारा इस प्रकार प्रहार करने लगे । जस प्रकार वृक्षों को नष्ट-भ्रष्ट करते हुए उपलों की वर्षा होती है ॥ ६० ॥

नीरन्ध्र परिगमिते च्य पृषत्कैभूतानामधिपतिना शिलाविताने ।

उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तराल चिच्छेप चितिरुहजालमिन्द्रसूनुः ॥६१॥

नीरन्ध्रमिति ॥ शिलाविताने शिलाजाले भूतानामधिपतिना शिवेन पृषत्कैवाणै च्य परिगमिते नीते सति । इन्द्रसूनुररुं न उच्छ्रायेणोत्सेधेन स्थगितमाच्छ्रादित नभो दिशामन्तराल च येन तन्नीरन्ध्र सान्द्रम् । रोहन्तीति रूहा । इगुपधलक्षण कप्रत्यय । चितौ रूहा वृक्षास्तेषा जाल चिच्छेप प्रेरयामास । 'उच्छ्राय गमितवति' इति प्रामादिक पाठ ॥ ६१ ॥

अनुन का यह भी बार छाड़ी गया—प्रथमगणों के अधिनायक शकर भगवान् ने शरों ने अनुन के शिलावर्षण को भी समाप्त कर दिया । इन्द्रकुमार अनुन ने वृक्षों को, जो अपने शीशय और विस्तार से आकाश और दिशाओं के अन्तरालों को आच्छादित कर देते थे (उल्लाट उल्लाट कर) शिवदेवता पर फेंकना प्रारम्भ कर दिया ॥ ६१ ॥

निःशेष शकलितवल्कलाङ्गसारै कुर्वद्भिर्भुवमभित कपायचित्राम् ।

ईशान सकुसुमपल्लवैर्नगैस्तीरातेने बलिभिव रङ्गदेवताभ्यः ॥ ६२ ॥

नि शेषमिति ॥ ईशान शिव । शान्दप्रत्यय । नि शेष यथा तथा शकलितानि वल्कलानि त्वषोऽङ्गानि शाखा सारो मज्जा च येषा तैर्भुवमभित कपायो यो राग । स्वरसेन रजनमिति यावत् । 'रागे क्राथे कपायोऽस्त्री' इति वैजयन्ती । तेन चित्रा विचित्रवर्णा कुर्वद्भि सकुसुमपल्लवैस्तीर्नगैर्वृक्षै रङ्गे रणरङ्गे या देवतास्ताभ्यो बलि पूजाभिव । आतेने ॥ ६२ ॥

अनुन को वृक्षों के प्रहार से भी सफलता न प्राप्त हुई—अनुन द्वारा प्रहृत वृक्षों की छाल, शाखाओं तथा अत स्थित पदार्थों को शकरभगवान् ने अपने शरों से विभ्र-भिन्न कर पृथ्वी पर निछा दिया जिससे भूमि कपायवर्षा की विभ्र-विचित्र हो गई मानों शकर भगवान् ने रणक्षेत्र देवता को पुष्प और पर्वों से युक्त वृक्षों से बालप्रदान किया हो ॥ ६२ ॥

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाथा वेगेन प्रतिमुखमेत्य वाणनद्या ।

गाण्डीवी कनकशिलानिभ भुजाभ्यामाजलत्ने त्रिपमयिलोचनस्य वक्ष ६२

उन्मज्जन्मिति ॥ गाण्डीवी अनुन । उन्मज्जन्मुचरन् मकरो जलप्रद्विधेशोऽमरापराया-नाद्राया इव वाणनद्या वाणप्रवाहाद्देगेन प्रतिमुखमभिमुखम् । पुत्रायात्य कनकशिला-

निष्पत् । कनकप्रहृष्टं काञ्चिन्वादिवायद्योतमार्यम् । विषमविलोचनस्य स्वस्वकस्य
 वक्षो हृदयं सुभाषामाबन्धे तादृशित्वात् । अत्रात्मनेपदं विधायम् । आहो भवद्भ्यः
 इत्यत्राकर्माधिकारात् 'स्वाङ्गकर्मकाश्च' इति वक्ष्यत्वात् । न च शिवस्य
 प्रतिपुत्रमित्यन्वयात् कनकशिलादिभिः कनकनिकपदस्य स्थानं स्ववचं आजाय इत्ययं
 इति चार्यम् । अमीशिवोवाचत्वात् । न हि शुक्राय समया निपुण्या अपि मत्ता स्ववचं
 स्ताङ्गनमाचरन्ति किं तु स्वसुभाषाकथनम् । किञ्च अनन्तरं वक्ष्यमाणं भवकर्तृकादि
 नयसङ्गनरोधाद् वचं बुधेत्यन्वयस्याप्यवधानात् । पूर्वैरेव दूषितत्वात् । अतो व्याकरणा
 न्तरम् द्रष्टव्यम् । केचित्तु 'व्यञ्जकस्य वचं प्राप्य' इत्यन्वाहारं स्वीकृत्यात्मकनकारा
 दात्मनेपदमाहुः ॥ ६३ ॥

अजुन ने छरशरिता के वेग से धार करके हुए यदिवाच के समान दाखकपी मनी के
 वेग से सम्पुष्ट प्रवर्धित हो सुवर्ण की बहान के तद्वय स्वस्व (धरर भवान्) के
 वक्ष-रवक में सुभाषी से प्रचार किया ॥ ६३ ॥

अमितपत उपाय विक्रम कीर्त्तिलक्ष्म्योरसुगमसरिसैवैरङ्गमभ्यागतस्य ।
 जनक इव शिशुत्वे सुप्रियत्यैकसूतो-रविलयमपिसेहे पाण्डवस्य स्मरारि ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किराताजुनीये सप्तदश सर्गः ।

अमितपत इति ॥ कीर्त्तिलक्ष्म्योरुपाय साधकसूतम् । सरिसैवैरङ्गमभ्यागतस्य
 विक्रममितपतः । सुतुपथे यत्किञ्चित्कृतं प्रार्थयमानस्यैस्वर्गम् । अत एव
 अङ्गमन्तिकमममागतस्योत्सङ्गनास्वस्य च पाण्डवस्याविभक्त स्मरारिः । अनेन अङ्ग-
 वात्सल्यमेव सहनकारणमिति सूच्यते । शिशुत्वे शैशवे सुप्रियस्य परमतोमात्सवस्य ।
 सुतः । एक एव सुतस्य एकसूतोदिविभव जनक इव सेहे सोषवात् ॥ ६४ ॥

इति किराताजु नीवकान्वध्याख्यायां षष्ठापधसमाह्वयार्त्ता सप्तदश सर्गः समाप्तः ।

वच कीर् लक्ष्मी के साधन मूढ शत्रु की सेना क विधे अष्टम पराक्रम की अतिताप
 रजते हुए अ यत्न समिपत प्राप्त पाण्डुपुत्र अजुन की उच्छेदा को कामदेव के शत्रु शर
 मगवान् ने रक्ष प्रकर सहन विवा विम प्रकर गो' में बैठे हुए स्वोच्छम वस्तु की प्राधना
 करते हुए, प्रिय स्त्रीते पुत्र का उररलना यैयव काल में वसका पिता सहन करणा है ॥६४॥

सप्तम सर्ग

अष्टादशः सर्गः ।

तत उदभ्र इव द्विरदे मुनी रणमुपेयुधि भीममुजायुधे ।

धनुरपास्य सबाणधि शकर. प्रतिजघान घनैरिव मुष्टिभि ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततो मुष्टिनियुद्धानन्तरम् । उदभ्रे महति द्विरदे भज इव भीमे भुजा
वेव आयुधे यस्य तथाभूते रणमुपेयुधि मुनी शकर स्वधर्मणि सबाणधि सत्पुत्र धनुर-
पास्य त्यक्त्वा मुष्टिभिर्घनैर्लौहमुष्टैरिव प्रतिजघान । प्राङ्मुखनिवृत्ताघातस्य प्रतिघात
कृतवानित्यर्थः । 'घना कठिनस्थानमैधकास्त्रियमुद्गरा' इति वैजयन्ती । 'घनस्तु
लोहमुद्गरे' इति विश्व । यद्यपि 'मुष्टि' शब्द 'मुष्ट्या तु वद्वया । सरानि स्याद-
स्त्रिस्तु निष्कन्दिष्टेन मुष्टिना' इत्यमर । इत्युभयथा प्रयोगाद्द्विलिङ्गस्तथाप्यत्रोपमान
सारूप्यात् पुल्लिङ्गे प्राङ् । व्रुतविलम्बित वृत्तम् ॥ १ ॥

तपस्वी अर्जुन सप्रामार्थ समागत उदभ्र शायी के सदृश थे । भीष्म भुजाथे ही उनके
उद्वेग थे (शेर शूल तो छण्डित कर दिये गये थे) अर्जुन के किये गये आघात के अनन्तर
शकर भगवान् ने भी शिपक के सदृश धनुष को दूर प्रक्षिप्त कर लौहमुद्गर के सदृश
मुष्टियों से उन्हें (अर्जुन को) मारा ॥ १ ॥

हरपृथासुतयोर्ध्वनिरुत्पतन्नमृदुसवल्लिताङ्गुलिपाणिज ।

स्फुटदन्तल्पशिलारवदारुण प्रतिननाद् दरीपु दरीमृत ॥ २ ॥

हरेति ॥ हरपृथासुतयो शिवाङ्गुलियोरमृदु विविध यथा तथा सवल्लिता सघ
टिता मङ्गुलयो वेधा ते । मुष्टिकृता इत्यर्थः । तेषु पाणिषु जातस्तयोक्त । स्फुटन्तीना
विद्वलन्तीनामनल्पशिलानामाव ह्य धाट्पो भीषणो ध्वनिरुत्पन्न उद्वच्छद् दरीमृतो
गिरेर्दरीषु गुहासु प्रतिननाद् प्रतिदृष्यान ॥ २ ॥

शकर भगवान् और श्यायुध अर्जुन के क्षय ही अशुभल्यो वरुण और सप्तति थीं, उनके
हाथों से उत्पन्न होता हुआ जासकनक शब्द, जो कि दूट कर भर्राते हुए विशाल पर्वत गुण्ड
के भीषण शब्द सदृश मालूम पड़ते थे, पर्वतकी कदरानों में गूँजकर प्रतिध्वनित हो उठा ॥

शिवमुजाहतिभिन्नपृथुक्षती सुखमिवानुबभूव कपिज्वज ।

क इव नाम बृहन्मनसा भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववता क्षम ॥ ३ ॥

शिवेति ॥ कपिज्वज शिवस्य मुजाहतिभिर्मुष्टिघातैर्भिन्ना विदीर्णा या पृथको
महत्त्व क्षम्य प्रहारा भणारता सुखमिवानुबभूव । कुलकरीरपीति भाव । इति-
ङ्गु ख नास्तीगणदित्यर्थः । ननु हु सहद्दु खवेनेषु कथमगणनेत्यप्राह— क इति । क इव
नाम को नु सहद्दु सत्त्ववता सत्वाधिकाना बृहन्मनसा तेजस्विनाम् । अनुकृतेरनुक-
रणस्यपि क्षमो भवेत् । मनस्विना चरित नष्टवदनुकर्तुमपि न कश्चिर्दृष्टे, सत्त्वाचरण तु
दूरापास्तमिति भाव । रौद्ररसाविष्टमवसा मनस्विना व्रुत सुखवु खगणवेति भाव ॥

निभम् । कनक ग्रहण काठिन्यातिशयद्योतनायम् । विषमविडोचनस्य श्वम्भकस्य
 वधो हृदय भुजाभ्यामावृत्ते ताडितवान् । अत्रात्मनेपद् विचार्यम् । आठो यमहन
 इत्येवमात्मकाधिकारात् स्याद्गकर्मकाश्च इति षष्ठ्यन्तरात् । न च शिवस्य
 प्रतिमुखमित्यन्वयात् कनकशिलानिभ कनकनिकपतुस्य श्याम स्ववच आश्रय इत्यथ
 इति वाच्यम् अनीशिर्याचरणत् । न हि युद्धाय सनदा निपुणा अपि मद्वा स्ववच
 रतान्मभाधर्मि किं तु स्वभुजास्फालनम् । किञ्च अनन्तर षष्ठ्यभाष्यकर्तृकादि
 नभसहगरोधाद्वाच एवेत्यन्वयस्याम्बवधानात् पूर्वैरेव दूषितत्वात् । अतो न्याकरणा
 न्तराद् इष्टयन् । केचित्तु श्वम्भकस्य वच प्राप्या इत्यध्वाहारं स्वीकृत्यात्मकमकरवा
 दात्मनेपदमाहुः ॥ ६३ ॥

अजुन ने सुरसरिता के वेग से पार करते हुए शक्तिनाथ के समान बाणकपी नदी के
 वेग में सम्पुटा उपस्थित हो सुवर्ण की चट्टान के सदृश श्वम्भक (धकर मगवान्) के
 वक्ष स्थल में भुजाओं से प्रहार किया ॥ ६३ ॥

अभिलषत उपाय विक्रम कीर्तिलक्ष्म्योरसुगमभरिसैन्यैरङ्गमभ्यागतस्य ।
 जनक इव शिशुत्वे सुप्रियस्यैकसूनोरविनयमपिसेद्दे पाण्डवस्य स्मरारि ॥
 इति भारविद्विती महाकाव्ये किराताजुनीये सप्तदश सर्ग ।



अभिलषत इति ॥ कीर्तिलक्ष्म्योरुपायं साधनभूतम् । भरिसैन्यैरसुगम सुरासद्
 विक्रममभिलषत । सुनुपद्ये यत्किञ्चिन्महतरल प्रार्थयमानस्येत्यर्थः । अत एव
 अङ्गमन्तिकम्पयागतस्योत्सन्नमाह्वयस्य च पाण्डवस्याविनय स्मरारि । अनेन अण्ड-
 वात्सल्यमेव सहनकारणमिति सूच्यते । शिशुत्वे शिशुत्वे सुप्रियस्य परमप्रेमास्पदस्य ।
 कुत । एक एव सुनुस्तस्य एकसूनोरविनय जनक इव सेद्दे सोढवान् ॥ ६४ ॥

इति किराताजु नीयकाव्यव्याख्यायां षष्ठावधसमाप्त्यायां सप्तदश सर्ग समाप्तः ।



यद्य भीरु रत्ना के तापन मृत शत्रु की सेना के विषे क्रुद्ध पराक्रम की अभिलाषा
 रखन हु अ यन मन्दिरेड मात वाग्दुपुत्र अजुन की उद्वेगता को कामदेव के शत्रु धकर
 भगवान् न शन प्रार सरन निदा तिस प्रार गो में बैठ हुए सर्वोच्च वस्तु की प्रार्थना
 करते हुए मिय परलान पुत्र की उद्वेगता शैशव काल में उसका पिता सहन करता है ॥६४॥

अष्टादशः सर्गः ।

तत उदग्र इव द्विरदे मुनौ रणमुपेयुपि भीममुजायुधे ।

धनुरपास्य सबाणधि शकर प्रतिजघान घनैरिव मुष्टिभि ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततो मुष्टिभिर्युद्धानन्तरम् । उदग्रे महति द्विरदे गज इव भीमे मुजा
वेध आयुधे यस्य तथाभूते रणमुपेयुपि मुनौ शकर स्वयमपि सबाणधि सत्पुत्र धनुर-
पास्य त्यक्त्वा मुष्टिभिर्वैभौहमुद्गरैरिव प्रतिजघान । प्राङ्मुनिक्रुताघातस्य प्रतिघात
कृतवानित्यर्थ । 'घना कर्तनरुघातमेवकाठिन्यमुद्गरा' इति वैजयाती । 'घनस्तु
लोहमुद्गरे' इति विश्व । यद्यपि 'मुष्टि' शब्द 'मुष्ट्या तु वदया । सरनि स्वावृ-
त्तिस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' इत्यमर । इत्युभयथा प्रयोगाद्द्विलिङ्गस्तथाप्यत्रोपमान-
सारूप्यात् पुल्लिङ्गो प्राज्ञ । इतविलिङ्गित वृत्तम् ॥ १ ॥

तपस्वी अर्जुन समामार्थ समानत उदग्र इव हाथी के सदृश थे । भीम मुजावे ही उनके
शत्रु थे (ये शत्रु तो खण्डित कर दिये गये थे) अर्जुन के किये गये घावत के अनन्तर
शकर भगवान् ने भी निष्क के सदृश वनुर को दूर प्रक्षिप्त कर लौहमुद्गर के सदृश
मुष्टियों से उन्हें (अर्जुन को) मारा ॥ १ ॥

हरपृथासुतयोर्ध्वनिरुत्पतन्नष्टदुसवल्लिताहु लिपाणिल ।

रुष्टदनल्पशिलारवदारुण प्रतिननाद दरीपु दरीभृत् ॥ २ ॥

हरेति ॥ हरपृथासुतयो शिवार्जुनघोरसदृश निशिख यथा तथा सवल्लिता सध
रिता अद्भुतयो येषां ते । मुष्टिहृता इत्यर्थ । तेषु पाणिषु जातस्तयोक्त । रुष्टन्दीना
विद्वल्लन्तीनामनल्पशिलानामारव इव दारुणो भीषणो ध्वनिरुत्पतन् उद्भृष्टन् दरीभृतो
गिरेर्दरीपु गुहासु प्रतिननाद प्रतिदध्वान ॥ २ ॥

शकर भगवान् और पृथासुत अर्जुन के हाथ की शूलियों व कंस औरसक्ति धा, उनके
हाथों से जल-य होता हुआ ब्रासजनक शब्द, जो कि टूट कर मरते हुए विशाल पर्वत उद्व
के भीषण शब्द सदृश माहुर पदते थे, पर्वतकी कदराओं में गूँघर प्रतिध्वनित हो उठा ॥

शिवमुजाहतिभिन्नपृथुत्तती सुखमिवानुबभूव कपिध्वज ।

क इव नाम वृहन्मनसा भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववता क्षम ॥ ३ ॥

शिवेति ॥ कपिध्वज शिवस्य मुजाहतिभिर्मुष्टिघातैर्मिथा निदीर्णा या पृथवो
महस्य क्षम्य प्रहारा मणास्ता सुखमिवानुबभूव । हु लक्ष्मीरपीति भाव । शक्ति-
दु ख नाजीभागदित्यर्थ । ननु हु सदृश खवेगेषु कथमगणनेत्यत्राह—क इति । क इव
नाम को तु बल्ल सत्त्ववता सत्वाधिकाना वृह-मनसा तेजस्विनाम् । अनुकृतेरनुक
रणरूपिणो भवेत् । मनस्विना चरित नटमवदुर्तुमपि न कश्चिदपि, तस्याप्यरण सु
दूरापास्तमित भाव । रीज्वरसाविष्टमनसा मनस्विना कुत सुखदु खगणनेति भाव ॥

अबन की प्बवा पर बांतर का चिह्न था । अबन ने शिव के पुत्राओं के बात से उत्पन्न होने वाले विशाल प्रभों को सुख के समान समना भर्वात् यद्यपि ये दुःखोपादक थे तो भी उन्हें दुःख कर ही माना । क्योंकि कौन ऐसा पुरुष है जो पराक्रमशाली तैलन्वी पुरुषों का अनुकरण मान करने में समर्थ है आचरण करना तो दूर रहा ॥ ३ ॥

प्रणमुल्लङ्घ्युतशोपितशीकरस्थगितशैलतटामभुजान्तर' ।

अभिनवौपसरागभृता बभौ जलधरेण समानमुमापति ॥ ४ ॥

प्रमेते ॥ अगमुलेम्बरभ्युतस्य चरितस्म शोणितस्य शीकरै स्थगितमाहृतं शैल तटाम शिवासहस्रं भुजान्तर वक्षो यस्य स तद्योक्त उमापतिरभिनवमौपसरागं संप्याराग विभर्तीति तद्योक्तेन जलधरेण समानं तुष्य यथा तथा बभौविस्त्युपमा ॥ ४ ॥ पदात् सङ्घ के सङ्घ अगवान् उकर का विशाल वक्षस्वक क्षत के मुखों से परिस्रवण करते हुए स्थिर कण से ब्याप्त था । उस वण शब्द अगवान् नूनन सभ्याज्ञानेन आदिमा पा नहन करते दृष्टे मेघ के सङ्घ सुशोभित होने लगे ॥ ४ ॥

उरसि शूचमृत्न' प्रहिता मुहु प्रतिहर्ति यमुर्जुनमुष्ण' ।

मृशरया इव सङ्गमदीमृत्न' पृथुनि रोधसि सि'धुमहोर्मय' ॥ ५ ॥

उरसीनि ॥ शूचमृत्न शिवस्य । उरसि प्रहिता' प्रयुक्ता अङ्गनस्य मुष्ण पृथुनि विशाले सङ्गमदीमृत्न' सङ्गादे रोधसि तदे मृशरयास्तीववेगा' सि'धोः समुद्रस्य महोमय इव मुहु' प्रतिहर्ति यमु ॥ ५ ॥

शून्य शहर अगवान् का वक्षस्वक तद्य गिरे के त के सङ्घ विशाल था । अबन की मुष्ण समुद्र की वेगशाले तरलों के सदृश ही अग जिस प्रकार समुद्र की तरंगें समगिति के त' पर वेग के साथ आकर टकराती हैं और पुन वहाँ से प्रतिहन होती हैं वसी प्रकार अर्जुन की मुष्णों परत के वक्ष' अग पर वेगके साथ इनन करनेपर स्वय सन्तुष्टित हो गयी ॥

निपतितेऽधिशिरोधरमायते समभरत्रियुगेऽयुगचक्षुष' ।

त्रिचक्षुरेषु पदेषु किरीटिना लुलितदृष्टि मदादिन चस्त्रले ॥ ६ ॥

निपतित इति ॥ अयुगानि चक्षुनि वस्व तस्य अयुगवक्षुपक्षिलोचनस्य । आयते वाद्य आनि युगे अस्त्वोर्ध्वेद्रमुष्टवोहस्तयोयुगे युगे । इस्तो मुष्टया तु वदया । सरसि-स्याशरिनस्तु निष्कन्देन मुष्टिना ह्ययमर' । प्रकृते तु मुष्टिमाश्रयिषया प्रयोगः । शिरोधरायामधीति अधिशिरोधरमधिकधर सम युगपक्षिपतिते सति । किरीटिनाऽर्ध्वे नेन सन्निधिव शीणि चस्त्रि वा त्रिचक्षुराणि । सत्ययाम्ययासस्य ह्यस्वादिना वक्षु मोहि' । अतुरोऽचमकरने म्युपास्यामुपसकयानम् इति समासान्तोऽप्यत्ययः । तेषु त्रिचक्षुरेषु पदेषु लुलितदृष्टि' शूर्णितनेत्र तथा तथा चस्त्रले स्तुलितम् । भावे लिङ् ॥ ६ ॥ दिनेचन शहर अगवान् के म' न पर विशाल मुष्टि प्रकार प'वे ही अबन के नेत्र पूर्णित ही गये और ६ अनेम्यव व' भर्ति सोन आर पग पक्षु लक्षणा गये ॥ ६ ॥

अभिभवोदितमन्युविदीपित समभिसृत्य भृशं जवमोजसा ।

भुजयुगेन विभव्य समाददे शशिकलाभरणस्य भुजद्वयम् ॥ ७ ॥

अभिभवेति ॥ अभिभवेनोक्तरूपेण परिभवेन उदित उत्पन्नो यो मन्यु क्रोधस्तेन विदीपित प्रखलित सोऽर्जुनो भृश जव समभिसृत्य समभिद्रुत्य, भोजसा बलेन शशिकलाभरणस्येन्दुमौले शिवस्य भुजद्वय भुजयुगेन विभव्य वियोज्य समाददे जग्राह ॥ ७ ॥

इस प्रकार के अभिभव से अर्जुन का क्रोध सबक बठा । उसने बड़े वेग के साथ शकर भगवान् के समीप जाकर बलपूर्वक अपने दोनों बाहुओं से चन्द्रचूड़ की दोनों भुजाओं को वियोजित कर पकड़ लिया ॥ ७ ॥

प्रववृतेऽथ महाह्वमल्लयोरचलासचलानाहरणो रणः ।

करणशृङ्खलसकलानागुरुर्गुरुभुजायुधगर्वितयोस्तयो ॥ ८ ॥

प्रववृत् इति ॥ अथ महाह्वये महारणे महयोर्वलीयसो । 'मह्य पात्रे कपोले च मत्स्यमेवे वलीयसि' इति विश्व । गुरु भुजावेव आयुध तेन गर्वितयोस्तयो शिवा-
र्जुनयो करणानि करचरणवन्धनान्येव शृङ्खलानि तेषा सकलानासघटना तथा गुरुर्गु-
स्तरस्तथाऽचलस्य द्विमात्रे सचलन कम्पस्तस्याहरण आरोपक । कर्तारि ह्युद् । रण
प्रववृत्ते प्रवृत्त ॥ ८ ॥

शकर और अर्जुन दोनों रण बँटुरे थे । उनको अपने अपनी विशाल भुजाओं पर अभिमान था । दोनों में पर्वतकम्पी सघाम, जो कि इत्त पादादिकभी शृङ्खलाओं के सघटन से हुत्तर था, प्रारम्भ हो गया । अर्थात् शकर और अर्जुन में मलयुद्ध होने लगा ॥ ८ ॥

अथमसौ भगवानुत पाण्डव स्थितमवाङ्मुनिना शशिमौलिना ।

समधिरुद्धमजेन नु जिष्णुना स्थिदिति वेगवशान्मुमुहे गणै ॥ ९ ॥

अयमिति ॥ अथ पुरोवर्ती पुमान् । असौ भगवान् प्रसिद्धो देव । तदुक्तम्—
'इदम समशरूप समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अवसस्तु विप्रकृष्ट तदिति परोक्षे विज्ञा-
नीयात् ॥' इति । उक्त पाण्डव । अथ हि तिष्ठद्वयस्याया भ्रम इति वेदितव्यम् । अथ
पतनावस्थायामाह—मुनिनाज्वाक्अथ स्थितभुत शशिमौलिना । अजेन देवेन नु सम
धिरुद्धमपि स्थितमथ जिष्णुना स्थिदर्जुनेन वा समधिरुद्धम्, इत्येष गणै प्रम
वैर्वेगवशान्मुमुहे व्रान्तम् । 'मुह वैचित्ये' । मावे लिट् ॥ ९ ॥

मलयुद्ध के समय जो व्यक्ति प्रथम रणों में था उसका यह निष्पन्न करना बड़ा कठिन था कि यह शकर है अथवा अर्जुन ? नीचे तपस्वी अर्जुन है अथवा चन्द्रशेखर भगवान् शकर ? परन्तु दूतों के ऊपर स्थित होने पर यह भी पता नहीं चलता था कि किरिटी है अथवा मजन्ना ? इस प्रकार से वेगके यश होकर रणों की स्थिति भ्रम में पड़

प्रचलिते चलित स्थितमास्थिते विनमिते नतमुन्नतमुन्नतौ ।

वृषकपिष्वजयोरसहिष्णुना मुहुरभावमयादिषु भृशता ॥ १० ॥

प्रचलित इति ॥ असहिष्णुना तयोर्भारमसहमानेन भृशता शैलेन । समावभ याद्दिनाशम्भयादिषु मुहुषुषुषुषु कपिष्वध्वजे ययोस्तयोर्दृषकपिष्वजयो प्रचलिते चळने सति चळित प्रचले । आ स्थते सुष्पीमवस्थानेस्थित तथैव तस्थे । विनमिते सम्य गाक्रमै सति नत नत्रीभूतम् । अनामीति यावत् । उन्नतावुन्नतमे सति उन्नतमुन्न नामि । सबन्न भावे क्त ॥ १ ॥

वृषमध्वज और कपिध्वज (शङ्कर और अर्जुन) का भार सहन करने में असमर्थ होकर इन्द्रादि पवत अपने विनष्ट हो जाने की आशङ्का से उन लोगों के चलने पर तब विचलित हो जाता था (अर्थात् कपिने लयता था) जब वे विभ्रामाद्य रुक जाते थे तो वह भी (पवत) पूर्ववत् अदिचलमात्र धारण कर लेता था उन लोगों के भ्रुक्र जाने पर वह भी भ्रुक्र जाता था और उन लोगों के पदा हो जाने पर वह भी नीचे से ऊपर हो उठ जाता था ॥ १ ॥

करणशृङ्खलानि सृतयोस्तयो कृतमुजष्यनि वल्लु वियल्लतो ।

चरणपातनिपातितरोधस प्रससृषु सरित परित स्थली ॥११॥

वरथेति । करणार्थं करणव घविकोपास्तामेव शृङ्खलानि तेषो विन्वतयो । मुहुत्सपचनधयोरित्यथ । कृतो मुजष्यनिमुकारश्रोतनशब्दो यस्मि कर्मणि तत्तया वल्लु सुन्दर च यथा तथा विवदगतोऽस्त्यवमानयोस्तयोर्हरपाथधोश्चरणपातैर्वाह शेषैर्निपातानि शोधासि यासां ता सरितो नद्यः स्थलीः परित स्थलीषु प्रससृषु प्रसृता । अमित परितः— इत्यादिना द्वितीया । आनप्य इत्यादिना कृत्रिमाथे डीप् । शृलपातचोभाहुद्रलसल्लला सरित स्थलानि ग्रामअवचित्यथ । एतेन तयो भावे उक्त ॥ ११ ॥

दोनों शङ्कर और अर्जुन हाथ और पैर के बन्धन से निमुक्त होकर दुनाभों पर हुमधुर वाण डो ने दुये तारे के साथ उच्चल रहे थे जिससे उनके पादापान से चदियों के छट महरान दग और वे (जनिया) स्थन की और व चर्पी अर्थात् तट के दूट कर अल में गिरन सं अत सुभ्य हो गया जिसमे छटक कर स्पर स्पर बहने लगा ॥ ११ ॥

त्रियति चगपरिप्लुतमन्तरा समभिसृय रयेण कपिष्वज ।

चरणयोश्चरणमित्तृतिनिजगृह् तिस्रणा जयिन पुराम् ॥ १ ॥

त्रियतीति ॥ विषय तरिसे योगेन परिप्लुतमत्यतिव विष्णो पुरा जयिन त्रिपुरा तत्तम् । त्रिदश इवादिने नप्रयय । कपिष्वजोऽनुनश्चरणार्थां पदाभ्यामानमि नत्रि न सन् । रयण दगन सन मश्याभिदुष्य अन्तरा मध्यमाग चरणयो पदयो निरगृह् निगृहातवान् । अत्य तस्य मगवतश्चरणी स्वकरार्थां जग्राहस्यथ ॥ १२ ॥

त्रिपुरविजेता शंकर भगवान् के वेगपूर्वक उखल कर अंतराल में पहुँच कर नीचे की ओर जाते समय कपिध्वज भूमि को कम्पित करते हुये (अर्जुन ने) शीघ्र ही पहुँच कर बीच मार्ग से ही उनके चरणों की पकड़ लिया ॥ १२ ॥

विस्मित सपदि तेन कर्मणा कर्मणा क्षयकर, पर पुमान् ।

क्षेमुकाममवनौ तमकृतम निष्पिपेष परिरभ्य वचसा ॥ १३ ॥

विस्मित इति ॥ तेन कर्मणा चरणपहनरूपेण सपदि विस्मित सविस्मय कर्मणश्चयकर । मोक्षप्रद इत्यर्थ । पर पुमान् परोऽवनी चितौ क्षेमु कामो यस्य तम् । 'क्षु काममनसोरपि' इति मकारलोप । अकृतममकृतान्त त पार्थ वचसा परिरभ्य निष्पिपेष । गान्धमाळिलिङ्गैत्यर्थ । स्योद्धतावृत्तम् ॥ १३ ॥

प्राणिमात्र के शुभ अथवा अशुभ कर्मों के क्षयकारी आशुतोष भगवान् शंकर ने अर्जुन के उस पादग्रहणरूप कर्म से आश्चर्य चकित होकर पृथ्वी पर उन्हें फेंक देने के अभिलाषी अकृतान्त (धकावट रहित) अर्जुन को हृदय से आलिङ्गन कर दनावा ॥ १३ ॥

तपसा तथा न मुदसस्य ययौ भगवान्वथा विपुलसत्त्वतया ।

गुणसहते समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि सताम् ॥ १४ ॥

तपसेति ॥ भगवान् देव । अस्यार्जुनस्य विपुलसत्त्वतया बहुसत्त्वतपसा । धैर्य-रूपत्वेति यावत् । यथा मुद ययौ तथा तपसा मुद न ययौ । तथा हि—सतां गुण-सहतेरुप-सेवादिगुणसघातात् समतिरिक्तमतिशयित निज सत्त्वमेवोपकार्युपकार-कमहो । प्रमिताक्षरावृत्तम् ॥ १४ ॥

भगवान् शंकर जितना अर्जुन के धैर्य और साहस से प्रमत्न हुए जतना तपश्चर्या से नहीं । क्योंकि सत्पुरुषों का पराक्रम गुण की राशियों की अपेक्षा अधिक तादात्म्य प्रदान करता है ॥ १४ ॥

अथ हिमशुचिभस्मभूपित शिरसि विराजितमिन्दुलेखया ।

स्ववपुरतमनोहर हर दधत्मुदीच्य ननाम पाण्डव ॥ १५ ॥

अथेति ॥ अथ हिमशुचिना हिमशुत्रेण भस्मना भूपित शिरसीन्दुलेखया विरा-जित शोभितम् अतिमनोहर सुन्दर स्ववपुर्वधत् किरातरूप विहाय विजयिग्रह दधान् हरमुदीच्य पाण्डवो ननाम प्रगतवान् । अपरवक्त्रं वृत्तम्—'अथुजि वनरत्ना गुरु समे' तदपरवक्त्रमिदं ननौ जरी' इति लक्षणात् ॥ १५ ॥

अथ (वक्त्रं) तुल्य धवल भस्म लगाये हुए, शिरस्थ चन्द्रलेखा से सुशोभित (किरात वेष का परित्याग कर) अति रमणीय, अपने शरीर को पुन धारण करते हुए शंकर भगवान् को देखकर पाण्डुपुत्र (अर्जुन) ने प्रणाम किया ॥ १५ ॥

सहशराधि निज तथा कार्मुक वपुरतनु तथैव सवर्मितम् ।

निहितमपि तथैव पश्यन्नसि वृषभगतिरुपाययौ विस्मयम् ॥ १६ ॥

सहेति ॥ घृपभस्येव गतिर्यस्य सोऽञ्जु नस्तस्मिन्समये सहशरधिभ्यां वर्तत इति
सहशरधि सनिपन्म् । बोपसर्जनस्य इति विकल्पात् सह शब्दस्य न समास ।
नित्र कामुकं गाण्डीव तथैव पूर्ववदेव सर्वमित्त सम्यक्वचितमतजु महर्षिर्न वपुस्त
यैव निहितं यथापूर्वं स्थापितमस्मिन्पि अङ्गं च तथैव परयन् विस्मयमुपाययौ ।
इदित्तु घृपभगतिम् इति पाठ । तत्र घृपभगतिं शिव च परयन् विस्मयमुपायया-
वित्यर्थ । प्रमुदितवदना घत्तम्—'प्रमुदितवदना भवेन्नौ ररौ इति लक्षणात् ॥ १६ ॥

घृप (बैल) की गति सदृश गतिशाली अर्जुन तूणीरों के सहित गाण्डीव वगुप को पथ
क्वच से आच्छादित अपने स्थूल शरीर को तथा पूर्ववत् बनास्थापित उत्तम चन्द्रहास
(उग) को देख कर अत्यन्त आश्चर्य में निमग्न हो गये ॥ १६ ॥

सिपिचुरयनिमग्नुवाहा शनै सुरकुसुममियाय चित्र द्विष ।

विमलरुचिभृश नभो दुःदुभेध्वनिरखिलमनाहतस्यानरो ॥ १७ ॥

सिपिचुरिति ॥ अग्नुवाहा शनैरयनि सिपिचुरुर्वाचक्रुः । द्विवोऽन्तरिक्षाक्षिन्न
विचित्र सुरकुसुम मन्दारकुसुमानि । जातावेकवचनम् । ह्याप्याजगाम । अनाहत
स्थात्वाहितस्य दुन्दुभे । जातावेकवचनम् । ध्वनि शब्दो विमलरुचि प्रसन्नमखिल
नभो शृशमानरो । व्याप । अताकृिता एव दुन्दुमयो नेदुरित्यय । सर्वमिदमस्य सर्व
लोकहितार्थित्वादिति वेदितव्यम् ॥ १७

मेघों ने जलवृष्टि से पीर २ कस्तुरा का सिन्नन किया स्वर्ग से रग-विरगे मन्दार पुष्पों
की वृष्टि हुई आकाश निर्मल हो गया बिना बनाये ही नक्षत्रों की गम्भीर ध्वनि सबत्र
आकाश में गूँज गई ॥ १७ ॥

आसेदुपा गोत्रभिदोऽनुवृत्त्या गोपायक्वना मुयनत्रयस्य ।

रोचिष्गुरन्नावलिभिर्विमानैर्घोरारचिता तारकितेव रेजे ॥ १८ ॥

आसेदुपामिति ॥ गोत्रभिद्व इन्द्रस्य । अनुवृत्त्याऽनुसरणेन । आसेदुपामासत्तानां
मुयनत्रयस्य गोपायकानां रचकानां लोकपालादीनाम् । गुपू धूप- ह्याविनाऽऽय
प्रयय- । तदन्ताण्णुल । रोचिष्गव- प्रकाशनशीला रत्नावलयौ येषां सौ । अलकृन्-
ह्याग्निनेप्युप्रत्यय- । विमानै पुष्पैरारचिता म्यासा घीस्वारकिता सजाततारकैव
रेज । उत्प्रेचालकार ॥ १८ ॥

सुरराज का तरह उठने वाले तीनो लोकों के रचक लोगपानों के विमानों से जितमें
कि महाशमान रत्नों के डेर भरे हुए थे वात आवाज धारक मण्डली से युक्त की तरह
प्रगट होने लगा अथात् इन्द्र व १ वम कुबेरादि षष्ट लोकपाल रत्नरतिन विमानों पर
बैठ कर आकाश में घूमने लगे उन छष्ट विमान में जग्नि राज तारों की तरह आकाश में
अपमपाने लगे ॥ १८ ॥

हसा बृहन्तं सुरसद्मवाहां संह्लादिकण्ठाभरणं पतन्तः ।

चक्रुः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्योम्नः परिष्वङ्गमिवाग्रपक्षैः ॥ १६ ॥

हसा इति ॥ बृहन्तो महान्त सुरसद्मानि विमानानि बृहन्तीति सुरसद्मवाहा । कर्मण्यण् । सहादीनि विह्लादीनि सुखराणि कण्ठाभरणानि किङ्कि यो येषां ते । पतन्तो धावन्तो हसा प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्विचिप्यमाणैः । अग्रपक्षैः पक्षाग्रैः । त्योगेन परिष्वङ्गमाच्छिन्न चक्रुरित्युत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥

देवताओं के विमानवाहक शब्दे गड़े हस, जिनके कण्ठ में पटे हुए आभूषण भङ्ग हो रहे थे, दौड़ते हुए इस तरह भाग्यम पड़ते थे कि मानों परिश्रम से फैलाये हुए पक्षों से आकाश का आच्छिन्न करते हों ॥ १६ ॥

मुदितमधुलिहो वितानीकृता स्रज उपरि वितत्य सतानिकी ।

जलद इव निषेदिवासं धृषे भरदुपसुखयाबभूवेश्वरम् ॥ २० ॥

मुदितेति ॥ अथ भरद्वाजु । जलदे मेघ इव धृषे निषेदिवासमुपविष्टमीश्वर मुदिता मधुलिहो शृङ्गा यामिस्ता वितानीकृता उल्लोचाकारा कृता । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । सतानिकी सतानकुसुमविकारा स्रज मन्दारमाला इत्यर्थः । 'सतान' सन्दाहिकारार्थे ढक् । 'सतान क्लृपवृक्षश्च' इत्यमरः । उपरि वितत्य विस्तार्य । उपसुखयाबभूव प्रह्लादयामास ॥ २० ॥

पवनदेव ने प्रसन्न भौरों से युक्त मन्दार पुष्प अशिश मालाओं का चढ़ोका ऊपर तान कर मेघतुल्य वृषभ पर चढ़े हुए शकर भगवान् को सुख प्रदान किया ॥ २० ॥

कृतधृति परिवन्दितेनोच्चकैर्गणपतिभिरभिन्नरोमोद्गमैः ।

तपसि कृतफले फलव्यायसी स्तुतिरिति जगदे हरे सुमुना ॥ २१ ॥

कृतेति ॥ अभिन्नरोमोद्गमैरविरलरोमान्चैर्गणपतिभिः प्रमथमुच्चैरुच्चकैः परिवन्दि तेन साधु साधु इति सस्तुतेन । 'वदि अभिवादनस्तुत्यौ' । कर्मणिष् । हरे सुमुनाऽर्जुनेन तपसि कृत फल भगवत्साक्षात्कारलक्षण येन तस्मिन् । कृतफले सतीत्यर्थः । कृतएति कृतसतोप यथा तथा फलव्यायसी फलाधिकेति वक्ष्यमाणा स्तुतिर्जगदे कथिता ॥ २१ ॥

शकर भगवान् के प्रमथादि गण रोमाञ्चित होकर उच्च स्तर से अर्जुन की प्रशंसा करने लगे । उनको उपश्रव्यं पूर्ण हो गई । क्योंकि शकर भगवान् को भूक्ति का उन्हें साक्षात्कार हो गया । अतः एव सतुष्ट होकर शत्रुप्रथ अर्जुन वक्ष्यमाण प्रकार से स्तुति करने लगे ॥२१॥

शरण भयन्तमतिकारुणिक भय भक्तिगान्धमधिगम्य जन ।

जितमृत्यवोऽजित भवन्ति भये समुरासुरस्य जगत शरणम् ॥ २२ ॥

शरणमिति ॥ हे अजित अपराजित हे भव, अतिकारुणिकमतिद्वयाङ्गम् । 'तदस्य

सहेति ॥ धूपमस्यैव गतियस्य सोऽशु नस्तस्मिन्समये सहस्रारधिग्यां वर्तत इति
 सहस्रारधि सनियम् । धूपमस्यैव गतियस्य इति विकल्पात् 'सह' शब्दस्य न समाव ।
 निम्न कामुर्कं गाण्डीय तपैव पूवबदेव संवर्मित सम्यक्कथितमतनु महद्विजं चपुस्त
 यैव मिहितं यथापूर्वं स्थापितमसिमपि स्रष्टुं च तपैव परयन् विस्मयमुपाययौ ।
 इचिसु धूपमगतित् इति पाठः । तत्र धूपमगतिं शिष्य च परयन् विस्मयमुपाययान्-
 वित्पथ । प्रमुदितवदना वृक्षम्—'प्रमुदितवदना भवेद्यौ शरी इति छन्दसात् ॥ १६ ॥
 वृष (वैल) का गति स्रष्टुं यि शाली अर्जुनं तूर्णारो के स्रष्टुं गाण्डीय वपुष को एव
 क्वच से भान्द्रादित्त अपने स्थूल शरीर को तथा पूववद यथास्थापित क्वचम चन्द्रहास
 (खग्य) को देख कर क्वचम आश्रय में निम्न हो गये ॥ १६ ॥

सिपिचुर्यनिमम्बुवाहा शनै सुरकुसुममियाय चित्र दिव ।

विमलरुचिमृश नभो दुःदुभेध्वनिरखिलमनाहतस्यानशो ॥ १७ ॥

सिपिचुरिति ॥ अम्बुवाहा शनैर्यनि सिपिचुरुचाचक्रुः । दिवोऽन्तरिक्षाच्चित्र
 विचित्रं सुरकुसुम मन्तारकुसुमानि । जातावेकवचनम् । इत्याभाजगाम । अनाहत
 स्यातादितस्य दुम्बुमे । जातावेकवचनम् । ध्वनिः शब्दो विमलरुचि प्रसन्नमतिर्ल
 मभो मृशमानशः । व्याप । अतादिता एव दुम्बुमयो नेतुरित्ययः । सर्वमिदमस्य सर्व
 लोकाहितार्थित्वादिति वेदतम्यम् ॥ १७

देषो ने जन्मदि से शर २ बसुभरा का निश्चन किया स्वर्ग से रग-विरगे मन्दार पुष्पो
 का इति दुर्ग आनाउ निर्मल हो गया बिना दबाये ही नकारो को गम्भीर ध्वनि सबत्र
 आकाश में गूँज गई ॥ १७ ॥

आसेदुपा गोप्रमिदोऽनुवृत्त्या गोपायकाना भुवनत्रयस्य ।

रोचिप्युरसायलिभिर्विमानैर्घोरचित्ता तारकित्तेव रेजे ॥ १८ ॥

आसेदुपामति ॥ गोप्रमिद इन्द्रस्य । अनुवृत्त्याऽनुसरणेन । आसेदुपामासद्यानां
 भुवनत्रयस्य गोपायकानां रक्षकानां लोकपालादीनाम् । गुपू चूप- इत्यादिवाऽऽय
 प्रत्ययः । उदन्ताण्णुल । रोचिप्यय प्रकाशनशीला रसायलयो येषां तैः । अलंकृतम्
 इत्यादिनेष्णुप्रत्ययः । विमानैः पुष्पकैराचिता व्यासा घोरित्तरकित्ता संघाततारकेव
 रेव । उदन्तालंकारः ॥ १८ ॥

सुरराज की तरह बैठने बाल तानों लोको के रक्षक लोकपालों के विमानों से जिसमें
 कि प्रकाशमान रानों के डेर बड़े हुये थे -बास आकाश तारक मण्डली से शुच की तरह
 प्रवृत्त होने लगा अर्थात् इन्द्र -रज यम कुबेरदि अथ लोकपाल रत्नवटि विमानों पर
 बैठ कर आकाश में घूमने लगे कम क्षुब्ध विमान में अग्नि राज तारों की तरह आकाश में
 जगमगाने लगे ॥ १८ ॥

हंसा बृहन्तं सुरसदावाहां संह्रादिकण्ठाभरणां पतन्तः ।

चक्रुः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्व्योम्नः परिज्वङ्गमिवाग्रपक्षैः ॥ १६ ॥

हसा इति ॥ बृहन्तो महान्तं सुरसञ्चानि विमानानि बहन्तीति सुरसदावाहा । कर्मण्यण् । सहादीनि निहादीनि मुखराणि कण्ठाभरणानि किङ्कि यो येषा ते । पतन्तो धावन्तो हसा प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्विषिष्यमाणैः अग्रपक्षै पक्षाग्रै । व्योम्न परिज्वङ्गमालिङ्गन चक्रुरिवेस्युत्प्रेषा ॥ १९ ॥

देवताओं के विमानवाहक बड़े बड़े हस, जिनके कण्ठ में पटे हुए आभूषण भङ्ग हो रहे थे, दौबते हुए इस तरह माथ्य पड़ते थे कि मानों परिभ्रम से फैलते हुए पक्षों से आकाश का आलिङ्गन करते हों ॥ १९ ॥

मुदितमधुलिहो वितानीकृता स्रज उपरि वितत्य संतानिकी ।

जलद इव निपेदिवासं वृषे मरुदुपसुख्याचमभूदेश्वरम् ॥ २० ॥

मुदितेति ॥ अथ मरुद्वायु । जलदे मेघ इव वृषे निपेदिवासमुपविष्टमीश्वर मदिता मधुलिहो मृगा यामिस्ता वितानीकृता उष्ट्रोचाकारा कृता । 'अश्वी वितानमुष्ट्रोच.' इत्यमर । संतानिकी. संतानकुसुमविकारा स्रज मन्दारमाला इत्यर्थ । 'सतान' शब्दाद्विकारार्थे ठक् । 'सतान कक्षपवृक्षश्च' इत्यमर । उपरि वितत्य विस्तार्य । उपसुखयाचमूच महावयामास ॥ २० ॥

पवनदेव ने प्रसन्न मीरों से युक्त मन्दार पुष्प ग्रन्थित मालामों का चन्दोवा ऊपर तान कर मेघतुल्य वृषभ पर चढ़े हुए शकर भगवान् को सुख प्रदान किया ॥ २० ॥

कृतधृति परिवन्दितेनोच्चकैर्गणपतिभिरभिन्नरोमोद्गमैः ।

तपसि कृतफले फलव्यायसी स्तुतिरिति जगदे हरे. सूनुना ॥ २१ ॥

कृतेति ॥ अभिन्नरोमोद्गमैरविरलरोमाच्चैर्गणपतिभिः प्रमथमुष्यैरुच्चकैः परिवन्दि-
तेन साधु साधु इति संस्तुतेन । 'वदि अभिवादनस्तुत्यो' । कर्मणिक् । हरे. सूनुनाऽर्जुनेन तपसि कृत फल भगवत्साक्षात्कारलक्षण येन तस्मिन् । कृतफले सती-
त्यर्थ । कृतधृति कृतसत्तोष तथा तथा फलव्यायसी फलाधिकेति अक्षयमाणा स्तुति-
जगदे कथिता ॥ २१ ॥

शकर भगवान् के प्रमथादि गण रोमाञ्चित होकर उच्च स्वर से अर्जुन की प्रशंसा करने लगे । उनकी उपश्रवां पूर्ण हो गई (क्योंकि शकर भगवान् को भूति का उन्हें साक्षात्कार हो गया) अत एव सतृप्त होकर अर्जुन अक्षयमाण प्रकार से स्तुति करने लगे ॥२१॥

शरण भवन्तमतिकारुणिकं भव भक्तिगन्धमधिगन्ध जन ।

जितमृत्यवोऽजित भवन्ति भये समुद्रसुरस्थ जगत शरणम् ॥ २२ ॥

शरणमिति ॥ हे अजित अपराजित हे भव, अतिकारुणिकमतिदयालुम् । 'तद्वस्य

प्रयोजनम् इति उक्तं । अस्मिन्मय भक्तिमात्रसुखं भवन्तं शरणं रक्षकमधिगम्य
जितसृष्ट्यवो विगतभरणम् । अमरा मूखेत्यथ । जना समुद्रामुरस्य जगतो मय
आपदि शरण स्वय रक्षितारो भवन्ति । शरणं पृथक्किञ्चो हते विरथ । अमिता
चरावृत्तम् ॥ २२ ॥

॥ अनुनक्तं स्तुति ॥

हे अपराजिन ! हे भव ! लोग परमन्वाह्य भक्तिद्वयम शरणप्रायक आपको प्राप्त
करके तथा सृष्ट्यपर विजय प्राप्त करके (अर्थात् अमर बनकर) आपरनाम में देव दानवों के
सहित सपर की रक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं ॥ २२ ॥

विपदेति तावद्वसादकरी न च कामसपद्भिकामयते ।

न नमन्ति चैकपुरुष पुरुषास्तव याददीश न नति क्रियते ॥ २३ ॥

विपदिति ॥ हे ईश यावत्तव नति प्रणामो न क्रियते । पुरुषेणेति शेष । तव
देव पुरुषपदेनास्मिन् सन्तमनसादकरी जयकरी विपदेति प्राप्नोति । कामसपद्
मनोरथसंपन्न नामिकामयते वैश्वसति । पुरुषाध्याम्ये लोकास्तमेक पुरुष तव स्तुतिम
कुर्वन्ति न नमन्ति न वशे वसन्ते । नानिष्टनिवृत्तिर्नापोष्टप्राप्तिरित्यर्थ । यदा तु स्वां
प्रणमन्ति तदैव सर्वं लभ्यत इति भाव ॥ २३ ॥

हे भगवन् ! लोग जब तक आपके समक्ष प्रणत नहीं होते तब तक उन्हें भसदाय करके
कोई कारिणी विपदि जाती है वे मनोरथ संपत्ति की कामना नहीं करते और कोई भी
पुरुष उनके आधीन नहीं रहता अर्थात् आपके शरण में यथे विना न अनिष्ट की निवृत्ति
होती है और न शत्रु की प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

संसेवते दानशीला विमन्त्यै सपर्यन्तो जमद्गुख पुमास ।

यन्निःसङ्गस्य फलत्यानतेभ्यस्तत्कारुण्य केवल न स्वकार्यम् ॥ २४ ॥

ससेवन्त इति ॥ दानशील स्वभावो निजधर्मो येषां ते दानच्छोकाः । स्वामेवो
दिर्य दान कुर्वन्त इत्यथ । तस्माद्दानं परम भवन्ति इति श्रुतेरिति भाव । कुत ।
यतो जमद्गुख सपर्यन्तोऽनुभवन्त पुनांसो विमुक्तवै मोक्षाय ससेवन्ते । भवन्त
मित्ति शेष । न च तच्छिन्नम् किन्तु आनन्देभ्यः प्रणम्य यो नि सङ्गो नि स्पृहस्तव यद्
फलं फलं ददासि । तेषां फलार्थं वादिति भाव । तद् केवल निरुपाधिकं कारुण्यं
कथम् । स्वार्थे चयन । कारण्य कथम् । पुमा इत्यमरः । न स्वकार्यम् । पूतद्वेष
शिन्नम् । केवल परार्थत्वादिति भाव । शांतिनीवृत्तम् ॥ २४ ॥

लोग आनामि धर्म करने हुए जनधारण करने के सन्तानों को अनुभव करके मुक्ति
प्राप्त करने के लिये आप को आराधना करते हैं इनमें कोई स्वार्थ नहीं किन्तु आप जो
नि स्वार्थ भाव से अर्थात् किन्ही प्रकार के फल की कामना न करके उन्हें उनही सेवा का
रथ प्रदान करते हैं यह केवल आप की दया है इसमें भाव का स्वार्थ कुछ भी नहीं है ।

अर्थात् लोग स्वार्थवश होकर आपकी सेवा करते हैं और आप नि स्वार्थ उन्हें फल प्रदान करते हैं ॥ २४ ॥

अप्यते यदिह दूरमगत्वा यत्कृत्यपरलोकगताय ।

तीर्थमस्ति न भवार्णवबाह्य सार्धकामिकमृते भवतस्तत् ॥ २५ ॥

प्राप्यत इति ॥ अत् तीर्थम् । इहार्त्सिमल्लोके दूरमगत्वा प्राप्यते । स्मृतिमात्रसुल-
भमित्पर्यं । गङ्गादिकं तु न तथेति भावः । यत्तीर्थमपरलोकगताय फलति फल
प्रयच्छति । अत्रापि स्मरणमात्रादेवेति भावः । भवत् ससारं न पुन अर्णवस्ततो बाह्य
वह्निर्भवत् ससारातीतम् । मोक्षपदमित्पर्यं । 'वह्निर्देवपञ्चजनेभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इति
व्यप्रत्ययः । सर्वे कामाः प्रयोजनमस्येति सार्धकामिकम् । 'तदस्य प्रयोजनम्' इति
ठक् । तत् तादृक् । तरन्यनेनेति तीर्थं तारकं भवतस्त्वहते । 'अन्यारात्—' इत्यादिना
पञ्चमी । अन्यश्चारितः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ २५ ॥

जो तीर्थं बिना दूर यात्रा के उपलब्ध होता है, जो इसी ससार में फल प्रदान करता है, और जो ससार समुद्र से परे अर्थात् मोक्ष का स्थान है तथा सम्पूर्ण अभिलाषाओं का पूरक है ऐसा तीर्थ स्मरण मात्रसे उपलब्ध आप के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है ॥ २५ ॥

ब्रजति शुचि पद त्वयि प्रीतिमान्प्रतिहृतमतिरेति घोरा गतिम् ।

इयमनघ निमित्तशक्ति परा तद्य चरद् न चित्तभेद क्वचित् ॥ २६ ॥

ब्रजतीति ॥ हे चरद् । त्वयि प्रीतिमान् नर शुचि निर्मल पद कैवल्य मुक्तिं ब्रजति ।
'मुक्तिं कैवल्यनिर्वाण—' इत्यमरः । प्रतिहृतमतिरुपहृतदुःखि । त्वद्देवीत्पर्यं । घोरां
गतिं तीव्रं नरकम् । एति प्राप्नोति । न चैतावता तव रागद्वेषकलङ्कपङ्क इत्याह—
इयमिति । हे वानघ निष्कलङ्क । इयम् । भक्ताभक्त्योरिति शेषः । विधेयप्राधान्या-
त्स्त्रीलिङ्गता । परा दुस्तरा निमित्तशक्तिर्निमित्तभूता शक्तिः स्वचेष्टितमहिमा । तव
कथिदभक्ते द्वेषिणि वा कुत्रापि चित्रभेदो बुद्धिवैषम्यं नास्ति । स्वकर्मणैव अन्तुस्तरति
पतति वा । त्व साक्षितया सर्वत्र सम इत्यर्थः ॥ २६ ॥

हे नरप्रदायक ! आपमें प्रीति रखने वाले पुरुष सर्वोत्तम पद को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है । आप से विरोध बुद्धि रखने वाला पुरुष नरकगामी होता है । (इतना यह अभिप्राय नहीं कि आप भक्तों को स्वर्ग और भक्तों को नरक दान करते हैं किन्तु) हे निष्कलङ्क ! यह कार्य कारणभाव से उत्पन्न होने वाली एक अतिरिक्त शक्ति है आपके चित्त में किसी प्रकार का भेद भाव नहीं रहता अर्थात् आपके विषय में प्रेम करने वाले अपने कर्म ही से कैवल्य प्राप्त करते हैं और द्वेष बुद्धि रखने वाले अपने कर्म ही से नरक में गिरते हैं आप तो साक्षी मात्र हैं ॥ २६ ॥

दक्षिणा प्रगतदक्षिण मूर्तिं तन्प्रत शिवकरीमधित्वा ।

रागिणापि विहिता तव भक्त्या सस्मृतिर्भव भवत्यभवाय ॥ २७ ॥

वक्षिणामिति ॥ हे भव प्रणतवक्षिण प्रणतेषु वक्षिण्यसंपन्न ! वक्षिण्यं परब्रह्मन्दा
 भुवर्तित्वम् । 'वक्षिण सरलावामपरब्रह्मन्दाभुवर्तित्तु इति विरच' । सिद्धकरी! भेष
 स्कीम् । 'वृजो हेतु- ह्यादिना दप्रत्यये ङीप् । तत्र वक्षिणां मूर्तिस्तत्त्वतो यापार्थ्येन
 अविदित्वापि राशिणा रागाद्वेषवतापि भवत्या विद्विता तत्र संसृति सम्यक्स्मरण
 ममवाद्य संसारनिवत्तये । प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नमसमास इष्यते । भवति । तत्त्वज्ञान
 विद्यापि भक्तिपूर्विका तत्र सस्मृतिरेव मुक्तिनिदानमित्यर्थः । स्वागतावृत्तम् ॥ २७ ॥

हे भव प्रणतवक्ष ! रागो भ्यपि भयपकी कल्याणकारिणी वक्षिणामूर्ति के श्रावण्य शान
 के दिना ही भक्ति के साथ स्मरण मात्र से भव मन से मुक्त हो जाता है ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा दृश्यान्वाचरणीयानि विधाय प्रेक्षाकारी याति पद मुक्तमपायै ।
 सम्यग्दृष्टिस्तस्य पर पश्यति यस्त्वा यश्चोपास्ते साधु विधेय स विधत्ते ॥ २८ ॥

इष्टेति ॥ प्रेक्षया लुब्ध्या करोतीति प्रेक्षाकारी विष्टरयकारी धर्यानि द्रष्टव्यानि
 दृष्ट्वा ज्ञात्वा वाचरणीयानि कर्तव्यानि च विधाय कृत्वा अपायैर्मुक्तं नाशवर्जितं
 पदं याति । अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा जिव्याऽमृतमश्नुते इति श्रुते । ज्ञानकर्मभ्यां
 मुक्तिरित्यर्थः । किन्तु तेऽपि ज्ञानकर्मणी त्वद्विषय एव मुक्तिसाधन साम्यविषय इत्या
 शयेवाह—सम्यगिति । य पुमान् पर पुद्गलोत्तमत्वेन सर्वोत्कृष्ट त्वां परयति तस्य
 सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानम् । यश्च त्वामुपास्ते सेवते स एव साधु विधेयं विधत्ते ।
 साधुकारीत्यर्थः । भक्तमयूरं वृत्तम् । छत्रणं त्कम् ॥ २८ ॥

दिवेनी पुत्र्य ज्ञानदृष्टि से तल को देखकर और कर्मों का अनुष्ठान कर निर्विघ्न पद
 को प्राप्त करता है तात्पर्य यह कि ज्ञान और कर्म से मुक्ति होती है । यह भी ज्ञान और
 नम आप के विषय वा ही मोक्षसाधक है इस अभिप्राय से तोसरे शब्दे चरण बर्णित है
 ो पुरण आप को परपुत्र समन्ता है उसी की ज्ञान दृष्टि ठीक है और जो आप को सेवा
 करता है वही सर्वोत्तम कृत्यकारी है ॥ २८ ॥

युक्ता स्वशाक्त्या मुनयः प्रजाना हितोपदेशैरुपकारयन्त ।

समुच्छिनत्सि त्वमचिन्त्यधामा कर्माण्युपेतस्य पुद्गलराशि ॥ २९ ॥

युक्ता इति ॥ मुनयो व्यासादयः स्वशाक्त्या विजयोगमहिम्ना युक्ता । तथा
 हितोपदेशैर्विधिनिषेधवाक्यै स्मृतीतिहासपुराणमुखेन प्रजानामुपकारयन्तः कृतोप
 काराश्च । मोक्षप्रदस्तु तेषामभ्येपो च स्वमेवेत्याह—समिति । अचिन्त्यधामाऽ-
 चिन्त्यमहिमा त्वमेव उपेतस्य धारण माहस्य प्रपन्नस्य संबन्धीनि बुद्धराशि मुहुस्त
 राशि कर्माणि बन्धकानि पुण्यपापानि समुच्छिनत्सि नाशयसि । ते त्वन्नासमयां
 पृथेति भाव ॥ २९ ॥

व्यासशास्त्रीकि आदि मुनि केवल अपने योग की महिमा से स्मृति इतिहास पुराणादि के
 द्वारा लोगोंवा उपकार करने में समर्थ हो सके हैं परन्तु अचिन्त्य महिमा आप धरणापनी

के पाप और पुण्यरूपी कर्म के दुर्मैद कर्मों को नाश कर देते हैं तात्पर्य यह कि जब तक जीवात्मा के शुभ अथवा अशुभ कर्मों की सत्ता रहती है तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती चाहे वह कितना भी शुभ कर्म क्यों न करे शुभ और अशुभ कर्मों का नाश सभी होता है जब वह परास्पर मग्न का साक्षात्कार कर लेता है । वस, इसीसे उसकी मुक्ति है ॥ २९ ॥

संनिवद्धमपहर्तुमहायं भूरि दुर्गतिभय भुवनानाम् ।

अद्भुताकृतिमिमांमतिमायस्व विमर्षिं करुणामय मायाम् ॥ ३० ॥

संनिवद्धमिति ॥ अतिद्वान्तो माया वन्वरूपामतिमायः । 'अत्यादयः क्रान्ता-
घर्षे द्वितीयया' इति समास । हे करुणामय हे कृपालो ! संनिवद्ध स्वकर्मणा दृढवद्-
मत एव, अहार्यमन्यैरनुच्छेद्य भूरि प्रभूत भुवनानां दुर्गतिभय नरकभयम् । 'स्वाप्ता-
रकं तु नरको निरयो दुर्गतिं क्षियाम्' इत्यमरः । अपहर्तुमद्भुताकृतिं विचित्ररूपा-
मिमां मायां दृश्यमानां लीलाविग्रहरूपां विमर्षिं । अन्येषां कर्मानुबन्धी विग्रहपरिग्रहः ।
भवतस्तु परोपकारार्थं इत्यर्थः ॥ ३० ॥

हे दयाली ! आप माया को जीतकर सत्ता के प्राणियों की भीषण नरक यातना को, जो अपने अपने कर्मों से दृढतापूर्वक बांधी हुई है, तथा अन्य प्राणियों के द्वारा अछेय है, निवारण करने के लिये विलक्षणरूप रस माया को धारण करते हैं अर्थात् जन्मां होकर भी शरीर धारण कर मनुष्यलोका करते हैं । और प्राणी तो कर्म के बन्धन से विवश होकर शरीर धारण करते हैं और आप परोपकारार्थ अपनी शक्त से शरीर धारण करते हैं ॥ ३० ॥

न रागि चेत परमा विलासितावधू शरीरेऽस्ति न चास्ति मन्मथः ।

नमस्क्रिया चोपसि धातुरित्यहो निसर्गदुर्बोधमिदं तवेहितम् ॥ ३१ ॥

न रागीति ॥ हे देव ! चेतस्तव चित्तं रागि रागयुक्तं न । परमयोगित्वादिति भावः । तथापि परमा निरतिशया विलासिता शृङ्गारादिचेष्टाशीलता । भिन्नाटनादिषु विहरणेन तीव्रत्रिकल्पसन्नितया चेति भावः । किंच, शरीरेऽर्थाङ्गे बधूरिति । प्रसिद्ध चेतदिति भावः । तथापि मन्मथ कामश्च नास्ति । तस्य मस्मीकरणदिति भावः । किंच, उपसि प्रातः सध्यायां धातुर्बद्धणो नमस्क्रिया वन्दनम् । स्वयं जगद्गन्धस्वा-
पीत्यर्थः । इतीत्य विशुद्धमिदमुक्तं तवेहितं चेष्टितं निसर्गतो बुर्बोधं दुराकलनायम् ।
दुर्ग्रहमित्यर्थः । अदृष्टपूर्वत्वादिति भावः । वसस्तु वृत्तम् ॥ ३१ ॥

(हे भगवान्,) आप का चित्त राग से मुक्त है (क्योंकि आप परम योगी हैं) विलासिता भी आपमें कम नहीं है । जो आप के शरीर में है (अर्थात् स्वरूप) तथापि कामदेव का सखार नहीं (क्योंकि कामदेव को आपने जला डाला है) प्रभूत काल में आप मन्मथ की वन्दना करते हैं (स्वयं जगद्गन्ध है) आप क्या करना चाहते हैं स्वभावतः दुर्बोध है ॥ ३१ ॥

तवोत्तरीय करिचमसाङ्गज 'गलन्मणि' सारसन महानहि ।

स्रगास्यपङ्क्तिः शरमस चन्दन कला हिमाशोश्च सम चकासति ॥ ३२ ॥
 तवेति ॥ हे देव । तव साङ्गज सलोमक करिचर्मोत्तरीय संभ्यानम् । दुःस्पर्शमिति भावः । संभ्यानमुत्तरीय य इत्यमरः । उषलन्मणिर्वलङ्गानो महानहि सारसन कदिभूपाविषाणः । योऽभ्येषां प्राणहर इत्यथ । हृदये सारसन चाथ पुस्तक्यां शृङ्खल त्रिषु इत्यमरः । आस्यपङ्क्तिः कपालमाळा एक मास्यम् । शशभस्म चन्दनम् । वनयन्नाप्यस्पृश्यममङ्गल चेति भावः । किञ्च पृतानि वस्तूनि हिमाशो कला च सम तुष्यतया चकासति दीप्यन्ते । त्वदाध्यवसादरम्यस्यापि रम्यतेति किमशक्यं तवेति आशः ॥ ३२ ॥

आप का उत्तरीय (ओकने का कल) रोमजुक्त गनचम है मणिपर भीषण सप आप का कटियूपण (करवनी) है । आर मनुष्य के कपानो को माया धारण करते हैं पिना की रख आपके मस्तक में लगा हुई है ; ये वस्तुयें और चन्द्रमा की बना समान शोभा पा रही है अर्थात् अमङ्गल तथा विकरुप व गुण भी आप के आश्रय से शोभा पा रही है ॥ ३२ ॥

अविग्रहस्याप्यतुलेन हेतुना समेतभिन्नद्वयमूर्ति तिष्ठत ।

तथैव नान्यस्य जगत्सु दृश्यते विरुद्धवेपामरणस्य कान्तता ॥ ३३ ॥

अविग्रहस्येति ॥ अविग्रहस्य वस्तुतोऽशरीरस्यापि सतोऽनुलेन दुर्बोधत्वादसद्यो न हेतुना । केनापि कारणेनेत्यर्थः । समेता संगता भिन्ना विलक्षणता च द्वयीद्विविधा टी पुसाभिका मूर्तियास्मन्कर्मणि तत् समेतभिन्नद्वयमूर्ति यथा यथा तिष्ठत । अशरीरस्य शरीरमैव विरुद्धम् । तदपि नारीनरात्मकमिति किमतश्चिन्नमस्तीति भावः । पुरुषविधस्य तथैव जगत्सु विरुद्ध वेपामरणे पूर्वोक्ते यस्य तस्य विरुद्धवेपामरणस्यापि सत कान्तता रमणीयता दृश्यते । अन्यस्य न दृश्यते ; तस्माच्चिन्मयोऽसौ तव महिमेति भावः ॥

वस्तुत आप का कोई शारीरिक रूप देना नहीं है तथापि न मासूम किस कारण की और पुरुष दोनों प्रकार का शरीर धारण करने हुए है । विरुद्ध वेपामरणे पर शर संसार में रक्षकर आप ही में रमणीयता पाई जाती है अन्य किसी व्यक्ति में सम्मानिनी न ही है तात्पर्य यह कि आप अज्ञाना होते हुए शरीर धारण करते हैं तथापि कोई या तो स्त्री का शरीर धारण करेगा या पुरुष का आपमें तो दोनों का सम्मिश्रण प्राया जाता है अपने अधिक आशय की क्या बात हो मरनी है ॥ ३३ ॥

आत्मलाभपरिणामनिरोधभूतसद्य इव न त्वमुपेत ।

तेन सनमुयनातिग लोके नापमानमसि नाप्युपमेय ॥ ३४ ॥

आरमेति ॥ हे देव ! त्व मूलसद्य इव शरीरादिसघात इव । आत्मलाभपरिणामनि रोधैजन्मजरारमणैः । उपेतो युक्तो नासि । तेन कारणेन हे सद्यभुवनातिग सर्वलोको चर उपमीयतेऽनेनेप्युपमान नासि । उपमीयते यत्तुपमेयमपि नासि । अ कश्चित्वाद्

शोडस्ति । त्वमपि नान्यसद्दृष्ट । अनन्यसाधारणत्वादित्यर्थ । वृत्तमुक्तम् ॥ ३४ ॥

(हे देव !) सप्तरी प्राणियों के समुदाय को तरह आप जन्म, चरा और मरण से युक्त नहीं है अर्थात् परे है, सम्पूर्ण सत्ता के अतिक्रमण कर्ता, इसलिये सम्पूर्ण लोको में आप के श्रावर कोई नहीं है तथा और न कोई वस्तु है जिससे आप उपमित किये जाय ॥३४॥
त्वमन्तक स्थावरजङ्गमाना त्वया जगत्प्राणिति देव विश्वम् ।

त्वं योगिना हेतुफले रुणत्सि त्व कारण कारणकारणानाम् ॥ ३५ ॥

त्वमिति ॥ हे देव, त्व स्थावरजङ्गमानामन्तक सहस्रं । त्वया हेतुना विश्व सर्वं जगत् प्राणिति जीवति । त्व योगिना हेतु प्रवर्तक कर्म फल भोगश्च ते हेतुफले रुणत्सि निवर्तयसि । तेषा त्वमेव बन्धविमोचक इत्यर्थ । किंच, त्व कारणानि भूतानि तेषा कारणानि भूतसूचमाणि परमाणवो वा तेषा कारणकारणाना कारण प्रकृत्यादिद्वारोत्पत्तिस्थानम् । अत्र सर्वत्र 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यद्ययन्त्यभिसविशन्ति' इति श्रुति प्रमाणमिति भाव ॥ ३५ ॥

हे देव । चराचर प्राणियों के संहारकारी आप ही हैं । आप से सम्पूर्ण सत्ता जीवित है । आप योगियों के कर्म और उनके उपभोग दोनों के निवर्तक हैं (अर्थात् उन्हें आप ही बंधन विमुक्त करते हैं) आप पञ्च महाभूतों के कारण परमाणु के भी कारण हैं ॥ ३५ ॥

रक्षोभि सुरमनुजैर्दिते सुतैर्वा यत्लोकेष्वविकलमाप्तमाधिपत्यम् ।

पाधिन्ध्या शरणगतार्तिहारियो तन्माहात्म्य भव भवते नमस्क्रियाया ॥

रक्षोभिरिति ॥ रक्षोभी राक्षसै सुरमनुजै सुराश्च मनुजाश्च सैर्देवमनुजैर्दितेः सुतैर्दैत्यैर्वा लोकैषु यदविकल सपूर्णमाधिपत्यमाप्त प्राप्त, सत् हे भव ! शरणगतानामा-
तिहारिणे दुःखनाशकाय भवते तुभ्य नमस्क्रियाया । 'नमस्वस्ति-' इत्यादिना शतुर्थी । पाधिन्ध्या पापहारिण्या माहात्म्य सामर्थ्यम् । 'न कस्या उक्त्यै भवति
ि व्यवनति' इति भाव । प्रहर्षिणीषुक्तम् ॥ ३६ ॥

हे भव ! देवता, मनुष्य राक्षस तथा दिति क सन्तान दानवों को जो सम्पूर्ण जगत् पर आधिपत्य प्राप्त हुआ है वह है शरणागतरक्षक । आपको किये गये पवित्र नमस्कार का ही सामर्थ्य है ॥ ३६ ॥

अथाष्टमूर्तिषु काश्चित्सुवन् वायुमूर्ति तावदाह—

तरसा भुवनानि यो विभर्ति ध्वनति ब्रह्म यत् पर पवित्रम् ।

परिवो दुरितानि य पुनीते शिव तस्मै पवनात्मने नमस्ते ॥ ३७ ॥

तरसेति ॥ य पवन । तरसा बलेन । 'तरसी बलरहसी' इति विश्व । भुवना-
नि विभर्ति प्राणात्मना धारयति । यतो यत्प्रेरणात् पवित्र पर परम दाह वर्णात्मक
ध्वनति नदति । 'सोदीर्णो मूर्धन्यभिहतो यवनमापद्य मासुत । वर्णाशिनयते' इति

वचनात् । यं पवन परितो हुहितानि पातकानि पुनीते शोधयति । माहायतीति
याधत् । हे शिव ! तस्मै पावयतीति पवनो वायु स एवात्मा यस्य तस्मै वचनात्मने ते
तुभ्य नमः । वृत्तमुक्तम् ॥ ३० ॥

(वायु-मूर्तिकी स्तुति)

जो वायु बलपूर्वक अणु का पोषण करता है (अर्थात् आसक्ति ही जगत् का जीवन है)
जिसकी प्रदण से परम पवित्र वर्णारमक तथा उच्चरित होता है । जो पवन सब तरह से पापों
को पवित्र (नाश) कर देता है हे शिव ! वसु पवनारमक आप को प्रणाम है ॥ ३० ॥

अभ्यासिमूर्ति स्तौति—

भवत स्मरता सदासने जयिनि ब्रह्ममये निपेदुषाम् ।

दहते भवबीजसतति शिखिनेऽनेकशिखाय ते नमः ॥ ३८ ॥

भवत इति ॥ जयिनि अर्थात् सर्वोत्कृष्टे ब्रह्ममये ब्रह्मप्रधाने । सध्याप्युपाय
त्वात् । सदासने सम्यगासने । योगासने इत्यर्थः । निपेदुषामुपविष्टानां भवतः स्मरतां
भवन्तं ध्यायताम् । अर्धोर्गर्भं इत्यादिना शेषे कर्मणि पठ्यते । भवबीजसंततिं ससार
निदानकर्मसघातं दहते भस्मीकुवतेऽनेकशिखाय बहुशुभलाय शिखिने बद्धिमूर्तये
ते शुभ्यं नमः ॥ ३८ ॥

(श्री ग-मूर्तिकी स्तुति)

अग्नि ! सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म प्राप्ति-साधक योगासन पर आरूढ़ तथा आप के ध्यान में सत्स
योगियों के जन्म अणु मरण के कारण भूत कर्मों के समूह को जो भस्म कर छाड़ता है उस
अनेक शिखा विशिष्ट अग्नि मूर्ति आप को नमस्कार है ॥ ३८ ॥

अथ जलमूर्ति स्तौति—

आवाधामरणभयार्चिषा चिराय प्लुष्टेभ्यो भव महता भवानलेन ।

निर्वाण समुपगमेन यच्छते से बीजानां प्रभव नमोऽस्तु जीवनाय ॥३९॥

आवाधेति ॥ हे भव ! बीजानां प्रभव कारणभूत । 'बीवानाम्' इति पाठे तथा
रक्ष्यतिचिन्मत्वादिति भावः । आवाधाऽप्यात्मिकादिदुर्लभं अरण पञ्चत्व साम्यां भवं
सन्नेवार्चिर्यस्य तेन महता महालेन संसारान्निना चिराय चिर प्लुष्टयो दुग्धेभ्यः समु
पगमेन संसेवया निर्वाण संतापशान्तिं यच्छते दहते जीवयतीति जीवर्न तस्मै जीव
नाय जलात्मने ते शुभ्यं नमः ॥ ३९ ॥

(जल-मूर्तिकी स्तुति)

हे शिव ! हे जीवों के कारण सासारिक विपत्ति और मृत्यु के भयकर -बलास पर
संसारियों से विरकाळ के भस्मप्रणियों की सेवा करने से मोक्षप्रदायक जलात्मक आप
को प्रणाम है ॥ ३९ ॥

इदानीं नमोमूर्तिं स्तौति—

यः सर्वेषामावरीता वरीयान् सर्वैर्भावैर्नावृतोऽनादिनिष्ठः ।

मार्गातीतायेन्द्रियाणां नमस्तेऽविज्ञेयाय व्योमरूपाय तस्मै ॥ ४० ॥

य इति ॥ भवेत्यनुवर्तते । भवत्यस्माद्य प्रपन्न इति भवस्तस्सुबुद्धौ । सकलजग-
ज्जनकेति यावत् । वरीयानुस्तर । विभुरित्यर्थः । 'प्रियस्थिर-' इत्यादिना 'ठरु'शब्द-
स्य वरादेशः । अस्त्य सर्वेषा वस्तूना आवरीताऽऽच्छादयिता । वृणोतेस्तुच्यत्ययः ।
सर्वैर्भावैः पदार्थैर्नावृत केनापि कदाचिदप्यनावृत, स्वयं व्यापकत्वादिति भावः ।
अविद्यमाने आदिनिष्ठे उत्पत्तिनाशौ यस्यासावनादिनिष्ठो नित्यः । 'निष्ठानिष्पत्तिनाशा-
न्ता' इत्यमरः । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मार्गातीतायातीन्द्रियाय । अष्ट एव, अविज्ञे-
यायापरिच्छेद्याय तस्मै व्योमरूपाय ते तुभ्यं नमः ॥ ४० ॥

व्योम-मूर्ति की स्तुति

(हे भव !) जो विभु है तथा सम्पूर्ण वस्तुओं का आच्छादनकारी है कोई भी पदार्थ
उसे आवृत नहीं कर सकता, और सम्पत्ति और विनाश से रहित है, इन्द्रियों से परे है उस
दुर्घोष आकाशात्मक आप को प्रणाम है ॥ ४० ॥

अणीयसे विश्वविधारिणे नमो नमोऽन्तिकस्थाय नमो दधीयसे ।

अतीत्य वाचा मनसा च गोचर स्थिताय ते तत्पतये नमो नमः ॥ ४१ ॥

अणीयस इति ॥ हे भवेत्यनुवर्तते । हे भव । अणीयसे सूक्ष्मतराय तथापि विश्व-
धारिणे जगद्धारकाय ते तुभ्यं नमः । अन्तिकस्थायान्तर्गमितया समिकृष्टाय सते ।
तथापि दधीयसे दुर्ग्रहवाद्दूरतराय ते तुभ्यं नमः । वाचा मनसा च गोचर विश्व
अतीत्य स्थितायावाक्यानसगोचराय । तत्पतये तेषां वाक्यानसामध्यक्षाय । तदप्यस-
स्तैरेव न दृश्यत इति विरोधः । ते तुभ्यं नमो नमः । 'वापले द्वे भवत इति वक्तव्यम्'
इति द्विकृतिः । 'सन्नमेण प्रवृत्तिश्चापलम्' इति काशिका । भक्त्युद्देकाद्य सन्नमः ।
विरोधाभासोऽलंकारः ॥ ४१ ॥

हे भव । सूक्ष्मातिशयं होते हुए भी विश्वधारण कर्ता आप को नमस्कार है । अतर्गामी
दोने से अत्यन्त सन्निकट होते हुए भी अत्यन्त दूरस्थित आप को नमस्कार है । वचन
और मन से परे रहते हुए भी उन्हीं वचन और मन के अधिपति आप को अनेक बार
नमस्कार है ॥ ४१ ॥

असविदानस्य ममेश सविदा तितिचित्तु दुश्चरितं त्वमर्हसि ।

विरोच्य मोहात्पुनरभ्युपेयुषा गतिर्भवानेव दुरात्मनापि ॥ ४२ ॥

असविदानस्येति ॥ सविदा ज्ञानानामीश । ईशान सर्वविद्यानाम् इति श्रुतेरिति
भावः । 'त्रिचोपलं च्छ्रित्सवित्' इत्यमरः । असविदानस्याज्ञानस्य । 'समो गम्यच्छि-
इत्यादिना विदे सपूर्वाद्कर्मकाच्छान्चप्रत्ययः । सम दुश्चरितं शक्यप्रयोगरूप

दुःखेष्टितं तितिक्षित्तु सोढुम् । त्रिजे सशमन्तासुमुन्यस्यय । बमर्हसि योम्योऽसि । मनु
 एष महानपराधः कथं सोढम्वस्तत्राह विरोधेति । मोहावज्ञानाद् विरोध्य वैरमुत्पा
 द्य पुनरभ्युपेतुयां पश्चाच्छरणागतानां दुरात्मनामपि भवानेव गति । स्व हि शरणाग
 तानामपराधं न गणयसीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

हे शार्ङ्गो के अभिनायक ! आप मेरे लक्ष प्रयोगरूप दुर्वास्यार को क्षमा करने के योग्य
 हैं । (यदि आप कहें कि 'दुर्वास्यार अपराध बड़ा है मैं नहीं क्षमा कर सकता तो भी नहीं
 क्योंकि) अज्ञान वष्य शङ्कता से पुनः शरणागत दुष्टोंके शरण आप हो हैं अर्थात् शरणागतों
 के अपराध पर आप ध्यान नहीं देते ॥ ४२ ॥

सम्पत्ति वरं याचते—

आस्तिक्यशुद्धमवत प्रियधर्म धर्म धर्मात्मजस्य विद्वितागसि शत्रुवर्गे ।
 संप्राप्तुया विजयमीश यथा समृद्धया ता भवनाथ विमुक्ता वितराहवेपुः ॥ ४३ ॥
 आस्तिक्येति ॥ प्रियो धर्मो यस्येति प्रियधर्मः । समाप्तान्तो विधिरचित्त्वः इति
 न समाप्तान्तोऽभिप्रात्यय । परलोके मतिरस्तीत्यास्तिक्यं पारलौकिकः । 'अस्ति
 अस्ति विद्वम्— इति उक्तं । तस्य भाव आस्तिक्यं विरवासस्तेन दृढ विमर्शं धर्म
 वेदिकाचारम् । अवताः पलायतो धर्मात्मजस्य युधिष्ठिरस्य विद्वितागसि कृतापराधे
 शत्रुवर्गे विषये हे ईश ! यथा समृद्धयाऽश्वीभवेन विजयं संप्राप्तुयां भजेयम् ।
 हे भूतनाथ आहवेपु तां विमुक्ता विभूतिमखविद्या वितर हेहि ॥ ४३ ॥

हे धर्मव्यवस्थापक ! (शरणागती आस्तिक्य मति के कारण विशुद्ध धर्म ही रक्षा करते हुए
 धर्मपुत्र (युधिष्ठिर) के शत्रुओं पर विन्वीने अपराध किया है वित्त लक्ष सम्पत्ति से मैं
 विजयी बन सकता हूँ हे भगवान् ! सप्राम काळ में उस अख विद्या को मुझे (ईश्वरी) के
 स्वामी !) प्रदान कीजिये ॥ ४३ ॥

इति निगदितवन्तः सन्नुमुच्चैर्मघोन प्रणतशिरसमीश साध्वर सान्त्वयित्वा ।
 ज्वलत्तदनलोपरीत रौद्रमस्र दधान धनुरुपपदमस्रै वेपमभ्यादिदेरा ॥ ४४ ॥
 इतीति । इत्युच्चैर्निगदितम् । प्रणतशिरस मघोन इन्द्रस्य सन्नुमञ्जुम् । ईशो
 महादेव साध्वरं सया तथा साध्वरवित्तोपसात्म्य अस्मै अहनाथ ज्वलत्तदनलो
 सेनसा परी । व्यास रौद्रं दधनैवसाक पाष्टपतमस्र दधानं धनुरुपपदं धनुः शब्दोपपद
 वेदम् । धनुर्वेदमित्यर्थः । अभ्यादिवेत्त दधी । अभ्यापयामासेत्यर्थः । धनुरुपपदं वेदम्
 इत्यत्र धनुरुपपदं न वेदं शब्दस्य न तु संश्लिस्तद्व्यत्येति सशया सशित्तत्वा
 आवादाव्यवचनदोषमाहुराहकारिका । तदुक्तम्— यदेवावाच्यवचनमवाच्यवचनं
 द्विषत् इति । समाधानं तु धनुः शब्दविशेषितेन वेदं शब्देन । शब्दपरेणेत्यर्थः ।
 यतोपदेरायोग्यो मनुर्वेदो लभ्यत इति कल्पितस्तपाद्यम् ॥ ४४ ॥

उपर ३१-३१ ने उपरुप प्रवार से उच्यते में स्तुति करत हुए तथा प्रणामार्थं तत

मस्तक इन्द्र-पुत्र (अर्जुन) को तान्त्वना (बोध) देते हुए प्रबलन्त अग्नि से व्याप्त पाशु-
पताल को धारण करते हुए धनुर्वेद का आदेश किया अर्थात् पढाया ॥ ४४ ॥

स पिङ्गाक्षः श्रीमान् भुवनमहनीयेन महसा
तनु भीर्मां विश्रत्रिगुणपरिवारप्रहरण ।
परीत्येशान त्रि स्तुतिभिरुपगीत. सुरगणैः
सुत पाण्डोर्वीर जलदमिव भास्वानभिचयौ ॥ ४५ ॥

स इति ॥ पिङ्गाक्ष पिङ्गलाक्ष श्रीमान् शोभावान् भुवनमहनीयेन लोकपूज्येन
महसा तेजसा भीर्मां तनुं विश्रत् । त्रिगुणस्त्रिशिख परिवार भाकारो यस्य तन् त्रिगु-
णपरिवार त्रिशूल तवेन प्रहरणमायुध यस्य स तयोक्त । सूर्यपदे तु—गुणत्रयपरिवा-
रख्ययात्मक इति योग्यम् । स धनुर्वेद सुरगणै स्तुतिभिरुपगीत सन् । ईशान शिव
त्रिशिवारम् । 'द्वित्रिचतुर्भ्यं सुच्' इति सुप्रत्यय । परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य वीर पाण्डोः
सुतमर्जुनम् । भास्वान् सूर्यो जलदमिव । अभिचयौ । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४५ ॥

वह पिङ्गल नेत्रधारी, शोभास्तीम तथा लोकाराध्य तेज से विशाल शरीरधारी
धनुर्वेद भगवान्, जो त्रिशूल धारण किये हुए थे, तथा देवता लोग स्तुतियों से जिनका गान
करते थे, तीन बार शकर भगवान् की प्रदक्षिणा करके वीर पाण्डु पुत्र के समीप इस
प्रकार उपस्थित हुए जिस प्रकार पूर्ण भगवान् मेघ के समस्त उपस्थित होते हैं ॥ ४५ ॥

अथ शशाधरमौलेश्वरभ्यनुज्ञामवाप्य त्रिदशपतिपुरोगा पूर्णकामाय तस्मै ।
अवितथफलमाशीर्वादमारोपयन्तो विजयि विविधमस्त्र लोकपाला वितेरु ॥

अथेति ॥ अथ शशाधरमौलेश्वरप्रदानानन्तर त्रिदशपतिपुरोगा इन्द्रादयो लोक-
पाला शशाधरमौले शशो अभ्यनुज्ञामवाप्य पूर्णकामाय तस्मै पाण्डवाय अवितथ-
फलममोघफलम् । आशीर्वादमारोपयन्त प्रयुज्जाना विजयि जयशील विविध नाना-
विधम् अस्त्रमैन्द्रादिक वितेरुर्दु । मालिनीवृत्तम् ॥ ४६ ॥

अर्जुन की अगिलापार्श्व पूर्ण हुई । धनुर्वेदागतनानन्तर इन्द्रादिक लोकपालों ने
चन्द्रशेखर (शकर) की आज्ञा प्राप्त करके अमोघफलक आशीर्वाद का प्रयोग करते हुए
जयनशील अनेक प्रकार के अस्त्रों को अर्जुन के लिये प्रदान किया ॥ ४६ ॥

असंहार्योत्साहं जयिनमुदयं प्राप्य तरसा

धुर गुर्वी वोढु स्थितमनघसादाय जगत् ।

स्वघाम्ना लोकाना तमुपरि कृतस्थानममरा-

स्तपोलक्ष्म्या दीप्त दिनकृतमिवोच्चैरुपजगु ॥ ४७ ॥

असहार्योत्साहमिति ॥ तरसा चलने वेगेन च जयिन जयशीलमुदयमल्लाम-

रूपमभ्युदयम् । अथत्र-उदयादि च प्राप्य असंहायोस्ताईं संहर्तुमशक्यमुद्योगं
जगतोऽनवसादाय हेमाय गुर्वी धुरं द्रुष्टनिप्रहभर समोपसंहाररूपं च भारं घोई
स्थितम् । स्वघाता स्वतेजसा लोकानामुपरि कृतस्थान कृतपदम् । अथत्र-उपरि
वसमानम् । तपोलक्ष्या दीप्तं तं पाण्डवम् । अमरा इन्द्रादयो दिनकृतं स्यमिदोद्ये
रुपजगुं साधु महामाग्योऽसीति द्रुष्टु । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४७ ॥

विस प्रकार देवतायोग वेग से उपाचन तक प्राप्त विजय सत्कार के कल्याण निमित्त
अपकाररुही भार के संहाराथ सभ्रष्ट अपने प्रखर प्रताप से सत्कार के ऊपर अपना स्थान
निश्चित रखने वाले तथा प्रगीत धुर्य भगवान् का उच्चस्वर से उपस्थान करते हैं उसी प्रकार
उन्होंने विजयी बलपूर्वक उपाचन को प्राप्त कर लेने के अनन्तर अन्यायत पराक्रमशाली
सत्कार की मङ्गलकामना के निमित्त महान् भार का धरन करने के लिये सभ्रष्ट अपने
पराक्रम से सत्कार में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने वाले तथा तपस्वी से विभूषित अर्जुन को
स्तुति उच्चस्वर में करने लगे ॥ ४७ ॥

ब्रज जय रिपुलोकपादपद्मानत सन् गदित इति शिवेन स्थाचितो देवसधै ।
निजगृहमथ गत्वा सादर पाण्डुपुत्रो घृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसन्तुननाम ॥४८॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीयेऽष्टादश सर्गः ।

ब्रजेति ॥ शिवेन ब्रज स्वपुरं गच्छ रिपुलोकं जयेति गदित उक्तः । यथा पाद
पद्मानत शिवपादपद्मानतः सन्, तथा देवसधै स्थाचितः स्तुतोऽत एव घृता गुर्वी
जयलक्ष्मीर्धर्म स पाण्डुपुत्रोऽनु मो निजगृह स्वात्मं गत्वा प्राप्य अथ सादरं यथा
तथा धर्मसन्तु मुचिष्ठिरं ननाम नमस्करे ॥ ४८ ॥

इति महिनाथकृतव्याख्यायां घटापथसमाख्यायामष्टादश सर्ग समाप्तः ।

श्री शंकर भगवान् ने कहा- भाग्ये शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो' इसके अनन्तर चरण
कमलों में शिर झुकाकर अर्जुन देवताओं से प्रशंसित होते हुए महान् विजयलक्ष्मी के साथ
आने पर पहुँचकर ज्येष्ठ भ्राता धर्मसन्तु (मुचिष्ठिर) को प्रणाम किया ॥ ४८ ॥

समाप्तब्राह्मण ग्रन्थः ।

किरातार्जुनीयस्य १५ सर्गे स्थितानां चित्रबन्धानामुद्धारः ।

गोमूत्रिकाबन्ध । (१२ श्लोक.) ।

ना झु रो य न वा ना गो ष र स स्त्री न रा क स



ना झु स्त्री य न वा मो गो ष र नि स्त्री हि रा ज स

सर्वतोभद्र । (२५ श्लोक) ।

दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे

अर्धभ्रमक । (२७ श्लोक) ।

स	स	त्व	र	ति	दे	नि	त्व
स	द	र	म	र्ष	ना	शि	नि
त्व	रा	धि	क	क	स	ना	दे
र	म	क	त्व	म	क	र्ष	ति

किरातार्जुनोयन्यारयाया प्रमाणत्वेन समुपयस्तानां
ग्रथानां ग्रन्थकाराणां च नामानि ।



अगस्त्यः १२१४
अमर १११ ११२ ११७ इत्यादि
भागम ११४६ ११३७ ११३ इत्यादि
वालङ्कारिका १११, १८१४४
कामन्दकः ११३१ ११६ १११० इत्यादि
काम्यप्रकाश ११८ १११२ ११३९ इत्यादि
काशिका ११३ ११६, ११११ इत्यादि
केशव २१२१ ८१२४ ११११ इत्यादि
कैवट १११ १११ ८१११ इत्यादि
धीरस्वामी ११९, ११२१ १ ३ि.
यणभ्याख्यानम् २११७ २१३, ३१६
हृष्टी ११४६ ८१४४
द्वयारूपकम् ८११३ ११२६ ११४५
घनन्तरि ४१२८
गारद १११३.
गिरिकम् ७११
नीतिदात्म्यामृतम् ११२ ११४ ११२६
इत्यादि
मूल्यविलास ८१५३
नैपद्यम् ८१४९.
न्यायः ११२४ २१५.
न्यासोद्घोष २११७
पालकाप्यम् ७१८
पुराणम् २१२६
प्रकाशवर्ष ४११
भारतम् ५१३ १३११ १४११०
भाष्यकारः १११ १११ ८१११ इत्यादि
भद्र १११७ २१६ १४१६ इत्यादि

माघ ५१३ ८१४९.
मातङ्ग ४१३३.
मातेण्ड ८११५.
यादव ११३४ ११११ ७१४ इत्यादि
रघुर्वंशम् ८१४९.
रघुवशासनीविनी १११७६
रसरत्नाकर ९१७२
रसिका १२१४
रामायणम् ११९.
रुद्र ५१८
शाम्भट ५१८.
शास्त्रायन ११४७
शम्भन २१२७ २१३७ ४१२४ इत्यादि
विद्याधर ४१३८
विष्णु ११८ ११९, ११२४ इत्यादि
वैजयन्ती १११३ २१८ ४१३६ इत्यादि
वैद्यकम् ५१११
व्यक्तिविवेक ३१२१
शान्दार्णव ८१३१
शाकटायन ३१३५.
शाम्भट २१२२ ३१५ ७१२७ इत्यादि
श्रुति
सज्जनः १३१४५, १४१२७ १६१५९.
सर्वस्वकार १११८ १११५.
सामुद्रिका ६११
स्मरणम् (स्मृतिः) १११३ ६१२९ इत्यादि
हलायुध २१३, ४१३८ ७११३.
हैम ११२९, ५१४९ १ ३.

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका ।

	स०	श्लो०		स०	श्लो०
अकृत्रिमप्रेमरसाभिराम	३	३७	अथ स्फुरन्भीनविधृत	८	२७
अखण्डमाखण्डल	१	२९	अथ स्वमायाकृतमग्निद्वी	८	८
अखिलमिदमसुष्य	५	२१	अथ हिमशुचिभस्म	१८	१५
अगूढहासस्फुटदन्त	८	३६	अथाम्रे हसता साचि	१५	७
अम्रसानुपु विमान्त	९	७	अयापदासुद्धरणक्षमेजु	१७	१
अचक्रमत सपल्लवां	१०	४९	अथाभिपरयस्त्रिच	३	५६
अचित्ततायामपि	१७	४७	अथामर्षोसिसर्गाच्च	११	१
अचिरेण परस्व	२	६	अथोच्चकैरासनत	२	५७
अजन्मा पुरुपस्तावत्	११	७०	अथो दारस्तेन मदर्थ	१४	१७
अजिह्वमोजिह्वममोच	१४	५७	अथोष्णभासेव सुमेह	३	३२
अणीयसे विश्वविधा	१८	४१	अदीपितं वैद्युतवातवेदसा	४	२९
अणुरप्युपहन्ति	२	२१	अथ क्रिया कामदुष्ठा	३	६
अतिपातितकाल	२	४३	अधरीचकार च विवेक	४	२१
अतिशमितवनान्तर	१०	८	अधिगम्य गुह्यकगणादिति	६	३८
अतीतसंख्या विहिता	१४	१०	अधिरुह्य पुष्यभरनभ्रशिलै	६	१७
अत्यर्थं दुरुपसदादुपेथ	७	६	अनादुरोपाचष्टैक	१४	३६
अथ कृतकविकोभनं	१०	१७	अनासपुण्योपचयै	३	५
अथ सुमामेघ	१	४४	अनामृशन्त कचिदेव	१७	३३
अथ चेद्वधि	३	१६	अनायुधे सखजिघासिते	१४	१६
अथ जयाय तु मेदमही	५	१	अनारत तेन पदेषु	१	१५
अथ दीपितवारिबाहवर्मा	१३	२०	अनारत यौ मणिपीठ	१	४०
अथ दीर्घतम तम	१३	३०	अनिर्वयेन द्विपता	११	७१
अथ परिमलजामवाप्य	१०	१	अनुकूलपातिनमच्छष्ट	६	३५
अथ मृतमन्यभवदीश	१२	१९	अनुकूलमस्म च विचिन्त्य	१२	४३
अथ मृतानि चार्ध्वन	१५	१	अमुच्चरेण धनाधिपतेरयो	१५	१६
अथ वासवस्य वचनेन	१२	१	अनुजगुरथ दिव्य	३	६०
अथ विहितभिधेयै	१६	६२	अनुजानुमन्यमभवसक्त	१२	२२
अथवैष कृतज्ञयेव पूर्व	१३	५	अनुदताकारतया	३	३
अथ शपाघरमीलेरभ्य	१८	४६	अनुपालयता मुदे	२	१०

सं	श्लो०		सं	श्लो०	
अनुभाववता शुभ स्थिर	१३	१५	अभ्याथत सन्ततधूम	१६	६
अनुशासतमि यथा	२	५७	अभर्षिणा कृत्यमिव	१७	१३
अनुसानु पुष्पितलता	६	१	अमी प्रमुत्तम्बभृतः	४	२६
अनुहेमवप्रमथणै समर्ता	६	८	अमी समुद्भूतसरोज	४	३५
अनेकराज्यारथाश्च	१	१६	अयथाय किरातस्मै	११	१२
अनेन योगेन विबुद्ध	३	२८	अयमभ्युत्तम् अचनेन	१२	३५
अतक् पर्यवस्थाता	११	१३	अयमसौ भगवानुत्त	१८	९
अन्तिकान्तिकगतैन्नु	९	२१	अयमेव भृगव्यसप्रकाम	१३	९
अन्यदीयविशिखे न	१३	४६	अय सः कठैस्वमापहाम्	१५	१९
अन्यदोषमिव स स्वर्क	१३	४८	अलकाभिपश्यत्यर्क्षितं	३	६९
अन्योन्परकनवसा	९	७४	अलकृतानामुत्तुवो	१७	२९
अपनेयमुदेदुमिच्छता	२	३६	अलङ्कष तत्तनुद्गीष्य	११	६
अपपन्धनुष शिषान्तिक	१३	२३	अलङ्कषत्वान्तनैः	११	४०
अपरागसमीरणे	२	५०	अलमेव विद्वोक्तिः	५	१७
अपवजितविच्छवे	२	२६	अलसपद्मनोरम प्रकृत्या	१०	६
अपवादादभीतस्य	११	२६	अवचयपरिभोगवन्ति	१	५
अपर्यन्निरिवेक्षानं	१५	९	अवद्यन्त्रिणः शंभो	१५	३७
अपहस्येऽथवा सन्निः	११	६८	अवचूतपङ्कजपराम	६	३
अप्राकृतस्याह्व	१६	२४	अवचूयारिभिर्निता	११	२८
अमितस्त प्रयापुत्र	११	८	अवध्यकोपस्य	१	३३
अभिद्रोहेण भूतानाम्	११	२१	अवदग्गुद्रसुरवाद	६	५
अभिनयभगस	१	४२	अवलीढसनामित्थसेना	१३	११
अभिभवति मनः कदम्ब	१	२३	अवहितहृदयो विधाय	२	५८
अभिभवोदितमन्यु	१८	७	अविग्रहस्याप्यदुक्तेन	१८	३३
अभिमानधनस्य	२	१९	अविज्ञातप्रबन्धस्य	११	४३
अभिमानवसो	२	१३	अविरुत्ततया तथापि	२	२९
अभिमुनि सहसा	१	४५	अविभावितनिष्कम	१३	२७
अभियोग इमान्	२	४६	अविद्युप्यमेतदमिच्छत्यति	६	४४
अभिरक्षिममालि विमलस्य	१२	९	अविरतोऽविरतवारि	५	६
अभिलपत उपाय	१७	६४	अविरलफलिनीधन	१	२८
अभिलर्षति धोऽनु	२	३१	अविरलमलसेषु	१	४३
अभूतमासस्य विषद	१७	१९	अविरलभ्यधिकर्षणम्	३	५७
अभ्युपानि मुनिधाम्णात्	१३	६३	अविशेकभूयाजसा	१३	२९

सं श्लो०	सं श्लो०
असकलतयनेहितानि	१० ५९
माराधयतो	१ ११
असमापितकृत्य	२ ४८
असावनास्थापरया	४ ३४
असि क्षारा धर्म धनुश्च	१४ २०
असद्गन्दीनामुपचीय	१६ १०
असविदानस्य ममेश	१८ ४२
असंशय न्यस्तमुपान्त	८ ३८
असशयालोचितकार्य	३ ३३
असहार्थोस्त्राह जयित	१८ ४७
अस्त्रवेदमधिगम्य तत्त्वत	१३ ६२
अस्त्रवेदविदय मही	१३ ६७
अस्त्रै समानामति	१७ ३४
अस्मिन्नगृह्यत पिनाक	५ ३३
अस्मिन्पक्ष पौरुष	१६ ९
अशुपाणिमिरतीव	९ ३
असस्यलै केचिद्	१६ ३०
असाववष्टब्धनतौ	१६ २१
आकारमाशसितभूरि	३ २७
आकीर्णं चलजसा	७ ३६
आकीर्णां मुषनलिनै	७ १८
आकुमारमुपदेष्टु	१३ ४३
आकुलश्चलपतस्त्रि	९ ८
आक्षिप्तचापावरणेष्टु	१७ ५९
आक्षिप्तसम्पातमपेत	१६ ४१
आक्षिप्यमाण रिपुभि	३ २०
आधृष्टयामास गता	१७ ३८
आह्राय क्षणमतिवृष्य	७ ३४
आतपे पृथिमता	९ ३०
आतिथेयोमधासाध	११ ९
आत्मनीनमुपतिष्ठते	१३ ६९
आत्मलाभपरिणाम	१८ ३४
आहता नक्षपदै	९ ४९
आवाधामरणभया	१८ ३६
आमत्तन्नमरकुला	७ १०
आमोदवासितचला	६ ७७
आयस्त सुरसरिदोष	७ ३२
आरोद्धु समवनतस्य	७ ३३
आशसितापचिति	६ ४६
आशु कान्तमभिसारित	९ ३८
आसक्तमरनीकाशौ	११ ५
आशक्ता धूरिष	११ ७७
आसन्नद्विपपदवीमदा	७ २४
आसाहिता तत्प्रथम	१६ २७
आसुरे लोकवित्रास	१५ २८
आसेदुषा गोत्रभिदो	१८ १८
आस्तिव्यशुद्धमवत	१८ ४३
आस्थामालम्ब्य नीतेषु	१५ ४
आस्थित स्थगित	९ ९
आहिते नु मधुना	९ ६९
इच्छता सह वपूभि	९ १३
इत्तरैतरानभिभवेन	६ ३४
इति कथयति तत्र	४ ३७
इति ना विधाय विरतेषु	१२ ३२
इति चालयन्नचलसानु	१२ ६२
इति तानुदारमनुनीय	१२ ४०
इति तेन विचिन्त्य चाप	१३ १४
इति दर्शितविक्रिय	२ २६
इति निगदितयन्त	१८ ४४
इति ध्रुवाणेन महेन्द्र	३ ३०
इति विविधमुदात्ते	१६ ६३
इति विपमितच्छ्रुषा	१० ५६
इति शासति सेनान्या	१५ २९
इतीरथिषा गिरमात्त	१ २६
इतीरिताकृतमनील	१४ २४
इत्य विहाय वनितानि	८ ५६

	स	श्लो		स	श्लो
इत्युक्तं तं परिरम्य	११	८	उपलभ्यते तत्रतरङ्ग	६	१०
इत्युक्तं तं ब्रज साधये	३	२४	उपाधत्त सपत्नेषु	११	५
इत्युक्तगदुक्तिविशेष	३	१०	उपास्ता पभिमराधि	४	१०
इत्युक्त्वा सपदि हितं	५	२१	उपेयुषीणा वृहतीरधि	८	१२
इदमीष्टगुणोपेतं	११	४१	उपेयुषीं विभ्रतम्भ्यक	१४	३८
इमान्यमूनीष्यपवर्जिते	८	२	उपैति सस्यं परिणाम	४	२२
इमामह वेद न तावन्वी	१	३७	उपैत्यनन्तघुतिरप्य	१६	६१
इयमिष्टगुणाद्य रोचतां	२	५	उपोवकस्याणकको	१७	५४
इय च दुर्बारमहारथानां	१६	१७	उमापतिं पाण्डुसुत	१७	१२
इय शिवाया नियते	४	२१	उरसि शूलभृते प्रदिता	१८	९
इह दुरधिगमै किञ्चिदेवा	५	१८	उह ह्यवमाह विपरि	६	३५
इह धीवमयास्वपोऽनुभावा	१३	४	उर्ध्वं तिरस्त्रीनमधम	१६	५
इह सनियमयो सुराप	५	४	उरपिबधज स यदि	६	३६
ईशार्यमम्भसि थिराप	५	२९	पूकतामिष गतस्य	९	१२
इत्यतां स वधनीय	९	३९	पृथ प्रतिद्विन्द्रिषु तस्य	१७	१८
उजसती शुचमिवाद्यु	९	१८	ओजसापि खलु नून	९	३३
उजसाद्यु सहार इवा	१६	१६	ओष्ठपञ्चविंश	९	५७
उरुल्लस्यलनलिनी	५	३९	औषसातपमयात्प	९	११
उरसङ्गे समविपमे सम	७	२१	ककुदे वृपस्य कृत	१२	९
उरुल्लस्यजकुलककुटा	७	३	कञ्ज्याग्ते सुरसरितौ	१२	५४
उदस्य धैर्यं दधितेन	८	५	कतिपयसहकारपुष्प	१०	३
उदारकीर्तेरुद्धं	१	१८	कथमिव सव सम्मति	१	३६
उदाहरणमाशींशु	११	६२	कथं वादीयतामर्वाद्	११	७६
उदितोपलस्तलम	३	४	कथाप्रसङ्गेन जनैः	१	२४
उदीरितां कामिति	३	५५	कपोलसंरलेषि विडो	४	३
उद्दृष्टवच रथमितैक	१४	३१	कण्ठशङ्खलनि चतयोः	१८	११
उद्गतेऽनुमधिभिष	९	२७	परिष्मते पत्र सुहुञ्ज	३	२९
उन्मजम्भकर इवा	१७	६३	भस्ममभिहितं श्रपा	१	५८
उपकार इवासति	१३	३३	करोति योऽशेषजनति	३	५१
उपकारकमाहते	२	४३	करो धुनाना नवपञ्चवाहति		
उपनाससहाग्निवक	२	४७	[पयस्त्रगाधे	८	४८
उपपत्तिरवाहता	२	२८	करो धुनाना भयनञ्चयन्कृती		
उपलभ्य पञ्चलतरङ्ग	६	१४	[श्या कथा	८	७

श्लोकानुक्रमणिका ।

४२५

	स०	श्लो०		स०	श्लो०
चण्डप्रभारेण विलोक	८	१७	कामद्विधेनपदवीमनेक	५	३४
कवच स विभ्रतुपवीत	१२	९	क्रियासु युक्तैर्गुणै	१	४
कषणकम्पनिरस्तमहा	५	४७	क्रोधान्धकारान्तरितो	१७	९
कान्तदूत्य इव कुङ्कुम	९	३	कलान्तोऽपि त्रिदशवच्च	७	२९
कान्तपेशम बहु सन्दिशती	९	३७	क चिराय परिग्रह	२	३३
कान्तसङ्गमपरानित	९	५२	कश्चिदस्तनय पाण्डो	११	४५
कान्ताब्जम सुरसखेद	९	७६	कययुक्तमपि स्वभावज	२	११
कान्तानां कृतपुलक	७	५	कित्तिनम सुरलोक	५	३
किं गतेन न हि युक्त	९	१०	क्षिपति शोऽनुवन	५	४२
किं त्यक्त्वापास्तदेवत्व	१५	२१	क्षीणधावकरसोऽप्यति	६	६२
क्षिमपेक्ष्य फल	२	२१	क्षुमिताभिनि घृत	१२	४२
क्षिमसामयिक वित	२	४०	क्षोभेन तेनाथ गणा	१७	२२
क्षिमुपेक्षसे कथम	१२	३१	खण्डिताशसया देवा	१५	३
क्षिरातसैन्यादुरुवाप	१४	४५	खणाधिपानामविधाय	१४	५४
क्षुब्धताश्च भवतानत	४	५३	खतवति नखलेखा	९	७८
क्षुरीरागम कृतवस्तरव	५	२५	खतान्पशूना सहजन्म	४	१३
क्षुः सन्मतिमेव	२	२२	खतै परेषामविभाव	१४	५२
क्षुः तात तपास्वमार्गं	१३	१३	खतै सहाचै कलहस	८	२९
क्षुसुममगवनान्मुपैतु	१०	३१	खन्धमुद्धतरज कण	९	३१
क्षुसुमितमबलक्य	१०	५३	खमीररन्ध्रेषु शृश मही	१४	४६
क्षुतछक्ति परिवन्दिते	१८	२१	खम्पतामुपगते नयनाना	९	४
क्षुतप्रणामस्य मर्ही	१	२	खुणसम्पदा समधिगम्य	५	२४
क्षुत पुरुषशब्देन	११	७२	खुणानुरक्तामसुरक	१	३१
क्षुतबानन्यदेहेषु	११	२६	खुणापनादेन तदन्य	१४	१२
क्षुतानतिर्वाहृतसा	३	३१	खुक्तिपरम्भफलै	१४	४२
क्षुतान्तदुर्वृत्त इवा	१६	२९	खुक्तिपरान्युत्तम	१६	२८
क्षुवारिषहर्गजयेन	१	९	खुस्कुर्वन्ति ते वरदान्	११	६४
क्षुतवपान् जितपर्हि	४	३३	खूबोऽपि बभ्रुपा राजन्	११	६
क्षुतोमिरेत् शिथिलत्व	४	६	खसमानमिचौजाति	११	७३
क्षुण्णद्वैपायनादेशात्	११	४६	खद्विमानगणानभितो	५	१४
को न्यम हरितरङ्ग	१३	५०	खनपोत्रविदीर्णशाल	१३	३
कोऽपवाद् स्तुतिपदे	११	२५	खन विद्यायार्जुन	१५	५०
खान्तानां ग्रहचरित्वात्	७	१२	खनानि काम कुसुमानि	८	४

	स	श्लो		स	श्लो०
शश्वलं वसु नितान्त	१३	५३	जेतुमेव भवता	१३	५३
सतसुष्वपि ते विवेकिनी	२	६	उच्यतेस्तत्र वात	१	२३
शमरीराजैर्गणशलस्य	१२	४०	उच्यतेऽनलाद्यु	१९	७
श्यानिवात्रीनिव	१६	५२	उच्यते न हिरण्य	२	२०
शकनेऽवनिष्कसि	१९	६८	सत उच्यते इव हिरणे	१८	१
चारुज्जुशिरारेषी	१५	३८	सत किरातस्य बभौ	१४	१
विचीयतां जन्मवतां	३	११	सतः किराताविपते	१९	१
चितनिष्ठुतिविधायि	९	७१	सतः प्रबद्धे सममेव	१९	४३
चितवानसि कस्यापि	११	१४	सतः प्रत्यात्पस्तमवा	१०	१०
वित्रीयमाणानति	१०	३१	सतः शारङ्गकरा	३	१
शिरनियमकृशोऽपि	१	१४	सतः सकृज्जलकृत्	४	३
शिरमपि कलिताम्य	१	४८	सतः सदर्पं प्रतनुं	१४	३५
श्रुते स तस्मिन्निष्ठुषी	१०	३०	सतः स संशेष्य शारदुण्य	४	२०
श्यायां विनिर्भूय समोमयी	१६	३२	सतः क्षुण्णमजपथ	१६	४३
जगतीशरणे युक्तो	१५	४५	सतस्तपोवीर्यसमुद्गतस्य	१०	३५
जगत्प्रसूतिशगदेक	४	३९	सतोऽग्रभूमिं व्यवसाय	१०	२२
जटानां कीर्णया केसै	११	३	सतो धरित्रीधरतुस्य	१६	५५
जनैरुपग्राममनिष्ठ	४	१९	सतोऽमुपूर्वायतदृत्त	१०	५०
जन्मवेपथपसां विरोधिनीं	१३	६३	सतोऽपवादेन पताकिनी	१४	२०
जमिनोऽरम स्थितिं	११	३	सतदीपविशिखा	१३	५०
जपत सदा जपमुपाशु	१२	८	सत्तिथिसितमिदं	१३	६८
जयमन्नमवाहम	११	१८	सत्र कार्मुकमृतं	१३	३५
जयारवपदेकितनाद्	१४	२९	सया न पूर्वं कृतमूषणा	८	४१
जयेन कश्चिद्विरमेदधं	१४	६९	सयापि जिह्वा स	१	८
जरतीमपि विभ्राण	११	७	सयापि निष्कं मृष	३	१२
जलज्जालधनैरसिता	५	४८	सदनम सजुरस्तु	१०	५
जश्रीधनसंभूषणं नमूर्च्छित	१६	५९	सदभूरिवाधरकृतं	६	२९
जहातु येन कयमर्थ	३	१४	सदर्शनं प्रतिपद्य	२	१५
जहार चास्मादधिरेण	१०	४४	सदा रम्भाण्यरन्ध्याणि	११	६८
जहिहि कठिनतां	१	५१	सदाद्य कर्तुं त्वयि	१	२५
जहीहि कोपं दधितो	८	८	सदाद्य कुर्वन्वचन	३	५४
जिह्वाशता युक्तस	१६	३०	सदुपेत्य निम्नयत	६	४३
जीयन्तां बुजया देहे	११	३२	सद्रूणा दह्यन्मीमं	१५	३९

	स०	श्लो०		स०	श्लो०
तनुमवजितलोक	१०	१५	तुषारलेखाकुलितो	३	३६
तनुवारमसो भास्वान	१५	२३	तेज समाभित्यपरै	१७	३
तनूरलकारणपाणि	८	५	तेन व्यतेनिरे मीमा	१५	४२
तपनमण्डलदीपितमेक	५	२	तेन स्वरूपकारिता	१३	६०
तपसा कुर्यां वपुर्ववाह	१२	६	तेनानिमित्तेन तथा	१७	४०
तपसा तथा न मुद्गमस्य	१८	१४	तेनानुजसहायेन	११	४८
तपसा निपीडितकृत्वा	१२	३९	अर्थासृत्नामनिळा	१४	४८
तपोबलेनैव विधाय	१४	६०	त्रासभिद्धा यतश्चैता	१५	६
तप्तानामुपद्विधे विषाण	७	१३	त्रि'सप्तकृत्वो जगती	३	१८
समतनुषनरानिश्चामितो	४	३८	त्वमन्तक स्यावरज्ज्वमाना	१८	३२
समनतिशयनीय सर्वत	५	५२	त्वया साधु समारम्भि	११	१०
सममिन्द्रबन्दिच इवेन्द्र-	६	२	त्विषा तति' पाटलिता	१६	३३
समाशु चक्षु श्रवसा	१६	४२	वृत्तिणा प्रणतद्वृत्तिणां	१८	२७
तमुदीरितारुणजटाशु	१२	१४	दृष्टशेऽथ सविस्मय	१३	१७
तरसा भुञ्जन्तानि यो	१८	३७	दधत इव विलासशालि	५	३२
तरसैव कोऽपि भुवचैक	१२	२६	दधतमाकरिभि करिभि'	२	७
तबोत्तरीय करिचर्म	१८	३२	दधति षती परिणत	६	७
तस्मै हि भारोद्भरणे	१७	१४	दनुज स्थिव्य षपा	१३	८
तस्यातिपत्नादसि	१७	३२	दरीमुलेरासवराग	१६	४६
तस्याहवायासविलोल	१७	८	दिङ्नागाहस्ताकृतिमुद्गहन्ति-	१६	३८
त शम्भुराचितमहेषु	१७	४३	दिव प्रथिव्या ककुभां	१४	५३
तान्मूरिधाम्नश्चतुरोऽपि	३	३५	दिव्यस्त्रीणा सचरण	५	२३
तापसोऽपि विमुक्ता	१३	३९	दिश समूहक्षिब	१४	५०
तामैचन्ठ षण सभ्या	११	५१	दीपयन्नथ नभ	९	२३
तानदाश्रियते लक्ष्या	११	६१	दीपितस्त्वभनुभाव	१३	३८
तिरोहितश्वन्निकुञ्ज	१४	३३	दुरण्डीन्वता राज्ञा	११	४७
तिरोहितान्तानि नितान्त	८	४७	दुरासदवनज्याया	११	६३
तिरोहितेन्दोरथ शम्भु	१६	३१	दुरासदानरीनुग्रान्	११	२३
तिष्ठता तपसि पुण्य	१३	४४	दुर्वच उदय मा स्म	१३	४९
तिष्ठन्ति कथमपि	७	४	दु'शासनामर्परजो	३	४७
तीरान्तराणि मिथुनानि	८	२६	दूनान्तेऽरिबलादूनान्	१५	३१
तुतोप पश्यन्कमलस्य	४	४	दृश्यतामथमनोकहा	१३	७०
तुत्यरूपमसितोरपक	९	६१	दृष्टावदानाद्द्वयतेऽरि	१७	१६

	स	श्लो		सं०	श्लो
दहा इरयान्याचरणीयानि	१८	२८	नमु हो मयना शयो	१२	२०
देवाकानिभि कापादे	१५	५५	न ज्येननुतो मुञ्चोतो	१५	१४
धां निर-प्रदतिनील	९	२	न यपात सन्निहित	१२	४
कृति बहन्ती वनिता	८	९३	न प्रसादमुचित गमिता	९	१५
सवियत्रामिनी तार	१५	४३	न मृग-खलु कोऽप्यय	१३	६
धोश्नानामेव दिवा	१६	३५	मयनविष यूकिन	१३	२२
द्रुतपदमभिवातुमिच्छतीमां	१	२	न रागि चेत परमा	१८	३१
द्वारि च्छुरधिपाणि	९	४३	नवपल्लवाञ्जलिभृता	६	२६
द्विरदानिव विम्बि	२	२३	न दर्म्यं कस्मैचिदपि	१४	१४
द्विपता परामिसिनु	१२	३४	नवविनिवृत्तपाकुसुम	५	८
द्विपतामुदया	३	८	नवातपाखोहितमादितं	४	८
द्विपतां निदित	२	१०	न विरोधिनी क्वमिषाय	१९	४६
द्विपल्लिमिचा यद्विषं	१	४१	न विसिन्मिये न विपसाद	१२	५
द्विपां विधाताय	१	३	न समपपरिरक्षण	१	४५
द्विपां च्छतीमां प्रयमे	१४	५५	न सुखं ग्रथये मार्थ	११	६६
धनु-प्रवन्धध्वनितं	१६	२	न खणो रश्चिरे	९	३५
धर्मात्मजो धर्मनिबन्धि	३	३४	धानारसज्योतिपां	५	३६
धार्तराष्ट्रं सह ग्रीसि	११	५५	नप्रत्तरज्ञां द्विषो वातु	११	२४
भाहर्ष्यद्विदितव्योचित	९	४२	नमिषोऽकुम्भतुतं	१३	५८
भूनागामनिमुसुपातिभिः	७	३	नासुरोऽय न वा नागो	१५	१९
चठिविसवलयवकि	१	२४	निचविनि कबली	१	२९
चतविसवलये निचाय	१	४६	निजगिरे वस्व हरेषु	१०	२६
चतवैतिरप्यचतजिह्व	६	२४	निजैम नीत विजिताम्ब	१४	३९
चतोत्पलापीड इव	१६	१५	निज्जाविगोदितनितान्त	९	४५
चैर्षावसादेन हृतप्रसादा	३	३८	निपतितेऽधिसिरोध	१८	६
चैर्षेण दिवास्वतया	३	३४	निषीयमानस्तवका	५	६
अथ प्रजातां प्रहितस्य	१४	९	विषद्वनिन्धासधिकम्पिता	४	१८
प्वनिरगविनोषु	१	४	निमीलदाकेकरकोठ	८	५३
प्वसैत इदय सद्य	११	५०	निरजने साचिविकोक्तिं	८	५२
न ज्ञातं तात यत्तस्य	११	४२	निरत्यर्थं साम न दान	१	१९
न तेन सग्यं क्वचिदु	१	२१	निरास्पदं भ्रमकुपूहलिव	३	९
न ददाह भूरहचनानि	१२	१६	निरीष्यमाणा इव	४	३
न दलति निचये	१	३९	नितीष्य सद्यन्निरस्त	३	२१

निर्याय विद्याय विनादि
 निष्टुष्टुत्तोरुपयोधर
 विद्यन्य सिद्धि द्विपसा
 निशातरौत्रेषु विकासता
 निशितासिरितोऽभीको
 विशेष प्रशमितरेषु
 नि शेषं शकञ्चित्त
 नि श्वात्तचूमै स्थगित्ताष्ट
 निषण्णमापत्प्रतिकार
 निषादिसखाहमणि
 नसर्गत्रुषोषमबोध
 निहते विडम्बित
 निहितसरसयावकै
 नीतोच्छ्राय मुहुरशिशिर
 नीरन्ध्र पथिषु रजो रथाङ्ग
 नीरन्ध्र परिगमिते
 नीलनीरजनिषे हिम
 नूनोद तस्य स्थलपथिनी
 नूनमन्न भवत क्षाराकृति
 नृपतिमुनिपरिग्रहेण
 नृपसुतमभित
 न्यायनिर्णोतसारत्वा
 पतन्सु शास्त्रेषु चित्त्य
 पतन्ति नास्मिन्विशदा
 पतितैरपेतजलदाश्च
 पतिं नगानामिष
 पयश्च्युताया समितौ
 पपात् पूर्वा जहतो
 परमाद्यपरिग्रहोरुतेज
 परवानार्थससिद्धी
 परस्य भूयान्धिकरे
 पराहतश्चस्तशिले
 परिकीर्णमुद्यतमुजस्य

स० श्लो०
 ३ २५
 ८ ३
 १ २७
 १४ ३०
 १५ २२
 ७ ३८
 १७ ६२
 १६ ३९
 १४ ३७
 १६ १२
 १ ४
 १२ ३८
 १० ३
 ५ ३१
 ७ २२
 १७ ६
 ९ १५
 ४ ५
 १३ ४५
 १० ६
 १० ४४
 ११ ३९
 १४ ४९
 ४ २३
 ६ २७
 १७ २
 ३ १५
 ४ १८
 १३ २६
 ११ ३३
 १६ २३
 १६ ५६
 १२ ११

परिषते वचसि इन्ति
 परिणामसुखे मरीयसि
 परिणाहिना तुष्टिनराधि
 परिभ्रमन्मूर्ध्वजषट्पदा
 परिभ्रमद्बोहित
 परिमोहयमानेन
 परिवीतमष्टभिक्षदस्त
 परिसरविषयेषु लीड
 परिसुरपतिसुज्जधाम
 परित्स्फुरन्मीनविघट्टितो
 परीतमुष्णानये
 परोज्वजानाति यदज्ञता
 पक्षात्किवा त्णयुगस्य
 पाणिपद्मबधिधुनन
 पातितोत्तुष्टभाहात्म्यै
 पातुमाहितरतीन्वमि
 पार्थवाणा पशुपते
 पुर सरा धामवता
 पुराधिकृष्य क्षार्पनं
 पुरोपनीत मृष
 पुस पद मध्यमसुत
 पृथग्विधान्यस्त्रविराम
 पृथुकदम्बकदम्बकराजित
 पृथुधाग्नि तत्र परियोधि
 पृथूरुपर्यस्तवृद्धता
 प्रकृतमनुससार वाभि
 प्रचलिते चलित
 प्रणतिप्रवणान्विहाय
 प्रणतिमथ विधाय
 प्रणिधाय चित्तमथ
 प्रणिधाय तत्र विधि
 प्रतप्तचामीकरभासुरेण
 प्रतिक्रियायै विधुर.

स० श्लो०
 १६ ११
 २ ४
 १२ २३
 ४ १४
 १ ३४
 १५ ३६
 १२ १८
 ५ ३८
 १० २०
 ८ ४५
 ४ ११
 १४ ३३
 १७ ४२
 ९ ५०
 १५ ११
 ९ ५१
 १२ ४०
 १ ४३
 १ ३८
 १ ३९
 १६ १९
 १६ ३४
 २ ९
 ५ ४५
 १४ ३४
 १० ४१
 १८ १०
 २ ४४
 ६ ४७
 ६ ३९
 ६ १९
 १६ ४०
 १७ ४१

	स	श्लो		स०	श्लो०
प्रतिप्रतीभिः कृत	१६	४३	प्राप्तोऽभिमानव्यसनाद्	३	४५
प्रतिदिशामभिगच्छता	१	२१	प्राप्यते गुणघटापि	९	९८
प्रतिदिश प्लवगाधिप	१४	६४	प्राप्यते षडिह वृ	१८	२९
प्रतिबोधनृग्मणविनिष्ठ	६	१२	प्रियेऽपरा बच्छति	८	१५
प्रत्यार्द्राकृततिलकास्तुषार	७	१५	प्रियेण सप्रप्य विपद्य	८	३७
प्रत्याहृतौजा कृत	१७	१५	प्रियेण सिद्धा चरमं	८	५४
प्रनृक्षसवविप्रस्त	१५	२६	प्रियेषु वै पार्थ विनोद	३	९२
प्रपि सो किं च ते मुक्तिं	११	१६	प्रियैः सखीकं करवारि	८	४९
प्रथमूष नाछमबलोकयितु	६	६	प्रीते पिनाकिनि मया	११	८१
प्रभवति न सदा परो	१	३५	प्रेरित सशचरोण करौष	३	२८
प्रभव सल्लु कोश	२	१२	प्लुतमाकलीसितकपाळ	१२	३४
प्रमार्द्धमवसन्नरुद्ध	११	६७	बदरीतपोदननिवास	१२	३३
प्रपच्छतोष्वै कुसुमानि	८	१४	बदकोपविक्रुतीरपि	३	६४
प्रयुग्य सामाचरितं	१४	७	बभार शृग्याकृति	१७	३९
प्रलीनभूपालमपि	१	२३	बलनदपि बल मियो	१०	३७
प्रववृतेऽथ महाहृष	१८	८	बलवानपि कोकजम्भना	२	६७
प्रवालमद्वाक्यपाणि	८	२१	बलशालितया धया तथा	१३	१२
प्रविकल्पनिनाद् मित्र	१३	१६	बहुधा गतां जगति	६	४२
प्रविततत्तरमाकच्छन्न	१४	६५	बहु बर्हिषं व्रकमिमं	६	११
प्रविवेश गामिष	१२	१	बहुश कृतसकृतेर्विबाहु	१३	१
प्रवृत्तनक्तदिव	१६	४७	बाणचिद्भस्ते विशिखाः	१७	२०
प्रवृद्धसिन्धुर्मिषय	१६	६	विभराम्बभुपुरपवृत्त	१९	४९
प्रशान्तघर्माभिमवा	८	२८	बृहद्बृहज्जलदनादि	१९	४९
प्रशब्दोत्तम्भदसुरभीणि	७	३५	अथङ्करा प्राणभृतां	११	१७
प्रसक्तदाधानल	१६	२६	अथदिवाभिक्ष्य क्षपाहते	८	४६
प्रसद्य योऽस्मानु परैः	३	४४	अतुभिः प्रणयसम्भ्रम	९	५४
प्रसादरम्भमोचस्त्रि	११	३८	अर्तूपसस्त्रि निधिप	९	६६
प्रमादलक्ष्मीं हृद्यत	३	२	अवसा स्मरतां सदा	१८	३८
प्रसेदिवांसं न तमाप	१७	२३	अथजिरधुनाराति	१५	१७
प्रस्थानभ्रमभ्रजितां	७	३१	अथन्तमेतर्हि मनस्वि	१	३१
प्रतिघतामिरभिनाथ	९	३६	अर्बन्ति ते सम्यतमा	१७	४
प्रहीयते कार्यवशा	१६	२२	अवमीतये हृत्पुद्गम	६	४१
प्राजलावपि जने	९	१			

	स०	श्लो०		स०	श्लो०
भवाद्येषु प्रमदा	१	२८	महाह्वदुर्गे शिथिल	१६	३६
भव्यो भवन्नपि मुने	५	४९	महिषघतगुरुस्तमाळ	१२	५०
भित्तेव भामि सविह	१६	५१	महीमृता पञ्चवतेव	१६	१३
सुजगराजसितेन	२	४	महीमृता सघरितै	१	२०
मूर्धतुं समधिष्मदाद्ये	७	२७	महेषुजलधौ शत्रो	१५	३२
भूय समाधानविरुद्ध	१७	७	महौजसो मानधना	१	१९
भूरिप्रभावेण रणाभि	१७	२	मा यमम्मदविमूढ	९	७०
भूरेशुना रासभभूरेण	१६	७	मा गाक्षिरायैकचर	३	५३
मृदकुसुमशरेषु	१०	६१	भानिनीजनविछोचन	९	२६
भ्रूविलाससुभगाननु	९	६६	मा भूवन्नपथहृतस्तवे	५	५०
सप्रो द्विषच्छ्रमनि	३	३३	माया स्वदेषा मति	१६	१८
मणिमयूषजयाद्युक्त	५	५	भार्गवैरथ तथ	१३	५९
मतिभेदस्तमस्तिरो	२	३३	मा विहासिष्ट समर	१२	८
मतिमान्विनयप्रमाधि	२	६२	साहेन्द्र नगमभित	७	२०
मपिताम्भसो रयविहीर्ण	१२	५१	मिन्नमिष्टमुपकारि	१३	५१
मदमानसमुद्धत	२	४९	मुकुलितमतिशय	१०	२७
मदसिक्तमुल्लैर्हृगा	२	१८	मुक्तमूलकधुरक्षित	६	५
मदल्लुतिर्यामित	१६	२	मुखैरसौ विभ्रुमभङ्ग	४	३६
मधुरैरवशानि	२	५५	मुखतीशे शराङ्गिणौ	१५	३४
मध्यमोपलनिभे लसदंशा	९	२	मुदितमधुलिहो वितानी	१८	२०
मनसा जपै प्रणतिभि	६	२२	मुनपस्तवोऽभिमुख	१२	२५
मन शिलाभङ्गनिभेन	१६	४५	मुनिदनुतनयान्विलोभ्य	१०	१६
मनोरमं प्रापितमन्तरं	४	७	मुनिमभिमुखता	१०	४०
मन्दमस्यन्निपुलतां	१५	१३	मुनिरस्मि निरागस	१३	७
मया मृगान्हन्तुरनेन	१४	२५	मुनिरूपोऽनुरूपेण	११	२
मरुत शिवा नचतृणा	६	३३	मुनीषुदहनातहा	१५	३०
मरुता पति स्वद	१२	१५	मुनेर्बिचित्रैरिषुभि	१७	१९
महत्ता मयूखनिचयेन	१२	१३	मुने. शत्रुवेण तदुग्र	१४	५९
महते फलाय तद्वेष्य	६	२८	सुहुरनुपतता विधूय	१०	३३
महश्चयोगाय महा	३	२३	सुदृक्त्वपल्लवलोहिनी	१६	५३
महर्षमस्कन्धमभून	१४	४०	सूक्त शोपस्य हिंसादे	११	२०
महानले मित्रसिताभ्र	१६	५७	मृगान्विनिष्मन्मृगयु	१४	१५
महारयानां प्रतिदन्त्य	१६	१४	मृगालिनीनामदुरजित	४	२७

स	श्लो		स०	श्लो०	
मृदितकिसलय सुराङ्गना	१	९	रम्या भवद्युतिरपैति	९	३७
पथ्यति प्रतिमुखं	९	१४	रयेण सा सनिदधे	१७	५२
यथा निम पत्ननि	१७	५७	रहितरत्नचयान्म विलो	५	१
यथा प्रतिष्ठ द्विपतां	११	७४	रागकान्तमयनेषु	९	६३
यथाययं सा सहिता	८	२	राजनि पथि मरुता	७	६
यथास्वमाशंसित	१४	४३	रात्रिरागमलिनाभि	९	१६
यदबोधत वीक्ष्य	२	२	रामाणामवजितमाक्ष्य	७	७
यदाथ काम भवता	१४	१८	रिक्तसविस्तम्भमथा	१७	३६
यदा विष्टृष्टाति हत	१४	२४	रुचिकरमपि नार्थ	१	६२
यदि प्रमाणीकृतमार्यं	१४	३१	रुचिरपल्लवपुष्पलता	२	१९
यदि मनसि शम किमश्न	१	५५	रुचिराकृति कनकसानु	६	१
यमनियमकृत्सीकृत	१	१	रजम्भहेपून्वधुषा	१५	२१
यथा समासादित	३	२१	रुच्यती मयनवाक्य	९	६७
यथासेव तिरोदधश्शुद्ध	३	५८	रुद्धवृत्तितया निदां	२	२३
यथोऽधिगन्तु सुख	३	४	रुम्यमेकमुकृतौन	१३	५२
यथुमिच्छसि पितृषु	१३	६९	रुम्या धरित्री तव	३	१७
यस्मिन्ननरधर्मकृत	३	१९	रुलिचतीव क्षमकाल	१६	५४
यः करोति यथोदकां	११	१९	रुत्तथा विमलविद्रुम	९	२२
या सर्वेषामावरीता	१८	४	रुोक विधात्रा विहितस्य	३	४१
या यस्याः सस्तहायानां	११	२२	रुोचनाधरकृता	९	६०
यातस्य प्रथिततरङ्ग	७	१६	रुोलदष्टि यद्वनं	९	४७
युक्त प्रमाद्यसि हिता	११	२९	यदनेन पुष्पितरुतान्तः	१९	४१
युक्ता स्वशक्त्या युक्त	१८	२९	यनाम्तशाय्याकठिनी	१	३६
युक्तुस्तुनेव कवच	११	१५	यनायया करस्य सुगा	१४	१३
येनापविद्धसलिल	५	३	यनेऽवने वनसदां	१५	१०
योगं च त योग्यतमाय	३	२६	यपुरिन्निप्रपोपतपनेषु	१२	३
योषित पुलकरोषि	९	४१	यपुया परमेण भूधरा	१३	१
योषिदुद्धतमनोभव	९	६८	यव नव वर्णाभ्रमरचणो	१४	२२
रक्षोभिः सुरमनुजैः	१८	३६	यर कृतध्वस्तगुणा	१५	१५
रजनीषु राजतमयस्य	१२	१९	यरोरुमिर्धारणहस्त	८	२२
रजिता शु त्रिविधा	९	१५	यसूनि याम्बुक्ष वशी	१	१३
रगाय यत्र प्रदिसन्निव	१४	२८	यंशालक्ष्मीमनुष्टय	११	६९
रयाङ्गसंश्रीहितमरव	१६	८	यंशोचितायाद्भिमास	१७	४

	स० श्लो०		स० श्लो०
वानिभूमिरभराज	१३ ५५	विषाण्डु सव्यानमिवा	१४ २८
वाससा शिथिलतामुप	९ ६६	विफलीकृतयत्नस्य	१५ ४६
विक्रधवारिरुह दधत	५ १३	विवोधितस्य ध्वनिना	१७ ४६
विकसितकुमुमाधार	१० ३२	विभिन्नपर्यन्तगामीन	८ ३०
विकामुं क कर्मसु शोच	१७ ५३	विभिन्नपावितारवीय	१५ २४
विकाशमीयुजंगतीश	१५ ५२	विभेदमन्त पदवी	१७ २७
विकोशनिर्घातितनो	१७ ४५	विमुक्तमाशसित	१४ ५१
विगणस्य कारणमनेक	६ ३७	विमुष्यमानैरपि तस्य	४ १३
विगाढमात्रे रमणीभि	८ ३१	वियति वेगपरिप्लुत	१८ १२
विचकर्ष च सहितेषु	१३ १८	विरचस्य काननविभाग	१२ ४४
विचित्रया चित्रवतेव	१६ ३	विरोधि सिद्धेरिति	१४ ८
विच्छिन्नाभ्रविलाय	११ ७६	विलब्ध पत्रिणा पङ्क्ति	१५ ४४
विजहीहि रणोत्साह	११ ३१	विलम्बमानकुलकेषा	८ १८
विजिगीषते यदि जगन्ति	१२ ३०	विनरेऽपि नैवमभिगूढ	१२ ३७
विलिख्य य प्राज्य	१ ३५	विषस्वदशुसरक्षेप	१५ ९
विततशीकरराशिभि	२ १५	विषक्तवर्णाभरणा	१४ ३
वितन्वतस्तस्य शरा	१७ २०	विषिक्तेऽस्मिन्नरे	११ ३६
विदिता प्रविश्य विहिता	६ ३०	विशङ्कमानो भवत	१ ७
विदूरपातेन भिदासुपेयु	८ १०	विशदभ्रुयुगच्छुक्त	११ ४
विधाय रसान्परित	१ १४	विपमोऽपि विगाह्यते	२ ३
विधाय विध्वंसमनाम	३ १६	विस्तारिकाञ्जीमणि	८ २३
विधिसमयनियोगा	१ ४६	विस्कार्यमाणस्य ततो	१७ २४
विधुर किमत पर	२ ७	विस्मय क इव वा	१३ ४०
विधूतकेदा परि	८ ३३	विस्मिर्त सपदि तेन	१८ १३
विधूनयन्ती गहनानि	१४ ४७	विहस्य पाणौ विधत्ते	८ ५१
विनम्रशास्त्रिप्रसवीव	४ २	विहाय वीञ्छामुक्षिते	४ २५
विनय गुणा इव विवेक	१२ १७	विहाय शान्ति नृप	१ ४२
विनिर्घेतीना गुरुखेद	८ २६	विहारभूमेरभिबोध	४ ३१
विपक्षचिन्तोन्मथना	८ ३४	विहिता प्रियया	२ १
विपत्प्रखेला निरलक्षका	८ ४०	वीचय रत्नचषके	९ ५९
विपदेति तावद्वसाद्	१८ २३	वीचय रन्तुमनस	९ १
विपदोऽभिभवन्त्य	२ १४	वीतजन्मजरस पर	५ २२
विषाण्डुमिर्गान्तया	४ २४	वीतप्रभावतदुरस्य	१६ ६४

श्लोक	स	श्लो	श्लोक	स	श्लो
वीर्योत्सवः सन्निधि	३	४९	शिवध्वजिन्याः प्रतिबोध	१७	८
वीर्यावदानेषु कृता	३	४३	शिवप्रणुजेन शिलीमुखेन	१७	५८
वेदशास्त्रकृते	१५	१८	शिवमुखाहतिभिन्न	१८	३
व्यक्तोदितस्मितमयूख	२	५९	शिवमौपयिक गरी	२	३५
व्यथितमपि नृश ममो	१	३२	शीधुपानविद्युरासु	९	७२
व्यथितसिधुमभीरुज्ञाने	५	११	शीधुपानविद्युषु	९	७३
व्यथस्त यस्मिन्पुरमुद्य	५	१५	शुद्धमयूखानिवधे	२	४३
व्यपोदितु कोषमतो	८	१९	शुचि भूषयति श्रुत	२	३२
व्यामशे शशाधरेण	९	१७	शुचिरप्सु विद्रमलता	६	१३
व्याहृत्य मरुतां पत्न्या	११	७	शुचिदकधीततनुरग्न्य	६	३१
वस जय रिपुलोके	१८	४८	शुमानना साम्बुद्धेषु	८	४२
वज्रति शुचि पदं स्वयि	१८	३६	शून्यामाकीर्णतामेति	११	२७
वज्रतोऽस्य सुहृत्पतत्र	१३	२१	शब्दोत्तममयूखेऽपि हिम	३	८
वज्रन्ति ते मूढधियः	१	६	शब्देया विमलरधारः	११	३५
वज्राजिरेष्वम्बुदनाव	४	१६	शियः कर्णामधिपस्य	१	१
व्रणमुख्ययुतशोणित	१८	४	शिय विकर्षत्यपहन्य	३	७
व्रीहानतैरास्रमोप	३	४२	शिया हसन्निः कमलानि	८	४४
शक्तिर्यपतिषु स्वयं	१३	६१	शीम जिनियमितकन्धरा	७	६७
शक्तिवैवयनग्रस्य	११	२९	शीमन्निः सरयगजै	७	१
शक्तिताय कृतवाप्य	९	४६	शीमलतामवनमापधवाः	५	२८
शतसो विशिखानवघते	१५	४८	श्रुतमप्यधिराग्न्य	२	७१
शमयन्श्रुतेः द्वयशमैक	६	९	श्रुतिमुखमुपवीर्णित	१	३८
शरण भवन्तमति	१८	२२	श्रयसी तव समप्राप्ता	११	११
शरदामुधरश्रुत्या	११	१२	श्रेयसोऽप्यस्य से सात	११	४४
शरदृष्टि विधूयोर्षी	१५	४१	श्लिष्यतः प्रियवधूरुप	९	२७
शरानवधजनवध	१७	५६	शसनचलितपल्लवा	१	३४
शशाधर ह्य कोषनाभि	१	११	शरस्रया मुलसविधिः	११	३४
शम्भार्धनुमण्डलता	१५	४९	स किंमहा साधु न	९	९
शालावसक्तकमनीय	७	४	सक्ति जवाद्दपनधत्य	५	४६
शान्तता विनययोगि	१३	३७	स चन्द्रिष्यन्न गसहा	३	४८
शारतां गनितया शशि	९	२९	स रज्ज्वेण प्राप्य पराद्	१७	६
शिरसा हरिन्मगिनिम	६	२३	सखा स युक्तः कथितः	१७	२१
शिलाधनेर्नाः सदा	८	३२	सखि इयितमिहानयेति	१	४७

सं० श्लो०	सं० श्लो०
सखीजन प्रेम गुरुकृता	८ ११
सखीनिव प्रीतियुजो	१ १०
स गत चित्तिमुष्ण	१३ ३१
सचकित्तमिव विस्मया	१० ७
स जगाम विस्मयमुदीपय	६ १५
सजलजलधर नमो	१० १९
सज्जनोऽसि विजहीहि	१३ ६६
सम्य धनुर्वहति यो	१३ ७१
स ततार सैकतधतोरमित	६ १६
स तदोजसा विजित	१२ २६
स तमालनिभे रिपौ	१३ १४
स तमाससाद् घननील	१२ ५३
सदशमतनुमाकृते	१० १३
सधना विरधनाहित	९ ३४
सहादितेवाभिनिविष्ट	१७ ११
स धनुर्महेपुधि	१२ २७
सध्यान निपतितनिर्क्षरासु	७ २२
सनाकधनित नितम्ब	९ २७
सपदि मियरूपपर्वरेख	१३ २५
सपदि हरिसखैर्वधू	१० १८
स पिद्गाञ् श्रीमान्	१८ ४९
स पिशङ्गजटावलि	१५ ४७
स पुमानर्चबजन्मा	११ ६२
स प्रध्वनव्याम्बुदनादि	१७ १०
स प्रयुज्य तनये	१३ ३६
स चभार रजापेता	१५ ३३
स चिभर्ति भीषण	६ ३२
स भर्वस्य भवव्यक	१३ १९
स भोगिसच क्षम	१६ ४८
समदशिक्षितानि	१० २५
स मन्यरावसिगत	४ १७
समहृत्सिद्धपति	३ ३८
समस्य सम्पादयता	१४ ६
समानकान्तीनि तुपार	८ २५
समुच्चूत्तरपङ्कजकोश	८ २४
समुक्षिता याववराति	१४ ५६
समुज्जैत काशकुक्कुल	८ ९
समुत्तसत्प्राप्तमहोर्मि	१६ ४
स यौवराज्ये नवयौव	१ २२
सरजसमपहाय	१० २६
सरभसमवलम्ब्य	१० ५४
सरोजपत्रे नु विलीन	८ ३५
सकलितचलित	१० ५२
सलीलमासकलता	८ १६
सलेशमुक्षिद्रितशात्रवे	१४ २
स शशस्यावदातस्य	११ ७५
सविनयमपराभिसुख्य	१० ५७
सवृषध्वजसायकावभिध्न	१३ २८
सव्यलीकमवधीरित	९ ४५
सव्यापसम्यध्वनितो	१७ ६५
सधीढमन्दैरिव	३ ४६
ससपत्ररतिदे मित्य	१५ २७
स समुद्धरता विचिन्त्य	१३ ३४
स सम्प्रचार्यैवमहार्य	१६ २५
स सायकान्साध्वस	१७ २१
स सासि सासुसु	१५ ९
ससुरवापमनेकमणि	५ १२
सदृशरधि मिज तथा	१८ १६
सहसा थिद्धीत	२ ३०
सदसोपगत स	२ ५६
सक्रान्तचन्दनरसा	८ ५७
सन्वत निशमयन्त	१३ ४७
सन्निवद्धमपहर्तु	१८ ३०
सम्परयतामिति	१५ ९३
सम्प्रति लब्धजनम्	५ ४३
सम्प्रीयमाणोऽनुचभूष	१७ १३

सं	श्लो		सं	श्लो	
	७	२३	सोडबाओ वशामन्व्यां	११	५३
सम्भिन्नमविरलपातिनि	७	११	सोडावगीतप्रथमा	१०	२८
सम्भिन्नैरिवतुरगावगाह	७	२६	सोत्कण्ठैरमरणै	७	२
सम्भोगचमयहनामधो	५	४१	स्तुवन्ति गुर्धामभिषेय	१४	५
सम्पूर्णता रजतभित्ति	१०	४९	स्थितमुञ्चते तुहिन	१२	२१
सरम्मवेगोच्छ्रित	७	१४	स्थित विष्टब्धे नमस्वीव	१०	४८
सवाता मुद्गरनिष्ठेन	९	३२	स्थित्यतिक्रान्तिभीरुणी	११	५४
संविद्यातुमभियेक	७	१०	स्तपित्तनवळतातह	२	४४
संविद्यावितिकरणीय	१८	२४	स्तृङ्गीयगुणैर्नहा	९	३४
संवेचन्ते दानशीला	१०	६	स्तुष्टता न पदैर्या	२	२०
सस्कारवात्प्राप्तमयस्तु	९	४४	स्तुष्टपौरुषमापयात	१३	३२
साच्चि छोचनयुगं	५	२६	स्तुष्टपद्मसद्योप्रति	१३	२
साधश्य गतमपनिद्र	७	३९	स्तुरापिसा-मौर्बाक	१५	३९
साधरथं दधति गभीर	१६	४९	स्मर्यते तनुमृतां सवातन	१३	४२
साध्व्यमस्त्रे त्पु	७	२८	स्य दना नो चतुरगा	१५	१६
सामोदा कुमुतस्य	१०	५१	स्वभेतुमि पाण्डुर	१६	५८
साम्य भवेवाशनिना	१३	५६	स्वगोचरे सत्यपि चित्त	८	१३
सायल्लेपमुपलिप्सिते	४	३	स्वधर्ममनुकथ्यते	११	७८
सितच्छदानामपदिरथ	६	९	स्वयं संराभ्यैव सप्तमज्ज	१	६३
सितकाजिने निवगद्	७	८	स्वाशित स्वदमथैचित्त	९	५५
सिद्धरै कृतसुखयः	१८	१०	इताहतेस्तुद्धतभीम	१६	५
सिध्दिपुरयनिमम्बुवाहा	६	४	हरपृथ्यामुत्तयो	१८	२
सुङ्गमारमेकम्बु मर्म	१४	३९	हरसैनिकाः प्रतिभये	१२	४८
सुखेन लम्बा दधत	३	३३	हरिम्भगिरवाममुग्ध	१४	४१
सुगुणु दुर्गेषु च सुख्य	१२	३६	इसा सुदन्त सुस्तप	१८	१९
सुवा न पूष किमु	१	१९	इता गुणैरस्थ मयैव	१४	६१
सुरहृत्पमेतदवगम्य	५	२	इतोत्तरीयां प्रसभ	११	४९
सुरसरिति परं तपो	२	४५	इवममसि व्यस्तवधू	८	४३
सुकुम्भै सदा नयवता	३	२	इतथा यदितनीभि	९	४८
सुहृदः सद्गता	७	१९	इपयचङ्गिमतेजसं	१३	४१
सुजम्भमाशत्रिपु					
सेतुयं दधति पयोमुखां					